बीसपंथी क्या मिथ्यादृष्टि हैं ?

(परिष्कृत/परिवर्द्धित/परिमार्जित द्वितीय संस्करण)

पूर्वार्द्ध

* लेखक *
पं. हेमन्त काला, इन्दौर

* मुख्य संपादक *
पं. भरत कोली

* सह संपादन *
ब्र. सुषमा जैन
ब्र. संध्या जैन
श्रीमती मीना दिवाकर

* मुख पृष्ठ परिकल्पना : अभय कटारिया, इंदौर *

धुमिल एवं प्रश्नचिह्नित श्रुतदेवी माँ सरस्वती

२० पंथ को धूमिल व प्रश्नचिह्नित करने वालों ने, २० पंथ को नहीं, अपितु जिस गर्भ से इसका उदय हुआ है, उस माँ सरस्वती को ही धूमिल व प्रश्नचिह्नित कर दिया है, अतः प्रश्न यह नहीं है कि 'बीसपंथी क्या मिथ्यादृष्टि हैं ?', अपितु मूल प्रश्न यह है कि 'माँ सरस्वती क्या मिथ्यादृष्टि है ?' ॥ (मुख पृष्ठ पर मुद्रित छाया चित्र जिनागम मान्य श्रुतदेवी की मूर्ति, राजकीय संग्रहालय, बिकानेर (राज), क्रमांक २०३ का है - साभार : प्राकृत विद्या (शोध पत्रिका), त्रैमासिक, अंक - जुलाई से सितंबर, वर्ष १९९७, कुंदकुंद भारती, नई दिल्ली - ११००६७)

* प्रकाशन आयोजन *
सूरज जय ग्रंथमाला प्रकाशन समिति
१७, कालानी नगर, २०१, पद्मश्री अपार्टमेन्ट (बी.एस एफ पानी की टंकी के पास),
एरोड्रम मेनरोड, इन्दौर-४५२ ००५ (म प्र)
मोबाईल : ०-९४२५०-७५७७४ * दूरभाष . ०७३१-३०९४८९८

○ इस संस्करण के मुख्य दानदाताओं के नाम ○

१. श्री संतोष कुमारजी काला (जैन)
अध्यक्ष : श्री सन्मति नगर खण्डेलवाल दिगंबर जैन पंचायत, रायपुर (छ.ग.)

२. श्री बसंतीलालजी कीकावत
मुंबई (महा.)

३. श्री डुंगरमलजी गंगवाल
दिल्ली

४. श्री पंकजकुमार रमेशचंदजी कोटड़िया
बोरीवली, मुबंई (महा)

५. श्रीमती लक्ष्मीबाई जमनालालजी हापावत
मुंबई (महा)

६. बाल कुमारी जयश्री पहाड़े
औरंगाबाद (महा.)

७. प.पू. मुनि श्री समाधिनंदिजी
की पावन स्मृति मे श्रीमती शोभा सुन्दरलाल जी पेंढारी (जैन), नागपुर (महा.)

○ इस संस्करण के सहयोगी दानदाताओं के नाम ○

१. स्व. **श्रीमती फूलबाई चांदवाड़** (धर्म पत्नी श्री मदनलालजी चांदवाड़)
की स्मृति मे चादवाड परिवार, रामगंज मंडी (राज.)

२. स्व. पं. **श्री सुमेरचंदजी दिवाकर**, सिवनी की स्मृति मे
पं श्रेयॉस कुमारजी दिवाकर, एड्व्होकेट अभिनंदनजी दिवाकर, सुदर्शनजी दिवाकर,
जय जी दिवाकर (सिवनी) एव सिद्धार्थजी दिवाकर (जबलपुर)

३. **श्री दिलीप कुमारजी शांतिलालजी जैन**
नागपुर (महा)

४. **मलूकचंद हीराचंद २० पंथी गोठ**
बड़नगर (म प्र.)

५. **श्री रिखबचंदजी जयचंदजी पाटणी**
नासिक नांदगाव (महा)

६. **श्री लालचंदजी जैन (खड़कपुरकर)**
देवलगांव राजा (महा.)

७. **श्री पवनकुमार जयकुमारजी काला**
मुबई (महा.)

८. **श्री महेन्द्रजी बंडी**
मुंबई (महा.)

○ पिछले संस्करण के शेष दानदाता ○

श्री कांतिलालजी जवेरी, मुबई (महा.)

प्रथम संस्करण · फरवरी २००५
द्वितीय संस्करण जून २००५
प्रतियाँ : प्रथम संस्करण ५०००
द्वितीय संस्करण ५०००

मुद्रक · सिटी ग्राफिक्स
१८/१, बियाबानी, इन्दौर-२ (म प्र.)
फोन : ०७३१- २३४२६५०,
मोबाइल ०९८२६०-६००५६

मूल्य : ८०.०० (अस्सी रुपये) मात्र

॥ सावधान ॥

इस पुस्तक को पढ़ने से पूर्व

इस पुस्तक को पढ़ने वाले पाठकों को हम सावधान कर देना चाह रहे हैं कि वे इस मानसिकता की निर्मिति कर ही इस पुस्तक का वाचन प्रारंभ करें कि वे उस पुस्तक को पढ़ने जा रहे हैं, जिसमें कि १३ पंथ व १३ पंथ के एकांत आग्रही विद्वानों, जो कि अपने मिथ्या मत प्रतिपादनार्थ हमारे स्याद्वादी पुरातन आचार्यों एवं विद्वानों को अपनी मंदबुद्धिता के आश्रय से आगम प्रतिकुल लेखक/ प्रतिपादक प्रतिपादित करते संकोच नहीं करते, के मतों/मंतव्यों का कठोरता के साथ खण्ड्न किया गया है ॥

इन विद्वानों को यह भी नहीं पता कि जिन तर्कों व प्रमाणों के आश्रय से वे १३ पंथ अथवा १३ पंथ का अवांतर भेद शुद्धाम्नाय की स्थापना का उद्यम करते हैं, वे ही तर्क व प्रमाण स्वयं उनके मत का खण्डन करने वाले हैं ॥

अत: सावधान चित्त होकर इस पुस्तक को पढ़ें ॥

यदि १३ पंथ व १३ पंथीय विद्वानों को लेकर आपके चित्त में किंचित् भी सम्यक बुद्धि वर्तति हो व उस सम्यक् बुद्धि पर कुठाराघात आपको भावनात्मक रूप से भयंकर पीड़ा दे सकता हो, तो कृपया इस पुस्तक को पढ़ना तो दूर, छूना भी नहीं ॥

यह पुस्तक सिर्फ उन्हीं के लिए है, जो कि सम्यक् मार्ग के अन्वेषक हैं ॥

सम्पादक

भरत काला, मुंबई (महा.)

सम्पादकीय

(प्रथम संस्करण से)

एक सरल से विषय को व्यर्थ में ही उलझा दिया गया था ॥

यह ठीक ऐसा ही था, जैसे कि एक बालक घर के सामान को बाहर न फेंके, किन्तु अस्त-व्यस्त कर दे ॥

१३ पंथी विद्वानों ने तरतीब से रखने के उपक्रम में अनजाने में ही सम्पूर्ण आगम को बेतरतीब कर दिया ॥

वास्तुविदों की भाषा में कहें, तो ऐशान कोण में रसोई घर और आग्नेय में चैत्यालय बना दिया ॥

शुभ यह हुआ कि तरतीब के नाम पर सूत्र फेंके नहीं गये,..........

सूत्रों को बना रहने दिया गया ॥

यह सूत्रों को बना रहने दिया जाना, यद्यपि मंदबुद्धिता का ही एक भाग था, किन्तु, चूँकि जिनागम को अपने वास्तविक रूप में पंचम काल के अंत तक बने रहना है, अतः जिनवाणी का ही अतिशय हुआ कि अनाड़ियों के हाथों में पहुँचने के पश्चात् भी, बेतरतीब ही सही, किन्तु वह बची रही/बनी रही ॥

कठोर शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ ॥

कठोर शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, अतः क्षमाप्रार्थी भी हूँ, किन्तु जिनवाणी के प्रति उद्दंडता का व्यवहार करने वालों के प्रति इसे सौम्य व्यवहार ही कहा जायेगा ॥

यहाँ, पं. हेमन्त काला, जो कि मेरे भतीजे हैं, के संबंध में कुछ तथ्य उजागर करना आवश्यक है ॥

मैं तो जन्मना ही २० पंथ संस्कारों से संस्कारित था और ऊपर से आचार्य शांतिसागरजी, शिवसागरजी, चन्द्रसागरजी, धर्मसागरजी की परम्परा के प्रति अटूट श्रद्धावान ॥

इसे २० पंथी यदि कहेंगे, तो कह सकते हैं कि सोने पे सुहागा, किन्तु १३ पथी यदि कहेंगे, तो कहेंगे कि एक तो करेला ऊपर से नीम चढा ॥

किन्तु पं हेमन्त काला के संदर्भ में ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता ॥

वो जन्मना जैन होकर भी, जन्मना नहीं, किन्तु अपनी मेधा के कारण जैन है ॥

प्राप्य मेधा का ऐसा सदुपयोग संसार में दुर्लभ है ॥

इसी प्रकार, न तो वो जन्मना २० पंथी है और न ही १३ पंथी ॥

वो तो पारिवारिक संस्कारों से विपरीत सत्य की शोधार्थ विविध धर्म व उन धर्मों के ग्रंथों में विचरण कर रहा था ॥

विचरण करते-करते अपनी उम्र के ३३ वें वर्ष में जैन धर्म के प्रति समर्पित हुआ ॥

समर्पित होते ही प्रबुद्ध विद्वानों व प्रज्ञावान मुनिराजों ने उसे अपने हृदय में स्थान दिया व शंका-समाधानार्थ उसका स्मरण करने लगे ॥

हमने भी किया ॥

आप सभी की स्मृति में होगा ही कि आर्यिका माता की पूजा के प्रसंग पर प्रतिपक्षियों द्वारा उभार पर लाये गये विवाद को, हमारे द्वारा अनुरोध किये जाने पर इन्होंने ही विाद का इतना सुंदर उपसंहार किया कि बौद्धिक प्रतिद्वंदिता के नाम पर उफन कर बाहर आ रहे दूध पर मानो किसी ने पानी के छींटे मार दिये हों ॥

इस पुस्तक के विषय में परम श्रद्धेय व प्रज्ञाधनी स्वस्ति श्री चारुकीर्तीजी भट्टारक, जिनकी कि मेधा की प्रखरता को सभी मान्य करते हैं, ने कहा कि एक बार मैंने पुस्तक का वाचन प्रारंभ किया, तो अंत करके ही ठहरा ॥ इस पुस्तक में मुझे अपने इतने लंबे स्वाध्याय काल में प्राप्त सार के अतिरिक्त बहुत कुछ मिला ॥

निश्चित ही, इसके पश्चात् इस पुस्तक की मौन स्तुति ही संभव है, सशब्द नहीं ॥

अबकी बार हम सभी ने पुनः अनुरोध किया व विनती की कि १३ पंथ व २० पंथ के मध्य उभर आये अथवा बलात् उभारे गये विवाद के शमनार्थ कुछ परिश्रम करो ॥

हमारी विनती उन्होंने स्वीकार की और पुस्तक रूप यह अनमोल धन अब आपके हाथों में है ॥

यहाँ मात्र इतना ही कहना है कि पुस्तक की मोटाई चूंकि अत्यधिक हो रही थी, इसलिये इसे दो भागों में मुद्रण करने का मानस बनाया गया, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध ॥

आपके हाथों में जो है, वह पूर्वार्द्ध है ।।

दूसरी विशेषता इस पुस्तक की यह है कि इसे उपन्यास शैली में लिखा गया है ।। हमने बहुत कोशिश की कि विषय के अनुसार इसे छोटे-छोटे शीर्षकों में विभक्त करें, किंतु विशेष सफलता नहीं मिली, अतः आधी पुस्तक में हमने प्रयोग के तौर उन्हें किया व शेष को लेखक महोदय के मंतव्यानुसार जैसा लिखा गया था, वैसा ही रहने दिया ।।

पूर्व पुस्तक की तरह इस पुस्तक में भी दोनों पक्षों की ओर से सबल तर्क प्रस्तुत किये गये हैं ।।

कहीं-कहीं तो १३ पंथियों की ओर से इतने सबल तर्कों का प्रयोग किया गया है कि उन तर्कों को सुन कर घाघ से घाघ १३ पंथी विद्वान तक चकरा गये कि अरे !! हमारे पक्ष में इतने सशक्त तर्क थे !! इसे तो न कभी सुना गया और नहीं कभी जाना गया ।। इतना ही नहीं, अपितु जिन २० पंथी विद्वानों को इसे पढने दिया गया, उनके तो विषय पूर्ण होने तक पसीने से छूटते रहे ।।

पंडितजी के द्वारा दोनों पक्षों की ओर से प्रस्तुत सबल तर्कों का सद्भाव होने पर भी यह पुस्तक भी पूर्व पुस्तक की ही तरह ही पाठकों को एक निर्णय पर ठहरने को पूरा - पूरा अवसर देती है ।।

अर्थात् इस पुस्तक को पढने के पश्चात् पाठक एक निर्णय पर आ ठहरता है, ढुलमुल नहीं हो पाता ।।

वह निर्णय क्या है, इसे न बतलाते हुए हम निर्णय का अधिकार आप पाठकों के पास ही सुरक्षित रखते हैं ।।

आप पढिये, समझिये, सोचिये और हो सके तो एक पोस्टकार्ड पर अपने द्वारा लिये गये निर्णयों को हमें भी सूचित कीजिये ।। उन पत्रों को हम वरीयता व उपयोगिता के अनुसार पडितजी तक पहुँचायेंगे, ताकि उसका कलेवर अगली पुस्तक में उपयोगी हो सके ।।

अब कुछ इस पुस्तक के प्रकाशन के संदर्भ में ।।

इस पुस्तक के प्रकाशन के संदर्भ में मुझ पर जो दायित्व था, वह मात्र इतना ही था कि इस पुस्तक में प्रतिपादित विषयों के गांभीर्य के प्रति स्वयं सजग रहना व लेखक को सजग रखना ।। न सिर्फ सजग रहना या रखना, अपितु उसके सतत उपाय भी करना ।।

इस कार्य में ब्र. रामलालजी का सहयोग विशेष उल्लेखनीय रहा ।।

सैद्धांतिक पक्ष का निर्देशन लेखक महोदय के चिन्तन-लेखन के पश्चात्,

मार्ग दर्शन रूप आचार्य श्री पद्मनंदिमहाराज, जिनका कि स्वाध्याय प्रेम जग-प्रसिद्ध है, से लिया गया व तद् अनुसार उत्तरदायित्व संभाला ब्र. सुषमा जैन व संध्या जैन ने, जो कि बनारस विश्वविद्यालय से संस्कृत में आचार्या हैं ॥

वैयाकरण रूप में इस पुस्तक के व्याकरण विभाग के निरीक्षण के लिये सहयोग लिया गया डॉ. गजेन्द्रजी जैन, उज्जैन का ॥

प्रुफ रीडिंग का वृहत् भार डॉ. महेन्द्रकुमार मनुज, जिन्होंने कि जैनोलॉजी में डाक्टरेट की है, और सौ. मीना दीवाकर, जो कि हिन्दी व जैनालॉजी, दोनों में एम. ए. हैं, के सुपुर्द किया गया ॥

इन सभी के प्रति मैं हृदय से साधुवाद ज्ञापित करता हूँ ॥

इसी प्रकार प्रकाशन केआर्थिक पक्ष की ओर से हमें निश्चित करने वाले दान दाता, जिनका नाम पृष्ठ दो पर मुद्रित है, मैं उनका भी साधुवाद करता हूँ ॥

प्रकाशन का कार्य महत् होता है ॥ उसमें भी फिर सम्पादक का कार्य तो और भी महत् होता है ॥ त्रुटियाँ तो हुई होंगी, रही भी होंगी, उन सभी त्रुटियों के प्रति क्षमा याचना करते हुए मैं यहाँ विराम लेता हूँ ॥

आपका

भरत काला, मुंबई

पत्र व्यवहार हेतु पता :
डी-३१७,एकता वुड राहेजा स्टेट, कुपुल वाड़ी,
नेशनल पार्क के पास, बोरीवली (पूर्व), मुंबई (महा.)
दूरभाष : ०२२-३०६५३८५६

सम्पादकीय

(द्वितीय संस्करण के लिए)

प्रिय पाठको,
सादर जिन-स्मरण ।।

पता ही नहीं चला कि प्रथम संस्करण की पाँच हजार प्रतियाँ कब समाप्त हो गई ।।

चाह कर भी बहुसंख्य साधुओं व विद्वानों को समीक्षार्थ हम वितरित ही नहीं कर पाये, अतः क्षमा प्रार्थी हैं ।।

प्रबुद्ध पाठकों एवं सीमित विद्वानों/साधुओं तक पहुँची पुस्तक की समीक्षाएं हमारी आशा के अनुरूप त्वरित प्राप्त हुई ।। उन समीक्षाओं में कुछ सुझाव भी थे ।।

उन सुझावों के दो पक्ष थे, जिसमें प्रथम पक्ष संपादक मंडल के लिये था ।।

प्रकाशकों के दबाव के चलते सीमित समय में पुस्तक के प्रकाशन में कुछ प्रुफ रीडिंग की, तो कुछ मुद्रण संबंधि जो त्रुटियाँ शेष रह गई, उन त्रुटियों के लिये हम, इस द्वितीय सस्करण को उन दूषणों से मुक्त करने की कटिबद्धता पूर्वक, क्षमा प्रार्थी हैं ।।

द्वितीय सुझाव पुस्तक के कलेवर को लेकर था ।। पुस्तक आम पाठकों की अपेक्षा कई स्थलों पर क्लिष्ट हो गई थी, अतः सुझाव आया कि इन प्रकरणों को यदि थोडा सा प्रयास कर सरल कर दिया जाय, तो यह पुस्तक बहोपयोगी हो जाये ।। सो इस सुझाव को लेकर हम आदरणीय लेखक महोदय के पास गये व चर्चा की ।। उन्होंने हमारा निवेदन स्वीकार किया व विषय परिवर्धित/परिमार्जित/परिष्कृत करने को राजी हो गये ।। तीन माह के अथक परीश्रम के पश्चात् परिष्कृत पाण्डुलिपी लेखक महोदय ने हमारे सुपुर्द की ।।

पाण्डुलिपी निरखने पर हमें लगा मानों हम प्रथम संस्करण की मुद्रित पुस्तक नहीं, अपितु अन्य ही किसी पुस्तक का स्वाध्याय कर रहे हैं ।। पंडितजी की क्षायोपशमिक सामर्थ्य देख कर हम दंग रह गये थे ।। हमारे आनंद की कोई सीमा ही नहीं रही ।।

प्रिय पाठको, वही परिवर्धित/परिमार्जित/परिष्कृत संस्करण समीक्षार्थ

रही है, निश्चित ही उसकी कल्पना ही संभव नहीं, गुंगे का गुड़ है वह ।।

तृतीय सुझाव अनुक्रमणिका का था ।। इस सुझावानुसार भी पुस्तक में आवश्यक परिवर्तन करने को आदरणीय लेखक महोदय न सिर्फ राजी हो गये, अपितु उन परिवर्तनों को करते हुए आवश्यक शीर्षकों व उपशीर्षकों की निर्मिति भी की ।।

इन्ही सुझावों में टिप्पणी योग्य कुछ सुझाव और भी थे ।। चूँकि वे सुझाव क्रियान्वयन के लिये पंडितजी के चिंतन मनन की अपेक्षा रखते थे, अतः उन्हें द्वितीय संस्करण के लेखकीय आद्य वक्तव्य हेतु सुरक्षित रख दिया गया ।। हमारे हर्ष का पारावार उस समय दुगुना हो गया, जब उस आद्य वक्तव्य की पाण्डुलिपी हमारे हाथ आई ।। उस आद्य वक्तव्य के विषय में हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि ऐसी गहन, गंभीर और संक्षिप्त समालोचना हमारे देखने, पढने व सुनने में इसकें पूर्व कभी नहीं आई ।।

निश्चित ही इस पुस्तक की ही तरह यह आद्य वक्तव्य भी प्रबुद्ध पाठकों के लिये वर्तमान परिवेश में बुद्धि को समकित बनाये रखने हेतु मार्गाविबोध रूप कार्यकारी होगा ।।

आशा है कि विद्वानों व साधुजनों का स्नेह इस संस्करण के लिये भी पूर्ववत् प्राप्त होगा ।।

आपका स्नेहिल

भरत काला, मुंबई.

आद्य वक्तव्य...

(प्रथम संस्करण से)

प्रिय पाठको,

सादर जिन - स्मरण ।।

मेरे द्वारा समालोचित पूर्व पुस्तक ''क्या आर्यिका माताएँ पूज्य हैं ?'' को आपके द्वारा दिया गया उत्तम प्रतिसाद व आगम आलोक में देखने में आई बौद्धिक व क्रियात्मक प्रतिक्रियाएँ इस समालोचना के लेखन का कारण बनी ।।

वैसे तो उस पुस्तक के प्रकाशित होने के पश्चात् तत् संबंधी विवाद थम सा गया था, किन्तु फिर भी छुट-पुट प्रकाशन प्रकाशित होते रहे ।।

उन्हीं प्रकाशनों में एक लेख आदरणीय डॉ. साहब रतनचंदजी जैन भोपाल का दिसम्बर सन् २००१ की जिनभाषित मासिक पत्रिका में मुद्रित हुआ था ।। उस लेख पर भी प्रतिक्रियात्मक मैंने कुछ लिखा व कुछ महर्षियों व विद्वानो को संशोधन बुद्धि से बतलाया ।।

उन सभी का एक मत से उत्तर आया कि अब आप और कितनी मूर्खताओं का उत्तर देंगे ? विवाद शमनार्थ वही एक पुस्तक पर्याप्त है ।। उस एक पुस्तक में ही इस विषय में उठने वाली समस्त शंकाओं का निरसन है, यदि आपत्ति उठाने वाले उसका गंभीरता से अध्ययन करें तो ।।

इस मंतव्य के पश्चात् प्रस्ताव आया कि हम सभी चाहते हैं कि २० पंथ व २० पंथ आम्नाय की मान्यताओं में मिथ्यात्व-बुद्धि की उत्पत्ति से जिसका जन्म हुआ है, ऐसे १३ पंथ के मध्य चल रहे विवादों के शमनार्थ भी मैं पुरुषार्थ करूँ ।।

मैं भी राजी हो गया ।।

विषय बहुत व्यापक था ।। व्यापक ही नहीं, अपितु असावधानीवश उलझ गये यज्ञोपवीत के धागों सा, परस्पर में गुँथ सा गया हो, ऐसा ।।

अत्यंत निपुणता व धैर्यपूर्वक एक-एक धागे को अन्य धागे से पृथक् करते हुए व यज्ञोपवीत की सर्वांगता बनाये रखते हुए, इस कार्य को संपन्न करना था ।।

किंचित् भी प्रमाद या अकौशल्य धागे को खण्डित कर सकता था ।।

इस कार्य के लिये हमें आवश्यकता २० पंथ मान्य रूढियों के प्ररूपको

द्वारा की गई प्ररूपणा की नहीं थी, वह तो सरल व सीधी-सीधी थी, किन्तु उनका खण्डन कर उत्पन्न हुए १३ पंथीयों द्वारा प्ररुपित प्ररूपणाओं की थीं ॥

इन्हीं प्ररूपकों की प्ररूपणाएँ तय करने वाली थी कि उलझे हुए धागे सुलझाये गये हैं या कि सुलझे हुए धागे उलझा दिये गये हैं ॥

हमने खोज प्रारंभ की ॥

पं. टोडरमलजी से लेकर पं. सदासुखदासजी से होते हुए, पं. बैनाडाजी, पं. लुहाड़ियाजी, व अन्य भी मुनिमार्गी व मुनिविरोधी विद्वानों के द्वार-द्वार होते हुए हम ठहर गये डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल द्वारा लिपिबद्ध व मासिक पत्रिका जिन-भाषित के जनवरी सन् २००२ के अंक में प्रकाशित लेख ''शासन देवता सम्मान्य व पंच परमेष्ठी उपास्य'' पर ॥

इन सभी विद्वानों की प्ररूपणाओं में हमने देखा कि ये सभी विद्वान् पूर्वाग्रहों से दूषित हैं ॥

पूर्वाग्रहों से दूषित होने के कारण जिस ग्रंथ अथवा आचार्य भगवंतों के आश्रय से प्ररूपणा कर रहे हैं, उन आचार्य भगवंतों अथवा ग्रंथों के वचनों का आद्योपांत स्वाध्याय नहीं कर पा रहे हैं व उन्हीं ग्रंथों व आचार्य भगवंतों की पूर्व की अथवा पश्चात् की अथवा उन्हीं प्ररूपणाओं द्वारा बाधित हो रहे हैं ॥

इस समालोचना में इसलिये हमने और कुछ भी नहीं किया, सिवाय इसके कि जिस ग्रंथ अथवा आचार्य भगवंत को ये विद्वान् प्रमाण मानते हुए २० पंथियों की मान्यताओं को ढकोसला अथवा मिथ्यात्व निरूपित करते हैं, उन्हीं ग्रंथों व उन्हीं आचार्य भगवन्तों के, यहाँ तक कि उसी प्रकरण के आश्रय से सत्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है ॥

जिन ग्रंथों व आचार्य भगवंतों को उपर्युक्त १३ पंथी विद्वान् प्रमाण नहीं मानते व सम्पूर्ण लोक में आदरसूचक संबोधन भट्टारक को भी विकृत अर्थ दे, भट्टारकीय परम्परा प्ररूपित करते हैं, उन ग्रंथों अथवा आचार्य भगवंतों या विद्वानों का उल्लेख तक नहीं किया है ॥ यदि किया भी है, तो प्रथम प्रतिपक्ष द्वारा मान्य आचार्य भगवंतों की प्ररूपणा प्रस्तुत की है व पश्चात् प्रश्नचिह्नित आचार्य भगवंतों की निर्दोषता को उजागर करने वाली प्ररूपणाएँ ॥

जैसा कि हमने जिनेन्द्र भगवान के मत में प्रवेश पाने के लिए वैयाकरण व भाषा शास्त्री होने की अनिवार्यता की वकालत करते हुए सीधे-सीधे श्री हरिवंशपुराण जी से उद्धरण लेकर नहीं कहा, यदि कहते तो हमारे द्वारा प्रस्तुत प्रमाण बाधित कहलाता, क्योंकि प्रतिपक्ष की श्री हरिवंशपुराणजी में श्रद्धा नहीं है ॥ यदि श्रद्धा होती, तो क्या

१३ पंथ की उत्पत्ति हो सकती थी ? कदापि नहीं ॥

इसलिये प्रथम श्री धवलाजी, पुस्तक १, पृष्ठ १० से यह प्रमाण कहाः-

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परम् श्रेयः ॥

अर्थ :- शब्द से पद की सिद्धि होती है, पद की सिद्धि से अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ निर्णय से तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञान से परम कल्याण होता है।

उसके पश्चात् श्री राजवार्तिकजी, अध्याय १, सूत्र २०, वार्तिक १५ से यह प्रमाण कहा :-

यथाशाब्दमपि प्रमाणं श्रुतमेव।

अर्थ :- इसलिए शब्द भी श्रुत ही होने से प्रमाण है।

और अन्त में, उपर्युक्त आचार्य भगवंतों से, जिनकी प्रथमानुयोग अर्थात् कथा-कहानियों का अनुयोग कहते हुए उपेक्षा की जाती है, ऐसे श्री हरिवंशपुराणजी का मत पृथक नहीं है, की सिद्धि का मानस चित्त में रख, श्री हरिवंशपुराणजी, सर्ग १७, श्लोक ११७ के ये वचन उद्धृत किये :-

गुरुपूर्वक्रमादर्थाद् दृश्यः शब्दार्थनिश्चितः।
सान्यथा यदि जायेत जायेताध्ययनं तथा ॥११७॥

अर्थ :- कहने का तात्पर्य यह है कि गुरूओं की पूर्व परम्परा से शब्दों के अर्थ का निश्चय करना चाहिए ॥ यदि शब्दार्थ का निश्चय अन्यथा होता है तो अध्ययन भी अन्यथा हो जाएगा॥

इस विधि का स्मरण हमने आद्योपांत रखा है ॥

प्रथम मान्य आचार्य भगवंत की प्ररूपणा व पश्चात् संदिग्ध घोषित किये गये आचार्य भगवंतों की, उनकी संदिग्धता के निवारणार्थ ॥

एक और उदाहरण देना यहाँ उपयुक्त रहेगा ॥

जैसे वर्तमान में भगवान के जन्म कल्याणक को लेकर भ्रांतियाँ उत्पन्न कर दी गई हैं कि भगवान के पंच-कल्याणक उत्सवों में से जन्म-कल्याणक के उत्सवों में मुनिराज सम्मिलित हो सकते हैं अथवा नहीं ?

इस शका के समाधानार्थ प्रथम हमने श्री मूलाचारजी की सुप्रसिद्ध व सर्वमान्य सिद्धान्तचक्रवर्ती वसुनन्दि महामुनिकृत टीका आचारवृत्ति से उत्तर दिया व पश्चात् श्री आदिपुराणजी के जन्म-कल्याणक के उस प्रसंग को उद्धृत किया जिसमें कहा गया है कि चारण ऋद्धिधारी महामुनियों ने उस अभिषेक के प्रवाहित जल को अत्यन्त श्रद्धा व भक्ति से युक्त हो देखा ॥

यहाँ प्रश्न पूछा जा सकता है कि हमने ऐसा क्यों किया ?

ऐसा इसलिये किया गया क्योंकि हम स्वयं भी किसी भ्रान्ति में नहीं रहना चाहते थे॥

निःभ्रान्त होने के लिये हमें यही युक्ति उपयुक्त लगी॥

निश्चित ही प्रबुद्ध पाठकों को भी लगी होगी॥

लगनी भी चाहिये॥

जिन ग्रंथों अथवा वचनों के आश्रय से भ्रान्तियाँ निर्मित की जाएँ, उन्हीं ग्रंथों व वचनों के आश्रय से ही यदि भ्रान्तियों का शमन हो जाए, इससे अधिक उत्तम व उपयुक्त युक्ति क्या हो सकती है ? अर्थात् कोई नहीं॥

इसी के साथ हमने उन प्रबुद्ध पाठकों के लिये भी परिश्रम किया है, जो कि आगम प्रमाणों को मिथ्या अर्थ में प्रतिपक्षियों द्वारा प्रतिपादित किये जाने के कारण एकांतमति या एकांत आग्रही हो गये हैं॥

निश्चित ही उनके लिये भी यही विधि उपयुक्त रहेगी॥

किन्तु यहाँ हम उनसे कुछ निवेदन करना चाहते हैं॥

वह निवेदन यह है कि समीचीन अर्थ की प्ररूपणा के लिये हमें कहीं-कहीं व्याकरण व न्यायशास्त्रों की अत्यन्त जटिल प्ररूपणा विधियों का आश्रय लेना पडा है॥

अतः जहाँ-जहाँ पाठकों को लगे कि अरे !! यह तो हमारे सामर्थ्य से परे की प्ररूपणा है अथवा बोझिल है, उसे कृपया दो-दो, तीन-तीन बार पढ़ें, अथवा किसी वैयाकरण या विद्वान के आश्रय से पढ़ें, किन्तु पढ़ें अवश्य, टाल न दें, वर्ना स्मरण रखें कि एकान्तवाद का भूत हमें मिथ्यात्व से अनुरंजित करने हमारे द्वार पर ही खड़ा हमारी बाट जोह रहा है॥

सम्यक्त्व का मूल्य समझने के लिये हमें अपने बौद्धिक स्तर को ऊपर उठाना ही उठाना होगा, उसके अभाव में सिवाय भ्रांतियों के और कुछ भी नहीं मिलेगा॥

इतना ही नहीं, अपितु सम्यक्त्व के प्रति अवमूल्यन-बुद्धि को भी उत्पन्न करेगा॥

स्मरण रखें जिनके पास किंचित् भी बुद्धि नहीं है, उन्हीं के लिये आज्ञासम्यक्त्व का मार्ग है, किन्तु जो चिंतन का किंचित् भी पुरुषार्थ करते हैं अथवा सामान्य से सामान्य विषय में ही सही, किंतु समीचीन-असमीचीन का निर्णय देने को तत्पर रहते हैं, उनके लिये नहीं॥

उन्हें तो सम्यक्त्व ग्राह्य मेधा तक अपने बौद्धिक स्तर को उठाना होगा ।।

अतः प्रबुद्ध पाठकों से निवेदन है कि व्याकरणादि के आश्रय से प्ररूपित प्ररूपणाओं को जटिल कह त्याग न दें, क्योंकि मिथ्यामत मुख्यता से इसी प्रमाद का आश्रय ले पनपता अर्थात् फलता-फूलता है ।।

एक उदाहरण के आश्रय से अपनी बात कहूँ ।।

श्रीमद् इन्द्रनन्दि आचार्य को डॉ. रतनचंदजी जैन ने औपचारिकलाओं की समस्त सीमाओं का उल्लंघन कर स्पष्ट शब्दों में अवर्णवादी लिख दिया ।।

अब यहाँ श्रीमद् इन्द्रनन्दि आचार्य भगवन्त को समीचीन कहने के लिये व्याकरण शास्त्र की जटिल विधा के सिवाय अन्य कोई उपाय ही नहीं है ।।

यहाँ तो इन्द्रनन्दि आचार्य भगवंत का उदाहरण मात्र दिया है, किन्तु इसी भ्रामक बुद्धि का अवलंबन ले पता नहीं कितने ही आचार्य भगवन्तों के प्रति इन भ्रान्तबुद्धियों ने आम व खास समुदायों के मध्य मिथ्यादृष्टि, भट्टारक आदि-आदि की बुद्धि उत्पन्न कर दी है ।।

कहीं आप भी तो इन्हीं में से एक नहीं, इस प्रश्न के समाधानार्थ कृपया व्याकरण शास्त्र की जटिलताओं के आश्रय से की गई प्ररूपणाओं की उपेक्षा मत कीजियेगा ।।

यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि यह जटिलता भी सिर्फ और सिर्फ हमारे अज्ञान के कारण है, अन्य किसी कारण से नहीं ।।

जिस भाषा में तीर्थकर भगवान के मत को आचार्य भगवंत ने हमारे लिये प्रस्तुत किया, उस भाषा का न तो हमे ज्ञान ही है, न उसके प्रति अहोभाव और न ही उस भाषा का ज्ञान न होने की ग्लानि ही ।।

हमारी सम्पूर्ण धारणाएँ बिचौलियों व अनुवादकर्ताओं की धारणाओं का आश्रय कर वर्त रहीं हैं ।।

इसमे भी मूढता यह हो रही है कि जैन धर्मावलम्बियों में भाषाशास्त्री अर्थात् अनुवादकों व प्रतिष्ठाचार्यो की सिद्धान्तचक्रवर्तियों की सी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है ।। न सिर्फ उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई है, अपितु उन्होंने अनुवाद भी मानो वे सिद्धान्तचक्रवर्ती ही हों, इस बुद्धिपूर्वक किये हैं ।।

इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि जिनागम का सैद्धान्तिक पक्ष मृतप्रायः हो गया व इन अनुवादकर्ताओं का मत जीवंत ।।

इस विषय में इन्द्रनन्दि आचार्य भगवंत को डॉ. रतनचंदजी जैन द्वारा अवर्णवादी कहना, निश्चित ही पर्याप्त उदाहरण है ।।

इस एक उदाहरण को उपलक्षण मानकर अन्य उदाहरणों को क्रमशः स्मरण करते जाना है कि अनजाने-अज्ञातभाव में ही हम न जाने कितने आचार्य भगवंतों को मिथ्योपदेशक कहने का पाप कर आये हैं, इसका स्मरण कर, उस पाप के प्रायश्चित को तत्पर होना है ॥

इस पाप से मुक्त होने के लिये ही पाठकवर्ग को अपने बौद्धिक कद को ऊपर उठाना ही उठाना होगा, वर्ना धर्म के नाम पर हम केवल केवली अवर्णवाद को ही ढोते हुए पाये जाएंगे ॥

अपने आद्यवक्तव्य के अन्त में, मैं यहाँ **क्या आर्यिका माताएँ पूज्य हैं ?** पुस्तक के आद्यवक्तव्य के अंश को ही उद्धृत् करना चाहूँगा, जो कि इस प्रकार है :-

मैंने इस पुस्तक में भी सिर्फ एक ही लक्ष्य रखा है कि मेरे तर्कों से आगम में उल्लेखित सूत्रों में बाधा न आ जाए ॥

कहीं मुझे भी मेरे तर्कों के आश्रित हो यह न कहना पड जाए कि अरे !! यह तो अन्य मत से आया है, यह तो भट्टारकीय परम्परा है, यह आगम-बाह्य वचन है. ....ये तो

यदि इसके बाद भी मैं स्खलित हुआ हूँ तो पाठकगण कृपा कर मुझे क्षमा करें ॥

आप सभी से मेरा यही निवेदन है कि यदि मेरा तर्क आगम में उपलब्ध किसी भी सूत्र का उल्लंघन करे, तो कृपा कर आगम के सूत्र मत छोडिएगा, मुझे छोड दीजिएगा. ..... .

यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि आखिर हम आगम कहें तो किसे कहें ?

सरल सा उत्तर है कि हमारे पास पचास से साठ ऐसे ग्रन्थराज हैं, जिनमें कि न सिर्फ वर्तमान के सतस्त आवश्यक विषय संकलित हैं, अपितु जिनकी प्रामाणिकता पर किसी भी एक स्याद्वादी विद्वान को संदेह नहीं है, अतः हम और कुछ भी न करें, सिवाय इसके कि इन पचास या साठ धर्मग्रन्थों को प्रमाण मान कर, उन्हीं की सी अनुसारिणी बुद्धि का स्वयं को भी बना लें ॥

जैसे :- श्री षट्खण्डागमजी, श्री कषायपाहुडजी, श्री धवलाजी, जय धवलाजी, महाधवलाजी ॥ श्री तत्त्वार्थसूत्रजी, श्री सर्वार्थसिद्धिजी, राजवार्तिकजी, श्लोकवार्तिकालंकारजी ॥ श्री देवागम स्तोत्रजी, अष्टशतीजी, अष्टसहस्त्रीजी ॥ श्री मूलाचारजी, मूलाचारप्रदीपजी, आचारसारजी, अनगार धर्मामृतजी ॥ श्री तिलोयपण्णत्तिजी, त्रिलोकसारजी, जम्बूद्वीपपण्णत्तिजी ॥

श्री समयसारजी, प्रवचनसारजी, पंचास्तिकायजी एवं इन पर उपलब्ध श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यजी एवं श्रीमद् जयसेनाचार्यजी की टीकाएँ, नियमसारजी, अष्टप्राभृतजी ।। श्री रत्नकरण्डश्रावकाचारजी, पुरुषार्थसिद्धयुपायजी, उपासकाध्ययनजी, सागार धर्मामृतजी ।। सभी प्रतिष्ठा ग्रन्थजी (पूजा सम्बन्धी मीमांसा के लिये) ।। श्री आदिपुराणजी, उत्तरपुराणजी, हरिवंशपुराणजी, यशस्तिलकचम्पूजी महाकाव्य ।। श्री गोम्मटसार जीवकाण्डजी, गोम्मटसार कर्मकाण्डजी, आलापपद्धतिजी, सन्मतिसूत्रजी, नयचक्रजी, कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी, भावसंग्रहजी, श्री परीक्षामुखजी, प्रमेयरत्नमालाजी, प्रमेय कमलमार्तण्डजी, श्री आप्तपरीक्षाजी आदि-आदि ।।

ये नाम अंतिम नहीं हैं, और भी ग्रन्थ हैं, उन्हें अपनी-अपनी सम्यक्बुद्धि अनुसार संकलित कर लें ।।

उपरोक्त पूजा की पुस्तक से लेकर श्री धवला जी महाग्रन्थों तक के सम्यक् स्वाध्यायी के लिये, सच कहता हूँ, संपूर्ण संसार में शंका को स्थान ही शेष नहीं बचता ।।

निर्दोष बुद्धि का हो जाता है वह ।।

इस लोक में ऐसा कोई प्रश्न अथवा चिन्तवन शेष नहीं, जिसे कि उपर्युक्त धर्मग्रन्थों में आचार्य भगवंतों ने विस्मृत कर दिया हो, यहाँ तक कि १३पंथ-२० पंथ के नाम पर उठाये गये विवादों के भी उत्तर हैं इन धर्मग्रंथों में ।।

अतः हमें नये सिरे से सोच की आवश्यकता ही नहीं ।।

जितना शंकित विषय था, उन सभी विषयों पर स्वयं आचार्य भगवंतों ने चिन्तन कर निःशंक होने की नींव सम्यक्दर्शन रूपी महल की निर्मिति हेतु हमारे लिये सहज ही उपलब्ध कर रखी है ।।

चूँकि सामग्री उपलब्ध है, अतः अब निःशंक होने का पुरुषार्थ हमें करना है ।।

वर्तमान में उपलब्ध सूत्र मिथ्या हैं या सम्यक्, इस प्ररूपणा की आवश्यकता ही नहीं ।। यह परिश्रम तो पिछले २००० वर्षों की यात्रा में हो चुका ।। अब तो उपलब्ध सूत्रों की अनुसारिणी बुद्धि का होकर, निःशंक चित्त के धारी होने के पुरुषार्थ की आवश्यकता है ।।

एकबार पुनः कह दूँ कि मेरे मन में आदरणीय बैनाडाजी अथवा डॉ. रतनचंदजी या अन्य विद्वानों के प्रति व्यक्तिगत द्वेष अंशमात्र भी नहीं है ।।

यदि मैं कहीं-कहीं मीमांसा में अथवा इस आद्य वक्तव्य में कड़वा हो गया हूँ, तो मात्र इसलिये कि हमारे पूर्वाचार्यों, विद्वानों व वर्तमान के पिच्छिधारियों

के प्रति उन्होंने धृष्टता की है ।।

यद्यपि उनके द्वारा की गई धृष्टता निश्चित ही अक्षम्य अपराध है, किंतु इसके पश्चात् भी, उन्हें क्षमा करते हुए, उनके प्रति जो मैं धृष्ट हो गया हूँ, उसकी नवकोटि से क्षमा याचना करता हूँ ।।

आशा करता हूँ, मुझे लघु जान वे अवश्य ही क्षमा कर देंगे ।।

शेष शुभ ।।

आपका स्नेहिल

१३ फरवरी २००५

माघ शुक्ला पंचमी (बसत पंचमी) हेमंत काला, इंदौर(म.प्र.)

''मन लुमावन, किंतु पथ भटकावन''

पुस्तक के इस भाग मे हम डॉ साहब के कुछ ही ''**मन लुमावन, किंतु पथ भटकावन**'' वचनों का निरसन कर पाये हैं, शेष का निरसन पुस्तक की पृष्ठ सख्या के आधार पर उत्तरार्द्ध में करेंगे ।।

निरसन तो हम श्री सवार्थसिद्धिजी आदि ग्रंथो के अनुवादक व बहु पठनीय विद्वान प.फूलचद जी, जो कि अपने नाम के आगे सिद्धांत शास्त्री लिखते थे, के मतव्यो का भी पृथक रूप से करना चाह रहे थे, किन्तु, चूंकि डॉ साहब के मतव्यो में उनके मतव्यों का निरसन समाविष्ट हो गया था, इसलिये उसे पृथक से नहीं लिखा ।।

सिर्फ पाठकों के बोधनार्थ अर्थात् १३ पथीय चितन शैली का ज्ञापन करने के अर्थ हम उनके मतव्यो/वक्तव्यों का आश्रय लेकर कुछ कह रहे है ।।

प फूलचद सिद्धात शास्त्री जी ने श्री सर्वार्थसिद्धिकार जी के क्षयिक दान प्रकरण में प्ररूपित मतव्यो को उद्दंडता की पराकाष्ठा पर पहुँचकर अनुपयुक्त कहा है ।।

निश्चित ही उद्दण्डता की हद पार कर किया गया दु·साहस है यह उनका ।।

यह दु·साहस उपयुक्त तब कहलाता, जब वे स्वय को श्री सर्वासिद्धिकार जी की अपेक्षा व्याकरण, भाषा, न्याय व दर्शन में श्रेष्ठ सिद्ध कर करते ।।

किंतु न तो वैसा वे अपनी (कु) तर्कना शक्ति के आश्रय से सिद्ध ही कर पाये और न ही वे वैसे वैयाकरण, भाषा शास्त्री अथवा न्यायज्ञ/दर्शनज्ञ ही हैं ।।

वैसा वैयाकरणत्व, वैसा भाषाशास्त्रीपन, वैसी न्याय-दर्शनज्ञता नहीं होने के पश्चात् भी जिस उद्दंडता से उन्होने श्री सवार्थसिद्धिकारजी के वचनो को अनुपयुक्त लिखा है, वह न सिर्फ उनकी मदबुद्धिता के ज्ञापनार्थ पर्याप्त है, अपितु उनके चित्त में स्थित मिथ्यात्व की महिमा का उद्योत करने वाली भी है ।।

कथाचित् डॉ रत्नचंद जी, पं फूलचद जी की अपेक्षा मन्दबुद्धि कहला सकते है ।।

जब पं फूलचंद जी की ही ऐसी स्थिति है, तब उन्हीं के परपरा शिष्य डॉ साहब को पृथक से उलाहना क्या दें ? उसे तो दिया ही नहीं जा सकता ।।

- आद्यवक्तव्य (द्वितीय सस्करण के लिए) से

आद्य वक्तव्य...

(द्वितीय संस्करण के लिए)

प्रिय पाठको,

सादर जिन समरण ॥

जो कुछ भी मुझे इस पुस्तक के संबंध में लिखना था, प्रथम संस्करण के आद्य वक्तव्य में लिख चुका हूँ ॥

जहाँ तक मैं समझता हूँ, उससे अधिक कुछ लिखने को शेष भी नहीं ॥

किंतु नहीं, ऐसा नहीं है ॥ ३३ सागर तक चलने वाली चर्चाओं का रहस्य शनै:-शनै: उजागर हो रहा है ॥

लेकिन ऐसा भी नहीं है कि चर्चायें सतत चलती ही रहती थी, इति को प्राप्त ही नहीं होती थी ॥ यदि चर्चायें इति को प्राप्त न हो, तो निर्णायक स्थिति कभी बन ही न पाये व संशय , अनध्यवसाय एवं विपर्यय की संभावनायें सतत बनी रही ॥

संशय, अनध्यवसाय व विपर्यय की स्थिति को टालने के लिये ही, इस द्वितीय संस्करण में स्वयं के चिंतन व प्राप्त सुझावों के आश्रय से हमने कई स्थानों पर विषय को परिमार्जित, परिष्कृत, परिवर्धित करने का प्रयास किया है ॥

हमें पता नहीं, इस कार्य में हम सफल हुए भी हैं या नहीं ॥ इसका पता तो आप बंधुगणों से प्राप्त प्रतिक्रियाओं के पश्चात् ही चल पायेगा ॥

इस संस्करण में हमने प्राप्त सुझावों के आधार से एक वृहत् निर्णय लिया ॥

सुझाव यह आया था कि हमारी पिछली पुस्तक 'क्या आर्यिका मातायें पूज्य हैं ?' में जैसे हमने हमारी समालोचना के साथ आदरणीय बैनाडा जी का लेख भी मुद्रित करवाया था, ठीक उसी प्रकार पाठकों की सुविधार्थ यदि डॉ. रतनचंद्र जी जैन के भी लेख को इस द्वितीय संस्करण में स्थान दे दिया जाय तो उत्तम हो ॥

सुझाव हमें उपयुक्त लगा ॥

सो इसी सुझावानुसार इस पुस्तक के अंत में हमने डॉ. साहब के लेख को जिसकी कि हम यहाँ मुख्य रूप से समालोचना कर रहे हैं, मुद्रित कर दिया ॥ मुद्रित करवाते हुए लेख की विषय वस्तु की अपेक्षा उसे दो भागों में विभक्त कर दिया, पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध ॥

पूर्वार्द्ध का भाग स्पष्टत: तीर्थंकर भगवान की वाणी है ।। इस पूर्वार्द्ध में लेखक ने न सिर्फ पूर्वाचार्यों की वाणी को जस का तस स्थान दिया है, अपितु उसकी पुष्टि का पूरा-पूरा प्रयास किया है, इसलिये इस पूर्वार्द्ध को हमने संज्ञा दी :-

"शासन देवता तीर्थंकर प्रभू की ही प्ररूपणा है"

किंतु उत्तरार्द्ध का लेख पढते हुए स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि लेखक स्वयं को ही तीर्थंकर मानने लग गया है ।। स्वयं को तीर्थंकर सदृश मानते हुए घोषणा कर दी कि प्रतिष्ठादि ग्रंथों को नये सिरे से लिखे जाने की पहल की जानी चाहिये ।।

पूछा गया कि क्यों, क्यों पहल की जानी चाहिये, तो बाल नोच लेने को मन करे ऐसा उत्तर उन्होंने दिया है, सुनिये :-

"यद्यपि पुराणकारों और प्रतिष्ठापाठों में जिनेन्द्र देव और शासन देवों को समान रूप से पूज्य मानने का निषेध किया है, तथापि मिथ्यादृष्टियों पर इसका असर नहीं पड़ता....."

प्रिय पाठको, इन्हीं मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा, जो कि शासन देवताओं को जिनेन्द्र देव के तुल्य पूजनीय मान समान रूप से अथवा जिनेन्द्र देव से अधिक उनकी पूजा करते हैं, डॉ साहब जिनेन्द्र भगवान द्वारा सम्यक् दृष्टि जीवों के लिये प्ररूपित शासन देवता प्रकरण को नये सिरे से लिखना चाहते हैं ।।

हैं न मूर्खता ? नहीं है क्या ?

पढ़कर बाल नोंच लेने का मन नहीं कर रहा है ?

कर रहा है न ?

हमारा भी मन किया था ।।

अत: हमने इस उत्तरार्द्ध का शीर्षक :-

"शासन देवता और (मिथ्या)तीर्थंकर डॉ. साहब की प्ररूपणा"

इतना होने के पश्चात् भी डॉ. साहब के लेखकीय गुण की प्रशंसा तो करनी ही करनी होगी कि उन्होंने विषय को इस शैली में प्रस्तुत किया है कि आम पाठक व औसत बुद्धि के विद्वान उनके पक्ष में/उनके पक्ष की प्ररूपणा में उनके साथ हो जाएं ।।

अन्य मतियों के शीर्ष पुरूषों के साथ पाया जाने वाला अपार जन समूह उनके इसी गुण के कारण संभव हो पाता है, अन्य किसी कारण से नहीं ।।

इन्हीं आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों की भीड/समूह का नेतृत्व करने व नेता स्वीकृत होने के लिये डॉ. साहब को अनेकश: बधाई ।।

इस प्रकार पाठकों व प्रबुद्ध श्रोताओं की ओर से आये सुझावों के अनुसार

हमने इस संस्करण के अंतिम पृष्ठों पर डॉ साहब का लेख पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध ऐसे दो भागों में विभक्त कर मुद्रित करवाया है ।।

आशा है पाठक वर्ग इसका उपयोग समीचीन समालोचनार्थ अवश्य करेंगे ।।

पुस्तक के इस भाग में हम डॉ. साहब के कुछ ही **''मन लुभावन, किंतु पथ भटकावन''** वचनों का निरसन कर पाये हैं, शेष का निरसन पुस्तक की पृष्ठ संख्या के आधार पर उत्तरार्द्ध में करेंगे ।।

निरसन तो हम श्री सवार्थसिद्धिजी आदि ग्रंथों के अनुवादक व बहु पठनीय विद्वान पं.फूलचंद जी, जो कि अपने नाम के आगे सिद्धांत शास्त्री लिखते थे, के मंतव्यों का भी करना चाह रहे थे, किन्तु, चूंकि डॉ.साहब के मंतव्यों में उनके मंतव्यों का निरसन समाविष्ट हो गया था, इसलिये उसे पृथक से नहीं लिखा ।।

सिर्फ पाठकों के बोधनार्थ अर्थात् १३ पंथीय चिंतन शैली का ज्ञापन करने के अर्थ हम उनके मंतव्यों/वक्तव्यों का आश्रय लेकर कुछ कह रहे हैं, सो सुनिये :-

पं फूलचंद सिद्धांत शास्त्री जी ने श्री सर्वार्थसिद्धिकार जी के क्षायिक दान प्रकरण में प्ररूपित मंतव्यों को उद्दडता की पराकाष्ठा पर पहुँचकर अनुपयुक्त कहा है ।।

निश्चित ही उद्दण्डता की हद पार कर किया गया दु:साहस है यह उनका ।।

यह दु साहस उपयुक्त तब कहलाता, जब वे स्वयं को श्री सर्वासिद्धिकार जी की अपेक्षा व्याकरण, भाषा, न्याय व दर्शन में श्रेष्ठ सिद्ध कर करते ।।

किंतु न तो वैसा वे अपनी (कु) तर्कना शक्ति के आश्रय से सिद्ध ही कर पाये और न ही वे वैसे वैयाकरण, भाषा शास्त्री अथवा न्यायज्ञ/दर्शनज्ञ ही हैं ।।

वैसा वैयाकरणत्व, वैसा भाषाशास्त्रीपन, वैसी न्याय-दर्शनज्ञता नहीं होने के पश्चात् भी जिस उद्दंडता से उन्होंने श्री सवार्थसिद्धिकारजी के वचनो को अनुपयुक्त लिखा है, वह न सिर्फ उनकी मंदबुद्धिता के ज्ञापनार्थ पर्याप्त है, अपितु उनके चित्त में स्थित मिथ्यात्व की महिमा का उद्योत करने वाला भी है ।।

कथंचित् डॉ रतनचंद जी, पं. फूलचंद जी की अपेक्षा मन्दबुद्धि कहला सकते हैं ।।

जब पं. फूलचंद जी की ही ऐसी स्थिति है, तब उन्हीं के परंपरा शिष्य डॉ साहब को पृथक से उलाहना क्या दें ? उसे तो दिया ही नहीं जा सकता ।।

पं. फूलचंद जी की उपर्युक्त कथनी अकेले क्षायिक दान प्रकरण पर ही ऐसी है, अन्य प्रकरणों पर नहीं, ऐसा नहीं है, अपितु कई-कई स्थानों पर वे चूके हैं ।।

उन समस्त चूकों पर एक ही ग्रंथ में चर्चा करना संभव नहीं, यहाँ तो हम सिर्फ हंड़िया में से परीक्षार्थ भात का एक दाना मात्र प्रस्तुत कर सकते हैं, सो किया है, लिजीये सुनिये :-

श्रीमद् सर्वार्थसिद्धिकार जी लिखते हैं कि अभयदानादि कार्यों का संपादन क्षायिक दानादि लब्धियाँ जिसकी अपेक्षा करती हैं, ऐसे तीर्थंकर प्रकृति व शरीर नाम कर्म का कार्य है ।। (श्री सर्वार्थसिद्धिजी, अध्याय २, सूत्र ४, पृष्ठ १११)

यह मत अकेले सर्वार्थसिद्धिकारजी का ही है, अन्य आचार्यों का नहीं, ऐसा नहीं, अपितु श्री राजवार्तिककार, श्री श्लोक वार्तिकालंकारकार, श्री तत्त्वार्थवृत्तिकाकारजी आदि अनेकानेक आचार्य भगवंतों का है ।। और तो और श्री धवलाकारजी का भी यही मत है ।।

इस प्रकार प्रत्यक्ष श्रीमद् सर्वार्थसिद्धिकारजी एवं परोक्ष रूप से शेष सभी आचार्य भगवंतों के मंतव्य का खण्डन करते हुए सिद्धाँत शास्त्री जी लिखते हैं कि गर्भ में आने से ६ माह पूर्व रत्नादि की वृष्टि करना, छप्पनकुमारियों द्वारा माता का गर्भ शोधन, रक्षादि कार्यों को करना, उत्सवादि मनाना, समवशणादि की रचना करना आदि भक्ति व धर्मानुराग के कार्य हैं, तीर्थंकर भगवान को प्राप्त क्षायिक दान नामक लब्धि के साथ प्राप्त तीर्थंकर प्रकृति व शरीर नाम कर्म के नहीं ।। (श्री सर्वार्थसिद्धिजी का हिन्दी अनुवाद, अध्याय २, सूत्र ४का विशेषार्थ, पृष्ठ ११२)

यहाँ प्रश्न यह है कि यदि ये कार्य भक्ति व धर्मानुराग के ही हैं, तब तो सभी तद्भव मोक्षगामियों के प्रति किये जाने चाहिये, मात्र तीर्थकरों के नहीं ।।

और मात्र तीर्थकरों के ही लिये किये जाते हैं, तब तो सिद्ध यह हुआ कि एकभवावतारी सौधर्मादिक इन्द्रों को तीर्थकर भगवान के अनंतचतुष्टय के प्रति राग व भक्ति नहीं है, अपितु तीर्थकर प्रकृति व तीर्थकरों के शरीर नाम कर्म के प्रति है ।।

क्या सम्यक्दृष्टि जीवो का अनंतचतुष्टय को गौण कर तीर्थकर नामकर्म के प्रति भक्ति से ओतप्रोत हो कल्याणकादिकों का करना संभव है ?

नहीं न ?

चूँकि सम्यक्दृष्टि जीवों में यह संभव ही नहीं, इसलिये कहा जा सकता है कि सत्य कुछ और ही है ।।

वह सत्य क्या है ?

तो वह सत्य यह है कि अन्य अनंतचतुष्टय धारियों में नहीं पाई जाने वाली गर्भ में आने से ६ माह पूर्व रत्नादि की वृष्टि, छप्पनकुमारियों द्वारा माता के गर्भ का

शोधन व रक्षादि कार्यों का करना, जन्म कल्याणादिक उत्सवों का मनाना, समवशरण की संरचना आदि सम्यक्दृष्टियों की भक्ति का नहीं, अपितु तीर्थंकर प्रकृति का कार्य है ।।

यदि तीर्थंकर प्रकृति का यह कार्य नहीं होता, तो सभी अनंतचतुष्टय धारियों में यह कार्य पाया जाना चाहिये था, जो कि नहीं मिलता।।

यहाँ धवलाकार जी के पुस्तक १२वीं पर उद्धृत वचन स्मरण करने योग्य हैं, सुनिये .-

जिसके बिना जो नियम से नहीं पाया जाता, वह उसका कार्य व दूसरा कारण होता है ।।(श्री धवलाजी, पुस्तक १२, पृष्ठ २८८)

इस सूत्रानुसार स्वतः सिद्ध है कि अन्य अनंतचतुष्टय धारियों के नहीं पाये जाने वाले पंचकल्याणकादि कार्य अनंतचतुष्टयादि के कार्य नहीं हैं और न ही सम्यक्दृष्टियों के राग के कारण निष्पन्न कार्य, वर्ना सभी तद्भव मोक्षगामियों के वे पाये जाते, किंतु नहीं पाये जाते, यही कारण इस सत्य की स्थापनार्थ पर्याप्त है कि पंचकल्याणकादि कार्य न तो अनंत चतुष्टयादिक के हैं और न ही भक्ति व राग के।।

तब किसके हैं ?

तीर्थंकर प्रकृति के, क्यो कि वह जिनके पाई जाती है, उनके पंचकल्याणकादि नियम से पाये जाते हैं, व जिनके नहीं पाई जाती, उनके नहीं ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अभयदानादि कार्य क्षायिक दानादि के साथ-साथ तीर्थंकर प्रकृति व नाम कर्म की भी अपेक्षा करते हैं।। उन दो के सद्भाव से ही करने योग्य कार्य होता है, अभाव करके नहीं ।।

अर्थात् आचार्य भगवंत के वचन सत्य हैं या नहीं, यह तो दूर की बात है, किंतु आचार्य भगवंत के वचनो को अनुपयुक्त कहने वाले सिद्धाँत शास्त्रीजी के स्वयं के वचन ही मोह रूपी मदिरा पान किये हुए के वचन हैं, इसे निश्चित ही अब पृथकतया सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं ।।

शायद पाठक वर्ग न सिर्फ समझ रहे होंगे, अपितु सिद्धाँत शास्त्रीजी की बुद्धि व उस बुद्धि के आश्रय से स्याद्वादी रूप से प्रसिद्ध पूर्वाचार्यो पर अनुपयुक्त वचनों को प्ररूपित करने का आरोप लगाने वाली मंशा पर खीज भी आ रही होगी ।।

नहीं आ रही होगी क्या ?

आ क्यों नहीं रही होगी ? नियम से आ रही होगी ।।

यहॉ हम पुनः कहना चाह रहे हैं कि सम्पूर्ण १३ पंथी समाज इन व इन जैसे

ही अन्य विद्वानों की बनाई गई नींव पर अपने लिये मोक्ष रूपी महल की निर्मिति के स्वप्न देख रहा है ।। उनका यह स्वप्न अनंत काल बीत जाने के पश्चात् भी क्या पूर्ण हो पायेगा ?

निश्चित ही नहीं ।।

वैसे तीर्थंकर प्रकृति कार्य कैसे करती है, इस विषय पर समुचित प्रकाश इस पूर्वार्द्ध में तीर्थंकर भगवान में दातृत्व गुण की सिद्धि करते हुए ड़ाला गया है, व उत्तरार्द्ध में पुनः ड़ाला जायेगा, कृपया निःशंक होने के लिये उन-उन प्रकरणों का स्वाध्याय करें ।। स्वाध्याय करने के पश्चात् शेष रह गई शंकाओं के निरसनार्थ हमें लिखें, हम यथासंभव प्रयास करेंगे ।।

एक बार पुनः कह दूँ कि हमारे मन में आदरणीय बैनाडाजी अथवा डॉ रतनचंदजी या पं. फूलचंदजी आदि विद्वानों के प्रति व्यक्तिगत द्वेष अंशमात्र भी नहीं है ।।

यदि हम कहीं-कहीं मीमांसा में अथवा इस आद्य वक्तव्य में कड़वे हो गये हैं, तो मात्र इसलिये कि हमारे पूर्वाचार्यों, विद्वानों व वर्तमान के पिच्छिधारियों के प्रति इन्होंने धृष्टता की है ।।

इसके पश्चात् भी, इन्हें क्षमा करते हुए, इनके प्रति जो हम धृष्ट हो गये हैं, उसकी नवकोटि से क्षमा याचना करते हैं ।।

आशा करते है, हमें लघु जान वे अवश्य ही क्षमा कर देंगे ।।

शेष शुभ ।।

२ जून २००५ — आपका स्नेहिल

ज्येष्ठ कृष्णा एकादशी,

समय दोप. ◷ । — हेमंत काला, इंदौर(म.प्र.)

*****

* संदर्भ-१ *

इस पुस्तक में २० पंथ स्थापनार्थ व १३ पंथ खण्डनार्थ प्रमाण रूप में प्रस्तुत/उद्धृत ग्रंथों की सूची :-

१) श्री धवलाजी पुस्तक पहली, आचार्य वीरसेन स्वामीजी
२) श्री धवलाजी पुस्तक सातवी, आचार्य वीरसेन स्वामीजी
३) श्री धवलाजी पुस्तक नौवी, आचार्य वीरसेन स्वामीजी
४) श्री धवलाजी पुस्तक तेरहवीं, आचार्य वीरसेन स्वामीजी
५) श्री धवलाजी पुस्तक चौदहवी, आचार्य वीरसेन स्वामीजी
६) श्री तत्त्वार्थसूत्रजी, भगवन् उमास्वामीजी
७) श्री सर्वार्थसिद्धिजी, भगवन् पूज्यपाद स्वामीजी
८) श्री राजवार्तिकजी, श्री भट्टाकलकदेवजी
९) श्री श्लोकवार्तिकालकारजी, आचार्य श्री विद्यानद जी
१०) श्री आप्तमीमासा जी, श्रीमद् समतभद्राचार्यजी
११) श्री स्वयभूस्तोत्रजी, श्रीमद् समतभद्राचार्यजी
१२) श्री आप्तपरीक्षा जी, आचार्य श्री विद्यानद जी
१३) श्री मूलाचारजी, श्रीमद् वट्टकेराचार्यजी एव उस पर आचार्य वसुनदि सिद्धान्त चक्रवर्त्ती कृत आचारवृत्ति टीका
१४) श्री भगवती आराधनाजी, श्रीमद् शिवकोटि आचार्य एव उस पर श्री विजयोदय टीका आचार्य अपराजितजी कृत
१५) श्री तिलोयपण्णत्तिजी, श्रीमद् यतिऋषभाचार्यजी
१६) श्री त्रिलोकसारजी, भगवन् नेमिचद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती एवं उस पर आचार्य त्रैविद्यदेव कृत सस्कृत छाया व टीका तथा तत् अनुसार प टोडरमलजी कृत भाषा टीका
१७) श्री गोम्मटसारजी जीवकाण्ड, भाग-१ एव २, भगवन् नेमिचद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, एव श्री जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका श्रीमद् केशववर्णीजी कृत
१८) श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड, भाग-१ एव २, भगवन् नेमिचद्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, एव उस पर श्री जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका श्रीमद् केशववर्णीजी कृत
१९) श्री आदिपुराणजी, भाग १ और २, भगवन् जिनसेनाचार्यजी
२०) श्री उत्तरपुराणजी, भगवन् गुणभद्राचार्यजी
२१) श्री हरिवशपुराणजी, भगवन् जिनसेनाचार्यजी
२२) श्री पद्मपुराणजी, भगगवन् रविषेणाचार्यजी
२३) श्री भावसग्रहजी, पूज्यपाद देवसेनाचार्यजी

२४) श्री समयसारजी, श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यजी एवं उस पर श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यजी कृत श्री आत्मख्यातिजी संस्कृत टीका
२५) श्री प्रवचनसारजी, श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यजी एव उस पर श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यजी कृत श्री तत्त्वप्रदीपिकाजी टीका व श्रीमद् जयसेनाचार्य जी कृत तात्पर्यवृत्ति टीका
२६) श्री अष्टपाहुडजी, श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यजी एवं उस पर श्रीमद् श्रुतसागरजी सूरि कृत संस्कृत टीका
२७) श्री नियमसारजी, श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यजी एवं उस पर श्रीमद् पद्मप्रभमलधारीदेव कृत संस्कृत टीका
२८) श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी, भगवन् कार्तिकेय स्वामीजी एवं उस पर श्रीमद् शुभचंद्राचार्यजीकृत सस्कृत टीका
२९) श्री द्रव्यसंग्रहजी, श्रीमद् नेमिचंद्राचार्यजी एवं उस पर महोदय ब्रह्मदेवसूरि कृत सस्कृत टीका
३०) श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपायजी, श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यजी
३१) श्री भक्तामर स्तोत्रजी, श्रीमद् मानतुगाचार्यजी
३२) श्री चत्तारिदण्डकजी (परंपरागत)
३३) श्री इद्रनंदिनितिसासग्रजी, श्रीमद् इंद्रनंद्याचार्यजी
३४) श्री जैनेन्द्रसिद्धान्त कोशजी(चारो भाग), क्षुल्लक श्री जिनेन्द्रवर्णीजी
३५) श्री चारित्र चक्रवर्तीजी, प. सुमेरचंदजी दिवाकर
३६) श्री लाटीसहिताजी, पं. राजमल्लजी
३७) मोक्षमार्गप्रकाशकजी, प टोडरमलजी
३८) श्री रत्नकरण्डश्रावकाचारजी पर प. सदासुखदासजी कृत भाषा टीका
३९) प्रतिष्ठा रत्नाकरजी, प गुलाबचंदजी पुष्प
४०) जिनभारती संग्रहजी, संपादक · ब्र प्रदीप जैन पियूष
४१) पूजन पाठ प्रदीपजी, संपादक श्री श्रीकृष्ण जैन
४२) सिद्धहेमशब्दानुशासनम्जी, श्री हेमचन्द्र सूरीजी
४३) अष्टाध्यायीजी, श्री हेमचन्द्र सूरीजी
४४) लघुसिद्धान्तकौमुदीजी, श्री वरदराजजी भट्टाचार्य
४५) सस्कृत हिन्दी कोशजी, श्री वामन शिवरामजी आप्टे
४६) श्री प्रमाणप्रमेय कलिकाजी, श्रीमद् नरेन्द्रसेनाचार्यजी
४७) श्री युक्त्यानुशासनजी, भगवन् समतभद्राचार्यजी

सम्पादक

भरत काला, मुंबई (महा.)

* संदर्भ-२ *

इस पुस्तक में जिन विद्वानों के आश्रय से १३ पंथ आम्नाय को मान्यताओं को संदिग्ध ठहराया गया है, उन विद्वानों के नाम :-

१) डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल (म.प्र.)
२) पं. रतनलालजी बैनाडा, आगरा (उ.प्र.)
३) प्रतिष्ठाचार्य गुलाबचंदजी पुष्प, टीकमगढ (म.प्र.)
४) प्रतिष्ठाचार्य विमलकुमारजी सौंरैया, टीकमगढ (म.प्र.)
५) प्रतिष्ठाचार्य नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर (म.प्र.)
६) ब्र. प्रदीप जैन पीयूष, जबलपुर(म.प्र.)
७) स्व.पं. टोडरमलजी, जयपुर (राज.)
८) स्व, पं. सदासुखदासजी कासलीवाल, जयपुर (राज.)
९) स्व.पं. फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री
१०) स्व. पं. कैलाशचंदजी शास्त्री
११) पं. रतनलालजी जैन, इंदौर (समवशरण मंदिर)
१२) पं. कानजी स्वामीजी, सोनगढ (गुज.)
१३) डॉ हुकुमचंदजी भारिल्ल, जयपुर (राज)
१४) पं. रतनलालजी भारिल्ल, जयपुर (राज)
१५) एक शुद्धोपयोगी विद्वान् (नाम उल्लिखित नहीं किया)
१६) एक ब्रह्मचारिणी बहन (नाम उल्लिखित नहीं किया)
१७) एक और ब्रह्मचारिणी बहन (नाम उल्लिखित नहीं किया)
१८) डॉ.रतनचंदजी, भोपाल के सहयोगी/सहपाठी (नाम उल्लिखित नहीं किया)
१९) अशोक नगर (म.प्र) से उठा एक अपवाद (संभवतः १९९५)
२०) एवं इन्हें उपलक्षण मान शेष समस्त १३पंथ के एकांत आग्रही

विशेष :-

२१) पं मूलचंदजी लुहाडिया, मदनगंज-किशनगढ (राज.) एवं
२२) पं. नीरज जी, सतना (म.प्र.) का परोक्ष खण्डन (प्रत्यक्ष खण्डन अन्य विद्वानो के मत सहित उत्तरार्द्ध में) ॥

प्रियवर पाठको,

यह मत समझिये कि इस पुस्तक में खण्डन ही खण्डन है, मण्डन नहीं ॥ मण्डन भी है, किंतु सामान्य नहीं, अपितु अपने ही मत की परमतवत् घोर परीक्षा करते हुए ॥

सम्पादक

भरत काला, मुंबई (महा.)

अनुक्रमणिका

विशेष निवेदन : पृष्ठ २७१ पर विवेचित ''कर्ता आदि कारकों के व्याख्यान में नय विभाग'' प आपकी समीक्षा की अन्य विषयों पर समीक्षा की ही तरह हमें प्रतीक्षा रहेगी। -संपाद

बीसपंथी क्या मिथ्यादृष्टि हैं ?

(परिष्कृत/परिवर्द्धित/परिमार्जित द्वितीय संस्करण)

पूर्वार्द्ध

✍ पं. हेमन्त काला, मुंबई
प्रवासी इन्दौर (म.प्र.)

मंगलाचरण

(दोहा छंद)

नमन सर्व अर्हत् प्रभू, नमन सिद्ध प्रभूराय।
नमन सर्व आचार्यगण, नमन यति उवज्झाय ॥
नमन सर्व ही लोक के, सर्व-सर्व यतिराज।
जिनकी ऋषि, मुनि, साधु भी, संज्ञाएं विख्यात ॥

(उल्लाला छंद)

नमस्कार यह पाँच है करता सब पापों का नाश।
सर्व मंगलों में मंगल यह प्रथम अतः प्रख्यात ॥

चत्तारि दण्ड़क(दण्ड़क छंद)

(१) चत्तारि मंगलम् दण्ड़क

हैं चार मंगल लोक में,
अरिहंत मंगल लोक में,
हैं सिद्ध मंगल लोक में,
व साधु मंगल लोक में,
केवली द्वारा प्रणीत है, धर्म मंगल लोक में ॥

(२) चत्तारि लोकोत्तमा दण्ड़क

हैं चार उत्तम लोक में,
अरिहंत उत्तम लोक में,
हैं सिद्ध उत्तम लोक में,
व साधु उत्तम लोक में,
केवली द्वारा प्रणीत है, धर्म उत्तम लोक में ॥

(१) चत्तारि शरणं पव्वज्जामि दण्ड़क

हूँ चार की मैं शरण में,
अरिहंत की हूँ शरण में,
हूँ सिद्ध की मैं शरण में,
हूँ साधु की भी शरण में,
केवली द्वारा प्रणीत हूँ, धर्म की भी शरण में ॥

॥ ॐ ॥

❑ शासन देवता
पूज्य या अपूज्य ?

जैन गजट, दिनांक १७.०४.२००३, पृष्ठ ३-४ ॥

प्रकरण जिनेन्द्र भगवान के मत में शासन देवताओं व उनकी स्थापनाओं का था।

प्राचीन प्रतिमाओं के सन्दर्भ में कि वे प्रतिमाएँ दिगम्बर आम्नाय की हैं अथवा श्वेताम्बर आम्नाय की, आदरणीय विद्वान् एवं पुरातत्त्वविद् पं. श्री नीरजजी जैन (सतना) द्वारा उद्‌बोधित दिगम्बर प्रतिमा की पहचान शीर्षक वाली कैसेटें वितरित की गई थीं, जिनमें कि प्रतिमाओं के आम्नाय निर्णय हेतु शासन-रक्षक देवी-देवताओं की सार्थक व समीचीन भूमिका पर समुचित प्रकाश डाला गया था ॥

आदरणीय नीरजजी के वचनों पर आपत्ति जताता एक खंडनात्मक लेख माननीय विद्वान् श्री मूलचंदजी लुहाड़िया (मदनगंज किशनगढ़) द्वारा भोपाल से प्रकाशित होने वाली पत्रिका जिनभाषित में प्रकाशित करवाया गया ॥

इस लेख में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि दिगम्बर प्रतिमाओं की पहचान के लिए शासन-रक्षक देवी-देवताओं की मान्यता सार्थक नहीं, निरर्थक ही है। इसके अभाव में भी दिगम्बर प्रतिमाओं की पहचान संभव है ॥

प्रत्युत्तर मे आदरणीय श्री नीरजजी ने श्री मूलचंदजी लुहाड़िया के क्षयोपशम को प्रश्न चिह्नित करता एक लेख लिपिबद्ध किया व श्री मूलचंदजी के लेख सहित दिनांक १७.०४.२००३, के जैन गजट के अंक में पृष्ठ ३ पर मुद्रित करवाया ॥

हमारे इस निबंध/समालोचना के मूल प्राण/प्रेरणा स्रोत उपर्युक्त दोनों लेख हैं।

इसी विषय पर भोपाल से प्रकाशित पत्रिका जिनभाषित के जनवरी-२००२ के अंक में संपादक श्री डॉ. रतनचंदजी जैन द्वारा लिपिबद्ध एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका विषय था :-

"जिनेन्द्र भगवान के मत में शासन रक्षक देवी-देवता नियामक व सम्माननीय अवश्य हैं, किन्तु पूजनीय नहीं।" इस लेख में पूजन शब्द का स्वकल्पित अर्थ सम्मान करते हुए, शासन-देवताओं के पक्ष में पूर्वाचार्य कृत समुचित प्रमाण प्रस्तुत करने के पश्चात्, डॉ.साहब ने पूर्वाचार्यों के विपरीत स्वमत भी निरूपित किया है कि इनका आह्वान-सम्मान भी उपयुक्त नहीं, अनुपयुक्त ही है।

प्रत्युत्तर आदरणीय पण्डित श्री बाबूलालजी सेठिया (नैनवाँ) का जैन गजट में प्रकाशित हुआ था ॥

उस प्रत्युत्तर में उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि जिनेन्द्र भगवान के मत में पूज्य व पूज्यता प्रकरण के अंतर्गत वीतरागता का एकान्त नहीं है, अपितु अनेकान्त है ॥ इस विषय में वीतरागता का एकान्त करना, अनेकान्तवाद की सम्यक् समझ के अभाव का द्योतक है ॥

इसी विषय पर एक और पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसका कि शीर्षक था "क्या क्षेत्रपाल पद्मावती आदि शासन देवता पूज्य हैं ?"

इस पुस्तक को, पिछले ५०-६० वर्षों में आदरणीय कटारियाजी आदि विद्वानों द्वारा लिपिबद्ध व प्रकाशित पुस्तकों का जस का तस आधार ले, लिपिबद्ध कर, आगरा के सुप्रसिद्ध विद्वान् पं. रतनलालजी बैनाडा, आगरा द्वारा प्रकाशित करवाया गया।

शायद उन्हें येन केन प्रकारेण पुस्तक प्रकाशित करने अथवा करवाने की आतुरता थी या उनका अपना भाषा संबंधी अज्ञान ही कारण रहा होगा कि न तो वे स्वयं ही उन पूर्व प्रकाशित पुस्तकों के लेखकों/प्रकाशकों के, उन पुस्तकों में दृष्टिगत, संस्कृत व्याकरण व भाषा संबंधि अज्ञान व उस कारण किये गये असंगत अनुवादों को ही संशोधित/संपादित कर पाये, और न ही, उसी को स्वनाम से प्रकाशित करते/करवाते समय, किसी सुप्रसिद्ध वैयाकरण से ही संशोधित/संपादित करवा पाये ॥

परिणाम यह हुआ कि न सिर्फ उनकी प्ररूपणाएँ व तर्कणाएँ हास्यास्पद सिद्ध हुई, अपितु उनकी स्वयं की, स्वयं को नैयायिक/न्यायविद् रूप में स्थापित करने की मंशा पर भी विद्वज्जनों के मध्य प्रश्नचिह्न लग गया ॥

पाठक वर्ग कृपया अन्यथा न लें ॥

क्षमा सहित हम यहाँ निवेदन कर दें कि उपर्युक्त विवेचन अथवा कथन हमारा ही नहीं, अपितु स्वयं बैनाडाजी को वैयाकरण रूप से मान्य व उन्हीं के प्रकाशन दायित्व में प्रकाशित पत्रिका जिनभाषित के यशस्वी संपादक डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल (म.प्र.) का भी है ॥

आइये इसे अगले शीर्षक में देखें ॥

॥ इत्यलम् ॥



❐ बैनाडाजी द्वारा की गई
असंगत व मिथ्या प्ररूपणा

यहाँ अधिक उपयुक्त यही होगा कि बनिस्पत हम कुछ कहें, दोनों ही विद्वानों की प्ररूपणाओं को हम आम पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दें।

प्रथम बैनाडाजी की प्ररूपणा को देखें :-

पुस्तक : क्या क्षेत्रपाल पद्मावती आदि शासन-देवता पूज्य हैं ?

प्रकाशक : ज्ञानोदय प्रकाशन, लार्डगंज दिगम्बर जैन मंदिर, जबलपुर (म.प्र.)

प्रकाशन वर्ष : (नहीं लिखा गया), **पृष्ठ** : ४, **पंक्तियाँ** : ९-२१

''(शासन) देवों का आह्वान (भी अभिषेकादि में) भगवान की पूजा के लिए किया जाता है, न कि स्वयं उनकी पूजा के लिए तथा उन देवों के लिए जो पूजा (का द्रव्य अर्पित किया जाता है, वह) द्र व्य भी (उन्हें) जिन-पूजा (जिनेन्द्र भगवान की पूजा) के लिए अर्पण किया जाता है, स्वयं उनकी पूजा के लिए नहीं, जैसे :- गुणभद्र-कृत अभिषेकपाठ के श्लोक ४९ के मंत्र भाग में कहा गया है :-

ॐ इन्द्र ! आगच्छ इदम् अर्घ्यं यज्ञ भागं च यजामहे प्रतिगृह्यताम्,

अर्थ : हे इन्द्र आओ, और यह अर्घ्य अर्थात् यज्ञ भाग तुम्हें देता हूँ, इसे स्वीकार करो ॥ हमारे साथ आप भी जिनेन्द्र देव को अर्घ्य समर्पण करो ॥

यहाँ गृहीयताम् शब्द से भी काम चल सकता था, फिर भी जो प्रति उपसर्ग लगाया गया है, यह जिनेन्द्र (भगवान) के प्रति ग्रहण करो, इस बात को बतलाने के लिए लगाया गया है ॥ इससे स्पष्ट है कि यह पूजा के द्रव्य का अंश, दिक्पाल की पूजा के लिए प्रदान नहीं किया गया है, किन्तु पूजा करने के लिए दिक्पाल को दिया गया है ॥''

इस प्रकार यहाँ बैनाडाजी का वक्तव्य पूर्ण हुआ ॥

आदरणीय बैनाडाजी की उपर्युक्त प्ररूपणा बतलाती है कि न सिर्फ वे स्वयं, अपितु उनके पूर्ववर्ती लेखक व चिंतक, जिनका कि वे अनुसरण करते हैं, न ही वैयाकरण थे और न ही उनका भाषाशास्त्र पर कोई प्रभुत्व था ॥

आचार्य भगवंत कहना कुछ और चाहते हैं, किन्तु इनका भाषा संबंधी अज्ञान, उस कहे हुए की प्ररूपणा किसी अन्य ही प्रकार से करता है ॥

ऐसा हम नहीं अपितु सुप्रसिद्ध वैयाकरण डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल, आदरणीय बैनाडाजी के मंतव्यों को मिथ्या धारणा व असंगत अनुवाद शीर्षक देते हुए कह रहे हैं ॥

आइये, इसे अगले शीर्षक में देखें ॥

॥ इत्यलम् ॥



तेरहपंथ की उत्पत्ति का इतिहास

तेरहपथ की उत्पत्ति का इतिहास बतलाते हुए पं. बखतावरमल जी अपने बनाए हुए "मिथ्यात्व खण्डन ग्रन्थ" में लिखते हैं .-

आदि पुरुष यह जिन मत भाष्यो, भवि जीवन नीके अभिलाष्यो ।
पहले एक दिगम्बर जानौ, ताते श्वेताम्बर निकसानौ ॥
तिन में पकसि भई अति भारी, सो तो सब जानत नर नारी।
ताही माझि वहसि अब करिक, तेरहपंथ चलायो अरिक ॥
तब कितेक बोले बुधिवन्त, किंह नगरी उपज्यो यह पथ ।
किह सम्वत् कारण कहु कौन, सो समझाय कहो तजि मौन ॥

प्रथम चल्यो मत आगरे, श्रावक मिले कितेक ।
सोलह सै तीयसिये, गही कितुक मिलि टेक ॥
काहू पण्डित[1] पै सुनैं, किते अध्यातम ग्रन्थ ।
श्रावक किरिया छाडि कै, चलन लगे मुनि पन्थ ॥
फिर कामा में चलि पर्यौ, ताहि के अनुसारि ।
रीति सनातन छांडि कै, नई गहो अधकारि ॥
केसर जिनपद चरचिवौ, गुरु नमिवो जगसार ।
प्रथम तजी ए दोय विधि, मतमह ठानि असार॥
ताही के अनुसारते, फैल्यो मत विपरीत ।
सा सांची करि मांनियो, झूठ न मांनहु मीत ॥

---

१ प बनारसीदासजी आदि, अर्द्धकथानक ।

❑ खण्डन स्वयं बैनाडाजी द्वारा
मान्य विद्वान् द्वारा

आदरणीय बैनाडाजी के मंतव्यों को मिथ्या धारणा व असंगत अनुवाद शीर्षक देते हुए डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल कह रहे हैं कि :-

मूल शीर्षक : शासन देवता सम्मान्य, पंचपरमेष्ठी उपास्य

उप शीर्षक : मिथ्या धारणा व असंगत अनुवाद

लेखक : डॉ. रतनचंदजी जैन भोपाल (म.प्र.) **पत्रिका :** जिनभाषित

अंक : जनवरी २००२, **पृष्ठ/कालम :** ९/३-४, **पंक्तियाँ :** १९ से आगे...

उक्त विद्वानों ने एक यह नया विचार भी रखा है कि अभिषेक आदि में जो दिक्पालादिकों को अर्घ्य प्रदान किया जाता है वह उनके सम्मान के लिए नहीं, अपितु वे उससे भगवान की पूजा करें, इसलिए दिया जाता है ॥

"ॐ इन्द्र आगच्छ ! इदम् अर्घ्यं यज्ञभागं च यजामहे प्रतिगृह्यताम्"

इस गुणभद्र कृत अभिषेकपाठ के मंत्र का उन्होंने यह अर्थ किया है -

हे इन्द्र आओ ! यह अर्घ्य यज्ञभाग तुम्हें देता हूँ ॥ इसे स्वीकार करो और हमारे साथ तुम भी जिनेन्द्रदेव को अर्घ्य समर्पण करो ॥ वे कहते हैं - यहाँ 'गृह्यताम्' शब्द से ही काम चल सकता था, फिर भी जो 'प्रति' उपसर्ग लगाया है, वह 'जिनेन्द्र के प्रति (जिनेन्द्र के लिए) ग्रहण करो', इस बात को बताने के लिए लगाया गया है ॥

यह अर्थ न तो उपर्युक्त मंत्र के शब्दों से निकलता है, न व्याकरण से।

'यजामहे' में जो 'यज्' धातु है उसका अर्थ 'देना' नहीं, अपितु 'पूजा करना' है ॥ अतः उपर्युक्त मंत्रवाक्य का अर्थ यह है - 'हे इन्द्र ! आइये। इस अर्घ्यरूप यज्ञभाग से हम आपकी पूजा करते हैं, इसे स्वीकार कीजिए।' तथा 'ग्रह्' धातु में 'प्रति' उपसर्ग लगाने से 'जो दिया जा रहा है उसे ग्रहण करो' यह विशिष्ट अर्थ प्रतिपादित होता है। (ददाति-प्रतिगृह्णाति, आप्टेकोश : 'ग्रह्')।

ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'प्रति' उपसर्ग है, संबंध-बोधक अव्यय नहीं ॥ संबंध बोधक अव्यय के रूप में वह जिससे संबंध बतलाना होता है, उसके कर्म कारक रूप के ही साथ प्रयुक्त होता है, 'जैसे स: मां प्रति स्निग्ध:' (वह मुझसे स्नेह करता है)॥ यदि उपर्युक्त मंत्र में 'जिनेन्द्र के प्रति (के लिए) ग्रहण करो' यह अर्थ अभिप्रेत होता तो 'जिनेन्द्र

प्रतिगृह्यताम्' ऐसा प्रयोग होता और तब वह 'गृह्यताम्' का उपसर्ग न होकर 'जिनेन्द्र' के साथ संबंध बतलाने वाला अव्यय होता है, जैसा कि 'अभितः परितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि' इस वार्तिक में बतलाया गया है ।। किन्तु यहाँ 'प्रति' संबंध बोधक अव्यय नहीं है, अपितु 'ग्रह्' धातु का उपसर्ग है, इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त वाक्य से जो "जिनेन्द्र के प्रति यह अर्घ ग्रहण करो" यह अर्थ निकाला गया है वह धात्वर्थ एवं व्याकरण के विरुद्ध है ।। इसके अतिरिक्त 'प्रति' उपसर्ग के बिना भी 'ग्रह्' धातु का प्रयोग मिलता है, यथा -

आयात भो मेघकुमारदेवाः प्रभोर्विहारावसरप्राप्तसेवाः ।
गृह्णीत यज्ञांशमुदीर्णशंपा गंधोदकैः प्रोक्षत यज्ञभूमिम् ।।

(प्रतिष्ठासारोद्धार २/१३२, 'प्रतिष्ठाप्रदीप'- पं. नाथूलाल शास्त्री, पृष्ठ १०४)

यहाँ मेघकुमार देवों को आमंत्रित कर उनसे यज्ञांश ग्रहण करने तथा सुगंधित जल से यज्ञ भूमि को अभिसिञ्चित करने की प्रार्थना की गई है ।। यहाँ तो 'गृह्णीत' क्रिया में 'प्रति' उपसर्ग नहीं है ।। इसलिए 'प्रति' उपसर्ग के द्वारा जो 'जिनेन्द्र के प्रति' यह अर्थ कल्पित किया गया है, वह यहाँ कल्पित नहीं किया जा सकता ।। इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त मंत्र वाक्य में इन्द्र को उसके ही सम्मानार्थ अर्घ प्रदान किया गया है, न कि जिनेन्द्र की पूजा के लिए ।। और पूर्व में जो पद्मपुराण का उदाहरण दिया गया है कि सुग्रीव कुपित यक्षेन्द्र को अर्घ प्रदान कर शान्त करते हैं, उससे तो इस बात में संदेह की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती कि देवताओं को अर्घ प्रदान किया जाता है, वह उनके ही सम्मान के लिए प्रदान किया जाता है, न कि उनके द्वारा जिनेन्द्र को अर्पित किए जाने के लिए।

इसके अतिरिक्त जिसके नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग कर स्वाहाकार किया जाता है, आहुति उसी के लिए संकल्पित होती है, यह संस्कृत व्याकरण का नियम है- नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च ।

इस प्रकार उपर्युक्त बैनाडाजी के मंतव्यों का संदिग्ध ही नहीं, अपितु मिथ्या व असंगत सिद्ध करती सुप्रसिद्ध वैयाकरण डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल की प्ररूपणा यहाँ पूर्ण हुई ।।

एक वैयाकरण की दृष्ट्यानुसार सिद्ध हुआ कि न सिर्फ आदरणीय बैनाडाजी का अनुवाद ही असंगत था, अपितु उनकी प्ररूपणा व धारणा, दोनों ही मिथ्या थीं ।।

आइये, प्रस्तुत संदर्भ में निष्कर्ष हेतु अगला शीर्षक देखें ।।

।। इत्यलम् ।।



❑ *निष्कर्ष*

अब जबकि यह स्पष्टतया सिद्ध हो ही गया है कि श्री बैनाडाजी की प्ररूपणा मिथ्या और उनके द्वारा किया गया अनुवाद असंगत था, तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि अब हम उनकी पुस्तक में उनके द्वारा उद्घोषित उनकी इस गर्वोक्ति का क्या करें ?

पुस्तक : क्या क्षेत्रपाल पद्मावती आदि शासनदेवता पूजनीय हैं ?, पृष्ठ : २२

प्रश्न १६ : वर्तमान में कुछ ऐसे पम्पलेट देखने में आए हैं जिनमें शासन देवताओं की पूजा के आगम प्रमाण दिये हुए हैं ?

उत्तर : भावसंग्रह-आचार्य देवसेन गाथा नं. ४३९-४४०, भव्य मार्गोपदेश उपासकाध्ययन श्लोक नं. ३५०, प्रतिष्ठासारोद्धार - पं. आशाधर श्लोक नं. ६३-६४, भावसंग्रह -पं. वामदेव श्लोक नं ४१-४२, हरिवंश पुराण-आचार्य जिनसेन सर्ग ६६ श्लोक नं. ४३-४४-४५ एवं सर्ग ९ के श्लोक नं. २२२ तथा तिलोयपण्णत्ति आचार्य यतिवृषभ, अधिकार ४, गाथा १९०५ के जो संदर्भ दिए गए है, उन्हें उपरोक्त सभी ग्रंथों में मैंने देखे हैं, इन सभी स्थलों मे मात्र शासन देवताओं को आह्वान करने का उनको यज्ञ भाग देने का (जैसा कि लेख मे लिखा जा चुका है) यक्षों सहित मूर्तियाँ होने का, जिन-भक्तो तथा जिनशासन की रक्षा करने का उल्लेख है, कहीं भी अष्टद्रव्य से पूजन, आरती, विधान आदि करने का वर्णन नहीं है ॥ ऐसा लगता है कि क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि की पूजा करने वाले इन पेम्पलेटो में दिए गए प्रमाणों की लम्बी सूची देखकर संतुष्ट हो जाएँ-ऐसे भ्रमपूर्ण आशय को लेकर यह सूची प्रकाशित की गई है ॥

यह गर्वोक्ति आदरणीय बैनाडाजी की है ॥

इस गर्वोक्ति के माध्यम से वे समस्त जिन-धर्मियों से एक ओर तो यह स्वीकार करने का आग्रह कर रहे हैं कि जिन ग्रंथों में शासन देवताओं की मान्यता व पूजनादि का उपदेश है, वे सभी ग्रंथ दिगम्बर जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत व जिनोपदिष्ट ही हैं, किन्तु वहीं दूसरी ओर, उन्हीं जिनोपदिष्ट वचनों को, अपनी व्याकरण शास्त्रानुसार दूषित व भाषा अज्ञान समन्वित बुद्धि द्वारा, जैसा स्वयं मिथ्या व असंगत समझ रहे हैं, अन्यों को भी उसी प्रकार मिथ्या समझने व असंगत अर्थ ग्रहण करने का दुराग्रह कर रहे हैं ॥

इतना ही नहीं, अपितु उपर्युक्त जिनागम उपदिष्ट उपदेश का, जैसा उसमें लिखा है, ठीक वैसा ही, न कम न अधिक और न ही विपरीत अर्थ ग्रहण करने वालों को मिथ्या मत

के पोषक घोषित करते हुए महामिथ्यादृष्टि निरूपित कर रहे हैं ।।

है न हास्यास्पद ?

नहीं है क्या ?

है ही ।

एक बार पुन: हम पाठकवर्ग से क्षमा सहित निवेदन कर दें कि उपर्युक्त विवेचना अथवा कथन हमारा ही नहीं, अपितु स्वयं बैनाडाजी को वैयाकरण रूप से मान्य व उन्हीं के प्रकाशन दायित्व में प्रकाशित मासिक पत्रिका **जिनभाषित के यशस्वी संपादक एवं सुप्रसिद्ध वैयाकरण डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल (म.प्र.)** का है ।।

पाठकवर्ग से यहाँ हमारे द्वारा एक निवेदन और कर देना निश्चित ही उपयुक्त रहेगा :-

डॉ रतनचंदजी जैन, भोपाल, सुप्रसिद्ध/सुप्रतिष्ठित वैयाकरण अवश्य हैं, किन्तु दर्शनज्ञ/दार्शनिक नही ।। एक सुप्रतिष्ठित/सुप्रसिद्ध दर्शनज्ञ/दार्शनिक को वैयाकरण तो नियमत: होना ही होना चाहिये, किन्तु एक सुप्रसिद्ध/सुप्रतिष्ठित वैयाकरण दर्शनज्ञ/दार्शनिक भी हो यह नियम नहीं है ।।

दर्शनज्ञ/दार्शनिक होने के लिये, वैयाकरण होने के अलावा एक अतिरिक्त पात्रता की आवश्यकता रहती है ।। उस अतिरिक्त पात्रता के अभाव मे वैयाकरण तो हुआ जा सकता है, किन्तु दर्शनज्ञ/दार्शनिक नहीं ।।

इस अतिरिक्त पात्रता को ही स्याद्वाद कौशल्य कहते हैं ।।

किन्तु एक दर्शनज्ञ/ दार्शनिक को कुशल वैयाकरण होना ही होना चाहिये ।।

वैयाकरण न होने की स्थिति मे दर्शनज्ञ/दार्शनिक की मीमांसा मे व्याकरण व शब्दकोश संबधी चूकें नियमत: पाई जायेंगी ।।

व्याकरण व शब्दकोश संबंधी चूकें, शब्दार्थ मे चूकवायेगी ।।

व जो शब्दार्थ से चूका हुआ है, वह सर्वत: सर्व प्रकार चूका हुआ है, उसे पृथक् से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नही ।।

जैसा कि ऊपर हुआ, शब्दार्थ से चूकने के कारण ही आदरणीय बैनाडाजी की मीमासा को डॉ रतनचंदजी मिथ्या व असंगत करार दे रहे हैं ।।

अत आइये जिनेन्द्र भगवान के मत मे शब्दानुशासन की महत्ता को उजागर करता आचार्य भगवतों का मत अगले शीर्षक में देखे ।।

।। इत्यलम् ।।



▢ *जिनेन्द्र भगवान के मत में शब्दानुशासन की महत्ता*

श्री धवलाजी में भी कहा गया है (पुस्तक १, पृष्ठ १०) :-

शब्दात्पदप्रसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।
अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परम श्रेयः ॥

अर्थ : शब्द से पद की सिद्धि होती है, पद की सिद्धि से अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ निर्णय से तत्त्वज्ञान तथा तत्त्वज्ञान से परम कल्याण होता है ॥

शायद पाठक वर्ग तत्त्वज्ञानी अर्थात् दर्शनज्ञ होने के लिए शब्द, पद व अर्थ की विशुद्धि संबंधी नियामकता अर्थात् वैयाकरण होने की अनिवार्यता को न सिर्फ समझ रहे होंगे, अपितु उन्हें यह भी स्पष्ट हो ही गया होगा कि जो शब्दार्थ से चूके हुए हैं, वे न सिर्फ स्वयं मिथ्या मत व धारणाओं में जी रहे हैं, अपितु अपने आश्रितों को भी मिथ्या मत व धारणाओं में जीने को बाध्य कर रहे हैं ॥

अर्थात् जो शब्द व उसके प्ररूपक अर्थ से चूका हुआ है, वह नियमतः न सिर्फ सर्वत्र/सर्व प्रकार चूका हुआ है, अपितु श्रुत अवर्णवाद के महाभयंकर पाप का भी भागी है ॥

श्रीमद् भट्टाकलंकदेव भी श्री राजवार्तिकजी में श्रुतज्ञान के प्रकरण में शब्दों की महिमा का बखान करते हुए कहते हैं कि (अध्याय १, सूत्र २०, वार्तिक १५) :-

शाब्दमपि प्रमाणं श्रुतमेव ।

अर्थ : शब्द भी श्रुत ही होने से प्रमाण हैं ॥

अर्थात् शब्दो के समीचीन शब्दार्थ, भावार्थ व आगमार्थ का अभाव कर द्वादशांग भाव श्रुतज्ञान का अस्तित्त्व ही नहीं है ॥

जिनके पास शब्दों के समीचीन शब्दार्थ, भावार्थ व आगमार्थ का अभाव है, उनके पास सम्यक् द्वादशांग अर्थात् श्रुतज्ञान का भी अभाव है, सद्भाव नहीं ॥

ठीक इन्हीं भावों को श्रीमद् हरिवंशपुराणकारजी, पर्व १७, श्लोक ११७ में और अधिक परिष्कृत रूप से कहते हैं :-

गुरुपूर्वक्रमादर्थाद् दृश्यः शब्दार्थनिश्चितः ।
सान्यथा यदि जायेत जायेताध्ययनं तथा ॥

अर्थ : गुरुओं की पूर्व परम्परा से शब्दो के अर्थ का निश्चय करना चाहिये ॥ यदि

शब्दार्थ का निश्चय अन्यथा होता है, तो अध्ययन भी अन्यथा हो जायेगा ।।

निश्चित ही प्रत्येक जैन चिन्तक को इस श्लोक व इसके अर्थ को हृदयंगम करते हुए सतत इसका पारायण करना चाहिये ।। जो नहीं करता उसके चित्तसे अध्ययन के अन्यथा हो जाने का भय विदा हो जाता है ।।

हम आदरणीय बैनाडाजी से एक बार पुनः क्षमाप्रार्थी हैं ।।

हमारा आशय यहाँ उन्हें श्रुत अवर्णवादी घोषित करने का कतई नहीं था, किन्तु यदि उनकी अपनी प्ररूपणाओं द्वारा वे स्वयं घोषित हो जाएँ, तो कोई उनका सहयोग अथवा सहायता कैसे कर सकता है ?

अर्थात् नहीं कर सकता ।।

समालोचक-समालोच्य संबन्ध :-

प्रश्न : आप यहाँ बैनाडाजी का नामोल्लेख करते हुए अपनी बात क्यों कह रहे हैं, बगैर उनका नामोल्लेख किए अपनी बात क्यों नहीं कहते ? डॉ. रतनचंदजी ने तो ऐसा नहीं किया ।। उन्होने तो अपने लेख में, बैनाडाजी का नाम लिए बगैर, उनके मत का खण्डन किया है ।। क्या आप ऐसा नहीं कर सकते थे ?

समाधान : कर सकते थे ।। कर क्यों नहीं सकते थे ? किन्तु ऐसा करना क्या स्वस्थ समालोचना कहलाती ? क्या हमारी समालोचना को पढ़ कर आपके चित्त में जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती कि जिस मत का खण्डन हमारे द्वारा किया जा रहा है, वह किनका है ? उसकी प्ररूपणा किस पुस्तक में की गई है ? वह मत यथार्थ में है भी या हमारी कल्पना मात्र है ?

निश्चित ही आपके चित्त में ये जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती ही होती ।।

इन जिज्ञासाओं का शमन भी आप समालोचक से ही चाहते ।।

नहीं चाहते क्या ?

निश्चित ही चाहते ।।

और यदि आप नहीं चाहते तो आप सम्यक् पाठक ही नहीं कहलाते ।।

सम्यक् पाठ हेतु पाठकों को समालोचक द्वारा समालोचित मत के प्ररूपक, प्ररूपित मत व प्ररूपक की कृति, तीनों का ही सम्यक् ज्ञान होना जरूरी है ।।

इनके अभाव में ही समालोचित विषय के संदर्भ में पाठकों के चित्त मे संशय, विभ्रम व अनध्यवसाय वर्तता है ।।

अतः अपने कथन में समीचीनता का उद्योत करने व पाठकों के चित्त को निश्चिन्त करने के लिये हमने, हम जिनकी समालोचना करने जा रहे हैं उनका, उनके मत का व उनकी

कृति का उल्लेख किया है ॥

दूसरा कारण यह है कि अपनी कृति में आदरणीय बैनाडाजी ने अपने आप को एक उपदेशक के रूप में प्रस्तुत किया है ॥

उपदेशक भी सामान्य मत का नहीं, अपितु जिनेन्द्र भगवान के मत का व नियम यह है कि जिनेन्द्र भगवान के मत के उपदेशक के वचन अनुलंघनीय होने चाहिए ॥

अनुलंघनीय अर्थात् शब्दार्थ, भावार्थ व आगमार्थ, तीनों ही विवक्षाओं से सर्वदेश सर्व प्रकार से निर्दोष व अन्य मतियों द्वारा न्यायशास्त्रों के आश्रय से किंचित् भी खण्डित न किये जा सकें, ऐसे ॥

जिसके लिये उपदेशक के वचनों की, परीक्षकों द्वारा परीक्षा लेने का विधान भी जिनमत में प्रसिद्ध है ॥

चूँकि परीक्षा के अभाव में वचनों के लंघनीय अथवा अनुल्लंघनीय होने की सिद्धि नहीं की जा सकती, इसलिये उपदेशक को सदैव समालोचकों द्वारा ली जाने वाली परीक्षा के लिये कटिबद्ध रहना चाहिये ॥

इस प्रकार, बैनाडाजी की कृति के परिप्रेक्ष्य में, हम और कुछ नहीं कर रहे हैं, सिवाय एक समालोचक की भूमिका का निर्वाह करने के ॥

अत: हमारे द्वारा की जा रही परीक्षा के प्रति कटिबद्ध रहना प्रत्येक उपदेशक की तरह बैनाडाजी का भी प्रथम धर्म व स्वस्थ वाद का निर्विवाद लिंग है ॥

निष्कर्ष :-

इस प्रकार उपर्युक्त समीक्षा के आश्रय से हमें सार रूप से उपदेश प्राप्त हुआ कि :-

जिन विद्वानों के आश्रय से हमारा श्रुतज्ञान वर्तता है, यदि उन विद्वानों का ज्ञान सदोष अथवा मिथ्या वर्त रहा होगा, तो नियमत: उसका अनुसरण करने वाली हमारी बुद्धि/हमारी समझ/हमारी धारणा भी सदोष अथवा मिथ्या ही वर्तेगी ॥

उसके समीचीन वर्तने की संभावना किंचित् भी नहीं है ॥

इस विषय में आगे और भी कहा जाएगा, किन्तु अभी हम अगले शीर्षक में अपनी मूल प्ररूपणा पर पुन: लौटते हैं ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ प्रस्तुत विषय पर वर्तमान की स्थिति व मैं

हमारा प्रकृत विषय था शासन देवी-देवताओं की प्रासंगिकता पर, उसके पक्ष अथवा विपक्ष में लिखा गया वर्तमान का उपलब्ध साहित्य व उसके लेखक ।।

इस संदर्भ के अंतर्गत वर्तमान में उपलब्ध व बहुचर्चित ५ विद्वानों की रचनाओं का, उनके नामोल्लेख सहित, हमने यहाँ निर्देश किया ।।

प्रकरणानुसार सिर्फ बैनाडाजी की पुस्तक पर किंचित् पुरुषार्थ किया गया ।।

यह तो लेखकीय संदर्भ हुआ ....

किन्तु इसी प्रकरण के अंतर्गत शासनदेवी-देवताओं की स्थापनाओं एवं उनकी मान्यताओं के प्रति मिथ्या-बुद्धि रखने वालों द्वारा जहाँ-जहाँ उनकी स्थापनाएँ हैं, उन स्थापनाओं को स्थानांतरित करने अथवा वैसी बुद्धि रखने, उनके उपासना स्थलो को अन्य रूप में परिवर्तित करने/करवाने अथवा वैसी बुद्धि रखने, उनकी पूजा अर्चनाओं की भाषा समिति का उल्लंघन कर, निषेध परक प्ररूपणाएँ करने/करवाने की घटनाएँ भी आये दिन पढने-सुनने में आ रही हैं ।।

इसके विपरीत वह पक्ष, जिनकी कि इनके प्रति आस्था है, उनके द्वारा भी जिनालयों में इनकी नित नूतन स्थापनाओं के, पूजन व उपासना स्थलों की निर्मिति के, उपासना संबंधी पुस्तकों के प्रकाशनों के, पूजन व विधानादि के विशाल आयोजनों के तथा अन्य भी, ऐसे ही समाचार पढने सुनने में आ रहे हैं ।।

दोनों ही पक्षधर, इस विषय में परस्पर एक दूसरे के प्रति आक्रामक मुद्रा में खड़े हैं ।।

इन दोनों के मध्य, एक तीसरा श्रावक/श्रोताओं का वर्ग है, जो कि किंकर्तव्यविमूढ़ है ।। किंकर्तव्यविमूढ़ वह, कभी इनकी ओर देखता है, तो कभी उनकी ओर ।। कभी इनकी जय बोलता है, कभी उनकी, कभी दोनों की और कभी-कभी तो झल्लाकर दोनों में से किसी एक की भी नहीं ।।

दोनों ही पक्ष, परस्पर में, इस विषय पर अपनी-अपनी प्ररूपणाएँ कर व कह अवश्य रहे हैं, किन्तु दोनो ही पक्षों के पास, एक दूसरे को संतुष्ट करने वाली निरुक्तियों व मीमांसाओं का अभाव है ।।

वे जो कि विषय के पक्ष में हैं, उनके पास आगम अवश्य है, किन्तु आगम में कहे गये

सत्य को, सत्य रूप से स्थापित करने योग्य शैली का अभाव है ॥

यहाँ तक कि उनके द्वारा प्रमाण रूप प्रस्तुत पुरातत्त्वीय प्रमाणों, आगमों व उन आगमों के प्रतिपादकों/प्ररूपकों को मिथ्यादृष्टि, भट्टारक आदि कह न सिर्फ विपक्ष ने उन्हें जिनागम बाह्य/कुतत्त्व प्रतिपादक आदि घोषित कर दिया है, अपितु अपने वाक्-चातुर्य के द्वारा उनके समूह में सेंधमारी भी कर दी है ॥

और जिनागम को अपने पक्ष में, अपने साथ लेकर चलने वाले पक्षधारी, विपक्ष के वाक्चातुर्य के सम्मुख निरीह से हो रहे व कुछ भी न कर पाए ॥

जी हाँ ! विपक्ष ने अपने वाक्चातुर्य के बल पर ....

विपक्ष के पास अपने मत के प्रतिपादनार्थ आगम तो है ही नहीं ॥

हाँ !! सामान्य जनों व औसतबुद्धि के विद्वानों को प्रभावित व लुभाने वाली शैली एवं तर्कनाशक्ति अवश्य है ॥

जैसा कि हमने अभी-अभी आदरणीय बैनाडाजी के उदाहरण द्वारा सिद्ध किया कि प्रमाण रूप प्रस्तुत आगम कुछ और ही कह रहा था व व्याकरण-शास्त्र एवं भाषाशास्त्र का उल्लंघन कर, उसका अर्थ करने में महा भयंकर चूक/भूल का अनुसरण करती उनकी प्ररूपणाएँ कुछ और ....

इस अकेली चूक/भूल ने उनकी पुस्तक के बहुभाग को बकवाद/मिथ्या प्रतिपादक सिद्ध कर दिया ॥

शेष तो था ही ॥

उनकी प्ररूपणाएँ, यद्यपि थी तो असमीचीन/मिथ्या, किन्तु फिर भी वह निरूपित की गई थी चित्ताकर्षक व प्रभावशाली शैली मे ॥

प्रभावशाली मात्र आम अथवा सामान्य श्रोताओं के लिए नहीं, अपितु औसतबुद्धि के विद्वानों तक के लिए ॥

वहीं, आगम की समीचीन सिद्धि के लिए प्रयत्नशील डॉ . रतनचंदजी जैन की मीमांसा न सिर्फ भाषा व शैली की अपेक्षा क्लिष्ट थी, अपितु उसमें निहित प्ररूपणागत विषय भी जन सामान्य व औसत बुद्धि के विद्वानों का था ही नहीं, वह तो उनकी चिंतन शक्ति से परे का था ॥

उनकी विवशता यह थी कि वे अपने पांडित्यपूर्ण विवेचन को इससे अधिक सरल भाषा अथवा शब्दों में निरूपित कर ही नहीं सकते थे ॥

निरूपित न कर पा सकने की अपनी विवशता के निवारणार्थ उन्होंने किंचित् बुद्धि चातुर्य का प्रयोग किया व अपनी क्लिष्ट प्ररूपणा पर आम श्रोताओं/श्रावकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए समीचीन, किन्तु आकर्षक उपशीर्षक की निर्मिति की मिथ्या धारणा

व असंगत अनुवाद ॥

यही हो रहा है ॥

एक के पास आगम है, किन्तु समीचीन तर्कना शक्ति नहीं ॥

वहीं दूसरे के पास तर्कना शक्ति तो है, किन्तु आगम व आगम का समीचीन अर्थावबोध नहीं ॥

आगम के नाम पर उसके पास मिथ्या अर्थापत्तियों, युक्तियों, निरुक्तियों के और कुछ भी नहीं ॥

स्थिति इतनी विचित्र व विकट हो गई है कि जिन ग्रन्थों व आचार्यों द्वारा इनकी अर्थात् शासन देवताओं की अर्चना/पूजा के स्पष्ट उपदेश दिये गये हैं, उन सभी शास्त्रों/आचार्यों/उपदेशकों को यह तार्किक साक्षात् केवली/श्रुतकेवली होता हुआ, न सिर्फ भट्टारक व भट्टारकीय परंपरा लिखते/कहते हुए संकोच करता है, अपितु उन्हें अत्यंत तुच्छ, हेय व उपेक्षा की दृष्टि से देखता है ॥

इन विषम परिस्थितियों में मुझसे भी लगातार पक्ष-विपक्ष दोनों ही के द्वारा पत्रों, दूरभाष पर एवं लौकिक व लोकोत्तर आयोजनों में होने वाली सम्मुख चर्चाओं में प्रश्न पूछा जा रहा है कि इस विषय पर मैं मौन क्यों हूँ, कुछ कहता क्यों नहीं ?

बार-बार व लगातार अनुरोध किया जा रहा है कि प्रस्तुत विषय पर मैं भी, पक्ष अथवा विपक्ष में, कुछ कहूँ अथवा कुछ लिखूँ, मौन न रहूँ ॥

सच कहूँ, तो लिखने अथवा कहने का मानस मेरा स्वयं का भी है ॥

किन्तु समालोचनार्थ सम्मुख कुछ भी नहीं ॥

जो कुछ भी है, हास्यास्पद ही है, प्रौढ़ नहीं ॥

इस विषय में एक उदाहरण हम ऊपर आदरणीय बैनाडाजी का दे ही चुके हैं, दूसरा उदाहरण आदरणीय बैनाडाजी की धारणा को मिथ्या व असंगत सिद्ध करने वाले वैयाकरण डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल, संपादक जिनभाषित, का ही है ॥

आइये, इसे अगले शीर्षक में देखें ॥

॥ इत्यलम् ॥



☐ डॉ. रतनचंदजी की भी मिथ्या व असंगत प्ररूपणाएँ

परमपूज्य इंद्रनंदी आचार्य भगवंत को अवर्णवादी कहना :-

पाठकवर्ग कृपया स्मरण में रखें कि आदरणीय डॉ. साहब सुप्रसिद्ध वैयाकरण अवश्य हैं, किन्तु कुशल दर्शनज्ञ/दार्शनिक नहीं, इसे हम पूर्व में ही कह आये हैं, अब उदाहरण देखिये :-

वे परमपूज्य आचार्य इंद्रनंदी, जो कि इतिहासकारों के मतानुसार आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के गुरु थे, पर श्रुत अवर्णवाद का आरोप लगाते हुए लिख रहे हैं कि :-

मूलाचार (गाथा २७८), हरिवंशपुराण (१२/५२) आदि में बतलाया गया है कि आर्यिकाएँ ग्यारह अंगों का अध्ययन कर सकती हैं, जिनमें आचारांग प्रथम है ॥ इसके विपरीत इंद्रनंदी ने नीतिसार में लिखा है कि आर्यिकाओं, गृहस्थों और मंदबुद्धि शिष्यों के आगे सिद्धान्त और आचार ग्रंथों की वाचना नहीं करनी चाहिये :-

आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम् ।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धांताचार पुस्तकम् ॥

यह आगम वचन के प्रतिकूल है ॥

जैसा कि हमने अभी-अभी कहा कि आदरणीय डॉ. साहब कुशल वैयाकरण अवश्य हैं, किन्तु कुशल दार्शनिक/नैयायिक नहीं ॥

(आदरणीय बैनाडाजी की ही भांति) दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ कहलाने की ललक में वे न तो दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ ही रहे और न ही वैयाकरण ॥

हम पहले ही लिख चुके हैं कि समीचीन मीमांसा के लिये प्रत्येक दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ को पद के निर्दोष अर्थ के परिज्ञान के लिये वैयाकरण/भाषाशास्त्री होना आवश्यक है, किंतु एक कुशल वैयाकरण/भाषाशास्त्री दार्शनिक/नैयायिक भी हो, यह आवश्यक नहीं है ॥

डॉ. साहब दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ कहलाने की ललक में न यहाँ के रहे न वहाँ के ॥

देखिये :-

डॉ. रतनचंदजी अर्थात् एक वैयाकरण की अक्षम्य भूल :-

अपने मंतव्य की सिद्धि के लिये कि श्रीमद् इंद्रनंद्याचार्यजी आगम अनुकूल नहीं,

अपितु प्रतिकुल प्ररूपक है, उन्होने उन्हींका लिखा श्री इंद्रनंदीनीतिसारसंग्रहजी का श्लोक प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया है :-

आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम् ।
न वाचनीयं पुरतः सिद्धांताचार पुस्तकम् ।।

इसका अर्थ करते हुए वे लिख रहे हैं कि :-

"आर्यिकाओं, गृहस्थों और मंदबुद्धि शिष्यों के आगे सिद्धान्त और आचार ग्रंथों की वाचना नहीं करनी चाहिये ।।"

इस अर्थ को करने में एक वैयाकरण व भाषाशास्त्री द्वारा की गई अक्षम्य भूलों को देखिये :-

अपने द्वारा किये गये अर्थ में उन्होने श्लोक में प्रयुक्त शब्द 'अल्पमेधसाम्' जो कि एक विशेषण है व जिसका अर्थ मंदबुद्धि है, को श्लोक में प्रयुक्त जातिवाचक संज्ञा शिष्यों का ही विशेषण स्वीकार किया है, शिष्यों के अलावा अन्य किसी का नहीं ।।

अर्थात् उनकी मीमांसानुसार मंदबुद्धि विशेषण सिर्फ जातिवाचक संज्ञा शिष्य के साथ गमन करेगा, अन्य के साथ नहीं ।।

आइये देखें कि ऐसा है भी या नहीं ।।

विशेषणों के दो भेद होते हैं : १) जहत् लिंग २)अजहत् लिंग ।।

अजहत् लिंगी विशेषण उन्हे कहते हैं, जिनके कि लिंग विशेष्यों के लिंगानुसार परिवर्तित नहीं होते, किंतु जहत् लिंगी विशेषण वे होते हैं, जिनका कि लिंग विशेषणों के लिंग का अनुसरण करते हुए परिवर्तित हो जाता है ।।

इस श्लोक में चूँकि अल्पमेधस् विशेषण अपने विशेष्यों का अनुसरण करते हुए परिवर्तित हो रहा है, अत यह जहत् लिंगी विशेषण है ।।

जहत् लिंगी विशेषणों का नियम है कि वे सदैव अपने विशेष्य के लिंग, वचनानुसार होते हैं, उनके अपने स्वतंत्र लिंग वचनादि नहीं होते ।।

श्लोक में प्रयुक्त 'अल्पमेधस्' पद विशेषण है (पृष्ठ १०४, संस्कृत हिन्दी आप्टे कोश, वामन शिवराम आप्टे)।।

इस अल्पमेधस् सकारांत विशेषण का, स्त्रीलिंग, पुल्लिंग व नपुंसकलिंग, तीनों ही लिंगों में षष्ठी बहुवचन रूप अल्पमेधसाम् होता है ।।

इसका अर्थ हुआ कि श्लोक में निर्देशित सभी पुल्लिग, स्त्रीलिंग व नपुंसकलिंग षष्ठी बहुवचन संज्ञाओं अथवा क्रियाओं का, जिसका कि रूप अल्पमेधसाम् का अनुसरण करता हुआ होगा, का यह विशेषण होगा ।।

अकारांत पुल्लिंग व आकारांत स्त्रीलिंग, दोनों के ही षष्ठी बहुवचन रूप समान होते हैं ॥

जैसे कि अकारांत शब्द रामः का षष्ठी बहुवचन रूप रामाणाम्, आकारांत शब्द विद्या स्त्रीलिंग के षष्ठी बहुवचन रूप विद्यानाम् की ही तरह है ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि जब अल्पमेधस् विशेषण जो कि श्लोक में स्त्री लिंग व पुल्लिंग, दोनों लिंगों व दोनों लिंगों के षष्ठी बहुवचन का रूप लिये हुए है, तब इसका लिंग निर्धारण कैसे किया जाये अर्थात् इसे श्लोक स्थित स्त्रीलिंग आर्यिकाणां व दो पुल्लिंग संज्ञाओं गृहस्थाणां व शिष्याणां में से किसका विशेषण माना जाये ?

क्या स्त्रीलिंग व पुल्लिंग, दोनों लिंगों का ही इसे विशेषण मान लेने में कोई दूषण उत्पन्न होता है ?

इस प्रकार प्रच्छना होने पर उत्तर मिलता है कि नहीं, कोई दूषण नहीं आता, अपितु श्लोककार के भाषा प्रभुत्व का परिज्ञान होता है कि उसने सूत्र-ग्रंथों के नियमों का श्लोक में प्रयोग करके एक ही विशेषण को दो भिन्न लिंगी विशेष्यों का अनुसरण करवाया ॥

दुर्लभ सामर्थ्य है यह ॥

भाषा शास्त्र की इस नियमावली के अनुसार अल्पमेधस् विशेषण श्लोक स्थित दोनों पुल्लिंग विशेष्यों शिष्यों व गृहस्थों के साथ-साथ स्त्रीलिंग विशेष्य आर्यिकाओं का भी विशेषण सिद्ध होते हुए ३ पदों की निर्मिति करवाता है :

१) आर्यिकाणां अल्पमेधसाम् ॥

२) गृहस्थानां अल्पमेधसाम् ॥

३) शिष्याणां अल्पमेधसाम् ॥

इस प्रकार इस श्लोकगत अल्पमेधसाम् अर्थात् मंदबुद्धि विशेषण की अनुवृत्ति शिष्यों, आर्यिकाओं व गृहस्थों, तीनो के साथ करने पर वाक्य बनता है कि :-

मंदबुद्धि आर्यिकाओं, मंदबुद्धि गृहस्थों व मंदबुद्धि शिष्यों के सम्मुख नहीं करना चाहिये ॥

क्या नहीं करना चाहिये ?

सिद्धान्त व आचार-ग्रंथों का वाचन ॥

इस प्रकार यह श्लोक श्री मूलाचारजी व श्री हरिवंशपुराणजी के प्रतिकूल नहीं, अपितु अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए, उनमें निर्देशित सिद्धाँत में विशेषता बतलाते हुए कहता है कि :-

आर्यिकाओं, गृहस्थों व शिष्यों के सम्मुख सिद्धान्त व आचार ग्रंथों का वाचन करना ही नहीं चाहिये,

ऐसा नहीं, अपितु मंदबुद्धि आर्यिकाओं, गृहस्थों व शिष्यों के सम्मुख नहीं करना चाहिये ॥

मंदबुद्धि आर्यिकाओं, गृहस्थों व शिष्यों के सम्मुख किया गया सिद्धान्त व आचार ग्रंथों का वाचन दोष का कारण होगा ॥

वहीं, यदि वे तीक्ष्ण अर्थात् प्रखरबुद्धि अथवा मध्यम बुद्धि हैं, तो ?

तो उनके सम्मुख वाचन न करना दोष का कारण होगा ॥

प्रिय पाठको, उपर्युक्त भाषाशास्त्रानुसार प्ररूपणा हम ही कर रहे हैं, अन्य कोई वैयाकरण नहीं, ऐसा नहीं, अपितु ठीक ऐसी ही अर्थ प्ररूपणा श्री इंद्रनंदिकृत नीतिसारसंग्रहजी की संस्कृत टीका करने वाले सुप्रसिद्ध वैयाकरण पं. गौरीलालजी पद्माकर भी कर रहे हैं, देखिये :-

टीका - अल्पमेधसाम् अल्पा स्वल्पा स्तोका मेधा बुद्धिः येषां तेषां तासामार्यिकाणां महाव्रतिकानां च गृहस्थानां श्रावकानां तथा शिष्याणां साधूनां पुरतः अग्रे समक्षं। सिद्धान्ताचारपुस्तकम् समयसारप्रायश्चित्तविधानशास्त्रं न वाचनीयं न पठनीयं न श्रावयेत् (श्री इन्द्रनन्दि-नीतिसारसमुच्चयजी, श्लोक संख्या ३२ की टीका) ॥

प्रिय पाठको,

क्या आपको, उपर्युक्त सुप्रसिद्ध वैयाकरण पं. गौरीलालजी पद्माकर, सिद्धांत शास्त्रीजी की टीका का पारायण करने के पश्चात् किंचित् भी प्रतिभाष हो रहा है कि आचार्य भगवंत उपर्युक्त श्लोक में यह कहना चाह रहें हैं कि आर्यिका माताओं व गृहस्थों के सम्मुख सिद्धाँत व आचार ग्रंथों का वाचन करना ही नहीं ?

अर्थात् क्या आपको, जैसा कि श्रुत अवर्णवाद का आरोप डॉ. साहब परम पूज्य इंद्रनंदी आचार्य पर लगाते हुए उन्हें श्री मूलाचारजी (२७८), श्री हरिवंश पुराणजी (१२/५२) आदि के विपरीत कथन करने वाला निरूपित कर रहे हैं, वैसा किंचित् भी प्रतिभाष हो रहा है ?

नहीं न ?

अपितु इसके विपरीत क्या यह प्रतिभाष नही हो रहा है कि श्री मूलाचार जी (गाथा २७८), श्री हरिवंशपुराण जी (१२/५२) आदि के ही विषय को उन्होने और अधिक विशेषता सहित प्रस्तुत किया है ?

हो रहा है न ?

निष्कर्ष :-

अब आप ही बतलाइये कि परम पूज्य इंद्रनंदी आचार्य पर आगम के प्रतिकूल लेखन

का आरोप लगाने वाले डॉ. साहब को आप क्या कहेंगे ?

उद्दंड मंदबुद्धि ही न, या और भी कुछ है आपके पास कहने को ?

निश्चित ही, इन्हीं की सी बुद्धिवालों को मंदबुद्धि कहा जाता है ॥

इन्हीं की सी बुद्धिवालों के सम्मुख वाचन नहीं किया जाना चाहिये ॥

इन्हीं की सी बुद्धिवालों के सम्मुख किया गया वाचन न सिर्फ वितण्डावाद, अपितु श्रुत अवर्णवाद का भी कारण बनता है ॥

मात्र श्रुत-अवर्णवाद का ही कारण बनता है, ऐसा भी नहीं, अपितु पुरातन सम्यक् आचार्यों/मुनिवर्यों/चिंतकों को मिथ्यादृष्टि घोषित करते हुए, मिथ्यामत की स्थापना को भी ॥

अक्षम्य अपराध है यह ॥

क्षमा करने योग्य किसी भी विवक्षा से नहीं ॥

यदि और किसी दण्ड का हम प्रावधान नहीं कर सकते, तो हा ! मा !! धिक् !!! इन तीन दण्डों का प्रावधान तो कर ही सकते हैं ॥

आइये, इसी अर्थ को तीन अन्य प्रकार से भी पुष्ट करने का उद्यम करें :-

(अ) न्याय शास्त्रों के विस्मरण से उत्पन्न भूल :-

न्याय शास्त्रों के आश्रय से भी डॉ. साहब जो कह रहे हैं, उस कहे हुए में भी बाधा आती है कि अल्पमेधस् विशेषण सिर्फ शिष्यों का है, आर्यिकाओं व गृहस्थों का नहीं ॥

न्याय शास्त्रों के आश्रय से बाधा यह आती है कि अल्पमेधा क्या सिर्फ शिष्यों में ही पाई जाती है, गृहस्थों व आर्यिकाओं में नहीं ?

यदि न पाई जाती हो, तब तो आप शिष्यों में ही उस विशेषण की सिद्धि का पुरुषार्थ करें, यह तो उपयुक्त लगता है, किंतु जब अल्पमेधा तीनों में पाई जाती है, फिर उसे अकेले शिष्यों का ही विशेषण कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

अर्थात् नहीं किया जा सकता ॥

अतः युक्ति से भी आपका निर्देश स्पष्टतः बाधित है ॥

इस विषय में आपको तत्त्वार्थसूत्रजी आदि ग्रंथों से सहयोग लेना चाहिये था ॥

जैसे कि श्री तत्त्वार्थ सूत्रजी, अध्याय ९, सूत्र ६ में कहा गया है :-

उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपत्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणिधर्मः ॥

इस सूत्र में भी उत्तम यह विशेषण है व आदि दीपक न्यायानुसार क्षमा आदि सभी के साथ गमन कर रहा है, क्योंकि क्षमा आदि सभी उत्तम पाये ही जाते हैं ॥

इसी प्रकार अंत में कहा गया धर्म भी क्षमादि प्रत्येक के साथ गमन करेगा ॥

यहाँ लिंगादि की विवक्षा को गौण रख कर आचार्य भगवंत ने प्ररूपणा की है ॥

इनमें यदि कोई एक भी अनुत्तम अथवा अधर्म रूप पाया जाता, तो अन्यत्र से पुल्लिंगादि का अथवा समीपादि न्याय सूत्रों के आश्रय से उपचार किया जाता व उत्तम को उस अनुत्तम से अथवा अधर्मों को धर्मों से पृथक् सिद्ध करने के पश्चात् शेष विशेष्यों का विशेषण सिद्ध किया जाता ॥

आपको भी अल्पमेधस् विशेषण के संदर्भ में इसी विधि का प्रयोग करना चाहिये था ॥

यदि अल्पमेधा सिर्फ शिष्यों के ही पाई जाती, तब तो उसे शिष्यों का ही विशेषण कहना उपयुक्त था ॥

किंतु ऐसा तो नहीं है ॥

जब ऐसा है ही नहीं, फिर उसे अकेले शिष्यों का ही विशेषण कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? अर्थात् किसी भी अपेक्षा से स्वीकार किया ही नहीं जा सकता है ॥

उसे तो तीनों का विशेषण स्वीकार करना होगा ॥

उपर्युक्त न्यायानुसार सत्य अत्यंत स्पष्ट है कि आचार्य भगवंत का आशय यहाँ ठीक वही है, जो कि श्री मूलाचारजी व श्री हरिवंशपुराणजी का है, उनके प्रतिकूल नहीं ॥

उनके अनुकूल प्रवृत्ति करते हुए, उनके वचनो को और अधिक विधि सम्मत उन्होने किया है ॥

उनके वचनों को और अधिक विधि सम्मत करते हुए वे कहते हैं कि :-

आर्यिकाओं, गृहस्थों व शिष्यों के सम्मुख सिद्धान्त व आचार ग्रंथों का वाचन करना ही नहीं चाहिये, ऐसा नहीं, अपितु मंदबुद्धि आर्यिकाओं, गृहस्थों व शिष्यों के सम्मुख नहीं करना चाहिये, किंतु यदि वे तीक्ष्ण अर्थात् प्रखरबुद्धि अथवा मध्यम बुद्धि हैं, तो उनके सम्मुख वाचन न करना दोष का कारण होगा, अतः उनके सम्मुख वाचन करना ॥

अब पाठक वर्ग कृपया आप ही बतलाए कि आचार्य भगवंत मे जो दूषण नही है, उसे दूषण परिभाषित करते हुए, डॉ. साहब द्वारा उन्हें आगमप्रतिकूलोपदेशक घोषित कर देना, को हम उद्दंडता न कहे तो क्या कहें ?

(ब) अंत्यदीपक विधा के विस्मरण से उत्पन्न भूल :-

इसी प्रकार आपको पूर्वाचार्यों से संगति बैठाने के लिये अंत्यदीपक विधा का भी प्रयोग करना चाहिये था, जो कि यहाँ नहीं किया गया है ॥

अंत्यदीपक न्यायानुसार यदि आप अल्पमेधस् को अंत्यदीपक स्वीकार करते हुए, इस एक विशेषण के आश्रय से तीन पदों की निर्मिति कर लेते, तब भी आप निर्दोष अर्थ के सम्मुख हो जाते :

१) आर्यिकानां अल्पमेधसाम् ॥

२) गृहस्थानां अल्पमेधसाम् ॥

३) शिष्यानां अल्पमेधसाम् ॥

किंतु आपने यह भी नहीं किया व सीधे-सीधे आपके ही मंतव्य को कहने वाले आचार्य भगवंत पर मिथ्योपदेशक होने का आरोप मढ़ दिया ॥

यह न सिर्फ स्वयं को अल्पबुद्धि सिद्ध करने वाला कर्म है, अपितु स्वयं में स्वयं की बौद्धिक पात्रता को लेकर उत्पन्न हुई भ्रामक बुद्धि का भी ॥

(स) व्याकरणशास्त्र के बहुमूल्य सूत्र के विस्मरण से उत्पन्न भूल :-

इतना ही नहीं, अपितु कुशल वैयाकरण होने के उपरांत भी एक चूक आप और कर गये और वह यह कि आपको व्याकरण शास्त्र का एक शेष वृत्ती का कथन करने वाला सूत्र ही विस्मृत हो गया :

सरूपाणां एक शेष एक विभक्तौ ॥(१/२/६४ - अष्टाध्यायी जी)

अर्थ : एक समान रूपवाले अर्थात् एक जैसे उच्चारण अथवा एक जैसे अर्थवाले शब्दों में से एक ही शब्द शेष रहता है, जबकि उनका प्रयोग एक ही विभक्ति में हुआ हो ॥

इस सूत्रानुसार भी श्लोक स्थित एक विशेषण से भी तीन पदों की निर्मिति होगी :

१) आर्यिकानां अल्पमेधसाम् ॥

२) गृहस्थानां अल्पमेधसाम् ॥

३) शिष्यानां अल्पमेधसाम् ॥

इन तीनों ही पदों मे चूँकि अल्पमेधस् विशेषण एक ही अर्थ को कहने वाला है, इसलिये तीन के स्थान पर एक ही शेष रहेगा ॥

इस एक का लिंग परवत् होगा ॥

चूँकि श्लोक में पर पुल्लिंग है, इसलिये इसका भी लिंग पुल्लिंग ही होगा ॥

लिंग पुल्लिंग होते हुए श्लोक स्थित दोनों ही स्त्रीलिंग व पुल्लिंग विशेष्यों में गमन करते हुए कहेगा कि मदबुद्धि आर्यिकाओं, गृहस्थों व शिष्यों के सम्मुख सिद्धांत व आचार शास्त्रों का वाचन नहीं करना चाहिये, किंतु (पारिशेष न्यायानुसार) प्रखर व मध्यमबुद्धि यदि वे हैं, तो उनके सम्मुख अवश्य करना चाहिये ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि श्री मूलाचारजी व श्री हरिवंशपुराणजी के निर्देशों के, श्री इंद्रनंदी (नीतिसारसंग्रहकारजी) प्रतिकूल नहीं, अपितु अनुकूल व्याख्यान करते हुए, संबंधित विषय में विशेषता दर्शाते हैं ॥

विशेषता दर्शाते हुए कह रहे हैं कि आर्यिकाओं, श्रावकों व शिष्यों के सम्मुख सिद्धांत व आचार ग्रंथों का वाचन करना ही नहीं, ऐसा नहीं, अपितु करना ही चाहिये, किन्तु यदि वे तीक्ष्ण अथवा मध्यमबुद्धि हों तब ही, मंदबुद्धि हों, तो नहीं ॥ मंदबुद्धि आर्यिकाओं, श्रावकों व शिष्यों के सम्मुख सिद्धांत व आचारग्रंथों का वाचन कभी नहीं करना चाहिये ॥

डॉ. साहब यहाँ अपने बचाव में यह नहीं कह सकते कि उन्होने पूर्व के अनुवाद कर्ताओं के द्वारा किये गये अनुवाद को शब्दशः ले लिया ॥

यदि वे यह उत्तर देते हैं, तो यह एक प्रबुद्ध व कुशल वैयाकरण द्वारा दिया गया दूसरा हास्यास्पद व एक बार पुनः उनकी मंदबुद्धि को उजागर करने वाला उत्तर होगा ॥

इसके अलावा प्रत्येक समालोचक को एक सूत्र सदैव स्मृति में रखना चाहिये कि:-

''चुकिज्जं छलं न घेतव्वं ॥''

किंतु आपने तो अनुवाद कर्ता के द्वारा चूकने पर छल ही ग्रहण कर लिया ॥

न सिर्फ छल ग्रहण किया, अपितु उसी छल-बुद्धि से आचार्य भगवंत को आगम के प्रतिकूल लिखने वाला तक निर्देशित/घोषित कर दिया ॥

इस प्रकार डॉ. साहब द्वारा श्रीमद् इंद्रनंदि आचार्य को आगम प्रतिकूल लेखन का दिया गया आरोप मिथ्या सिद्ध हुआ ॥

खैर ! यह तो डॉ. साहब द्वारा किये गये मिथ्या अनुवाद व असंगत प्ररूपणा का प्रथम उदाहरण हुआ, अब द्वितीय उदाहरण अगले शीर्षक में देखिये ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ क्या स्त्रियाँ मुनिराजों के चरण स्पर्श कर सकती हैं ?

श्रीमद् रविसेनाचार्यजी को अवर्णवादी कहने का दुःसाहस :-

विषय : क्या स्त्रियाँ मुनिराजों के चरण स्पर्श कर सकती हैं ?
मूलशीर्षक : शासन देवता सम्मान्य, पंचपरमेष्ठी उपास्य,
उपशीर्षक : मिथ्या धारणा व असंगत अनुवाद,
लेखक : डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल (म.प्र.), **पत्रिका :** जिनभाषित
अंक : जनवरी २००२, **पृष्ठ/कालम :** १२/---

श्री मूलाचारजी से प्रकरण लेकर डॉ. साहब लिख रहे हैं कि :-

आर्यिकाओं को आचार्य, उपाध्याय व साधु से ५,६,७ हाथ की दूरी से वंदना करनी चाहिये ।। यहाँ आर्यिका से स्त्री मात्र उपलक्षित है ।। क्योंकि आर्यिका के मुनिचरण स्पर्श से जिस दोष की संभावना है, उसकी संभावना क्षुल्लिका व श्राविका के मुनिचरण स्पर्श से भी है ।। यह अवश्य है कि आहारदान के समय मुनि से इतनी दूर नहीं रह सकती, पर यहाँ प्रधानता स्पर्श की है, जिसका परिहार आहारदान के समय संभव है ।।

उपर्युक्त वक्तव्य में एक बार पुनः डॉ. साहब अपने वैयाकरणपने से चूके ।। वैयाकरणपने से चूकने के कारण दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ होने से चूके ।। दर्शनज्ञ/न्यायज्ञपने से चूकने के कारण हास्यास्पद प्ररूपणा के एक बार पुनः कारण बने ।।

अपनी उपर्युक्त अर्थापत्ति के पश्चात् वे अपनी इसी असंगत व मिथ्या अर्थापत्ति के आश्रय से श्री पद्मपुराणजी आदि ग्रंथों में विवेचित स्त्रियों द्वारा मुनिराजों के किये गये चरण स्पर्श को जिनागम प्रतिकूल घोषित करते हुए, मिथ्या निरूपित कर रहे हैं ।।

उद्दंडता की हद तक जाकर किया गया दुःसाहस है यह उनका ।।

आइये, उनके मंतव्यों की मीमांसा करें :-

डॉ. रतनचंदजी अर्थात् एक भाषाशास्त्री की पूर्वानुसार एक और अक्षम्य भूल :-

वे कह रहे हैं कि श्री मूलाचारजी में आर्यिकाओं को ५,६,७ हाथ की दूरी से

वंदना का निर्देश है ॥

हमें भी स्वीकार है कि आचार्य भगवंत ने ५,६,७ हाथ की दूरी का निर्देश किया है ॥

दूरी का प्रावधान निर्देशित करते हुए आचार्य भगवंत स्पष्ट निर्देश दे रहे हैं कि कम से कम इतनी दूरी तो होनी ही होनी चाहिये, इससे कम नहीं ॥

शंकाकार : यदि आप को भी यह दूरी मान्य ही है, तो विरोध क्या है ?

समाधान : विरोध आचार्य भगवंत के आदेश से नहीं, अपितु डॉ. साहब द्वारा किये जा रहे अर्थ से है ॥ वे कह रहे हैं कि ५,६,७ हाथ की दूरी के निर्देश में प्रधानता दूरी की नहीं, अपितु स्पर्श की है ॥

यह विवक्षित अर्थ वे व्याकरण अथवा न्याय ग्रंथों के किस सूत्र के आश्रय से कर रहे हैं, यह प्रयास करने पर भी हम ज्ञात नहीं कर सके ॥

प्रिय पाठको ! क्या आप बतला सकते हैं ?

नहीं न ?

यहाँ सरल सा प्रश्न यह है कि यदि आचार्य भगवंत को स्पर्श की ही प्रधानता रहती, तो वे दूरी का नियम ही क्यों निर्देशित करते ? सीधे-सीधे स्पर्श का ही निषेध कर देते ॥

चूँकि दूरी के प्रावधान में स्पर्श निषेध का प्रावधान स्वतः गर्भित हो जाता है, किन्तु स्पर्श निषेध के प्रावधान में दूरी का नहीं, अर्थात् जिन्हें सिर्फ स्पर्श ही विवक्षित होता है, वे स्पर्श का निषेध करते हैं, दूरी का नहीं, किन्तु जिन्हें स्पर्श व दूरी दोनों ही विवक्षित होती हैं, वे दूरी का निषेध करते हैं, क्योंकि दूरी के प्रावधान में स्पर्श निषेध का प्रावधान स्वत· गर्भित हो जाता है, उसे पृथक् से कहने की आवश्यकता नहीं रहती ॥

इसलिये यदि आचार्य भगवंत को स्पर्श से ही प्रयोजन होता, तब तो स्पर्श का ही निषेध करते, दूरी बनाये रखने का प्रावधान ही नहीं करते, किन्तु नहीं, उन्हें तो दूरी व स्पर्श, दोनों से ही प्रयोजन था, अत दोनों अनिष्टों को एक ही सूत्र में गर्भित/निर्देशित करने की मंशा को चित्त में रख उन्होने प्रावधान दूरी का किया, स्पर्श का नहीं ॥

इसीके साथ यदि आचार्य भगवंत को स्पर्श ही विवक्षित होता, कही गई निश्चित दूरी नहीं, तब तो जैसे मुनियों को उन्होने एक हाथ की दूरी से वंदना करना लिखा, वैसे ही इनके लिये भी लिख देते[1], किन्तु नहीं लिखा ॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि आचार्य भगवंत को ५,६,७ हाथ से न्यून दूरी इष्ट ही नहीं है ॥

---

१. हत्थंतरेण बाधे संफासपम्मजणं पउज्जंतो । जाचेंतो वंदणयं इच्छाकारं कुणइ भिक्खु ॥

अर्थ : बाधा रहित एक हाथ के अंतर से स्थित होकर भूमि, शरीर आदि का स्पर्श व परिमार्जन करता हुआ मुनि वंदना की याचना करके वंदना को करता है ॥ (श्री मूलाचारजी, षडावश्यकाधिकार, गाथा ६११)

और यदि डॉ. साहब की मीमांसानुसार अर्थ यह लिया जाय कि आर्यिका कहने से यहाँ स्त्री मात्र उपलक्षित है, तब तो प्रत्येक स्त्री को न्यूनतम ५,६,७ हाथ की दूरी के विधान का कठोरता से पालन करना चाहिये, क्योंकि आचार्य भगवंत को इससे न्यून दूरी किसी भी विवक्षा से स्वीकार ही नहीं है ॥

अर्थात् इस मीमांसानुसार जिनागम में स्त्रियों द्वारा आहारदान दिये जाने का स्पष्ट निषेध प्राप्त होता है कि स्त्रियाँ मुनिराजों को आहारदान दे ही नहीं सकती ॥

देने को आतुर होंगी भी तो ५,६,७ हाथ की दूरी से ॥

कैसे देंगी ? इसे डॉ. साहब से ही पूछना चाहिये, हमसे नहीं, क्योंकि बाधा उत्पन्न करने वाला सूत्र वे ही लेकर आये हैं, हम नहीं ॥

इस प्रकार, डॉ साहब की मीमांसानुसार अर्थ करने पर कि आर्यिका कहने पर स्त्री मात्र उपलक्षित है, निश्चित ही वे सारे ही ग्रंथ, जिनमें कि स्त्रियों द्वारा आहारदान की प्ररूपणाएँ प्ररूपित की गई हैं, जिनागम प्रतिकूल सिद्ध होते हुए, मिथ्यात्व का पोषण करने वाले सिद्ध हो रहे हैं ॥

स्वयं डॉ. साहब भी, क्योंकि दूरी के प्रावधान को जानते, समझते हुए भी, वे एक हाथ की दूरी व अंजुलि से कुछ अंगुलियों के फासले से स्त्रियों द्वारा मुनिराजों को आहारदान दिये जाने के प्रावधान को आगमानुकूल कह रहे हैं ॥

क्या इस प्रकार डॉ. साहब स्वयं मिथ्यात्व का पोषण करने वाले सिद्ध नहीं हो जाते हैं ?

हो ही जाते हैं न ?

खैर ! आइये, अगला दूषण देखें ॥

हास्यास्पद बाधा (जिनमत व लोकमत दोनों का घात) :-

इतना ही नहीं, अपितु डॉ. साहब, बैनाडाजी, लुहाड़ियाजी आदि विद्वानों द्वारा णमोकार महामंत्र के आश्रय से आर्यिका माताओं में साधुत्व के निषेधार्थ दिया जा रहा तर्क कि चूँकि णमोकार महामंत्र में उनका स्मरण तक नहीं किया गया है, इसलिये वे साधुपरमेष्ठी नहीं हैं, उन्हीं के गले की हड्डी बन जायेगा ॥

कैसे ?

उनका तर्क है कि चूँकि णमोकार महामंत्र में यथार्थ साधु परमेष्ठियों तक के पवित्र जीवों को ही स्थान दिया गया है, न कि उपचार महाव्रती आर्यिका माताओं व क्षुल्लक-ऐलकादिकों को, अतः उनका समावेश किसी भी विवक्षा से साधु परमेष्ठियों में नहीं किया जा सकता है ॥

इस न्यायानुसार चूँकि आर्यिकाएं उपचार से महाव्रती हैं, यथार्थ में नहीं , अतः बकौल

डॉ. साहब ही ५, ६, ७ हाथ की दूरी का नियम भी आर्यिकाओं व स्त्रियों को यथार्थ आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों के प्रति ही निभाना चाहिये, अन्य पुरुष वर्ग को आर्यिकाओं व स्त्रियों के प्रति नहीं ॥

अर्थात् साधु परमेष्ठियों से अन्य जो पुरुष वर्ग है, उन्हें आर्यिकामाताओं से दूरी बनाये रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है ॥

क्यों ?

क्योंकि यदि ५, ६, ७ हाथ की दूरी का विधान आर्यिकाओं के प्रति अन्य पुरुषों द्वारा पाला गया, तब तो न सिर्फ आर्यिका माताओं में भी यथार्थ साधुत्व की सिद्धि हो जायेगी, अपितु दूरी का प्रावधान उन श्रावकों (पुरुषों) के चित्त में आर्यिका माताओं के प्रति गणिनी, अध्यापिका व साधुत्व की बुद्धि की निर्मिति कर सकता है ॥

नहीं कर सकता है क्या ?

कर सकता है न ?

अतः पुरुष वर्ग को आहारदान अथवा वंदनादि काल में आर्यिका माताओं से न्यूनतम दूरी ७ हाथ की बनाये रखने की आवश्यकता ही नहीं ॥

इतना ही नहीं, अपितु इस दूरी का विधान व उसके निश्चय से परिपालन का एकांत स्वयं आर्यिका माताओं के चित्त में भी कि वे भी आचार्य अर्थ में गणिनी, उपाध्याय अर्थ में अध्यापिका व साधुपरमेष्ठी अर्थ में साध्वी ही हैं, का भ्रम उत्पन्न करने वाला सिद्ध हो जायेगा ॥

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो क्यों नहीं जायेगा ? हो ही जायेगा ॥

अतः साधु परमेष्ठियों से अन्य जो पुरुष वर्ग है, उन्हें आर्यिकामाताओं से दूरी बनाये रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है ॥

मात्र आर्यिकाएं ही नहीं, अपितु, चूँकि क्षुल्लक व ऐलक महाराजों को भी बकौल डॉ. साहब णमोकार महामंत्र में स्मरण नहीं किया गया है, इसलिये वे भी साधु परमेष्ठी नहीं हैं, अतः, चूँकि वे भी साधु परमेष्ठी नहीं ही हैं, इसलिये स्त्रियों को उनसे भी दूरी रखने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि फिर दूरी का प्रावधान उन स्त्रियों व श्रावकों के चित्त में क्षुल्लक-ऐलक महाराजों के प्रति साधुत्व की बुद्धि की निर्मिति कर सकता है ॥

इसी प्रकार ऐलक व क्षुल्लक महाराजों के चित्त में भी उनके स्वयं के प्रति भी कि वे साधुपरमेष्ठी हैं, का भ्रम निर्मित कर सकता है ॥

इस न्यायानुसार ७ हाथ की दूरी का विधान सिर्फ और सिर्फ साधु परमेष्ठियों से ही

स्त्रियों व आर्यिका माताओं के लिये नियामक होगा, न कि अन्य पुरुषों का आर्यिका माताओं से अथवा स्त्रियों का क्षुल्लक-ऐलकादिकों से ॥

यदि ऐसा नहीं मानोगे तो मात्र आर्यिका माताओं में ही नहीं, अपितु क्षुल्लक-ऐलकादिकों में भी साधु परमेष्ठीपने की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि ७ हाथ की अधिकतम दूरी का विधान स्त्रियों से साधुपरमेष्ठी के लिये है, अन्य किसी के लिये नहीं, अन्य के लिये उपदेश का अत्यंताभाव है ॥

इस प्रकार कहना होगा कि आर्यिका माताएं व क्षुल्लक-ऐलकादि परस्पर पास-पास/साथ-साथ रहें, तो दोष का कारण नहीं है, किन्तु साधुपरमेष्ठी व आर्यिका माताएं (पारिशेष न्यायानुसार अन्य स्त्रियाँ) रहें, तो नियमतः दोष का कारण होगा ॥

इसी प्रकार अन्य स्त्रियाँ बगैर दूरी व स्पर्श के विधान को स्मरण में रखे क्षुल्लकादि को न सिर्फ आहारदान दे सकती हैं, अपितु चरण स्पर्श भी कर सकती हैं ॥

ऐसे ही अन्य पुरुष भी न सिर्फ अत्यंत समीप से आर्यिका माताओं को आहारादि दान दे सकते हैं, अपितु चरण स्पर्श भी करते हैं ॥

ऊपर ५, ६, ७ हाथ की दूरी का एकांत करने वाले डॉ. साहब को क्या विधान इसी अनुसार नहीं करना होगा ?

नहीं क्यों करना होगा ?

ऐसे ही तो करना होगा ॥

और यदि कहो कि नहीं, जब साधु से ही ७ हाथ कहा है, अतः इनसे तो ८, ९, १० हाथ की दूरी से नमस्कारादि क्रियाएँ करनी होंगी, तब तो स्थिति और अधिक हास्यास्पद हो जायेगी, क्योंकि फिर स्त्रियों के लिये अन्य व्रती व अव्रती पुरुष, जो कि साधु परमेष्ठी नहीं हैं, से कितनी दूरी बनाकर रखें, का प्रावधान भी करना होगा ॥

नहीं करना होगा क्या ?

नहीं क्यों करना होगा ? करना ही होगा ॥

इस प्रकार प्ररूपणा करते हुए बतलाना होगा कि सप्तम प्रतिमाधारी ब्रह्मचर्यव्रती से स्त्रियाँ कितनी दूरी से व्यवहार करें आदि ॥

इसी प्रकार पुरुषों के लिये भी कहना होगा कि वे व्रती-अव्रती स्त्रियों से कितनी दूरी से लोकोत्तर क्रियाओं का व्यवहार करें ?

इस प्रकार दूरियों का विधान निर्देशित होते ही स्त्री-पुरुष, जो कि न के बराबर दूरी से आहारदानादि लोकोत्तर क्रियाओं को क्रियान्वित करने को तत्पर रहते हैं, का निषेध हो जायेगा ॥

न सिर्फ इनका निषेध हो जायेगा, अपितु अव्यवस्था दूषण की भी निर्मिति हो जायेगी ॥

अव्यवस्था दूषण की निर्मिति होते हुए पिता-पुत्री अथवा माता-पुत्रादि के पवित्र लौकिक संबंधों से व्याप्त इस लोक का सम्पूर्ण लोक-व्यवहार भी दूषित हो जायेगा ॥

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा ॥ हो क्यों नहीं जायेगा ?

उपर्युक्त दूषणों से निवृत्त होने के लिये डॉ. साहब को हास्यास्पद प्ररूपणा करनी ही करनी होगी कि ५, ६, ७ हाथ की दूरी का विधान सिर्फ और सिर्फ आचार्य, उपाध्याय व साधुओं के प्रति ही गमन करेगा, अन्य लिंगियों के प्रति नहीं ॥

अन्य लिंगियों को इस विधान के परिपालन की आवश्यकता ही नहीं ॥

क्या डॉ. साहब को इसी हास्यास्पद विधान की संरचना अपनी उपर्युक्त निरुक्तियों के आश्रय से नहीं करनी होगी ?

नहीं कैसे करनी होगी ? अपितु करनी ही होगी ॥

इस विषय में डॉ. साहब की प्रपंच-बुद्धि का अब उदाहरण देखिये :-

उन्होंने आहारदान को तत्पर स्त्रियों के पक्ष में तो तर्क दे दिया, किन्तु उसी समय आर्यिका माताओं को आर्यिका दीक्षा के संस्कारों से संस्कारित करने वाले आचार्य भगवंतों के विषय में कुछ भी नहीं लिखा ॥

आश्चर्य है न ?

जबकि उन्हें श्री मूलाचारजी के अनुसार आर्यिका माताओं का आचार्यत्व ग्रहण करने वाले आचार्य भगवंतों के लिये भी दृढ़ता से लिखना चाहिये था कि वे श्री मूलाचारजी द्वारा निर्दिष्ट दूरी का अशिथिल भाव से परिपालन करते हुए आर्यिकाओं के संस्कार ५ हाथ की ही दूरी से ही करें, उससे न्यून दूरी से नहीं ॥

उससे न्यून दूरी ब्रह्मचर्य महाव्रत के परिपालन में अनाचार कहलायेगी ॥

किन्तु नहीं, उन्होंने आर्यिका दीक्षा देने वाले आचार्य भगवंतों के लिये ऐसा एक भी सूत्र प्रतिपादित नहीं किया और न ही उन्हें श्री पद्मपुराणजी की तरह मिथ्यात्व अनुरंजित ही घोषित किया ॥ ॥

क्यों, ऐसा क्यों किया उन्होंने ?

केवली भगवंत जाने भैया, हम कैसे बतला सकते हैं ॥

शायद वे यहाँ यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे थे कि वंदना काल के लिये निर्दिष्ट आर्यिका माताओं व मुनिराजों के मध्य की दूरी का विधान सिर्फ और सिर्फ वंदना के काल का है, वंदना के अलावा अन्य आवश्यकों अथवा आगमोक्त क्रियाओं के काल का नहीं ॥

यद्यपि आहारदान व दीक्षा के प्रकरणों में श्री मूलाचारजी में निर्दिष्ट ५,६,७ हाथ की दूरी के विधान का उल्लंघन एक दृष्टि से हो रहा है, किंतु वह उल्लंघन, उल्लंघन होकर भी उल्लंघन नहीं है, अपितु वह उल्लंघन अनेकांतिक विवक्षा की अपेक्षा करता है ॥ अतः इस प्रकरण में उन्हीं अनेकांतिक विवक्षाओं को समझने की आवश्यकता है ॥

किन्तु चाह कर भी वे सिद्ध नहीं कर पाये ॥

सिद्ध इसलिये नहीं कर पाये क्योंकि दार्शनिकों/नैयायिकों में पाई जाने वाली निर्दोष प्ररूपणा की पारंगतता का अभाव था ॥

निश्चित ही यदि डॉ. साहब में स्याद्वाद कौशल्य होता, तो न सिर्फ वे अपनी प्ररूपणागत हास्यास्पदता का आभाष कर लेते, अपितु श्री पद्मपुराणजी को मिथ्यात्व से अनुरंजित कहने का दुःसाहस भी नहीं कर पाते ?

किन्तु नहीं, दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ कहलवाने की लिप्सा में वे अपने वैयाकरणपने से चूके ॥

वैयाकरणपने से चूकने के ही कारण आचार्य भगवंत द्वारा निर्देशित दूरी के निर्देश को बगैर आगम व व्याकरणशास्त्र-प्रमाण के स्पर्श प्राधान्य कह, दूरी का सूत्र लंघन करने में कोई दोष नहीं, ऐसी प्ररूपणा कर बैठे ॥

ऐसी प्ररूपणा कर उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि दूरी मात्र इतनी ही होनी चाहिये कि उनका परस्पर में स्पर्श न होवे ॥ स्पर्श यदि हो गया, तो समझ लो कि दोष हो गया, अन्यथा कोई दोष नहीं ॥

व इस प्रकार स्वयं द्वारा प्रस्तुत आचार्य भगवंत द्वारा निर्देशित ५, ६, ७ हाथ की दूरी के प्रावधान का स्वयं ही मूर्खों की मानिन्द खण्डन कर बैठे ॥

है न हास्यास्पद ?

मात्र हास्यास्पद नहीं, अपितु अपनी इसी हास्यास्पद प्ररूपणा के आश्रय से श्री पद्मपुराणकारजी को मिथ्यात्व से अनुरंजित कहने का उद्दंडता की हद को पार कर गया दुःसाहस भी कर बैठे ॥

इसी प्रकरण में, जिसके कि द्वारा डॉ. साहब स्त्रियों द्वारा मुनिराजों को दिया जाने वाला आहारदान आगमोक्त क्रिया ठहरा रहे हैं, उसी उदाहरण में निहित उनकी मंदबुद्धि की अति अगले शीर्षक में देखिये ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑ स्वयं डॉ. साहब द्वारा
स्त्री- जिनबिंबाभिषेक की सिद्धि

डॉ. साहब को पता ही नहीं कि जिस तर्क के आश्रय से वे स्त्रियों द्वारा आचार्य भगवंतों को दिये जाने वाले आहारदान को आगमानुकूल क्रिया ठहरा रहे हैं, उसी तर्क द्वारा स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला अभिषेक भी आगमानुकूल क्रिया ठहरती है ॥

कैसे ?

यदि स्त्रियाँ एक हाथ की दूरी व अंजुलि से कुछ अंगुलियों के फासले से मुनिराज की अंजुलि में जल, दूध व अन्य रसादि की धारा दे सकती हैं, तब उतने ही हाथ व उतनी ही अंगुलियों के फासले से जिनबिंबाभिषेक क्यों नहीं कर सकती ?

कर ही सकती हैं ॥

करने में फिर बाधा कैसी ?

बाधा को तो स्थान ही नहीं होना चाहिये ॥

यदि बाधा दोगे, तो आहारदान का सूत्र, जिसे कि अभी-अभी डॉ. साहब समीचीन कह आये हैं, मिथ्या सिद्ध हो जायेगा ॥

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा ॥ हो कैसे नहीं जायेगा ?

इस प्रकरण में आप स्त्रियों पर असावधानी का आरोप भी नहीं लगा सकते ॥

क्यों ?

क्योंकि जैसे आप उन्हें आहारदान के काल में मुनिराज आदि के प्रति सावधान-चित्त प्ररूपित करते हैं, सावधान-चित्त प्ररूपित करते हुए उन्हें, उनसे मुनिराज का स्पर्श न हो जाये, विषय में सदैव दत्तचित्त प्ररूपित करते हैं, वैसे ही यहाँ भी करना होगा ॥

और यदि नही करोगे, तो आहारदान काल में भी उन पर असावधान-चित्त का आरोप लगाना होगा ॥

नहीं लगाना होगा क्या ?

नहीं क्यों लगाना होगा ? अपितु लगाना ही होगा ॥

अर्थात् वे स्त्रिया जो भगवान का अभिषेक नहीं करती अथवा वे विद्वान् जो कि स्त्रियों

द्वारा किये गये जिनाभिषेक को आगम प्रतिकूल क्रिया कहते हैं, उनके मत में स्त्रियाँ आहारदान के भी अयोग्य हैं, योग्य नहीं ॥

उन्हें स्वप्न में भी आहारदान करना या करवाना योग्य नहीं है ॥

अर्थात् डॉ. साहब द्वारा, स्त्रियों द्वारा दिये जाने वाले आहारदान के पक्ष में दिया जाने वाला तर्क, स्वयं उनके अपने मत को कि जिसमें स्त्रियाँ जिनाभिषेक नहीं कर सकती, को बाधा पहुँचाने वाला है ॥

और आश्चर्य यह कि डॉ. साहब अपने द्वारा प्रयुक्त, जिसे कि वे उत्तमोत्तम तर्क मान रहे थे, के इतने सरल से दूषण से अनभिज्ञ थे ॥

जानते तो स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले आहारदान की पुष्टि ही नहीं करते, अपितु श्री मूलाचारजी के अपने ही द्वारा प्रस्तुत प्रमाण द्वारा स्त्रियों द्वारा दिये जाने वाले आहारदान का प्रबल विरोध करते व स्त्रियों द्वारा आहार ग्रहण करने वाले साधु परमेष्ठियों को महा मिथ्यादृष्टि घोषित कर देते ॥

मात्र आहारदान देने वाली स्त्रियों व उनसे आहार ग्रहण करने वाले साधु परमेष्ठियों को ही नहीं, अपितु निर्देशित दूरी का उल्लंघन कर, अत्यंत सामिप्य से आर्यिका-दीक्षा देने वाले आचार्य भगवंत व संस्कारित होने वाली आर्यिका माताओं को भी मिथ्यादृष्टि घोषित कर देते ॥

मात्र इन्हें ही नहीं, अपितु उन सभी धर्म ग्रंथों को भी जिनमें कि स्त्रियों को मुनिराजों को आहार देने के योग्य ठहराया गया है ॥

मात्र उन्हें ही नहीं, अपितु उनके प्ररूपक आचार्य भगवंतों को भी ॥

यह तो उनके अपने द्वारा प्रस्तुत तर्क से उनके अपने मत को खण्डन करने वाली प्रथम प्ररूपणा हुई, किंतु उनके द्वारा प्रस्तुत श्री मूलाचार जी की इसी दूरी का निर्देशन करती गाथा द्वारा भी स्त्रियों द्वारा किये जा रहे जिनबिंबाभिषेककी समीचीनता को सिद्ध किया जा सकता है ॥

चलिये, अगले शीर्षक में इसे ही सिद्ध करें ॥

॥ इत्यलम् ॥



☐ श्री मूलाचारजी द्वारा स्त्री-जिनबिंबाभिषेक की सिद्धि

डॉ. साहब को यह भी पता ही नहीं कि उनके द्वारा प्रमाण रूप प्रस्तुत श्री मूलाचारजी की इसी गाथा द्वारा स्त्रियों द्वारा किये जा रहे जिनबिंबाभिषेक को आगमोक्त क्रिया सिद्ध किया जा सकता है ॥

शंकाकार : नहीं किया जा सकता ॥

समाधान : आप कैसे कह सकते हैं कि नहीं ही किया जा सकता ? हाँ !! मंदबुद्धि बुद्धियों के लिये कहा जा सकता है, किंतु जिनके साथ आचार्य भगवंतों का स्याद्वाद कौशल्य है, उनके लिये नहीं ॥

वैसे यहाँ, हमारे पास आचार्य भगवंतों का स्याद्वाद कौशल्य है अथवा नहीं, इसे सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि इस प्रकरण में हमारा कौशल्य नहीं, अपितु गाथा स्वयं ही बोलेगी ॥ लीजिये, आप भी सुनिये :-

देखिये, डॉ. साहब ने स्त्रियों द्वारा मुनिराजों के चरण स्पर्श के निषेधार्थ जिस गाथा का प्रयोग किया है, वह गाथा कह रही है कि -

"आर्यिकाएं आचार्यों की ५ हाथ की दूरी से, उपाध्याय परमेष्ठी की ६ हाथ की दूरी से व साधु भगवंतों की ७ हाथ की दूरी से वंदना करें ॥"

इस गाथा का स्पष्ट अर्थ यह है कि "जैसे -जैसे मुनिराजों में गुणों की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे आर्यिका माताओं की उनसे दूरी कम की गई है ॥ "

देखिये, अधिकतम दूरी ७ हाथ कही है ॥

साधु भगवतों से ७ हाथ ॥

चूँकि उपाध्याय भगवन्, साधु महात्मन् से गुणाधिक्य है, इसलिये दूरी घटा कर ६ हाथ कर दी गई ॥

६ हाथ का अर्थ है एक हाथ कम ॥

इसी प्रकार आचार्य भगवंत ॥

आचार्य भगवंत उपाध्याय परमेष्ठी से गुणाधिक्य हैं ॥

चूँकि आचार्य भगवंत उपाध्याय परमेष्ठी से गुणाधिक्य हैं इसलिये दूरी घटा कर ५

हाथ कर दी गई ॥

५ हाथ अर्थात् साधु परमेष्ठी से दो हाथ और उपाध्याय परमेष्ठी से एक हाथ कम ॥

यह प्रमत्तों से दूरी का विधान है, अप्रमत्तों का नहीं ॥

प्रमत्त अर्थात् समल महाव्रती ॥

जब प्रमत्त अर्थात् समल महाव्रतियों में गुणाधिक्यता पाई जाने पर स्त्रियों की उनसे दूरियाँ घटा दी गई हैं, तो गुणों के निधान अर्थात् जिनमें कि प्रमत्तता अर्थात् मलों का किंचित् भी सद्भाव नहीं पाया जाता, ऐसे अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती निर्मल महाव्रतियों से क्या दूरियाँ और घटाई नहीं जायेंगी ?

निश्चित ही घटाई जायेंगी ॥ घटाई क्यों नहीं जायेंगी ?

अर्थात् अप्रमत्तों से दूरियाँ प्रमत्तों की अपेक्षा और कम कर दी जायेंगी ॥

कम होते-होते, जो प्रमत्त के ६ व अप्रमत्तों के ६, ऐसे १२ गुणस्थानों को पार कर गये हैं, उन अरिहंत प्रभु से स्त्रियों की दूरियाँ क्या शेष रहेंगी ?

नहीं न ?

अर्थात् इस गाथा की अपेक्षा आर्यिका माताओं व स्त्रियों के लिये स्पष्ट निर्देश है कि दूरी का विधान गुणों और मात्र गुणों की अपेक्षा है, गुणस्थान मात्र की अपेक्षा नहीं ॥

गुणस्थान एक होने पर भी गुणों में न्यूनता व आधिक्य प्राप्त होते हैं ॥

इन्हीं गुणों की न्यूनता व आधिक्यानुसार दूरियों का निर्देश परमागम में किया गया है, सर्वथा एक नियम नहीं है ॥

अर्थात् षष्ठ गुणस्थान स्थित तीन परमेष्ठियों में सर्वथा न्यून गुण वाले मुनि साधु परमेष्ठी हैं ॥ उनसे ७ हाथ दूर रहना है ॥

चूँकि साधु परमेष्ठी से आचार्य व उपाध्याय गुणाधिक्य हैं, इसलिये.....

गुणाधिक्य कौन , साधु या आचार्य परमेष्ठी ?

शंका : जी नहीं, आचार्य व उपाध्याय से साधु परमेष्ठी ही गुणाधिक्य हैं ॥

समाधान : नहीं हैं ॥

शंका : कैसे ?

समाधान : चूँकि उपाध्याय भगवन् के २५ व आचार्य भगवन् के ३६ गुण साधु परमेष्ठी से आगम में अधिक कहे गये हैं, अतः इस इकलौते प्रमाण से ही सिद्ध है कि आचार्य व उपाध्याय परमेष्ठी साधुओं से गुणाधिक्य होते हैं ॥

शंका : किन्तु बगैर आचार्य व उपाध्याय पद का त्याग किये जब समाधि भी नहीं कही है,

तब मुक्ति कहाँ से होगी ? इसलिये समाधि व मुक्ति का हेतु साधु पद ही गुणाधिक्य है ।।

समाधान : आपका कथन सत्य है, किंतु सर्व देश नहीं ।।

शंकाकार : कैसे ?

समाधान : वह ऐसे कि आचार्य भगवंतों से पद त्याग के नाम पर शिष्यों का संग्रह व उनसे पंचाचारों का परिपालन करवाने का जो अतिरिक्त उद्यम आचार्य भगवंत करते हैं, सिर्फ उसीका परमागम में पद त्याग के नाम पर त्याग करवाया गया है, प्राप्त किये गये क्षमा आदि ३६ गुणों को नहीं ।।

स्व-उपकारी क्षमादि ३६ गुण, संग्रह व परिपालन रूपी परोपकारी गुणों से सर्वथा पृथक् हैं, एक नहीं हैं ।।

उनके यही ३६ गुण उन्हें परोकार में प्रवर्तन के योग्य सिद्ध करते हैं ।।

इन्हीं ३६ गुणों के कारण वे स्व व परोपकारी हैं ।।

इन्हीं ३६ गुणों के कारण पद त्याग के पश्चात् भी जिनागम में इन्हें आचार्य भगवंत कह कर ही संबोधित किया गया है, साधु परमेष्ठी कह कर नहीं ।।

अर्थात् आचार्य पद का त्याग कर, समीचीन समाधि को उपलब्ध पूर्वाचार्यों को भी आगम में इसी कारण आचार्य कह कर ही संबोधित किया गया है, जैसे धरसेनाचार्य, कुंदकुंदाचार्य, समंतभद्राचार्य, यतिवृषभाचार्य आदि ।।

परोपकारी गुणों के त्याग की अपेक्षा इनमें आचार्यत्व नहीं था, किन्तु स्व-उपकारी गुणों की अपेक्षा ये आचार्य ही थे ।। परोपकारी गुण कथंचित् समाधि में बाधा डाल सकते हैं, किंतु स्व-उपकारी गुण किंचित् भी नहीं ।।

इतना ही नहीं, अपितु मोक्ष के साक्षात् कारण द्वादस तपों का निर्दोष परिपालन भी इन्हीं ३६ गुण धारियों के ही पाया जाता है, साधुपरमेष्ठियों के नहीं ।।

साधु परमेष्ठियों में वह भजनीय है, जबकि आचार्य भगवंतों का तो वह मूलगुण ही है ।।

इसलिये पद त्याग के पश्चात् भी आचार्य भगवंत, आचार्य भगवंत बने रहते हुए, साधु परमेष्ठी से गुणाधिक्य ही रहते हैं, सम गुणी नहीं हो जाते ।।

इसी न्यायानुसार उपाध्याय परमेष्ठियों का भी चिंतन करते हुए, उन्हें भी साधु परमेष्ठियों से गुणाधिक्य ही सिद्ध करना चाहिये, सम गुणी नहीं ।।

अर्थात् स्त्रियों व आर्यिका माताओं को आगम में स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं कि षष्ठ गुणस्थानवर्ती तीन परमेष्ठियों में सर्वथा न्यून गुण वाले साधु परमेष्ठियों से ७ हाथ की दूरी से वंदनादि क्रियाएँ करो ।।

उनसे गुणों में श्रेष्ठ उपाध्याय परमेष्ठी की वंदना करते वक्त इस दूरी को एक हाथ कम

कर दो, अर्थात् उनकी वंदना ६ हाथ की दूरी से करो ॥

चूँकि आचार्य परमेष्ठी, उनसे भी गुणाधिक्य हैं, इसलिये दूरी और भी कम कर दो ॥

कितनी ?

दो हाथ ॥ दो हाथ कम करते हुए वंदना ५ हाथ की दूरी से करो ॥

इसके आगे का विषय उपलक्षण न्याय के आश्रय पूर्वक अनुमान प्रमाण का है ॥

अर्थात् गुणाधिक्य होने पर दूरियों में न्यूनता के सूत्रानुसार उपर्युक्त उदाहरणों को उपलक्षण मान कर, इसके आगे का व्याख्यान अनुमान प्रमाण से करना चाहिये ॥ इसे ही जैन गणित की भाषा में उपचार से त्रैराशिक विधान कहते हैं ॥

आइये, समझें ॥

उपर्युक्त दूरी का विधान प्रमत्त संयतों की अपेक्षा से कहा गया है ॥

अर्थात् दूरियों का विधान प्रमाद व कषाय नामक दोष की तारतम्यतानुसार कहा गया है ॥

प्रमाद व कषाय की तारतम्यता सम गुणस्थानवर्ती होने पर भी आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों के गुणों में अंतर करती है,

गुणों में अंतर सम गुणस्थानवर्ती पात्रों में अंतर करता है ॥

एक को गुणाधिक्य व दूसरे को न्यूनगुणी निरूपित करता है ॥

गुणाधिक्य व न्यूनगुणी निरूपित करते हुए उसीके अनुसार दूरी की वृद्धि अथवा न्यून करने का आर्यिका माताओं व स्त्रियों को उपदेश दिया गया है ॥

अब जबकि प्रमत्त गुणस्थान में ही, जहाँ कि कषाय के साथ प्रवृत्यात्मक प्रमाद की भी सत्ता पाई जाती है, ऐसे मुनिराजों में ही गुणाधिक्यता के कारण दूरियों का ह्रास किया गया है, तब, वे जो कि गुण ही गुणों के निधान हैं, जिनमें प्रमत्तता का किंचित् भी सद्भाव नहीं, मात्र कषाय का सद्भाव है, वह भी विवक्षाधीन, ऐसे सप्तम आदि गुणस्थानवर्ती ध्यानलीन अप्रमत्त महामुनिराजों से दूरियाँ कितनी न्यून हो जायेंगी, इसे कहने की आवश्यकता ही नहीं, इसकी कल्पना तो सहज ही की जा सकती है ॥

मात्र इतना ही नहीं, अपितु प्रमत्त-अप्रमत्त दोनों ही गुणस्थानों का उल्लंघन कर गये, महामुनिराज तीर्थंकर भगवान से तो दूरी का प्रश्न ही कहाँ शेष रहेगा ?

अर्थात् नहीं रहेगा ॥

आइये, इसे और सरल कर समझें ॥

उपर्युक्त दोनों ही, प्रमत्त व अप्रमत्त पात्र, तो एकदेश गुणवान थे ॥

प्रथम कहे गये आचार्यादि तीनों पात्रों के पास प्रवृत्यात्मक प्रमाद व कषाय दोनों ही थे, द्वितीय सप्तम आदि चार गुणस्थानवर्ती अप्रमत्तादि चारों पात्रों के पास प्रमाद का तो नितांत अभाव था, किन्तु घटते क्रम से कषाय का सद्भाव था, वह भी विवक्षाधीन, जबकि तृतीय पात्र ११वें व १२वें गुणस्थानवर्ती महामुनिराज एवं अप्रमत्त आदि ६ गुणस्थान पार कर चुके मोहादि रहित अरिहंत/तीर्थंकर भगवान, सर्वथा व सर्व प्रकार निर्दोष ॥

अब, जबकि वे सर्वथा/सर्व प्रकार निर्दोष हैं अर्थात् न तो वे प्रमादी ही हैं और न ही किसी भी विवक्षा से कषायी, इसके विपरीत उनकी औदयिकी क्रियाएँ भी स्वाभाविक होने से क्षायिकी कही गई हैं, तब उनके चरण-स्पर्श, अभिषेक व मार्जन हेतु दूरियाँ कहाँ से शेष रहेंगी ?

अर्थात् रह ही नहीं सकतीं ॥

क्योंकि दूरियों का विधान तो प्रवृत्यात्मक प्रमाद व कषाय के कारण कहा गया था व उनमें न्यूनता गुणों के कारण की गई थी ॥

व जब दूरियों के मूल कारण प्रमाद व कषाय हैं ही नहीं, तब फिर दूरियाँ कैसीं ?

और यदि उसके पश्चात् भी दूरियों की कल्पना करोगे, तो वह कल्पना सिवाय मूढ़ता के और क्या कहलायेगी ?

निश्चित ही वह सिवाय मूढ़ता के और कुछ नहीं कहलायेगी ॥

इस प्रकार श्री मूलाचारजी के ५, ६, ७ हाथ की दूरी के विधान द्वारा ही सिद्ध हुआ कि यह विधान सिर्फ और सिर्फ आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठी तक ही सीमित है, स्त्रियों द्वार किये जाने वाला जिनबिंब मार्जन, स्पर्श व अभिषेक का इसके द्वारा निषेध नहीं किया जा सकता व जो करता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता ॥

बाधा उत्पन्न करने वालों को आगम से बाधा :-

यहाँ आप यह भी नहीं कह सकते कि अरिहंत भगवान के मोहादि का अभाव कहा है, चरण स्पर्श अथवा अभिषेक करने वाली महिलाओं के नहीं, अतः भगवान के बिंब के स्पर्श व अभिषेक से उनका चित्त तो विक्षिप्त हो सकता है न ?

यह बाधा भी हास्यास्पद व जैन दर्शन संबंधी अज्ञान को ही प्रगट करने वाली है ॥

क्यों, अज्ञान को प्रगट करने वाली क्यों है ?

वह इसलिये कि तीर्थंकर भगवान के अनेकों अतिशय में एक अतिशय है काम बाधा का अभाव ॥[1] अर्थात् समवशरणस्थित प्राणियों को काम-बाधा का क्षुधा, पिपासा आदि बाधाओं की तरह अभाव होता है ॥

कैसे ?

तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से ॥

यदि उनके सान्निध्य में भी भक्तजनों के कामपीड़ा का अस्तित्त्व बना रहे, तब उन्हें दिव्य अर्थात् अतिशयवान कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् कहा ही नहीं जा सकता ॥

तीर्थंकर व अरिहंत प्रभु के सान्निध्य में भी जिनके कामतीव्राभिनिवेष पाया जाता है, वे अभव्य हैं, उन्हें समवशरण में ही प्रवेश करने का अधिकार नहीं होता, तब अन्य अधिकारों की चर्चा क्या करें ? वह तो कर ही नहीं सकते ॥

बाधा उत्पन्न करने वालों को युक्ति से उत्तर :-

यह तो आगम प्रमाण से बाधा हुई, अब युक्ति से आने वाली बाधा देखिये :-

इस विषय में विशेष बाधा यह आती है कि जो काम आदि की बाधाएँ आप अभिषेकादि के संदर्भ में दोगे, वे बाधाएँ आहारदान काल में भी दी जा सकती हैं ॥

नहीं दी जा सकती हैं क्या ?

नहीं क्यों दी जा सकती ? नियमत दी जा सकती हैं ॥

अर्थात् इन्हीं बाधाओं के द्वारा स्त्रियों द्वारा दिये जा रहे आहारदान का निषेध, स्त्री-अभिषेक की अपेक्षा अधिक सरलता से किया जा सकता है ॥

अतः स्त्री-अभिषेक का विरोध करने से पूर्व, स्त्रियों द्वारा मुनिराज को दिये जाने वाले आहारदान का ही विरोध किया जाना चाहिये ॥

कथंचित् आहारदान आदि के काल में प्राप्त सान्निध्य से, चूंकि, स्त्री व मुनि, दोनों ही प्रमादादि सहित हैं, इसलिये दोनों के ही अथवा दोनों में से किसी एक के स्खलन संभव है, किन्तु दिव्य व अतिशयवान तीर्थंकर भगवान तो न सिर्फ स्वयं शुद्ध/परम शुद्ध बने रहते हैं, अपितु सान्निध्य प्राप्त भव्य प्राणी को भी क्षुधा, तृषा, कामादि बाधाओं से मुक्त कर देते हैं (श्री तिलोयपण्णत्तिजी ४/९३३), अतः उपर्युक्त तर्क द्वारा स्त्रियों द्वारा किये जा रहे अभिषेक

---

१. आतंकरोगमरणुप्पत्तीओ वेरकामबाधाओ । तण्हाछुहपीडाओ जिणमहप्पेण ण हवंति ॥

(श्री तिलोयपण्णत्ति जी, अधिकार ४, गाथा ९३३)

अर्थ : (समवशरण में) जिनेन्द्र भगवान के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ती (जन्म), वैर, काम बाधा व तृष्णा (पिपासा) और क्षुधा की पीड़ाएँ नहीं रहती हैं ॥

आदि का नहीं, अपितु स्त्रियों द्वारा मुनियों को दिये जा रहे आहारदान का ही निषेध व विरोध किया जाना चाहिये ॥

इसलिये आपके द्वारा प्रयुक्त तर्क/बाधा के द्वारा विरोध स्त्रियों द्वारा जिनाभिषेक किये जाने का नहीं, अपितु स्त्रियों द्वारा मुनिराजों के चरण स्पर्श की तरह, आहारदान देने आदि की परंपरा का किया जाना चाहिये व वही बुधजनों के द्वारा निर्दोष कहलायेगा ॥

वैसा यदि आप नहीं करते हैं, तो आपकी प्ररूपणा नियमतः सदोष ही कहलायेगी ॥

कुतर्कों का दुराग्रह :-

यदि कुतर्कों का दुराग्रह करो, अर्थात् कुतर्कों को विराम न दो, तब भी स्त्रियों द्वारा जिनबिंबाभिषेक वाला प्रकरण डॉ. साहब व उनके मतानुसारियों द्वारा सिर्फ उलझाये रखा जा सकता है, खण्डित नहीं किया जा सकता ॥

कुतर्कों का दुराग्रह अर्थात् ?

लीजिये, सुनिये :-

शंका : तीर्थंकर भगवान को अरिहंत होने के पश्चात् किसी स्त्री अथवा देवी ने छुआ हो, ऐसा प्रथमानुयोग आदि ग्रंथों में प्रकरण ही प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान : यदि ऐसा ही है, तो किसी पुरुष अथवा किसी देव द्वारा उन्हें स्पर्श किया गया हो, ऐसा प्रकरण प्राप्त होता है क्या ?

नहीं होता है न ?

इस प्रकार तो प्रतिपक्षियों के यहाँ नियम यह बनना चाहिये था कि चूँकि साक्षात् तीर्थंकर भगवान को स्त्री या पुरुष, दोनों में से एक भी स्पर्श नहीं कर सकता, अतः उनकी प्रतिमाजी को भी मात्र स्त्री ही नहीं, अपितु पुरुष भी स्पर्श नहीं कर सकते ॥

चूँकि जिनेन्द्र भगवान का मत बाधित प्रमाणों को स्वीकार ही नहीं करता, इसलिये उपर्युक्त कुतर्क द्वारा मात्र स्त्रियों को ही प्रतिमाजी के स्पर्श के अयोग्य निरूपित किया ही नहीं जा सकता, करना होगा तो फिर स्त्री व पुरुष, दोनों को ही करना होगा, दोनों में से किसी एक को नहीं ॥

इसी प्रकार के अन्य कुतुर्कों के द्वारा वाद को व्यर्थ का विस्तार मात्र दिया जा सकता है, व्यर्थ का विस्तार देते हुए विषय को व्यर्थ में उलझाये मात्र रखा जा सकता है, बस इतना ही, इससे अधिक और कुछ नहीं......

जैसाकि बौद्धों ने ६ माह तक भट्टाकलंकदेव को उलझाये रखा था, वैसे ही ॥

अन्यथा समीचीन मत की स्थापनार्थ कि स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला जिनबिंबाभिषेक आगमोक्त है, को उपर्युक्त चर्चा ही पर्याप्त है ॥

वैसे साक्षात् तीर्थंकर भगवान के कितने समीप जाया जा सकता है, इसके

निर्णय के लिये श्री आदिपुराणजी का स्वाध्याय करना चाहिये ।।

चूँकि प्रतिपक्ष की श्री आदिपुराणजी के प्रति श्रद्धा तो है, किन्तु अवगाढ़ नहीं, इसलिये उसे नहीं कह रहे हैं ।।

शंकाकार : श्रद्धा अवगाढ़ नहीं है, ऐसा आप कैसे कह सकते है ?

समाधान : यदि श्रद्धा अवगाढ़ होती, तो १३ पंथ की उत्पत्ति व स्थिति पाई ही नहीं जाती ।। उसकी उत्पत्ति व स्थिति के खण्डनार्थ श्री आदिपुराणजी आदि में उपदेश पर्याप्त है ।। उस उपदेश के सद्भाव में भी यदि १३ पंथ की उत्पत्ति व स्थिति बनी हुई है, तो यह इस सत्य के प्रतिपादनार्थ पर्याप्त है कि १३ पंथियों को श्री आदिपुराणजी पर श्रद्धान तो है, किन्तु अवगाढ़ नहीं ।।

वैसे डॉ. साहब द्वारा प्रस्तुत प्रमाण स्वयं ही कह रहा है कि दूरियाँ आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों के लिये ही निर्देशित की गई हैं, न कि अरिहंतों व उनके बिंबों के लिये ।।

यदि उनके लिये भी दूरियों का प्रावधान होता, तो निश्चित ही निर्देशित किया जाता, किंतु नहीं किया गया ।।

नहीं किया गया, यही इस सत्य की सिद्धि के लिये पर्याप्त है कि दूरियाँ सिर्फ और सिर्फ आचार्य, उपाध्याय व साधु परमेष्ठियों के लिये ही निर्देशित की गई हैं, न कि अरिहंतों व उनके बिंबों के लिये ।।

इसके अलावा युक्त्यानुसार अर्थात् न्याय-बुद्धि पूर्वक इसी श्री मूलाचारजी की गाथा का विश्लेषण करने पर, जैसा कि प्रयास ऊपर किया गया है, सिद्ध यही होता है कि स्त्रियों द्वारा किया जा रहा बिंबाभिषेक आगमोक्त क्रिया है, आगमोक्त क्रिया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं, जो इसे नहीं मानता, वह जिनागम को ही नहीं जानता है ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि डॉ. साहब द्वारा प्रस्तुत प्रमाण स्वयं उनके ही मत का खण्डन करने वाला व जिन आचार्य भगवंतों के मत को अपनी मंदबुद्धि व हास्यास्पद निरुक्तियों के कारण मिथ्या व जिनागम प्रतिकूल आदि कह रहे हैं, उन्हीं आचार्यों के मत को पुष्ट करने वाला है ।।

शायद पाठक वर्ग को अनुभव हो गया होगा कि एक कुशल वैयाकरण स्वयं को स्थापित दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ कहलवाने/मनवाने की चाह में न यहाँ का रहा, न वहाँ का ।।

आइये इस विषय में अन्य संदर्भों से चर्चा अगले शीर्षक में करें ।।

।। इत्यलम् ।।



☐ *स्त्रियों द्वारा किया गया जिनबिंबाभिषेक व १३ पंथ*

एक शुद्धाम्नायी विद्वान् द्वारा २० पंथ के पक्ष में तर्क :-

एक कानजी-पंथी शुद्धाम्नायी विद्वान्, जो कि संस्कार वशात् शुद्धम्नायी थे, स्वभाव से उससे अधिक, ने अनजाने में ही २०पंथ के पक्ष में बहुत ही सुंदर व सटीक बात कही ॥

उनका कहना था कि जहाँ तक तीर्थंकर प्रभु की प्रतिमाओं को स्त्रियों द्वारा स्पर्श किया जाना चाहिये अथवा नहीं का प्रश्न है, वहाँ १३पंथ व २०पंथ में विशेष अंतर नहीं है ॥

हमने पूछा कि भाई क्यों ?

तब उन्होने उत्तर दिया था कि २०पंथी औरतें जहाँ तीर्थंकर भगवान को साक्षात् स्पर्श कर लेती हैं, वहीं १३पंथी औरतें भावों से स्पर्श करती हैं ॥

हमने पूछा कि कैसे ?

तब उन्होने समझाया कि प्रत्येक १३ पंथी औरत नित्य नियम की पूजा के पश्चात् विसर्जन विधान के अंतर्गत तीर्थंकर प्रभु से प्रार्थना करते हुए निवेदन करती है कि :-

तव पद मेरे हिय में, मम हिय तव पुनीत चरणों में ॥

यह पद निश्चित ही १३पंथी विद्वानों द्वारा १३पंथी स्त्रियों को स्त्रियों द्वारा तीर्थंकर प्रभु को किये जाने वाले भाव स्पर्श को पुष्ट करने वाला अर्थात् मान्यता देने वाला पद है ॥

यह पद अत्यंत स्पष्ट रूप से निर्देशित करता है कि स्त्रियाँ यदि भावों से तीर्थंकर प्रभु का स्पर्श करें तो दोष की भागी नहीं हैं, हाँ, यदि साक्षात् स्पर्श करती हैं, तब तो दोषी हैं ॥

यदि भाव-स्पर्श १३पंथियों को मान्य नहीं होता, तो निश्चित ही आचार्य भगवंतों की अन्य प्ररूपणाओं/पदों की तरह, इस पद को भी वे मिथ्यादृष्टियों/जैनाभाषियों की प्ररूपणा घोषित कर, जिनवाणियों से बाह्य कर देते, किन्तु नहीं किया, यह प्रमाण इस सत्य को पुष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि १३पंथियों को, उनकी स्त्रियों द्वारा किये जा रहे भगवान के भाव स्पर्श से कोई विरोध नहीं है, विरोध है, तो मात्र द्रव्य स्पर्श से ॥

इसी तर्क के आश्रय से.... :-

यह तो कानजी-पंथी शुद्धाम्नायी महोदय द्वारा दिया गया प्रमाण हुआ, किन्तु एक और प्रमाण द्वारा इसी सत्य को सिद्ध किया जा सकता है ॥

कौन से प्रमाण से ?

विसर्जन के अंत में प्राचीन काल से एक पाठ पढ़ा जाता रहा है :-

आये जो जो देव गण, पूजे भक्ति प्रमाण ।
ते सब जाऊ कृपाकर अपने अपने स्थान ॥

इस पाठ की द्वितीय पंक्ति को १३ पंथी स्त्री व पुरुष, चूँकि वे शासन देवताओं के विरोधी हैं व इस पद में उन्हें शासन देवताओं के विसर्जन का कथंचित् भ्रम सा होता है, अतः इसे परिवर्तित कर वे इस प्रकार पढ़ते हैं :- (पूजन पाठ प्रदीप से)

ते सब मेरे उर बसो चौबीसों भगवान ॥

इस पद को १३ पंथी स्त्री व पुरुष, दोनों ही समान रूप से पढ़ते हैं ॥

अब पाठक वर्ग कृपया स्वयं ही निर्णय करें कि १३ पंथियों द्वारा पढ़ा जाने वाला उपर्युक्त पद भाव स्पर्श को पुष्ट करने वाला होते हुए, स्त्रियों द्वारा भगवान को भावों से स्पर्श किये जाने को निर्दोष सिद्ध करने वाला है या नहीं ?

है न ?

मंदबुद्धि या अवर्णवाद :-

जिनकी भगवान को द्रव्य से स्पर्श करने में नरकायु के योग्य पापाश्रव की धारणा है, वे ही उन्हें हृदय में धारण करने को तत्पर हैं, इसे उचित कैसे कहा जा सकता है ॥

प्रिय पाठको, प्ररूपणा सुनकर आश्चर्य नहीं लग रहा है कि मानो वे इस मत की पुष्टि का प्रयास कर रहे हैं कि स्पर्श पाप अवश्य है, किन्तु भावों से किया गया स्पर्श नहीं, अपितु द्रव्य से किया गया स्पर्श ॥ भावों से आप किसी को स्पर्श करो अथवा न करो, कोई पाप नहीं, किन्तु यदि द्रव्य से स्पर्श कर लिया, तो समझ लो कि अनिष्ट हो गया ॥

जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के नाम पर उपर्युक्त प्ररूपणा क्या हास्यास्पद व प्ररूपककार की मंदबुद्धिता को द्योतित करने वाली प्रतीत नहीं हो रही है ?

हो रही है न ?

होगी ही ॥ होगी क्यों नहीं ?

वह भी तब, जबकि प्रत्येक जैन तत्त्व-प्ररूपककार को यह सूत्र स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि जिसे हम पाप कहते हैं, यदि चित्त अथवा भावों में उसका लेश भी नहीं है, तो द्रव्य से किया गया वह पाप, पाप नहीं कहलाता, और यदि भावों में उस पाप का लेश भी है, तो द्रव्य से वह पाप किया जाय अथवा न किया जाय, महान् पापाश्रव को करने वाला है ॥

इस विषय में प्रमाण श्री मूलाचारजी से ही प्रस्तुत करते हैं, ताकि शंका को कोई स्थान

न रहे, सुनिये :- (*श्री मूलाचारजी, समयसाराधिकार, गाथा : ११७*)

भाव विरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुगई होई ।

अर्थ : भाव से विरत मनुष्य ही विरत है, क्योंकि द्रव्य विरत की मुक्ति नहीं होती ॥

अर्थात् श्री मूलाचारजी को भी यही मान्य है कि द्रव्य से स्पर्श हो अथवा न हो, किन्तु पाप तो भावों से किया गया स्पर्श ही है ॥

मात्र जैनियों को ही नहीं, अपितु जैनाभाषियों को भी ज्ञात जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित उपर्युक्त महानतम सूत्र की अवहेलना कर प्ररूपककार द्वारा द्रव्य स्पर्श को सदोष व भाव स्पर्श को निर्दोष सिद्ध करने वाली प्ररूपणा, उसकी किस छल अथवा मंदबुद्धि की ओर इशारा करती है, निश्चित ही यह विचारणीय विषय है ॥

या तो वह इतना महान् मंदबुद्धि है कि उसे अपने द्वारा प्ररूपित प्रतिमा स्पर्श के सिद्धांत की प्ररूपणा में, उपर्युक्त महानतम सिद्धांत की, अवहेलना/उपेक्षा हो रही है का बोध ही नहीं है अथवा इस मंदबुद्धि विद्वान् को, अन्य मतियों के विद्वानों की मानिन्द अपनी धारणाओं का इतना अधिक-इतना अधिक आग्रह है कि वह सूत्र की अवहेलना/उपेक्षा हो जाये, तो स्वीकार/मान्य कर लेगा, किन्तु मिथ्या धारणाओं का त्याग नहीं कर पायेगा ॥

मिथ्या धारणाओं का त्याग उसे दुष्कर प्रतीत होगा ॥

वह सूत्र की उपेक्षा कर सकता है, किन्तु धारणाओं का त्याग नहीं कर सकता ॥

मिथ्या धारणाओं का त्याग दुष्कर :-

मनःकल्पित प्ररूपणा नहीं है हमारी यह, सप्रमाण है ॥

वैसे तो उपर्युक्त बगैर किसी विद्वान् का नाम लिये हमारे द्वारा की गई प्ररूपणा इस विषय में पर्याप्त है, किन्तु यदि सोदाहरण हम अपना विषय प्रस्तुत करते हैं, तो सत्य की निर्दोष पुष्टि को निश्चित ही बल मिलता है, इसलिये इस विषय में उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं, देखिये (उदाहरण पुनः जिनभाषित के यशस्वी संपादक डॉ. रतनचंदजी जैन का है):-

सन् २००२ की मुनिवर्य विशुद्ध सागरजी महाराज (शिष्य आचार्य विराग सागरजी महाराज), जो कि स्याद्वाद चिंतक व विशुद्ध चारित्रधारी के रूप में प्रसिद्ध हैं, के सान्निध्य में, श्री राजवार्तिकजी की, टी. टी. नगर, भोपाल (म.प्र.) में हुई ग्रीष्म कालीन वाचना के अंतर्गत आदरणीय डॉ. साहब ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि आगम में सर्वत्र उल्लेख तो बीसपंथ मान्य पूजा पद्धति का ही आता है, तेरहपंथ मान्य पूजा पद्धति का नहीं ॥

उनके इस मंतव्य पर हमने उनसे पूछा कि फिर ?

तब, हमारे अंतरंग मंतव्य को भाँपते हुए उन्होंने उत्तर दिया कि और तो कुछ नहीं, बस संस्कार वशात् आगम प्रणीत २० पंथ आम्नाय मान्य पूजा-पद्धति स्वीकार नहीं हो

पाती, आग्रह १३ पंथ मान्य पूजा-पद्धति का ही रहता है ॥

यही स्थिति इंदौर के सुप्रसिद्ध करणानुयोग के विद्वान पं. रतनचंदजी जैन, समवशरण मंदिर, की भी है (प.पू.आचार्य पद्मनंदजी महाराज संघस्थ प.पू. आर्यिका मातायें करूणाश्री एवं धैर्यश्री द्वारा सूचित) ॥

शायद पाठकों को विषय अत्यंत स्पष्ट हो ही गया होगा ॥

अपने इन्हीं संस्कारों के कारण वे यह जानते हुए भी कि १३ पंथ मान्य पूजा पद्धति का आगम में कोई उल्लेख ही नहीं है, वे १३ पंथ की आगम पंथ के रूप में पुष्टि करने से नहीं चूकते हैं ॥

अपनी इसी मानसिकता का परिचय डॉ. साहब ने अपने जिनभाषित, मई २००२ में प्रकाशित एक लेख दोनों पूजा पद्धतियाँ आगम सम्मत में भी दिया है ॥

यह मतिभ्रम सिर्फ डॉ. साहब अथवा पं. रतनचंदजी, इंदौर को ही है, अन्य किसी को नहीं, ऐसा भी नहीं है ॥

वे आदरणीय बैनाड़ाजी हों अथवा लुहाड़ियाजी या अन्य, सभी की स्थिति एक जैसी है ॥

इन सभी का अध्ययन कुछ और कहता है, और जन्मना संस्कार कुछ और ॥

जन्मना संस्कार यदि चित्त पर हावी हो, तो समीचीन/समकित स्वाध्याय हो ही नहीं सकता है ॥

कथंचित् हो भी जाये, तब भी प्रायः करके भीतरी पूर्वाग्रह टूट नहीं पाता है ॥

स्थिति इतनी विचित्र हो जाती है कि जब-जब प्रकरण आता है, तब-तब पुष्टि आगम की नहीं की जाती है, की भी जाती है, तो अत्यंत गौण, बुझे-बुझे, दबे-दबे स्वरों में, मानो कोई अपराध कर रहे हों, वह भी अपने (दुर) आग्रह पर समीचीनता की मुहर लगाते हुए ॥

समूचा वर्तमान काल विद्वानों की इसी ऊहापोहिक मानसिकता से गुजर रहा है और भुगतना पड़ रहा है आम श्रावकों को ॥

पूजनपाठ प्रदीप अर्थात् हीनांग जिनवाणी :-

इस विषय में द्वितीय उदाहरण दिल्ली से प्रकाशित जिनवाणी पूजन पाठ प्रदीप के यशस्वी संग्रह कर्ता व प्रकाशक श्री श्रीकृष्ण जैन का है ॥

जैसे ही उन्हें १३ पंथी स्त्रियों द्वारा किये जा रहे भाव स्पर्श का बोध उपर्युक्त "तव पद मेरे हिय में..." वाले पाठ द्वारा हुआ, वैसे ही उन्हें अपनी धारणा को समीचीन करने की अपेक्षा, अधिक उपयुक्त यह प्रतीत हुआ कि इस पद को ही जिनवाणी से पृथक् कर दें और उन्होंने इस पद को जिनवाणी से पृथक् कर भी दिया ॥

प्रिय पाठको, किस मानसिकता का सूचक है यह उनका कृत्य ?

मंद बुद्धिता का ही न ?

"उन्हें तो जिनवाणी के प्रथम पृष्ठ पर लिख देना चाहिये कि इस जिनवाणी में पिछले ३०० वर्ष में उत्पन्न हुए १३ पंथ संस्थापक विद्वानों की मंदबुद्धिता के कारण अनेकानेक मिथ्या मान्यताओं का संकलन है, समय-समय पर जैसे-जैसे नये-नये विद्वान् जैसे कि डॉ. हुकुमचंदजी भारिल्ल, डॉ. रतनचंदजी जैन, पं. रतनलालजी बैनाडा आदि विचारकों का उद्भव होता जायेगा, वैसे-वैसे इस संकलन को परिमार्जित करने का प्रयास किया जाता रहेगा ॥ संभवतः पंचम काल के अंत तक शुद्ध १३ पंथ का उद्भव हो जायेगा ॥ तब तक १३ पंथी श्रावकों को कथंचित् शुद्ध कथंचित् अशुद्ध १३ पंथ के आश्रय से ही अपने धर्म का निर्वहन करना होगा ॥ कृपया तब तक कोई भी १३ पंथी अपने आगे शुद्धाम्नायी न लिखें, अपितु लिखना ही हो तो कथंचित् शुद्धाम्नायी लिखें ॥"

अब इन प्रकाशक महोदय की मंदबुद्धिता का प्रमाण देखिये :-

इन्होंने अपने प्रकाशन में प्रकाशित जिनवाणी संग्रह से "तव पद मेरे हिय में ..." वाला पाठ तो निकाल दिया, किन्तु उसी समय वे इस पद पर दृष्टि ही नहीं डाल सके कि :-

बोलूँ प्यारे वचन हित के आपका रूप ध्याऊँ ।
तौ लौं सेऊँ चरण जिनके मोक्ष जौ लौं न पाऊँ ॥

निश्चित ही ये पंक्तियाँ भी स्त्रियों द्वारा तीर्थंकर भगवान को भाव स्पर्श किये जाने वाले दृश्य की ही सूचना दे रही हैं, उससे अन्य किसी भी दृश्य की नहीं और वह भी विशेष करके इस काव्य का तृतीय पाद कि :-

"तौ लौं सेऊँ चरण जिनके........"

संभवतः अगले प्रकाशन में पाठक वर्ग उपर्युक्त दोनों पंक्तियाँ जिनवाणी से नदारद पाएं !!

वैसे तो इस जिनवाणी में बाधित प्रमाण और बहुत सारे हैं, किन्तु प्रकाशक व संपादक महोदय की मंदबुद्धि को द्योतित करने वाला यह प्रमाण निश्चित ही पर्याप्त है ॥

जैसा कि हम अभी-अभी स्त्री अभिषेक विरोधकों के संदर्भ में कह आये हैं कि ये सभी तथाकथित विद्वान् पाप कर्म के दोनों भेद द्रव्य और भाव के ज्ञाता हैं ॥

द्रव्य व भाव रूप पापों के भेदों के ज्ञाता होते हुए , मूल में पापाश्रव का कारण भाव ही है, द्रव्य नहीं, के भी ज्ञाता हैं ॥

इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो ज्ञाता न हो ॥

ज्ञाता होने के पश्चात् भी, यदि वे, प्रतिमाजी के द्रव्य स्पर्श मात्र को ही पाप प्ररूपित

करते आये हैं, भाव स्पर्श को नहीं व भाव स्पर्श को पाप न स्वीकारते हुए, तव पद मेरे हिय में, मम हिय तव पुनीत चरणों में अथवा ऐसे ही अन्य पाठों का शब्द व अर्थ, दोनों से किये गये पाठ को स्त्रियों के लिये पुण्य वर्द्धक क्रिया प्ररूपित करते आये हैं, ऐसी स्थिति में आप इन्हें क्या कहेंगे ?

मंदबुद्धि ?

या अपने ही पाठकों/वाचकों से छल कर, उन्हें उन्मार्ग पर ले जाने वाली उपलनाव ?

निश्चित ही दोनों कहेंगे, मंदबुद्धि भी और उपलनाव भी ॥

यहाँ प्रातः स्मरणीय आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज (दक्षिण) का स्मरण करना मैं अनिवार्य समझ रहा हूँ ॥

आचार्य शांतिसागरजी (दक्षिण) व समीचीन दिशा बोध :-

(चारित्र चक्रवर्ती, पृष्ठ ४२८ पर एक वाक्य में सूचित एवं प्रत्यक्षदर्शी पं. सुमेरचंदजी के लघु भ्राता पं. श्रेयांसकुमारजी दिवाकर, सीवनी (म.प्र.) द्वारा उद्घोषित घटना)

आदरणीय पंडितजी श्री सुमेरुचंद्रजी दिवाकर (सिवनी) से उनकी पंचामृत अभिषेक व साक्षात् फल-फूल आदि से की जाने वाली पूजापद्धति पर विस्तार से चर्चा हुई ॥

इस चर्चा का मुख्य अंश यह था कि या तो पण्डितजी आचार्यश्री को समझा दें अथवा आचार्यश्री से समझ कर तदनुसार चर्या प्रारंभ करें ॥

जो तर्क वर्तमान के १३ पंथी विद्वानों के पास हैं, उन्हीं तर्कों पर विश्वास करते हुए और उन्हें ही चित्त में आगम व युक्ति, दोनों ही प्रमाणों से अबाधित मानते हुए पंडितजी ने शर्त स्वीकार की और चर्चा के संमुख हुए ॥

किन्तु हुआ पण्डितजी की सोच के विपरीत ॥

आगम व युक्ति, दोनों ही प्रमाणों से आचार्यश्री ने पण्डितजी को सर्व प्रकार निरुत्तरित कर दिया ॥

निरुत्तरित होने के पश्चात्, जैसे ही चर्या का प्रश्न आया, पण्डितजी ने अंतिम दिव्यास्त्र का प्रयोग किया, जिसका कि प्रयोग संभवतः वर्तमान के सभी १३ पंथी विद्वान्/विदुषियाँ निरुत्तरित होने की स्थिति में करते है :-

१) हमारे यहाँ परंपरा नहीं है ॥

२) हमारी गुरु परंपरा ऐसी ही है ॥

उपर्युक्त दो दिव्यास्त्रों में से पण्डितजी ने प्रथम दिव्यास्त्र का प्रयोग किया कि महाराज हमारे यहाँ परंपरा नही है ॥

चूँकि परंपरा ही नहीं है, इसलिये मैं कैसे कर सकता हूँ ?

आचार्यश्री ने पण्डितजी के वाक् छल को भाँपते/समझते हुए किंचित् स्मित हास्य मिश्रित इस सदी का सर्वोत्तम सूत्र कहा, जिसने कि पण्डितजी की संपूर्ण जीवन शैली को ही परिवर्तित कर दिया ॥

आचार्य भगवंत द्वारा कहा गया वह ब्रह्मवाक्य था कि पण्डित होकर परंपरा की बात करता है, तो आगम की बात फिर कौन करेगा ?

इस इकलौते वाक्य ने मानो पण्डितजी को झकझोर कर जगा दिया ॥

वे सिवनी लौटे ॥

ट्रस्टियों की एक मीटिंग बुलवाई ॥

आगम प्रमाण व युक्तियाँ उनके सम्मुख रखीं व उस विशाल जिनालय में आगमानुसार पंचामृत अभिषेक व पूजन करने की विधि अनुसार आज्ञा ली ॥

१३ पंथी शैली क्या है ?

पाठक वर्ग कृपया स्मरण रखें कि तव पद मेरे हिय में..... वाली उपर्युक्त प्ररूपणा, न सिर्फ १३ पंथी शैली से निष्पन्न, अपितु १३ पंथी विद्वान् द्वारा प्ररूपित ही थी, हमारे चिंतन से निःसृत नहीं ॥

शंकाकार :१३ पंथी शैली का अर्थ क्या है ?

समाधान : १३ पंथी शैली का अर्थ है निषेधपरक अथवा नास्तिपरक प्ररूपणा ॥

शंकाकार : जैसे ?

समाधान : इन्हीं तव पद मम हिय में....पद द्वारा १३ व २० पंथ को एक सिद्ध करने वाले कानजीपंथी विद्वान् महोदय के मुखारबिन्द से ही सुन लो ॥

हमने उनसे पूछा कि तो फिर ?

हमें ऐसा प्रतीत हुआ था कि शायद वे इस तर्क द्वारा स्त्री अभिषेक की सिद्धि करेंगे, किन्तु हुआ उल्टा ॥

दार्शनिकों सी मुखमुद्रा व स्वयं की अकर्मण्यता का अफसोस जतलाते हुए वे बोले कि यदि उनका वश चलता तो वे मात्र उपर्युक्त पाठों का ही नहीं, अपितु स्त्रियों का भी जिनालय प्रवेश ही प्रतिबंधित कर देते ?

हमने पूछा कि भाई क्यों ?

तो वे बोले कि भाई, जिनालय में प्रवेश करने के पश्चात्, जैसे ही ये स्त्रियाँ जिनेन्द्र भगवान को निहारती हैं, वैसे ही जिनेन्द्र भगवान की तस्वीर उन स्त्रियों की आँखों में उतर आता है ॥

अब तुम्ही बतलाओ भाई कि शुद्धाम्नाय में इसे स्वीकार करें, तो कैसे करें ?

सुन कर हमें ऐसा लगा मानो हमारी बुद्धि को लकवा ही मार गया हो !

हमने सहमे से स्वर में पूछा कि भाई, फिर संसार में वे कैसे करेंगी ?

उनका उत्तर था कि संसार में यदि वे सदोष अर्थात् अन्य पर पुरुषों की छवि अपनी आँखों में उतारने वाली हैं, तो महान् दोष का कारण नहीं है, किन्तु धर्म क्षेत्र में सदोष हैं, तो यह उनके द्वारा किया गया अक्षम्य अपराध है ।।

हमने उनसे विनती की कि कृपया उदाहरण सहित समझाएँ?

वे बोले कि देखो, सदोष होने पर भी संसार में फल खाते हो या नहीं, किन्तु मंदिर में भगवान को तो नहीं चढ़ाते हो न ? बस, वैसे ही ।।

इस उत्तर के पश्चात् अपने मंतव्य की सिद्धि के लिये उन्होने स्वामी समंतभद्राचार्यजी के **सावद्यलेशोबहुपुण्यराशो** मत का उल्लंघन कर, उसे मिथ्यात्व निरूपित करता प्रमाण, जो कि १३ पंथियों को अत्यंत प्रिय है, नय-निरपेक्ष प्ररूपणा रहित यहाँ दोहरा दिया कि :-

अन्यक्षेत्रे कृतं पापं पुण्यक्षेत्रे विनश्यति ।
पुण्य क्षेत्रे कृतं पापं वज्रलेपो भविष्यति ।।

जैसे इस सूत्र को फल, फूल आदि के प्रयोग में सदैव स्मरण में रखा जाता है, वैसे ही भगवान को निहारने में भी स्मरण में रखना होगा ।।

अर्थात् कि स्त्रियाँ संसार में यदि सदोष अर्थात् अन्य पर पुरुषों की छवि अपनी आँखों में उतारने वाली हैं, तो महान् दोष का कारण नहीं है, किन्तु धर्म क्षेत्र में सदोष हैं, तो यह उनके द्वारा किया गया अक्षम्य अपराध है ।। इस अपराध की निवृत्ति उनके मंदिर प्रवेश निषेध से ही संभव है, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं ।।

प्रिय पाठको, बस यही १३ पंथी शैली है ।।

इस आम्नाय में आये दिन कोई न कोई निषेध परक सूत्र, पूर्व के सूत्र को मिथ्या प्रतिपादित करते हुए विचरण करता है ।। जैसे ही वह निषेध परक सूत्र आता है, वैसे ही पूर्व की आम्नाय अर्थात् मान्यता अशुद्धाम्नाय घोषित हो जाती है, और नई आम्नाय अर्थात् मान्यता शुद्धाम्नाय ।।

नए तीर्थंकरों का उत्पत्ति स्थान अर्थात् १३ पंथ :-

१३ पंथी आम्नाय में इस विवक्षा से तीर्थंकरों की कमी नहीं ।। आये दिन एक नया तीर्थंकर इनके यहाँ उत्पन्न होता है ।।

मंदिरों में दीपकों से की जाने वाली आरतियों का लोप व उसे मिथ्यात्व प्ररूपित करने वाले तीर्थंकर से हम सभी परिचित हैं ।।

कौन हैं वे ? क्या कानजी स्वामी ?

नहीं-नहीं, वे नहीं, अपितु उन्हीं के शुद्ध अनुयायी पं. रतनचंदजी भारिल्ल, जयपुर ।।

आप इन्हें तीर्थंकर क्यों कह रहे हैं ?

तीर्थंकर का अर्थ १८ दोषों से रहित अरिहंत भगवान ही नहीं होता, अपितु तीर्थ अर्थात् मत प्ररूपक व स्थापक भी होता है ॥[१]

इस विवक्षा से १३ पंथियों के यहाँ तीर्थंकरों की संख्या नियत नहीं है, अनियत है ॥

वैसे विवक्षा करें, तो ये १८ दोषों से रहित भी हैं ॥ इनके मत में सम्यक्दृष्टि श्रावक विषय व कषायों को भोगते हुए भी निर्भोगी/निर्बंधक हैं, इसलिये ॥

इसी प्रकार, चूँकि उनका जन्म भी संसार-भोग के लिये नहीं, अपितु छेद के लिये होता है, इसलिये जन्म-मृत्यु से रहित भी वे हैं ही ॥ अतः कानजी पंथ की विवक्षानुसार उनका प्रत्येक उपदेशक १८ दोष रहित है, सहित नहीं ॥

इसी विवक्षानुसार ही कानजी स्वामी २५ वें तीर्थंकर घोषित किये गये हैं ॥

कानजी स्वामी तीर्थंकर व शेष उपदेशक केवली ॥

अभी-अभी हमने जिन कानजी पंथी शुद्धाम्नायी विद्वान् महोदय का जिक्र किया था, कुछ समय पश्चात् संभवतः वे भी तीर्थंकर हो जायेंगे व उनका प्ररूपित मत होगा स्त्रियों का जिनालय प्रवेश व जिनबिंब दर्शन का निषेध ॥

१३ पंथी विद्वानों द्वारा ही १३ पंथी संस्थापकों को मंदबुद्धि सिद्ध करना :-

इस परंपरा में इतने सारे परिवर्तन हुए व हो रहे हैं कि स्वयं इनके अपने पूर्वज, जो कि इस परंपरा के संस्थापक थे, अज्ञानी, मूढ़ व मिथ्यादृष्टि सिद्ध हो रहे हैं ॥

कुछ क्रियाएँ वे सम्यक्त्व बुद्धि पूर्वक ऐसी करते थे, जिन्हें कि आज का शुद्धाम्नायी मिथ्यात्व कहता है ॥

अर्थात् इस पंथ के संस्थापक मंदबुद्धि थे इसे सिद्ध करने के लिये इतना ही प्रमाण पर्याप्त है कि भूतकाल में जिन संस्थापकों ने,[२] जिन क्रियाओं को शुद्धाम्नायियों की क्रिया

---

१. श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी कृत श्री देवागम स्तोत्रजी की कारिका ३ व उस पर अष्टसहस्री टीका ॥

२. (आगम में उल्लेखित पूजन पद्धति के विपरीत किये गये) इस परिवर्तन के कारण पु. बनारसीदासजी का चलाया पंथ पहले वाराणसी मत, और बाद में १३ पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ (जैनधर्म, पृष्ठ ३०४, पं. कैलाशचंदजी शास्त्री एवं जिनभाषित, अंक मई २००२, लेख : दोनों पूजा पद्धतियाँ आगम सम्मत, लेखक : डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल)

अर्थात् दोनों ही आदरणीय विद्वान् महोदय स्वीकार करते हैं कि न तो पूर्व में कोई १३ पंथीय मान्य पूजा पद्धति ही थी और न ही आगम में इसका कोई उल्लेख, अपितु इसका उद्भव शहंशाह शाहजहाँ के काल में आगरा में लगभग ४०० वर्ष पूर्व पं. बनारसीदास जी की मेधा से हुआ ॥ अर्थात् १३ पंथी आम्नाय के आद्य तीर्थंकर (पु.) बनारसी दास जी हैं, उनके पूर्व के तीर्थंकरों की यह प्ररूपणा नहीं, इसे दोनों ही १३ पंथी लेखक स्वीकार करते हैं, उन्हें इस विषय में कोई संशय नहीं है ॥

कह, शुद्धाम्नायियों के लिये मान्य किया था, उसी मत का अन्य वर्तमान कालिक विद्वान् उन्हीं क्रियाओं को धर्म विरुद्ध क्रियाएँ निरूपित कर, पूर्व के संस्थापक को मंदबुद्धि सिद्ध करते हुए, नई परंपरा/क्रियाओं की स्थापना करता है ॥

और आश्चर्य यह है कि इनमें से एक के पास भी आगम नहीं है, सिवाय कुतर्कों व उन कुतर्कों के आश्रय से सूत्रों की मिथ्या प्ररूपणा के ॥ यदि सूत्र हैं भी तो कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा, भानुमती का कुनबा जोड़ा, कहावत को चरितार्थ करते हुए ॥

इससे भी अधिक आश्चर्य यह है कि वर्तमान के कुछ १३पंथी विद्वान् एड़ी-चोटी का जोर लगाकर पूर्व के संस्थापकों के मत की स्थापनार्थ उद्यमशील हैं कि दीपक से आरती करो, धूपदानी में धूप खेओ, हवन करो, पूजन आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण पूर्वक करो आदि-आदि, किन्तु इनके स्वर नग्गाड़खाने में तूती की आवाज ही सिद्ध हो रहे हैं, उससे अधिक कुछ नहीं ॥

कारण ?

कारण यह कि पूर्व के संस्थापक विद्वानों ने जिन तर्कों के आश्रय से श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी के "सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ" उपदेश का उल्लंघन कर पूजा के द्रव्यों में से फल, फूल, नैवेद्यादि का निषेध किया था, उसी तर्क के आश्रय से वर्तमान का संस्थापक विद्वान् दीपक से आरती, धूपदानी में धूप खेना, अग्नि में आहुतियाँ देते हुए हवन करना आदि का दृढता से निषेध कर रहा है ॥

मात्र इतना ही नहीं, अपितु स्थिति इतनी विचित्र हो गई है कि रात्रि में दर्शनार्थी का मंदिरजी में घंटा बजाना, भगवान की प्रदक्षिणा देना आदि को भी दुर्गति का कारण निरूपित किया जा रहा है ॥

विचित्र स्थिति है ॥

इस विषय में यदि यथार्थतः देखा जाय, तो १३ पंथी विद्वान् ही १३ पंथी श्रावकों को छल रहे हैं, अन्य कोई नहीं ॥

कुछ उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं, अन्य अगले शीर्षक में देखिये ॥

॥ इत्यलम् ॥

❑ १३ पंथी श्रावकों से छल
१३ पंथी विद्वानों द्वारा

जैसा कि अभी-अभी हमने कहा कि यदि यथार्थतः देखा जाय, तो १३पंथी विद्वान् ही १३पंथी श्रावकों को छल रहे हैं, अन्य कोई नहीं, यह अन्यथा कथन नहीं है, यथार्थ है ।।

इस संदर्भ में कुछ उदाहरण पूर्व में दिये जा चुके हैं, कुछ यहाँ देखिये ।।

१) सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाचार्य श्री गुलाबचंदजी पुष्प :-

हम लोग बहुत दूर न जायें, टीकमगढ़ (म.प्र.) तक ही चलें ।।

यहाँ के एक सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठाचार्य हैं श्री गुलाबचंदजी पुष्प ।।

इन्होंने एक प्रतिष्ठा ग्रंथ लिपिबद्ध किया है "प्रतिष्ठा रत्नाकर" :-

निश्चित ही उस ग्रंथ की त्रुटियाँ गिनवाना हमारा उद्देश्य नहीं है, उसके लिये तो एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिपीबद्ध करना होगा, हमारा उद्देश्य उनके द्वारा **पंथव्यामोहवशात् १३ पंथी श्रावकों के साथ किया गया छल है ।।**

अक्षम्य अपराध किया है उन्होंने ।।

कैसे ?

उन्होंने अपने इस प्रतिष्ठा ग्रंथ में मुनि कुंजर माघनंदि आचार्य के अभिषेकपाठ को संकलित किया है ।।

आगम में एक शब्द मिलता है चतुर्थ अभिषेक ।।

इस अभिषेक के संबंध में सिवाय निर्देश के और कोई उपदेश नहीं मिलता है ।।

इस चतुर्थ अभिषेक का पंडितजी ने मनःकल्पित अर्थ किया है प्रतिमाभिषेक ।। प्रतिमाभिषेक अर्थ करते हुए वे प्ररूपणा करते हैं कि चतुर्थ अभिषेक जन्माभिषेक नही होता, वह जन्माभिषेक से अन्य है ।।

किन्तु जब उन्हें अपने मनःकल्पित अर्थ के पक्ष में न तो आगम प्रमाण ही उपलब्ध हुए और न ही प्राचीन आचार्य कृत प्रतिमाभिषेक पाठ ही, तब अत्यंत निर्भीक तस्कर की तरह कि किस कोतवाल में साहस है, जो मुझे, साक्षात् तस्करी करते हुए को देखने के पश्चात् भी, मुझ तस्करी करते हुए को छूना तो दूर, तस्कर तक कहने का दुःसाहस कर सके, उन्होंने श्रीमद् माघनंदि आचार्य रचित अभिषेक-पाठ में से जन्माभिषेक की सूचना देने वाले अंश का अत्यत उद्दंडता के साथ/बगैर किसी सूचना के लोप कर दिया, मानो वह अंश वहाँ था ही नहीं ।।

जबकि वही अभिषेक-पाठ, मूल हस्तलिखित प्रति का जस का तस आधार ले बाल

ब्रह्मचारी प्रदीप शास्त्री 'पीयूष' के संपादन में श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, जबलपुर (म.प्र.) से प्रकाशित जिनभारती संग्रह (जिनवाणी संग्रह) में मय जन्माभिषेक की सिद्धि करने वाले श्लाकों के मुद्रित है ॥

देखिये वह श्लोक :-

वृषभादि - सुवीरान्तान् जन्माप्तौ जिष्णुचर्चितान् ।
स्थापयाम्यभिषेकाय भक्त्या पीठे महोत्सवम् ॥ ६ ॥

है न १३ पंथियों के साथ १३ पंथी विद्वानों द्वारा ही किया जा रहा छल ?

पुष्पजी ने इस पद को ऐसे नदारद कर दिया, मानो वह अंश आचार्य भगवंत द्वारा लिखा ही नहीं गया था ॥(प्रतिष्ठा रत्नाकर, पृष्ठ-१२५/१२६)

प्रिय पाठको, अब आप ही बतलाइये कि पुष्पजी के इस दुःसाहस को आप क्या कहेंगे ?

क्यों, क्यों किया उन्होने ऐसा ?

किस मनोवृत्तिका सूचक है यह उनका कृत्य ?

क्या उनके इस कृत्य को आप क्षम्य अपराध कहेंगे ?

नहीं न ?

अपने मनःकल्पित सूत्र की सिद्धि में आचार्य भगवंतों के वचनों के साथ मनमाना खिलवाड करना, निश्चित ही कट्टर से कट्टर १३ पंथी को भी स्वीकार नहीं होगा ॥

मात्र स्वीकार ही नहीं होगा, ऐसा नहीं, अपितु ग्लानि का भी कारण होगा ॥

मात्र ग्लानि का ही कारण होगा ऐसा भी नहीं, अपितु प्रतिपक्ष से होने वाली चर्चाओं में अज्ञानतावश इसे प्रमाण रूप प्रस्तुत किये जाने पर, जग हँसाई का भी कारण होगा ॥

माननीय पुष्पजी की सुई, आगम में उल्लिखित शब्द चतुर्थ अभिषेक पर आकर अटक गई थी ॥ उन्हें शब्द तो मिला, किन्तु इस शब्द का जो अर्थ वे कर रहे हैं, उस अर्थ के समर्थन में, न तो जिन्हें कि वे सम्यक् उपदिष्टा कहते हैं ऐसे, पूर्वाचार्यों का ही कोई उपदेश मिला और न ही कोई अभिषेक-पाठ ॥

इतना ही नहीं, अपितु उन आचार्यों अथवा मुनियों , जिन्हें कि वे अपने १३ पंथ के एकांत आग्रह के कारण मिथ्यामति अथवा भट्टारक आदि कहते हैं, का भी कोई उपदेश ही मिला और न ही कोई अभिषेक-पाठ ॥

अपने मनःकल्पित अर्थ के आग्रही पण्डितजी महोदय को जब कोई आधार ही नहीं मिला, तब उन्होने तस्करी का मार्ग चुना ॥ तस्करी के मार्ग के आश्रय से स्व-मत मण्डनार्थ मूढ़ता से अनुरंजित इस कार्य को उन्होने क्रियान्वित किया ॥

सम्पूर्ण १३ पंथी श्रावकों का समुदाय, इन व इन जैसे ही अन्य अनेकानेक छलियों/ औसत बुद्धि के विद्वानों की बनाई गई नींव पर, अपने लिये मोक्ष रूपी महल की निर्मिति के

स्वप्न देख रहा है ॥

पाठक वर्ग स्वयं सोचे कि जिस नींव के आश्रय से यह श्रावक अपने लिये मोक्ष रूपी महल की निर्मिति की परिकल्पना कर रहा है, क्या उसका यह स्वप्न अनंतकाल बीत जाने पर भी पूर्ण होगा ?

नहीं न ?

२) वयोवृद्ध पं.जी श्री नाथूलालजी शास्त्री, इंदौर (म.प्र.)

इस विषय में वयोवृद्ध पं.जी श्री नाथूलालजी, इंदौर भी निर्दोष नहीं, सदोष ही हैं ॥

वयोवृद्ध प्रतिष्ठाचार्य पं. नाथूलालजी शास्त्री, इंदौर (म. प्र.) ने अपने द्वारा संकलित व कुशाग्रमति आचार्य विद्यानंदजी (शिष्य : आचार्य देशभूषणजी महाराज) द्वारा अनुमोदित प्रतिष्ठा ग्रंथ "प्रतिष्ठाप्रदीप" में भी श्रीमद् माघनंदी आचार्य कृत इसी अभिषेकपाठ के जन्माभिषेक अंश का मात्र उत्तरार्द्ध ही संकलित किया है, जन्माभिषेक की सूचना देने वाले पूर्वार्द्ध का नहीं ॥

इतना ही नहीं, अपितु श्रीमद् माघनंद्याचार्य रचित दुग्धाभिषेक की सिद्धि करने वाले श्लोक का लोप कर के, उसके स्थान पर अन्य (श्रीमद् अभयनंद्याचार्यजी के) पंचामृत अभिषेक पाठ के जलाभिषेक पाठ को मुद्रित करवाया है ॥

यही अपराध गुलाबचंदजी पुष्प ने भी किया है (प्रतिष्ठा रत्नाकर, पृष्ठ-१२५/१२६) ॥

देखिये :-प्रथम दुग्धाभिषेक की सिद्धि करने वाला स्वयं आचार्य भगवत द्वारा निर्देशित पद (जिनभारती संग्रह, पृष्ठ ४५, श्लोक ११) :-

तीर्थोत्तम - भवै - नीरैः, क्षीर - वारिधि - रूपकैः ।
स्नपयामि सुजन्माप्तान्, जिनान् सर्वार्थसिद्धिदान् ॥

अब देखिये सुप्रसिद्ध वैयाकरण व प्रतिष्ठाचार्य के रूप में प्रसिद्धि को प्राप्त आदरणीय विद्वान् पं. नाथूलालजी शास्त्री द्वारा उपर्युक्त दुग्धाभिषेक की सिद्धि करने वाले पद के स्थान पर स्थानापन्न अन्य (श्रीमद् अभयनंद्याचार्यजी के) पंचामृत अभिषेक पाठ से लिया गया जलाभिषेक का पद (प्रतिष्ठा प्रदीप, पृष्ठ ५०, श्लोक ९) :-

दूरावनम्र सुरनाथ किरीट कोटी संलग्नरत्नकिरणच्छवि धूसरांघ्रिम् ।
प्रस्वेदतापमल मुक्तिमपि प्रकृष्टैर्भक्त्या जलैर्जिनपतिं बहुधाभिषिंचे ॥

क्या इसे भी पाठक गण क्षम्य अपराध कहेंगे ?

नहीं न ?

कहा भी नहीं जाना चाहिये ॥..........

श्रीमद् माघनंदि आचार्य भगवंत का अभिषेक पाठ व दुग्धाभिषेक :-

शंकाकार : किंतु यह अभिषेक पाठ तो उपलब्ध पंचामृताभिषेक के पाठों से भी अधिक प्राचीन व जलाभिषेक की सिद्धि करनेवाले पाठों के रूप में प्रसिद्ध है, और आप कह रहे हैं कि यह दुग्धाभिषेक की सूचना देने वाला पाठ है ॥ तीर्थोत्तम भवै नीरैः..... पद द्वारा दुग्धाभिषेक की सिद्धि कैसे होती है, कृपया सिद्ध कीजिये ?

समाधान : हम पहले ही कह चुके हैं कि अपने मनःकल्पित सूत्रों की सिद्धि में १३ पंथी विद्वान् आचार्य भगवंतों के वचनों के साथ मनमाना खिलवाड कर रहे हैं, इस विषय में उदाहरण (प्रतिष्ठाचार्य पं. गुलाबचंदजी पुष्प आदि के) ऊपर दिये जा चुके, व जहाँ वे खिलवाड नहीं कर पाते, वहाँ वे मिथ्या धारणाओं की निर्मिति के लिये असंगत अनुवादों का आश्रय लेते हैं, जिसके भी उदाहरण (आदरणीय बैनाडाजी व डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल आदि के) पूर्व में दिये जा चुके ॥

आपका प्रश्न भी प्रस्तुत अभिषेक पाठ में १३ पंथी विद्वानों द्वारा मिथ्या धारणाओं की निर्मिति के लिये किये असंगत अनुवादों के आश्रय का ही है ॥

यह पाठ स्पष्ट रूप से सूचना दुग्धाभिषेक की देता है, जब कि १३ पंथी विद्वानों द्वारा इसे प्रचारित जलाभिषेक के पाठ के रूप में किया गया है ॥

हम अभी-अभी कह आये हैं कि अपने मनःकल्पित सूत्रों की सिद्धि में १३ पंथी विद्वानों द्वारा किया जा रहा आचार्य भगवंतों के वचनों के साथ मनमाना खिलवाड़ निश्चित ही कट्टर से कट्टर १३ पंथी श्रावक को भी स्वीकार नहीं होगा ॥

मात्र स्वीकार ही नहीं होगा, ऐसा नहीं, अपितु ग्लानि का भी कारण होगा ॥

मात्र ग्लानि का ही कारण होगा ऐसा भी नहीं, अपितु प्रतिपक्ष से होने वाली चर्चाओं में अज्ञानतावश इसे प्रमाण रूप प्रस्तुत किये जाने पर, जग हँसाई का भी कारण होगा ॥

जो कि आपके द्वारा किये गये प्रश्न के कारण आपकी हो भी रही है ॥

१३ पंथी विद्वानों द्वारा समझाये जाने पर आप इसकी वकालत जलाभिषेक के रूप में कर रहे हैं, जबकि यह है स्पष्ट रूप से दुग्धाभिषेक का पाठ ॥

आइये, अभिषेक पाठ के इस पद को समाधानार्थ विवेचित करें ॥

प्रथम व सुंदर सा समाधान इस प्रश्न का यह है कि आदरणीय विद्वान् पं. नाथूलाल जी एक वैयाकरण व भाषाशास्त्री भी हैं ॥

यदि इस पद से जलाभिषेक की सिद्धि संभव होती, तो उन्हें अपने प्रतिष्ठाग्रंथ से इसका लोप करने की आवश्यकता ही नहीं रहती व इसी प्रकार न ही उन्हें अन्य अभिषेक पाठ से जलाभिषेक का पाठ तस्करी कर यहाँ लाना पड़ता ॥

अतः इस विषय में यही प्रमाण पर्याप्त है ॥

अब सिद्धि देखिये ॥

इस पाठ में जलाभिषेक का भ्रम जिस शब्द के कारण होता है, वह शब्द है नीर, जिसका कि एक ही अर्थ हमें पता है जल, जबकि इस शब्द का एक जल ही अर्थ नहीं होता ॥

शंका : तो कौन-कौनसे अर्थ होते हैं ?

समाधान : १) जल, २) रस, ३) आसव ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि इन तीन अर्थों में से इस पद में कौनसा अर्थ उपयुक्त है ?

आइये, इस प्रश्न का उत्तर हम इस अभिषेक पाठ के रचयिता आचार्य भगवंत माघनंद्याचार्यजी से ही पूछें ॥

आचार्य भगवंत को यहाँ नीर शब्द से कौनसा अर्थ अभीष्ट है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ आचार्य भगवंत ने नीर का स्वरूप मय उदाहरण शब्दांकित किया है, देखिये :-

"क्षीर वारिधि रूपकैः"

अर्थात् यह नीर क्षीरसागर के रूप वाला है ॥

अब क्षीरसागर के रूपवाला हमारा कुंए का जल तो होता नहीं है, वह तो दूध ही होता है, दूध से अन्य और कोई रस नहीं होता ॥

यहाँ निश्चित ही यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि दूध भी एक रस ही है, रस से अन्य कुछ भी नहीं ॥

इसलिये आचार्य भगवंत को यहाँ नीर कहने से रस ही इष्ट है, रस भी दुग्ध रस, दुग्ध रस से अन्य कुछ भी नहीं ॥

कुछ मंदबुद्धि विद्वान् रूपकैः शब्द का अर्थ करते हुए कहते हैं कि दूध जैसा है, दूध नहीं है ॥

इन मूढ़बुद्धि विद्वानों को पता ही नहीं कि समझाइस के लिये उपमालंकार के अंतर्गत दिये जाने वाले उदाहरण दो प्रकार के होते हैं, पहला एकदेश व दूसरा सर्वदेश ॥

जैसाकि श्री भक्तामर स्तोत्र जी में कहा गया है कि :-

पीत्वापयः शशिकरद्युतिदुग्धसिंधो....

यह उदाहरण दो पुद्गलों के मध्य एकदेश साम्यता को दिग्दर्शित करने के लिये प्रयुक्त किया गया उपमालंकार है ॥

पुद्गलों में स्पर्शादि चार गुण पाये जाते हैं, उन चार गुणों में से एक, दो अथवा तीन गुणों में साम्यता का होना एकदेश साम्यता कहलाती है व चारों ही गुणों में पाई जाने वाली साम्यता सर्वदेश साम्यता कहलाती है ॥

उपर्युक्त भक्तामरजी के उदाहरण में दुग्ध सिंधो की तुलना चंद्रमा की चाँदनी से की

गई है व कहा गया है कि क्षीर सागर का पयः अर्थात् दुग्ध चाँदनी जैसा है ॥

यहाँ चाँदनी व दुग्ध के मध्य पुद्गलों के चार गुणों में से दो ही गुणों में साम्यता है, प्रथम धवलता व द्वितीय शीतलता ॥

इन दो गुणों में साम्यता को दिग्दर्शित कर क्षीरसागर का क्षीर, जो कि हमारे प्रत्यक्ष नहीं है, का स्वरूप प्रगट करते हुए कहा गया है कि क्षीर सागर के क्षीर का वर्ण धवल व चित्त को आह्लादित करने वाले चाँदनी के ही शीतल स्पर्श की तरह शीतल है ॥

यह उपमालंकार के अंतर्गत समझाइस के लिये दिये गये उदाहरणों में साम्यता को दिग्दर्शित करने वाले एक देश उदाहरण का उदाहरण हुआ, जिसके कि द्वारा क्षीर सागर के दुग्ध के वर्ण व स्पर्श को लेकर वर्तने वाले अज्ञान का निरसन हुआ ॥

श्री मूलाचारजी में शंकाकार ने आचार्य भगवंत (टीकाकार महोदय) से प्रश्न किया कि भगवन् ! यदि स्पर्श व वर्ण चाँदनी जैसा है, तो गंध व रस कैसे हैं ?

प्रत्युत्तर में आचार्य भगवंत, इस विषय में सर्वदेश शंका के समाधानार्थ गाथा १०८२ की टीका में मूलगाथानुसार सर्वदेश साम्यता का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि :-

खीरवरो-क्षीरवरः क्षीरस्य रस इव रसो यस्य स क्षीररसः क्षीरवरः ॥

अर्थ : खीरवरो अर्थात् क्षीरवरः ॥

क्षीरवरः अर्थात् क्षीर(दूध) के रस जैसा ही रस है जिसका, ऐसा क्षीररसवान क्षीर सागर है ॥

अर्थात् क्षीर सागर में जल नहीं अपितु क्षीर अर्थात् दुग्ध रस ही है ॥

अर्थात् क्षीर सागर के क्षीर व कर्मभूमियों में प्राप्त होने वाले क्षीर अर्थात् दुग्ध में क्षेत्रगत् अंतर है, द्रव्यगत् नहीं ॥

द्रव्य की अपेक्षा से दोनों एक ही हैं ॥

दोनों के ही स्पर्श, रस, गंध व वर्ण एक से हैं, दोनों में कोई अंतर नहीं है ॥

इसे ही श्रीमद् राजवार्तिककारजी भी कहते हैं :-

क्षीरोदः क्षीररसजलः ॥(श्री राजवार्तिकजी, अध्याय ३, सूत्र ३२, वार्तिक ८)

अर्थ : क्षीर सागर का जल क्षीर जैसा है ॥

क्या पाठकों को अब भी शंका है कि क्षीरवारिधिरूपकैः का अर्थ दूध के रूप वाला ही होता है ?

नहीं हैं न ?

निश्चित ही पाठको, दूध के रूप वाला दूध ही होता है, दूध से अन्य कुछ भी नहीं, इसे पृथक से समझाने की आवश्यकता ही नहीं ॥

किंतु नहीं, जिन्हें अभी भी समाधान नहीं हैं, उनके लिये इस विषय में उत्तम समाधान

यह है कि क्षीरसागर का क्षीर, यदि क्षीर न होकर जल होता, तो आचार्य भगवंत उपमालंकार के आश्रय से यह कभी नहीं कहते कि "क्षीरवारिधिरूपकैः, अपितु कहते कि उदकसागर रूपकैः, क्योंकि भिन्न-भिन्न रसों वाले सागरों में तीन सुप्रसिद्ध सागर कालोद, पुष्करवर व स्वयंभूरमण उदक अर्थात् जल रस वाले हैं ॥"

किंतु ऐसा कहा ही नहीं गया ॥

चूँकि ऐसा कहा ही नहीं गया है, इसलिये निर्दोष हो कर कहा जा सकता है कि क्षीर सागर में क्षीर अर्थात् दुग्ध ही दुग्ध है, दुग्ध से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं ॥

जल तो किसी भी विवक्षा से नहीं ॥

इस प्रकार यहाँ दो सिद्धांत तस्करों का व एक क्षीरवारिधिरूपकैः पद के आश्रय से प्रचलित मिथ्या धारणा व असंगत अनुवाद का उल्लेख किया गया ॥

पाठक वर्ग कृपया स्मरण में रखें कि उपर्युक्त आरोप व्यथित चित्त हो कर हम ही दे रहे हैं, ऐसा नहीं है, अपितु यही पीड़ा प्रातः स्मरणीय परमपूज्य १०८ आचार्य शांतिसागर जी महाराज की भी थी ॥

देखिये (श्री चारित्र चक्रवर्तीजी, लेखक : पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर, पृष्ठ - ३८८, शीर्षक पावन स्मृति, उप शीर्षक प्रतिष्ठा ग्रंथों में बहुभाग लोप) :-

महाराज ने कहा, "... प्रतिष्ठा ग्रंथों का बहुत सा भाग काट करके नवीन मनोनित ग्रंथ के आधार पर प्रतिष्ठा का कार्य तुम्हारे तरफ (तेरह पंथी विद्वानों द्वारा उत्तर भारत में) किया जा रहा है। ग्रंथ का ग्रंथ काट डाला जाए, किन्तु तुम (तेरह पंथी) पंडित लोग इस विषय में अब तक क्यों चुप बैठे रहे ।... ग्रंथ का ग्रंथ काटकर प्रतिष्ठा जैसे महान कार्य की सप्राणता को (तेरह पंथी विद्वनों द्वारा)क्षति पहुँचाते देखकर भी आप चुप बैठे रहे ?"

निश्चित ही उपर्युक्त उदाहरण के आश्रय से पाठक वर्ग न सिर्फ हमारी पीडा का अनुमान कर सकते हैं, अपितु १३ पंथी पाठक १३ पंथी विद्वानों द्वारा सिद्धांत तस्करी आदि के माध्यमों से अपने छले जाने का वेदन भी कर सकते हैं ॥

१३ पंथी श्रावकों के साथ स्वयं १३ पंथी विद्वानों द्वारा किया जा रहा छल-प्रकरण अभी यहाँ विराम को प्राप्त नहीं हुआ है, अभी इस विषय में कहने को और भी बहुत कुछ है, इसे आगे कहेंगे भी, किन्तु अभी तो हम अगले शीर्षक में अपने मूल प्रकरण श्री अभिषेक पर लौट रहे हैं, चलिये वहीं चलें ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ *स्त्रियाँ, मुनिराजों के चरणों का स्पर्श करें या न करें ?*

इस प्रकार डॉ. साहब द्वारा स्त्रियों व मुनिराजों के मध्य दूरियों को निर्देशित करने वाले श्री मूलाचार जी के आश्रय से प्रस्तुत किये गये प्रमाण की मीमांसांतर्गत प्रथम पक्ष पूर्ण हुआ जिसके कि द्वारा सिद्ध हुआ कि स्त्रियों द्वारा किया जा रहा जिनबिंबाभिषेक आगमोक्त क्रिया है, आगमोक्त क्रिया से अन्य कुछ भी नहीं, जो इसे नहीं मानता, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता है, अब द्वितीय पक्ष भी देखिये ॥

द्वितीय पक्ष क्यों ?

द्वितीय पक्ष इसलिये कि डॉ. साहब का मूल प्रश्न तो वहीं का वहीं स्थिर है ॥

कौनसा प्रश्न ?

स्त्रियों द्वारा मुनिराजों के चरण स्पर्श का, जिसके कि द्वारा उन्होंने श्री पद्मपुराणजी आदि ग्रंथों के रचियताओं के सम्यक्त्व पर प्रश्न चिह्न लगाया है ?

अरे हाँ !! चर्चा के प्रवाह में हमें तो विस्मृत ही हो गया था ?

श्रोताओं व पाठकों का यही दुर्गुण तो औसतबुद्धि विद्वानों के सदोष मत स्थापनार्थ सहयोगी/सहकारी कारण बनता है, इसके अलावा अन्य कोई कारण नहीं ॥

जब तक श्रोता व पाठकगण श्रुत प्रकरण में सावधान चित्त नहीं होंगे; तब तक औसत बुद्धि के उपदेशकों व उनके द्वारा अनजाने/अज्ञानवश किये जा रहे श्रुत अवर्णवाद का सद्भाव भी सतत बना रहेगा ॥

इस विषय में जैसा कि हमने पूर्व में भी कहा था कि श्रोताओं को श्री हरिवंशपुराणजी के आश्रय से अपनी बुद्धि की निर्मिति करनी होगी :-(पर्व १७, श्लोक ११७)

गुरुपूर्वक्रमादर्थाद् दस्यः शब्दार्थनिश्चितः ।
सान्यथा यदि जायेत जायेताध्ययनं तथा ॥

अर्थ : गुरुओं की पूर्व परम्परा से शब्दों के अर्थ का (प्रकरणादि को स्मृति में बनाये रखते हुए) निश्चय करना चाहिये ॥ यदि शब्दार्थ का निश्चय अन्यथा होता है, तो अध्ययन

भी अन्यथा हो जायेगा ॥

निश्चित ही प्रत्येक जैन चिन्तक को इस श्लोक व इसके अर्थ को हृदयंगम करते हुए सतत इसका पारायण व अभ्यास करना चाहिये ॥ जो नहीं करता उसके चित्तसे अध्ययन के अन्यथा हो जाने का भय विदा हो जाता है ॥

आइये, विषय को गति दें ॥

प्रिय पाठको, डॉ. साहब द्वारा प्रस्तुत इसी श्री मूलाचारजी के प्रमाण व प्रकरण द्वारा ही स्त्रियों द्वारा मुनिराजों के चरण स्पर्श की भी सिद्धि हो जा सकती है ॥

कैसे ?

डॉ. साहब ने यह तो कह दिया कि आर्यिकाएं मुनिराजों से ५,६,७ हाथ की दूरी से वंदनादि विधानों को पूर्ण करें, किन्तु यह नहीं बतलाया कि क्यों, क्यों इतनी दूरी रखें ?

क्या आचार्य भगवंत ने इस दूरी को बनाये रखने का कोई एक अथवा अनेक कारण श्री मूलाचारजी में निरूपित किये हैं या आज्ञा भर दी है कि पालन करो ?

निश्चित ही जिन्होने श्री मूलाचारजी का स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि आचार्य भगवंत ने दूरी का विधान सकारण निर्देशित किया है, आज्ञा मात्र से नहीं ॥

दूरी बनाये रखने के दो कारण आचार्य भगवंत ने निर्देशित किये हैं, एक गाथा १८१ में व दूसरी गाथा १८२ में ॥

डॉ. साहब द्वारा किये गये वितंडावाद का मूल कारण :-

डॉ. रतनचंदजी आदि समस्त विद्वानों द्वारा प्रचारित वितंडावाद का मूल कारण इन दो गाथाओं का सामान्य रूप से भी स्वाध्याय नहीं करना है ॥

यदि इन दो गाथाओं का समीचीन स्वाध्याय कर लिया जाय, तो वितंडावाद को स्थान ही नहीं रहता है ॥

पाठक वर्ग कृपया ध्यान रखें कि जिस ग्रंथ व उस ग्रंथ के जिस प्रकरण के आश्रय से डॉ. साहब आदि वितंडावाद की निर्मिति कर रहे हैं, हम उसी ग्रंथ व उसी प्रकरण से निर्मित वितंडावाद के शमन हेतु विषय का प्रतिपादन कर रहे हैं ॥

ऐसा क्यों ?

ऐसा इसलिये कि जिस ग्रंथ के आश्रय से हम अपनी धारणा की निर्मिति करते हैं, उस ग्रंथ के प्रति सहज ही हमारी आस्तिक्य बुद्धि वर्तती है ॥

यदि उस ग्रंथ से निर्मित धारणा के विपरीत, एक भी सूत्र अन्य ग्रंथ अथवा ग्रंथों में हमें उपलब्ध हो जाता है, तो तत्काल ही उस ग्रंथकार अथवा उन ग्रंथकारों के प्रति हेय बुद्धि की निर्मिति हमारे चित्त में हो जाती है व उन ग्रंथकारों को हम मिथ्यादृष्टि आदि विशेषण देना

प्रारंभ कर देते हैं ॥

जैसा कि आदरणीय बैनाडाजी अथवा डॉ. रतनचंदजी के साथ हो रहा है ॥

अतः समीचीन व निर्विवाद वाद हेतु प्रतिवादी को अपना पक्ष उन्हीं ग्रंथों व उन ग्रंथों के उन्हीं प्रकरणों से प्रस्तुत करना चाहिये, जिनके प्रति वादी की आस्तिक्य बुद्धि हो ॥

यदि, प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण ही वादी के मंतव्य को कहने वाला व स्वयं वादी के मत को बाधित/खण्डित करने वाला सिद्ध हो जाये, तब प्रतिवादी को अपने पक्ष की समीचीन सिद्धि हेतु अन्य किसी परिश्रम की आवश्यकता ही नहीं रहती ॥

अतः जिनेन्द्र भगवान के मत में जिस ग्रंथ व उस ग्रंथ के जिस प्रकरण से डॉ. साहब आदि ने वितंडावाद का उद्यम किया है, उस ग्रंथ व उस ग्रंथ के उसी प्रकरण के आश्रय से हम जिनेन्द्र भगवान के मत से वितंडावाद के शमन का उद्यम कर रहे हैं ॥

जिन ग्रंथों अथवा आचार्य भगवंतों के प्रति प्रतिपक्ष की एकदेश भी आस्तिक्य बुद्धि नहीं है, उन ग्रंथों व आचार्य भगवंतों को हम किंचित् भी प्रमाण रूप प्रस्तुत नहीं करेंगे ॥

निश्चित ही वाद की निर्विवाद गति एवं समीचीन निर्णय हेतु यही विधि उत्तम रहेगी ॥

पाठक वर्ग कृपया स्मरण रखें कि डॉ. रतनचंदजी जैन अथवा आदरणीय बैनाडाजी का नाम उपलक्षण न्याय के तहत प्रयुक्त किया जा रहा है ॥

इन्हें आदि लेकर समस्त १३ पंथी विद्वानों को वादि स्थान पर रख उन सभी के साथ किया जा रहा संवाद है यह ॥

वितण्डावाद के शमन का प्रयास :-

एक बार हम पुनः प्रकरण को दोहरा दें :-

आपने (डॉ. साहब ने) यह तो कह दिया कि आर्यिकाएं मुनिराजों से ५,६,७ हाथ की दूरी से वंदनादि आवश्यकों को पूर्ण करें, किन्तु यह नहीं बतलाया कि क्यों, क्यों इतनी दूरी से आवश्यकों को पूर्ण करें ?

क्या आचार्य भगवंत ने इस दूरी को बनाये रखने का कोई कारण श्री मूलाचारजी में निरूपित किया है या कि इस दूरी को बनाये रखने की आज्ञा भर दी है ?

निश्चित ही जिन्होंने श्री मूलाचारजी का स्वाध्याय किया है, वे जानते हैं कि आचार्य भगवंत ने दूरी का विधान सकारण निर्देशित किया है, आज्ञा मात्र से नहीं ॥

दूरी बनाये रखने के दो कारण आचार्य भगवंत ने श्री मूलाचारजी के समाचार अधिकार में निर्देशित किये हैं, एक गाथा १८१ में व दूसरा गाथा १८२ में ॥

चलिये, उन्हीं गाथाओं को उत्थानिका सहित सुनिये :-

उत्थानिका : किमर्थमेताभिः सह स्थविरत्वादिगुणसमन्वितस्यापि संसर्गो वार्यते यतः :-

थेरं चिरपव्वइयं आयरियं बहंसुदं च तवसिं वा ।
ण गणेदि काममलिणो कुलमवि समणो विणासेइ ॥१८१ ॥

उत्थानिका : एताः पुनराश्रयान् यद्यपि कुलं न विनाश्यत्यात्मानं वा तथाप्यपवादं प्राप्नोतीत्याह :-

कण्णं विधवं अंतेउरियं तह सइरिणी सलिंगं वा ।
अचिरेणल्लियमाणो अववादं तत्थ पप्पोदि ॥ १८२ ॥

अर्थ : (श्रद्धेय टीकाकार महोदय इन दो गाथाओं में से गाथा १८१ का उद्गम जिस प्रश्न के समाधानार्थ हुआ है, उस प्रश्न को इस गाथा की उत्थनिका में बतलाते हैं) :-

(सामान्य मुनि की तो बात दूर), स्थविरत्वादि गुणों से समन्वित (महामुनियों को भी) इन आर्यिकाओं के साथ संसर्ग (करने से) किसलिये मना किया गया है ?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य भगवंत ने स्त्री संसर्ग से होने वाले संभावित दूषण को कहा है, उसे ही गाथार्थ में सुनिये :-

गाथार्थ :- (स्त्री संसर्ग के कारण) काम से मलिन चित्त श्रमण (स्वयं के) स्थविर, चिरदीक्षित, आचार्य, बहुश्रुत तथा तपस्वी (आदि गुणों को) भी (कुछ) नहीं गिनता, (और) कुल का भी विनाश कर देता है ॥

यहाँ आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि काम से मलिन चित्त श्रमण ॥

यद्यपि यहाँ वर्तमान काल का प्रयोग किया गया है, किन्तु क्या वर्तमान काल के अनुसार अर्थ करना उपयुक्त है ?

नहीं न ?

क्यों ?

क्योंकि यदि ये स्थविर आदि मुनि स्त्री संसर्गादि के कारण काम से मलिन चित्त हो ही जाते हैं, तब तो अगली गाथा का अर्थ ही शेष नहीं रहता ॥

शंकाकार : क्यों ?

समाधान : क्योंकि अगली गाथा में कहा जा रहा है कि स्त्री संसर्ग से मुनि काम से मलिन चित्त हो ही जायेगा, ऐसा नहीं है, लिजिये, सुनिये :-

उत्थानिका : यद्यपि, कोई (महामुनि इन स्त्रियों/आर्यिकाओं का) पुनः आश्रय करता हुआ भी अपने कुल व आत्मा का नाश नहीं करता है, तब भी अपवाद को तो वह अवश्य प्राप्त हो जाता है (इसे ही आचार्य भगवंत गाथा में कहते हैं) :-

गाथार्थ :- (वह मुनि) कन्या, विधवा, रानी, स्वेच्छाचारिणी तथा सलिंगिनी

(आर्यिका आदि) महिलाओं का आश्रय लेता हुआ तत्काल ही अपवाद को प्राप्त हो जाता है ॥

अर्थात् यहाँ आचार्य भगवंत अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि स्त्री संसर्ग मात्र से मुनि ब्रह्मचर्य व कुल का नाश ही कर लेगा, ऐसा नहीं, अपितु वह शुद्ध भी बना रह सकता है ॥

किन्तु अज्ञानी/मंदबुद्धि संसारी जनों के द्वारा वह अपवाद को प्राप्त हो सकता है, उसके अपवादग्रस्त होने से जिनेन्द्र भगवान का धर्म अपवाद को प्राप्त हो जाता है, अतः, जिनेन्द्र भगवान के धर्म को अपवाद से मुक्त रखने के लिये संभावित अपवादों की निवृत्ति के लिये उसे स्त्रियों व आर्यिका माताओं का संसर्ग त्याग देना चाहिये ॥

इस विषय में सती सीता का सुप्रसिद्ध उदाहरण सदैव स्मरण में रखना चाहिये कि सती होने के पश्चात् भी उसका अपवाद क्यों हुआ ॥

शायद पाठक वर्ग समझ रहे हैं कि स्त्री संसर्ग मात्र से महाव्रतों से मुनि भ्रष्ट हो गया, ऐसा आचार्य भगवंत को स्वीकार ही नहीं है ॥ वे तो संभावित दोषों के परिहार के लिये स्त्री संसर्ग का निषेध कर रहे हैं/त्याग करवा रहे हैं ॥

इन्हीं दो गाथाओं के सम्मुच्चय अर्थ को सूत्रबद्ध कर आचार्य भगवंत श्री मूलाचारजी के समयसार अधिकार, गाथा ९५५ में कहते हैं :-

होदिं दुगंछा दुविहा ववहारादो तधा य परमट्ठे ।

पयदेण य परमट्ठे ववहारेण य तहा पच्छा ॥

अर्थ :- (गाथा ९५४ में आचार्य भगवंत ने आर्यिकाओं की वसतिका का मुनिराजों से त्याग करवाया था ॥ टीकाकार महोदय ने आचार्य भगवंत से पूछा कि क्यों ?)

इस संभावित प्रश्न को चित्त में रख आचार्य भगवंत इस गाथा में उत्तर दे रहे हैं :-

गाथार्थ :- निंदा दो प्रकार से होती है, व्यवहार से व परमार्थ से ॥ (आर्यिका माताओं के संसर्ग से प्रथम) व्यवहार निंदा (लोकापवाद रूप होती है व पश्चात्) परमार्थ निंदा (व्रत भंग रूप) यत्न पूर्वक (प्रयत्न करने पर) होती है, (स्वयंमेव नहीं) ॥

निश्चित ही अब तो पाठकों को अत्यंत स्पष्ट हो गया होगा कि स्त्री संसर्ग से उपर्युक्त दोनों दूषणों की संभावना है ॥

संसर्ग मात्र से दूषित ही हो गये, ऐसा विधान नहीं है ॥

संसर्ग मात्र से दूषित हो गये, ऐसा विधान श्री मूलाचारजी के आश्रय से जो निर्मित करता है, वह श्री मूलाचारजी के मंतव्य को नहीं जानने वाला मूढ़ ही है, मूढ़ के अतिरिक्त

और कुछ नहीं ॥

यहाँ पर कुतर्की के लिये स्थान है :-

यहाँ पर कुतर्की के लिये स्थान है ॥

वह कह सकता है कि स्खलन के लिये संसर्ग का नियम उपयुक्त नहीं है ॥

क्यों ?

क्योंकि स्खलन तो स्त्री को देखने मात्र से भी होते हुए देखा जाता है, संसर्ग और स्पर्श तो बहुत दूर की बात है ॥

इस प्रकार यह मूढ़ात्मा कहना चाह रहा है कि आचार्य भगवंत को मात्र स्त्री संसर्ग का ही नहीं, अपितु स्त्री को नज़र उठा कर देखने का भी प्रत्याख्यान/त्याग यावत्‌जीवन करवा देना चाहिये ॥ स्त्री को देखा नहीं कि प्रायश्चित्त ॥ सामान्य नहीं, अपितु घोर प्रायश्चित्त ॥

वर्तमान में इसी स्वभाव के विद्वानों की समाज में बहुतायत है ॥

प्राप्त उपदेश में या तो वे अपनी ओर से कुछ मिलाकर कथन करेंगे अथवा कुछ घटा कर ॥

जैसा लिखा है, ठीक वैसा ही ग्रहण करने वाले विद्वानों का मानो अभाव ही हो गया है ॥

वस्तुतः यह मूढ़ात्मा प्रकरण को समझ ही नहीं पाया ॥

प्रकरण यहाँ असंयमी/कामुकों का नहीं है ॥

असंयमी/कामुकों को स्त्रियों को देखने मात्र से काम वर्तता है ॥

यहाँ प्रकरण संयमियों का है ॥ संयम प्रतिज्ञों का है ॥ संयम के प्रति निष्ठावानों का है ॥

उनका है, जिन्होंने संयम को जाना, समझा, बूझा और फिर अंगीकार किया ॥

वे अनायास काम भावों को प्राप्त नहीं हो जाते ॥

वे अनायास स्खलित नहीं हो जाते ॥

उनके स्खलन का कोई न कोई सशक्त व मनोविज्ञान के आश्रयभूत कारण होना चाहिये ॥

वह कारण आचार्य भगवंत कहते हैं कि स्त्री संसर्ग है ॥

वैसे आगे "**स्त्री संसर्ग**" प्रकरण में स्त्री संसर्ग पद का विवेचन करते हुए आगमानुसार इस शंका का समाधान किया गया है, किन्तु फिर भी "लोकन्यायानुसार" कुछ कहते हैं ॥

जैसे विश्वामित्र की लोक प्रसिद्ध-कथा में इंद्र को इस कार्य में विशेष रूप से कुशल मेनका का चुनाव करना पड़ा ॥ सामान्य अप्सराओं के वश की बात नहीं थी यह ॥ मेनका को भी अथक व कई प्रकार के उपायों से युक्त पुरुषार्थ करने पड़े ॥ वह भी मात्र कुछ क्षण अथवा एक दिन के लिये नहीं, अपितु कई दिनों तक पुरुषार्थ करना पड़ा, तब कहीं जाकर वह उन्हें स्खलित कर पाई ॥

अर्थात् सामान्य कारण अथवा हेतुओं के सद्भाव से धर्म अथवा मोक्ष पुरुषार्थी स्खलित नहीं होते ॥

इसी उद्देश्य अर्थात् अर्थ को पुष्ट करने हेतु स्त्री परिषह-जय का विधान २२ परिषहों में किया गया है ॥

अर्थात् इस परिषह-जय में कामुक स्त्री द्वारा किये गये कामुक स्पर्श दोष का कारण नहीं है, अपितु दोष का कारण काम विकार है ॥

काम-जयी के लिये कामुक स्त्री द्वारा किया गया कामुक स्पर्श प्रायश्चित्त का कारण नहीं है, जो इसे नहीं मानता वह जिनागम व उसमें प्रतिपादित रहस्यों को नहीं जानता ॥

अतः विशेष कारणों अथवा परिस्थितियों की निर्मिति ही मोक्ष पुरुषार्थियों के स्खलन का कारण बनती है, सामान्य परिस्थितियाँ अथवा कारण नहीं ॥

स्खलन का मुख्य कारण :-

स्खलन के उन कई कारणों में से एक प्रबल कारण है स्त्रियों अथवा आर्यिका माताओं के साथ निरंतर संसर्ग में रहना ॥

स्त्री संसर्ग पद द्वारा आर्यिका माताओं के निरंतर संपर्क में बने रहने के हेतुओं का ही आचार्य भगवंत ने निषेध किया है ॥

यहाँ प्रश्न पूछा जाना चाहिये कि वे निरंतर संपर्क में बने रहने के हेतु कौन-कौन से हैं ?

इस प्रकार प्रश्न होने पर आचार्य भगवंत सामाचाराधिकार में ३ गाथाओं के आश्रय से उत्तर देते हैं, अतः आइये, इन गाथाओं को हृदयंगम करें :-

(श्री मूलाचारजी, सामाचाराधिकार, गाथा क्रमांक-१७७, १७८, १७९)

अज्जागमणे काले ण अत्थिदव्वं तधेव एक्केण ।
ताहिं पुण सल्लावो ण य कायव्वो अकज्जेण ॥१७७ ॥

इस गाथा में आचार्य भगवंत ने अपवाद और चित्तविभ्रम के मुख्य कारण को कहा है, इसे ही सुनिये :-

अर्थ :- आर्यिकाओं के आने के समय मुनि को अकेले नहीं बैठना चाहिये (और) उनके साथ बहुधा अर्थात् प्रायः करके अकारण वार्तालाप नहीं करना चाहिये ॥

इस गाथा में दिग्दर्शित दोनों ही कारण मुख्यता से संपूर्ण फसाद की जड़ हैं ॥

प्रथम कारण एकांतवास का सेवन :-

आर्यिकाओं अथवा अन्य स्त्रियों के साथ किया गया एकांतवास नियमतः स्खलन का

कारण यदि न भी हो, तो अपवाद का कारण होता ही होता है ॥

किसी अन्य के द्वारा देखे जाने पर एकांतवास का सेवन क्यों किया अथवा एकांत में क्या कर रहे थे, इस शंका के समाधानार्थ सशक्त कारण प्रगट करना होता है ॥

सशक्त कारण के अभाव में निर्दोष होने पर भी दोषी होने का आरोप आता है ॥

इसलिये आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि अन्य के द्वारा देखे जाने पर, मैं गलत नहीं हूँ, की सिद्धि का उपाय करना पड़े, उस स्थिति से सदैव स्वयं को बचाना ॥

अन्यथा क्षण मात्र का भी एकांतवास अन्य के द्वारा देखे जाने पर महान् अपवाद का कारण बनता है ॥ (गाथा १८२ का सार)

द्वितीय कारण अकारण वार्तालाप की चेष्टा :-

इसी प्रकार द्वितीय कारण को भी कहना चाहिये ॥

द्वितीय कारण अकारण वार्तालाप की चेष्टाएँ हैं ॥

अकारण वार्तालाप की चेष्टाएँ अकारण स्त्रियों के साथ संसर्ग/साथ की वांछा/ कांक्षा को दिग्दर्शित करती हैं ॥ यही संसर्ग/साथ की कांक्षा राग अथवा काम परिणामों की द्योतक हैं ॥ उसके अभाव में अकारण वार्तालाप की चेष्टाएँ संभव ही नहीं ॥

यही अकारण वार्तालाप की चेष्टाएँ व्यवहार निंदा के साथ-साथ, परमार्थ निंदा की भी कारण बनती हैं ॥ (गाथा १५५ का सार)

सर्वथा संपर्क का निषेध नहीं :-

आगे आचार्य भगवंत निर्दोष बने रहने को और क्या न करें इसे कहते हैं :

तासिं पुण पुच्छाओ इक्किस्से णय कहिज्ज एक्को दु ।
गणिणि पुरओ किच्चा जदि पुच्छइ तो कहेदव्व ॥१७८ ॥
तरुणो तरुणीए सह कहा व सल्लावणं च जदि कुज्जा ।
आणाकावादीया पंचवि दोसा कदा तेण ॥१७९ ॥

अर्थ :- उपर्युक्त दोनों ही गाथाएं गाथा १७७ का ही विस्तार हैं ॥ गाथा १७७ के आश्रय से उत्पन्न होने वाले संभावित प्रश्नों के उत्तर हैं इन दो गाथाओं में ॥

जैसे कि गाथा में कहा गया था कि अकारण वार्तालाप न करे, अर्थात् सकारण कर सकता है ॥

. इसका अर्थ हुआ कि आर्यिकाओं से संपर्क ही न रखे, ऐसा आचार्य भगवंत को इष्ट नहीं है, अपितु वे कह रह रहे हैं कि सकारण संपर्क करे अथवा संपर्क में रहे ॥

किन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि इस सकारण संपर्क की परिभाषा क्या ?

इसी सकारण संपर्क की परिभाषा को इन दो गाथाओं में आचार्य भगवंत ने पिरोया है, सुनिये :-

गाथार्थ :- पुनः अर्थात् सप्रयोजन वार्तालाप का निमित्त बने, तब भी, यदि अकेली आर्यिका प्रश्न करे तो अकेला मुनि उत्तर न देवे ॥ यदि गणिनी को आगे कर के वह पूछती है, तो फिर कहना चाहिये ॥ १७८ ॥

तरुण मुनि तरुणी के साथ यदि कथा अथवा वचनालाप करे, तो उस मुनि ने आज्ञा कोप आदि पाँचों ही दोष किये, ऐसा समझना चाहिये ॥ १७९ ॥

शायद पाठकों को विषय स्पष्ट हो रहा होगा ॥

आचार्य भगवंत अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि वार्तालाप का प्रसंग अथवा निमित्त प्राप्त होने पर , वार्तालाप ही न करे, दीवार की ओर मुख करके बैठ जाए, ऐसा नहीं, अपितु ऐसी आर्यिका-श्रेष्ठ के सान्निध्य में वार्तालाप करे, जो कि न सिर्फ दर्शन, ज्ञान, चारित्र से प्रौढ़/वृद्ध हो, अपितु लोक व्यवहार की ज्ञाता भी हो ॥

गणिनी पद का प्रयोग उपलक्षण न्याय की अपेक्षा किया गया है, इस पद के आश्रय से *संघस्थ लोक व्यवहार के ज्ञान से युक्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रौढ़/वृद्ध समस्त आर्यिका* माताओं का ग्रहण किया गया है, जैसे कि उपलक्षण न्यायानुसार गाथा १७७ में आर्यिका पद से समस्त स्त्रियों का ग्रहण करवाया गया था, वैसे ही ॥

अर्थात् आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि निंदा/अपवाद की समस्त संभावनाओं का परिहार कर ही वार्तालाप को प्रस्तुत होना चाहिए, अन्यथा नहीं ॥ अन्यथा आज्ञा कोप आदि पाँचों ही दूषणों से दूषित होते हुए, द्रव्यलिंगी मात्र रह जाओगे ॥

गृहस्थों अथवा असंयमी युवक-युवतियों के मध्य परस्पर में पाये जाने वाले काम आदि कुत्सित परिणामों के उत्प्रेरक प्रहसन, हास्य, विनोद आदि का तो सर्वथा निषेध ही समझना चाहिये ॥

गाथा में कथा शब्द के माध्यम से उसे ही कहा गया है ॥

अर्थात् तरुण मुनि तरुणी आर्यिका अथवा स्त्री मात्र के साथ कुत्सित विनोद या हास्य के स्वप्न मे भी भाव रखता है, तो तत्काल ही आज्ञा कोप आदि पाँचों दूषणों से वह दूषित है, ऐसा समझना चाहिए ॥

यहाँ एक प्रश्न की संभावना है कि यदि ऐसा ही है, तो स्त्री मात्र से सर्वथा/सर्वदेश संपर्क/संसर्ग का ही त्याग क्यों नहीं करवा दिया जाता, स्त्री संसर्ग का विधान ही क्यों किया जा रहा है, जबकि जग प्रसिद्ध न्याय है कि न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी ? इस न्यायानुसार स्त्री मात्र से सर्वथा/सर्वदेश संपर्क/संसर्ग का ही

त्याग करवा दिया जाना चाहिए ॥

इस प्रश्न का उत्तर आचार्य भगवंत ने इसी स्त्री संसर्ग प्रकरण के *अंतर्गत ही गाथा* ९५६ *(अनगार भावना-अधिकार) में दिया है, उसे ही सुनिये :-*

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि ।
संसग्गविसेसेण दुप्पलगंधो जहा कुंभो ॥९५६ ॥

गाथार्थ : संसर्ग से बोधि वृद्धि को प्राप्त होती है और नष्ट भी हो जाती है ॥ जैसे कुंभ का जल (कमल के) संसर्ग विशेष से सुगंध युक्त हो जाता है ॥

अर्थात् स्त्रियों के साथ किया गया संसर्ग नाश का ही कारण होता है, ऐसा नहीं है, अपितु वह संसर्ग बोधि-वृद्धि का भी कारण है ॥ बोधि-वृद्धि का भी कारण है, इसलिये संसर्ग/ संपर्क के सर्वथा त्याग का उपदेश आचार्य भगवंत ने नहीं दिया ॥

आचार्य भगवंत का स्पष्ट उपदेश है कि संसर्ग/संपर्क के विधान/अनुशासन का बोध रखते हुए, तद् अनुसार यदि आर्यिका माताओं के संसर्ग/संपर्क में रहोगे, तो यह संसर्ग/संपर्क बोधि वृद्धि का कारण हो जायेगा और यदि संसर्ग/संपर्क के विधान/अनुशासन का उल्लंघन करके संसर्ग/संपर्क करोगे, तो निश्चित ही पतन का कारण बनेगा ॥

अतः संसर्ग/संपर्क ही नहीं करना, ऐसा नहीं, अपितु संसर्ग/संपर्क के विधान/ अनुशासन का बोध रखते हुए, तद् अनुसार संसर्ग/संपर्क में रहना ॥

जैसा कि पूर्व में भी कहा गया था कि इस विषय में मुख्यतया दो विधान स्मरण में रखने योग्य हैं :-

(१) अपवाद (२) स्खलन ॥

जहाँ इन दो की संभावना हो, वहाँ-वहाँ संसर्ग/संपर्क के विधानानुसार ही चर्या का उपदेश है, अन्य प्रकार से नहीं ॥

अन्यथा इस विषय में अन्य उपदेश भी हैं ॥

वे अन्य उपदेश कौनसे हैं ?

उन अन्य उपदेशों में से एक उपदेश है आर्यिका माताओं का गणधरत्व अर्थात् आचार्यत्व स्वीकार करना ॥

आर्यिकामाताओं के गणधर :-

गण दो होते हैं : (१) दीक्षित पुरुषों का (२) दीक्षित स्त्रियों का ॥

दीक्षित स्त्रियों के गणों का गणाधिपति बनने के लिये गणधर भगवान में स्खलन के समस्त हेतुओं का अभाव पाया जाना चाहिये ॥

अर्थात् गणधर स्खलनातीत को कहते हैं ॥

अर्थात् वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र वृद्ध मुनिवर्य, जो कि द्रव्य, क्षेत्र व काल के विधान को जानते हैं व अपवादों के कारणों का दृढ़ता से परिहार करते है, आर्यिकाओं के गणधर कहलाते हैं, देखिये (श्री मूलाचारजी गाथा १८३-१८४) :-

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो ।
संगहणुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो ॥१८३॥
गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य ।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि ॥१८४॥

अर्थ : जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, संवेग भाव सहित हैं, पाप से भीरू हैं, शुद्ध आचरणवाले हैं, शिष्यों के संग्रह व अनुग्रह में कुशल हैं और हमेशा ही पापक्रिया की निवृत्ति से युक्त हैं ॥ गम्भीर हैं, स्थिरचित्त हैं, मित बोलने वाले हैं, किंचित् कुतूहल करते हैं, चिरदीक्षित हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं - ऐसे मुनि आर्यिकाओं के गणधर/आचार्य होते हैं ॥

उपर्युक्त गाथानुसार इन्हें अर्थात् इन गणधर भगवंतों को परस्पर युवक-युवतियों के मध्य या गृहस्थ अथवा असंयमी जनों में पाये जाने वाले, काम आदि कुत्सित परिणामों के उत्प्रेरक प्रहसन, हास्य, विनोद आदि प्रिय नहीं होते ॥ चूँकि उन्हें काम आदि कुत्सित परिणामों के उत्प्रेरक प्रहसन, हास्य, विनोद आदि प्रिय ही नहीं होते, अतः संघ में उसकी संभावना तक उत्पन्न होने के हेतुओं को वे उत्पन्न नहीं होने देते ॥

चूँकि उसकी संभावना तक के हेतुओं को वे उत्पन्न नहीं होने देते, इसलिये न सिर्फ स्वयं स्खलन रहित होते हैं, अपितु अन्यों को भी अस्खलित बने रहने में हेतु बनते हैं ॥

इसी कारण इस विषय में उपर्युक्त गणधर भगवंतों को न सिर्फ आर्यिका दीक्षा की आज्ञा दी है, अपितु स्त्रियों को दी जाने वाली दीक्षा को अपवाद का हेतु भी नहीं कहा है ॥

इसी प्रकार, चूँकि दीक्षा के सम्मुख स्त्रियों में भी दीक्षाचार्य के प्रति कामादि विकारों का नितांत अभाव पाया जाता है, अतः उन्हें भी स्खलन व अपवाद से रहित प्ररूपित किया गया है ॥

चूँकि दोनों ही विकार रहित हैं, इसलिये दीक्षाकाल में दूरियों का प्रावधान ही नहीं रखा गया है ॥

अर्थात् ५,६,७ हाथ की दूरी का प्रावधान सर्वकालिक नहीं है ॥ अपवाद व परस्पर युवक-युवतियों के मध्य गृहस्थ अथवा असंयमीजनों में पाये जाने वाले, काम आदि कुत्सित परिणामों के उत्प्रेरक प्रहसन, हास्य, विनोद आदि प्रियता की अपेक्षा से है ॥

इन दो की जहाँ-जहाँ सभावना है, वहाँ-वहाँ दूरी का प्रावधान है, जहाँ नहीं है, वहाँ

प्रावधान नहीं है ॥

जैसे आहारदान ॥

आहारदान अपवाद का कारण नहीं है ॥

किन्तु अकेली स्त्री को अकेले मुनि के लिये आहारदान देने का निषेध किया गया है ॥

क्यो ?

क्योंकि यहाँ दोनों संभावनाएँ हैं ॥

दोनों में भी पुनः स्खलन की कम, किन्तु अपवाद की अधिक ॥

अर्थात् इस पूरे प्रकरण में मूल विधान एकांतवास का पोषण न करने का है ॥

एकांतवास स्थितिकरण के पुरुषार्थ को शिथिल कर, विकृत हुए परिणामों को उकसाते हुए, जीव को बलात् विषय सेवन के सम्मुख करता है ॥

उस स्थिति में महान् से महान् तपस्वी भी संयम रूपी शिखर से पतित हो असंयम रूपी महाभयंकर गर्त में गिर जाता है ॥(गाथा १८२ का सार ॥)

इसलिये स्त्रियों के साथ एकांतवास न करे, फिर चाहे वह स्त्री बाल, कानी, लंगड़ी, अंधी, वृद्धा, कुरूप, रोगिणी ही क्यों न हो ॥ (गाथा ९९४-९९५ का सार ॥)

क्योंकि (श्री मूलाचारजी, गाथा ९९५ की टीका) :-

.......नारीं दूरतः परिवर्जयेत् यतः काममलिनस्तां वांछेदिति ॥

अर्थ :- हाथ पैर से छिन्न, कान व नाक से हीन नारियों को भी दूर से छोड़ देना चाहिये क्योंकि काम से मलिन पुरुष इनकी भी इच्छा करने लगते हैं ॥

समूह के लाभ :-

समूह में मर्यादा बनी रहती है, एकांतवास में नहीं ॥

समूह में दण्ड की तरह, अपवाद का भय भी निरंतर बना रहता है, एकात में नहीं ॥

समूह में स्थितिकरण के संसाधन सदैव उपलब्ध हैं, एकांत में नहीं ॥

इसलिये मुनि को क्वचित्-कदाचित् भी स्त्रियों के साथ एकांतवास नहीं करना चाहिये, समूह में दोष का कारण नहीं है ॥

समूह में दोष का कारण नहीं है, इसलिये स्त्रियों के द्वारा अत्यंत समीपता से दिया गया आहारदान दोष का कारण नहीं है ॥

इन्हीं विधानों के आश्रय से आहारदान व आर्यिका दीक्षा विधि निर्दोष सिद्ध हो जाती है ॥

दोनों ही विधियाँ अपवाद व स्खलन दोनो का कारण नहीं हैं ॥

चूँकि स्त्रियों द्वारा दिया गया आहारदान अपवाद का कारण नहीं है, इसीलिये उनके द्वारा आहारदान दिये जाने की पुष्टि प्राय. सभी आचार्य भगवंतों ने की है ॥

स्वयं मूलाचारकारजी ने भी ॥

इस विषय में उनका मत तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु इस बार प्रमाण सर्व प्रसिद्ध व सुप्रसिद्ध ग्रंथ श्री राजवार्तिकजी से लेकर कह रहे हैं, उसे ही सुनिये :-

मुनिराजों की भिक्षा विधि में गोचरी आदि पाँच वृत्तियों का निर्देश है ॥

इन पाँच वृत्तियों में से प्रथम वृत्ति गोचरी वृत्ति है ॥

चूँकि आहार ग्रहण न तो अपवाद का कारण होता है और न ही स्खलन का, किन्तु फिर भी स्खलन व अपवादों की समस्त संभावनाओं का अभाव करने के उद्देश्य से आचार्य भगवंत गोचरी वृत्ति का निरूपण करते हुए कहते हैं कि :-

"जैसे गाय घास खाते वक्त घास को ही देखती है, घास लाने वाली के अंग सौंदर्य आदि को नहीं, वैसे ही मुनि भी......"[१]

अर्थात् मुनिराज भी स्त्रियों से आहारदान अवश्य लेते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि मात्र आहार, आहार के शोधन व आगम निर्देशित सावधानियों के निमित्त दाताओं व क्षेत्र के अवलोकन मात्र पर रहती है, देने वाले अथवा देनेवाली के चित्ताकर्षक-प्रमादोत्पादक रूप-लावण्य आदि पर नहीं ॥

पुनराव लोकन :-

अर्थात् स्त्रियों से संसर्ग/संपर्क ही नहीं रखना, ऐसा आचार्य भगवंत नहीं कह रहे हैं, अपितु वे यह कह रहे हैं कि संसर्ग/संपर्क तो रखना, किन्तु स्खलन व अपवाद के हेतुओं को टाल कर ॥

यही विधान वंदना आदि के निर्देश में भी स्मरण में रखना होगा ॥

प्रथम स्मरण में रखने योग्य सूत्र यह है कि ५, ६, ७ हाथ की निर्देशित दूरी वर्तमान नय की अपेक्षा से दोषोत्पादक नहीं है, क्योंकि यदि वर्तमान नय की अपेक्षा इसे दोषोत्पादक कहोगे, तो स्त्री परिषह-जय जिनागम में बन ही नहीं पायेगा ॥

इसी प्रकार स्पर्श को भी दोषोत्पादक प्ररूपित नहीं कर सकते, क्योंकि पुन· वही दूषण आयेगा कि स्त्री परिषह-जय का विधान जिनागम में बन नहीं पायेगा ॥

क्यों ?

---

१. श्री राजवार्तिक जी, अध्याय ९, सूत्र ६ की टीका, वार्तिक १६, प्रकरण : भिक्षाशुद्धि :-

"यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरूपनीयमानघासो गौर्नतदंगगतसौंदर्यनिरीक्षणपर तृणमेवात्ति, यथा वा तृणोलूपं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजन मृदुललितरूपवेषविलासावलोकननिरुत्सुक शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेष चानवेक्षमाण· यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च ॥"

क्योंकि स्त्री परिषह सामीप्य व स्पर्श पूर्वक होता है ॥

अर्थात् स्त्री परिषह जयी के लिये परिषह काल में स्त्री द्वारा कामादि विकार भावों से युक्त हो किया गया स्पर्श ब्रह्मचर्य व्रत भंग व प्रायश्चित्त का कारण नहीं है ॥

इस विषय में मुनियों को तो पृथक् करो, किन्तु देवताओं द्वारा पूजातिशय को प्राप्त स्वदार-संतोष व्रती सेठ सुदर्शन की कथा भी स्मरण करने योग्य है ॥

अर्थात् स्त्रियों का सामीप्य अथवा स्पर्श मात्र व्रत भंग का कारण नहीं है ॥

जो ऐसा नहीं मानते हैं, वे जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को नहीं जानते ॥

आइये, इसी विषय को और अधिक परिष्कृत रूप में श्रीमद् भट्टाकलंक देव के ही मुखारबिंद से अगले शीर्षक के अंतर्गत सुनें ॥

॥ इत्यलम् ॥



वाद-प्रतिवाद के नियम

पाठक वर्ग कृपया ध्यान रखें कि जिस ग्रंथ व उस ग्रंथ के जिस प्रकरण के आश्रय से डॉ. साहब आदि वितंडावाद की निर्मिति कर रहे है, हम उसी ग्रंथ व उसी प्रकरण से निर्मित वितंडावाद के शमन हेतु विषय का प्रतिपादन कर रहे है ॥

ऐसा क्यों ?

ऐसा इसलिये कि जिस ग्रंथ के आश्रय से हम अपनी धारणा की निर्मिति करते है, उस ग्रथ के प्रति सहज ही हमारी आस्तिक्य बुद्धि वर्तती है ॥ यदि उस ग्रथ से निर्मित धारणा के विपरीत, एक भी सूत्र अन्य ग्रंथ अथवा ग्रथों में हमें उपलब्ध हो जाता है, तो तत्काल ही उस ग्रंथकार अथवा उन ग्रंथकारों के प्रति हेय बुद्धि की निर्मिति हमारे चित्त में हो जाती है व उन ग्रथकारों को हम मिथ्यादृष्टि आदि विशेषण देना प्रारभ कर देते है, जैसा कि आदरणीय बैनाडाजी अथवा डॉ. रतनचंदजी के साथ हो रहा है ॥

अतः समीचीन व निर्विवाद वाद हेतु प्रतिवादी को अपना पक्ष उन्हीं ग्रंथों व उन ग्रंथों के उन्हीं प्रकरणों से प्रस्तुत करना चाहिये, जिनके प्रति वादी की आस्तिक्य बुद्धि हो ॥

यदि, प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रमाण ही वादी के मंतव्य को कहने वाला व स्वयं वादी के मत को बाधित/खण्डित करने वाला सिद्ध हो जाये, तब प्रतिवादी को अपने पक्ष की समीचीन सिद्धि हेतु अन्य किसी परिश्रम की आवश्यकता ही नहीं रहती ॥

अत जिनेन्द्र भगवान के मत मे जिस ग्रथ व उस ग्रथ के जिस प्रकरण से डॉ. साहब आदि ने वितडावाद का उद्यम किया है, उस ग्रंथ व उस ग्रंथ के उसी प्रकरण के आश्रय से हम जिनेन्द्र भगवान के मत से वितंडावाद के शमन का उद्यम कर रहे हैं ॥ (पृष्ठ क्र. ५८-५९ से)

❑ *स्त्रियों का सामीप्य अथवा स्पर्श मात्र व्रत भंग का कारण नहीं*

इस विषय का विवेचन संपूर्ण न्यायविदों के मध्य न्यायाचार्य के रूप में सदैव स्मरण में रखे जाने वाले आचार्य भगवंत श्रीमद् भट्टाकलंक देव का एक बार पुनः स्मरण करते हुए, उनके द्वारा रचित श्री तत्त्वार्थसूत्रजी की टीका श्री राजवार्तिकजी, अध्याय ७, सूत्र १६ के वार्तिकों का अनुकरण करते हुए करते हैं :-

श्रीमद् उमास्वामी पाँच पापों में चौथे पाप कुशील के लिये अब्रह्म शब्द का प्रयोग करते हुए कुशील की परिभाषा समझाते हुए कह रहे हैं कि :-

मैथुनमब्रह्म ॥१६ ॥

प्रश्न : मैथुन शब्द का अर्थ क्या होता है ?

उत्तर : मिथुनेन निर्वृत्तम् मैथुनम् (संस्कृत-हिंदी आप्टे कोश, पृष्ठ ८१८) अर्थात् मिथुन से निष्पन्न को मैथुन कहते हैं ॥

प्रश्न : मिथुन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जोडा अर्थात् युगल को मिथुन कहते हैं ॥

प्रश्न : युगल किसे कहते हैं ?

उत्तर : दो द्रव्यों (दो जीव अथवा दो अजीव अथवा एक जीव एक अजीव) के एक साथ होने को युगल कहते हैं ॥

प्रश्न : फिर मैथुन किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो युगल अर्थात् दो द्रव्यों से निष्पन्न/संपन्न हो उसे मैथुन कहते हैं ॥

यह निष्पन्नता/संपन्नता आचार्य भगवंत ने तीन प्रकार से कही है ॥

मैथुन शब्द से मिथ्या अर्थ ग्रहण की प्रथम संभावना :-

आइये, इसे न्यायाचार्य भगवंत श्रीमद् भट्टाकलंक देव के शब्दो में ही सुनें :-

मिथुनस्य भावो मैथुनम् ॥(वार्तिक - १)

अर्थ : मिथुन अर्थात् दो द्रव्यों के भाव को मैथुन कहते हैं ॥

भाव शब्द का अर्थ क्या है ?

भाव शब्द का अर्थ टीकाकार महोदय ने भवन किया है ॥(वार्तिक - १)

भवन का अर्थ होता है होना ॥

अर्थात् दो द्रव्यों के होने/सद्‌भाव मात्र को मैथुन कहते हैं ॥

यद्यपि यह अर्थ व्युत्पत्ति अनुसार समीचीन है, फिर भी इसे ग्रहण करने में बाधा है ॥

आइये, इसे आचार्य भगवंत के ही शब्दों में सुनें (वार्तिक - १):-

यदि मिथुनस्य भावो मैथुनमित्युच्यते, नैतद्युक्तम्, कुतः ?

द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसङ्गात् ॥

एवं सति औदासीन्यावस्थितविनिवृत्तरागस्त्रीपुंसभवनेऽपि मैथुनप्रसङ्गः ॥

अर्थ : *यदि मिथुन का भाव अर्थात् दो द्रव्यों के होने/सद्‌भाव मात्र को मैथुन कहा जाता है, तो यह उपयुक्त नहीं है ॥*

क्यों ?

क्योंकि फिर दो द्रव्यों के होने मात्र से मैथुन का प्रसंग आ जायेगा ॥ इस प्रकार तो जिनका राग भाव निवृत्त हो गया है और उदासीन भाव में स्थित हैं, ऐसे स्त्री और पुरुष के सद्भाव मात्र से मैथुन का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ॥

शायद पाठक वर्ग समझ रहे हैं ॥

यदि दो द्रव्यों के एक साथ होने मात्र को मैथुन कहोगे, तब तो तीर्थंकर भगवान के बिंब को अथवा परम संयम के निधान महामुनिराज के चरणों के स्पर्श को तो दूर करो, किन्तु आहारदान काल में परम उदासीन वैराग्य भाव में स्थित महामुनिराज अथवा दीक्षा देने को तत्पर आचार्य भगवंत के अत्यंत समीप आहार देने अथवा दीक्षा लेने स्थित स्त्री मात्र के होने से मैथुनपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ?

अतः यह अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता ॥

मैथुन शब्द से मिथ्या अर्थ ग्रहण की द्वितीय संभावना :-

इसी प्रकार यदि मिथुन का अर्थ दो द्रव्यों का भाव नहीं, अपितु दो द्रव्यों का कर्म अर्थात् दो द्रव्यों द्वारा की गई क्रिया करते हो(वार्तिक - २), तब भी समीचीन अर्थ की पुष्टि नहीं होती ॥

क्यों ?

ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य भगवंत पुनः बाधा उत्पन्न करते हैं, सुनिये (वार्तिक - २):-

पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसङ्गात् ॥ द्वयोः पुरुषयोः निर्वर्त्यं यद्भारोद्वहनादि कर्म तत्रापि प्रसङ्गः स्यात् ॥

अर्थ : (तब तो) दो पुरुषों द्वारा निष्पन्न की गई क्रिया विशेष को भी मैथुनपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ॥ जैसे दो पुरुषों द्वारा भार उठाना, वहन करना आदि को भी मैथुनपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ॥

अर्थात् प्रवर्जित स्त्री को तो दूर करो, अपितु प्रवर्जित पुरुष द्वारा आचार्य भगवंत के चरणों का किया गया स्पर्श, वंदना, नमस्कारादि भी मैथुन संज्ञा को प्राप्त हो जायेंगे ॥

मात्र स्पर्श, वंदनादि ही नहीं अपितु वैयावृत्यार्थ किया गया अंग मर्दनादि भी ॥

अतः मैथुनस्य भावो मैथुनम् इस पद द्वारा यह अर्थ भी ग्रहण नहीं किया जा सकता ॥

मैथुन शब्द से मिथ्या अर्थ ग्रहण की तृतीय संभावना :-

इसी प्रकार यदि मिथुन शब्द का अर्थ दो द्रव्यों का भाव अथवा कर्म नहीं, अपितु स्त्री-पुरुष के जोड़े द्वारा किया गया कर्म अर्थात् क्रिया ऐसा करते हो(वार्तिक - ३), तब भी समीचीन अर्थ की पुष्टि नहीं होती ॥

क्यों ?

क्योंकि फिर (वार्तिक - ३):-

ततश्च् स्त्रीप्रव्रजितयोर्नमस्काराद्यासेवने मैथुनप्रसङ्गदोषः ॥

अर्थ : इस प्रकार (अर्थ करने पर तो) स्त्रियों और प्रव्रजिताओं द्वारा (पंचपरमेष्ठियों के प्रति) की जाने वाली नमस्कारादि क्रियाओं का सेवन मैथुन संज्ञा को प्राप्त हो जायेगा ॥

जी हाँ ! आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि यदि "**मैथुनस्य भावो मैथुनम्**" सूत्र के द्वारा "स्त्री और पुरुष के द्वारा किये गये अथवा स्त्री के द्वारा पुरुष के लिये या पुरुष के द्वारा स्त्री के लिये किये गये कर्म ऐसा अर्थ करते हो", तब तो परम संयम के निधान महामुनिराज के चरणों का स्पर्श तो दूर करो, किन्तु आहार लेते हुए परम उदासीन वैराग्य भाव में स्थित महामुनिराज अथवा दीक्षा देते हुए आचार्य भगवंत के अत्यंत समीप आहार देती हुई अथवा दीक्षा लेती हुई स्थित स्त्री के मध्य भी मैथुनपने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ॥

इतना ही नहीं अर्थात् यह तो अत्यंत समीप से घटी घटना हुई, किन्तु इस प्रकार अर्थ करने पर तो सामान्य अथवा प्रव्रजित स्त्री द्वारा आचार्य परमेष्ठी को ५ हाथ की दूरी से किया गया नमस्कारादि अर्थात् अर्चना, पूजा, वंदना व नमस्कार भी मैथुनपने को प्राप्त हो जायेगा ॥

नमस्कार, वंदनादि क्रियाएँ कैसे मैथुन हो जायेंगी ?

क्योंकि आर्यिका माता द्वारा किया गया नमस्कार आचार्य भगवंत स्वीकार करते हैं, इसे ही टीकाकार महोदय ने नमस्कारादि सेवने पद के द्वारा कहा है व प्रत्युत्तर में आचार्य भगवंत द्वारा दिया गया आशीर्वाद आर्यिका माताएं ग्रहण करती हैं, इसे ही आशीर्वादादि सेवने कहा जायेगा ॥

यह परस्पर में नमस्कार व आशीर्वाद का किया गया आदान-प्रदान भी मिथुनेन निर्वृत्तम् मैथुनम् अर्थात् मिथुन से निष्पन्न मैथुन कर्म है ।।

कैसे ?

क्योंकि मात्र शारीरिक स्पर्श के आश्रय से की गई चेष्टाएं ही मैथुन नहीं कहलाती, अपितु स्त्री-पुरुष के मध्य घटे अवलोकन, वार्तालाप, स्मरण, अभिवादनादि सभी कर्म मैथुन शब्द से यहाँ कहे गये हैं ।। इसे आगे विस्तार से कहेंगे ।।

अतः मैथुनस्य भावो मैथुनम् इस पद द्वारा यह अर्थ भी ग्रहण नहीं किया जा सकता ।।

मैथुन शब्द का समीचीन अर्थ :-

इस प्रकार मैथुन शब्द के उपर्युक्त तीनों प्रकार से किये गये अर्थों में दोष बतलाते हुए, इन दोषों के निराकरणार्थ आचार्य भगवंत समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं (वार्तिक - ४) :-

चारित्रमोहोदये सति स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रोपश्लेषे सति सुखमुपलिप्समानयोः रागपरिणामो यः स मैथुनव्यपदेशभाक् ।।

भावार्थ : चारित्रमोहनीय का उदय होने पर रागपरिणाम से युक्त सुख की अभिलाषा से स्त्री पुरुष का परस्पर में शारिरिक स्पर्श, आलिंगनादि करना मैथुन है ।।

यहाँ आचार्य भगवंत से प्रश्न किया जाना चाहिए कि मैथुन शब्द के उपर्युक्त तीनों ही व्युत्पत्ति अर्थों को छोड़ कर, यह अर्थ आप किस प्रकार ग्रहण करते हैं ?

इस प्रश्न के समाधानार्थ आचार्य भगवंत उत्तर देते हुए कहते हैं कि (वार्तिक - ४/१) :-

प्रश्न : ननु नायं शब्दार्थः ?

सत्यमेवमेतत्, तथापि प्रसिद्धिवशात् अर्थाध्यवसायः इतीष्यार्थो गृह्यते ।।

अर्थात् आचार्य भगवंत से यहाँ प्रश्न पूछा गया कि मिथुनस्य भावो मैथुनम् का आप उपर्यक्त तीनों ही व्युत्पत्ति-अर्थों को छोड कर चारित्रमोहनीय का उदय होने पर रागपरिणाम से युक्त सुख की अभिलाषा से स्त्री पुरुष का परस्पर में शारीरिक स्पर्श, आलिंगनादि करना मैथुन है, इस प्रकार अर्थ कैसे ग्रहण कर रहे हो, जबकि यह अर्थ व्याकरण शास्त्र से सिद्ध अर्थ नहीं है ?

इस प्रकार प्रच्छना होने पर आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि अर्थ दो प्रकार से ग्रहण किये जाते हैं, एक व्युत्पत्यानुसार व दूसरा रूढ्यानुसार ।। इन दो प्रकारों में से यहाँ रूढ़ी अर्थात् शब्द के प्रसिद्ध अर्थ के आश्रय से अर्थ ग्रहण किया गया है ।।

अर्थात् यहाँ मैथुन शब्द के व्युत्पत्ति नहीं, अपितु जग प्रसिद्ध रूढ़ी अर्थ रतिक्रीड़ा, प्रविचार, वासना, संभोगादि को ग्रहण किया गया है ।।

इस प्रकार मैथुन शब्द का रतिक्रीडा, प्रविचारादि निर्दोष अर्थ प्रसिद्ध करके आचार्य

भगवंत उपसंहार करते हुए कहते हैं कि (वार्तिक - ९):-

अपि च, प्रमत्तयोगादित्यनुवर्तते ततः चारित्रमोहोदयात् प्रमत्तस्य मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युक्तम्, नमस्काराद्युपयुक्तस्य चाऽप्रमत्तत्वात् चारित्रमोहोदयाभावाच्च सत्यपि वन्दनादिमिथुनकर्मणि न मैथुनम् ॥

अर्थ : यहाँ (मैथुनमब्रह्म सूत्र में) प्रमत्त योग का अनुवर्तन है, इसलिये चरित्रमोह (स्त्री वेदादि कर्म का तीव्र) उदय होने से (वेद परिणाम परिणमित) प्रमत्त युगल अर्थात् दो प्रमत्तों (स्त्री-पुरुषो) का कर्म मैथुन कर्म कहा गया है ॥ नमस्कारादि क्रियाओं में युक्त (स्त्री-पुरुषों के) अप्रमत्तपना (अर्थात्) चरित्र मोह (स्त्री वेदादि) कर्म का अभाव (मंदोदय) होने से वंदनादि (क्रिया में युक्त) मिथुन अर्थात् स्त्री-पुरुष का कर्म मैथुन नहीं है ॥

अर्थात् सुप्रसिद्ध न्यायाचार्य भगवन भट्टाकलंक देव अपने न्याय ग्रंथ श्री राजवार्तिकजी में कह रहे हैं कि वह क्रिया जिनमे रति, प्रविचार, वासना, संभोगादि परिणामों का नितात अभाव पाया जाता है, ऐसी नमस्कारादि क्रियाओं में उपयुक्त स्त्री-पुरुष की चेष्टायें मैथुन नही है ॥

जो इसे मैथुन अर्थात् अब्रह्म निरूपित करता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता है ॥

इसे और अधिक सरल करके कहें तो व्युत्पत्यानुसार कहे गये उपर्युक्त तीनों अर्थों में से प्रत्येक के साथ प्रमत्तयोगात् पद का अनुवर्तन करने पर समीचीन अर्थ की उपलब्धि हो जायेगी ॥

जैसे ?

जैसे प्रथम सूत्र कहा गया था कि मिथुनस्य भावो मैथुनम्, इस सूत्र के पूर्व में प्रमत्तयोगात् पद का अनुवर्तन करके पद बनाना होगा कि :-

प्रमत्तयोगात् मिथुनस्य भावो मैथुनम् ॥

प्रमत्तयोग से अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष वेद कर्म के तीव्रोदय से मैथुन परिणामों से परिणमित दो पुरुष अथवा दो स्त्रियों अथवा स्त्री-पुरुष का वार्तालाप आदि के निमित्त न सिर्फ समीप अथवा दूर स्थित होना, अपितु परस्पर में एक दूसरे के ध्यान मे होना भी मैथुन है ॥

इसके विपरीत प्रमत्तयोग से रहित अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष वेद कर्म के तीव्रोदय से उत्पन्न होने वाले मैथुन परिणामों से रहित परम सयम के निधान महामुनिराज को आहारदान देने अथवा उनके चरण स्पर्श करने अथवा ५, ६, ७ हाथ की दूरी पर वंदनार्थ अथवा उनके ध्यान में स्थित स्त्री अथवा पुरुष का सद्भाव मैथुन नहीं है ॥

इसी प्रकार द्वितीय सूत्र भी बनेगा कि :-

प्रमत्तयोगात् मिथुनस्य कर्मः मैथुनम् ॥

प्रमत्त योग से अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष वेद कर्म के तीव्रोदय से उत्पन्न मैथुन परिणामों से परिणमित दो पुरुषों अथवा दो स्त्रियों अथवा स्त्री-पुरुष केमध्य हुए काम परिणामों की पुष्टि करने वाले व काय प्रवीचार अथवा काय प्रवीचार के अतिरिक्त अनग क्रीड़ा रूप किये गये कर्म अथवा क्रियायें या वार्तालाप या अवलोकन या ध्यान आदि भी मैथुन है ॥

इसके विपरीत प्रमत्तयोग से रहित अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष वेद कर्म के तीव्रोदय से उत्पन्न होने वाले मैथुन परिणामों से रहित परम सयमनिधान महामुनिराज को आहारदान देते हुए अथवा उनके चरणों का स्पर्श या वार्तालाप या ध्यान या वैयावृत्ति करते हुए पुरुषो अथवा स्त्रियों द्वारा किया गया कर्म या क्रिया मैथुन नही है ॥

इसी प्रकार तृतीय सूत्र भी बनेगा कि :-

प्रमत्तयोगात् मिथुनस्यस्त्रीपुरुषस्य कर्मः मैथुनम् ॥

प्रमत्तयोग से अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष वेद कर्म के तीव्रोदय से मैथुन परिणामों से परिणमित स्त्री-पुरुष के मध्य हुए काम परिणाम की पुष्टि करने वाले व काय प्रवीचार अथवा काय प्रवीचार के अतिरिक्त नगानग क्रीडा रूप किये गये कर्म अथवा क्रियाएँ व उस सहित अथवा उस हेतु से किया गया वार्तालाप या अवलोकन या ध्यान आदि भी मैथुन है ॥

इसके विपरीत प्रमत्तयोग से रहित अर्थात् स्त्री अथवा पुरुष वेद कर्म के तीव्रोदय से उत्पन्न होने वाले मैथुन परिणामो से रहित परम सयमनिधान महामुनिराज को आहारदान देते हुए अथवा उनके चरणो का स्पर्श या उनसे वार्तालाप या उनका ध्यान आदि करती हुई स्त्री अथवा स्त्रियों द्वारा किया गया कर्म या क्रियाएँ मैथुन नही है ॥

श्रीमद् भट्टाकलकदेव ने यहाँ प्रमत्तयोग शब्द के एकार्थक शब्द के रूप में स्त्रीवेद, पुरुषवेद व नपुंसकवेद का तीव्रोदय पद का प्रयोग करने के स्थान पर शब्द प्रयोग किया है चारित्रमोह ॥

चारित्रमोह शब्द से मिथ्या अर्थ ग्रहण की संभावना :-

प्रश्न : आचार्य भगवंत द्वारा प्रयुक्त चारित्रमोह शब्द से स्त्रीवेद आदि के तीव्रोदय को आपके द्वारा क्यों कहा गया है ?

उत्तर : वह इसलिये कि चरित्र मोह का तीव्रोदय छट्ठे गुणस्थान तक पाया जाता है ॥ इसी के सद्‌भाव से वहाँ प्रमाद प्ररूपित किया गया है ॥ यदि चारित्र मोहोदय के तीव्रोदय को ही यहाँ अब्रह्म का कारण कहोगे, तो छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनिराज भी मैथुनरत ही कहलायेगे, मैथुन रहित नही ॥

इसी प्रकार पंचम गुणस्थान की सप्तम प्रतिमा से प्राप्त ब्रह्मचर्य व्रत का भी अभाव हो जायेगा ॥

मात्र यही नहीं अपितु छट्ठे गुणस्थान में पाये जाने वाले स्त्री-परिषह जयी महामुनियों का भी अभाव हो जायेगा, क्योंकि वे भी चारित्रमोह के तीव्रोदय से युक्त ही होते हैं, रहित नहीं ॥

इतना ही नहीं, अपितु यह भी सिद्ध हो जायेगा कि ब्रह्मचर्य व्रत में जिनेन्द्र भगवान ने मुनिराजों को द्रव्य स्त्री मात्र का त्याग करवाया है, स्त्रियों के प्रति पाये जाने वाले रागोत्पादक परिणामों का नहीं ॥

क्यों ?

क्योंकि स्त्रियों के प्रति पाये जाने वाले राग का उत्पादक, जिसे कि यहाँ चारित्रमोहोदय का तीव्रोदय कहा गया है, उनके पाया ही जाता है ॥

शंकाकार : किंतु उनके तो संज्वलन कषाय का उदय पाया जाता है ?

समाधान : भले पाया जावे, किंतु चूँकि वार्तिककार ने यहाँ यह तो कहा ही नहीं है कि यहाँ चारित्रोमोहोदय पद से चारित्र मोहनीय की तीन प्रकृतियों को ही लेना, चौथी नहीं, अतः कैसे कहा जा सकता है कि वार्तिककार को यहाँ चारित्र मोहोदय से तीन कषाय ही इष्ट है, चौथी संज्वलन कषाय नहीं ? वह तो कहा ही नहीं जा सकता ॥

अतः कहना होगा कि तीर्थंकर भगवान ने ब्रह्मचर्य व्रत में स्त्री सेवन मात्र का त्याग करवाया है, स्त्रियों के प्रति पाये जाने वाले राग का नहीं ॥

तो क्या ब्रह्मचर्य व्रत में जिनेन्द्र भगवान ने द्रव्य-स्त्री मात्र का त्याग करवाया है, स्त्रियों के प्रति पाये जाने वाले राग का नहीं ?

क्या ऐसा ही जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित ब्रह्मचर्य व्रत है ?

नहीं न ?

इसलिये स्त्री आदि नोकषाय वेदों का तीव्रोदय ही यहाँ प्रमाद व चारित्रमोहोदय से उपलक्षित किया गया है, न कि कषायोदय को, क्योंकि प्रसंग मैथुन अर्थात् वेद का है ॥

जैसा कि कहा भी गया है :- **(श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक-१०७)**

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म ।

अर्थ : जो वेद के राग रूप योग से मैथुन कहा जाता है, वह अब्रह्म है ॥

प्रश्न : वेद किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा की (चैतन्य) प्रवृत्ति में मैथुन रूप चित्त विक्षेप के उत्पन्न होने को वेद कहते हैं ॥[१]

---

१. **आत्मप्रवृत्तेर्मैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः ॥** (श्री धवला जी पुस्तक १, पृष्ठ १४१)

इस प्रसंग में वैसे टीकाकार महोदय ने सिर्फ 'चारित्रमोहोदये' पद प्रयुक्त किया है, चारित्रमोह का तीव्रोदय नहीं ॥ यदि इस शब्द का शब्दशः अर्थ करोगे, तब तो चारित्रमोह, जिसका कि उदय १० वें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान तक पाया जाता है, वह भी स्त्री, पुरुष व नपुंसक तीनों ही वेद रहित, उनके भी वेदोदय के अभाव में मैथुन परिणामों की सिद्धि करनी होगी ॥

नहीं करनी होगी क्या ?

नहीं क्यों करनी होगी ? करनी ही होगी ॥

किंतु कर सकोगे क्या ?

नहीं न ?

इसलिये स्त्री आदि नोकषाय वेदों का तीव्रोदय ही यहाँ प्रमाद व चारित्र मोहोदय शब्द से उपलक्षित किया गया है, न कि कषाय मोहोदय को, क्योंकि प्रसंग मैथुन अर्थात् वेद का है ॥

आइये, इस विषय में अंतिम निष्कर्ष हेतु श्री धवलाकारजी का मत देखें :-

(पुस्तक ७, खण्ड २, भाग १, सूत्र ३७, पृष्ठ ७९)

चरित्तमोहणीयस्स कम्मस्स उदएण इत्थि-पुरिस-णवुंसयवेदा ॥ ३७ ॥

चरित्तमोहणीयस्स उदएण होंति त्ति सामण्णेण वुत्ते सव्वस्स चरित्तमोहणीयस्स उदएण तिण्हं वेदाणमुप्पत्ती पसज्जदे । ण च एवं, विरुद्धाणं तिण्हमेक्कदो उप्पत्तिविरोहादो । तदो णेदं सुत्तं घडदि त्ति ? ण, 'सामान्य' चोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठंत' इति न्यायात् जइ वि सामण्णेण वृत्तं तो वि विसेसोवलद्धी होदि त्ति, सामण्णादो चरित्तमोहणीयादो तिण्हं विरुद्धाणमप्पत्तिविरोहादो । तदो इत्थिवेदोदएण इत्थिवेदो, पुरिसवेदोदएण पुरिसवेदो, णवुंसयवेदोदएण णवंसयवेदो होदि त्ति सिद्धं ।

अर्थ : चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका : 'चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से स्त्रीवेद आदिक होते हैं' ऐसा सामान्य से कह देने पर समस्त चारित्रमोहनीय के उदय से तीनो वेदों की उत्पत्ति का प्रसंग आता है। किन्तु ऐसा है नही, क्योंकि, परस्पर विरोधी तीनों वेदो की एक ही कारण से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है, इसलिये यह सूत्र घटित नहीं होता ?

समाधान : नहीं, क्योंकि, 'सामान्य से कहे गये भाव अपने विशेषों में रहते हैं' इस न्याय के अनुसार यद्यपि सामान्य से कहा गया है, तो भी उनकी विशेष रूप उपलब्धि होती है, क्योंकि, सामान्य चारित्रमोहनीय से तीनों विरुद्ध वेदों की उत्पत्ति होने में विरोध आता है। अत स्त्रीवेद के उदय से स्त्रीवेद उत्पन्न होता है, पुरुषवेद के उदय से पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय

से नपुंसकवेद उत्पन्न होता है, यह सिद्ध हुआ ॥

अर्थात् यहाँ आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि किसी भी पद का अर्थ करने में जहाँ शब्दार्थादि में निपुणता चाहिये, वहीं भाषाशास्त्र समन्वित न्याय शास्त्रों का भी कौशल्य चाहिये, वह यदि होगा, तभी सूत्रार्थ समीचीन हो पायेगा, अन्यथा नहीं ॥

श्रीमद् वीरसेन स्वामी ने यहाँ न्यायशास्त्र कौशल्य के आश्रय से सूत्र में प्रयुक्त चारित्रमोह शब्द का अर्थ तीनों वेद कहा है ॥ यदि उनके भी न्याय शास्त्र कौशल्य का अभाव होता, तो निश्चित् ही मंदबुद्धि विद्वान् की मानिन्द वे भी इस सूत्र को मिथ्या कहने में क्षण मात्र का भी विलंब नहीं करते ॥

इस प्रकरण को सहसा किसी भी सूत्र को मिथ्या कहने को तत्पर प्रत्येक विद्वान् को स्मरण में रखना चाहिये व श्रुत अवर्णवाद के भय से स्वयं को भयभीत रखने में प्रयुक्त करना चाहिये ॥

निश्चित ही यह प्रकरण धारणा को श्रुत अवर्णवाद के दूषण से मुक्त करने में मील का पत्थर है ॥

यही अर्थ श्रीमद् भट्टाकलंकदेव द्वारा प्रयुक्त चारित्रमोह पद द्वारा भी ग्रहण करना होगा, अन्यथा मूढ़ मति सिद्धांत में दूषण उत्पन्न कर देगा ॥

जिनके पास अर्थ प्ररूपणा में यह भाषाशास्त्र समन्वित न्याय ग्रंथों का कौशल्य नहीं होता है, उन्हें ही परमागम में शब्द, अर्थ व आगम मूढ कहा गया है ॥

इस विषय में श्री हरिवंशपुराणजी, पर्व १७/११७ का स्मरण पुन. आवश्यक है, सुनिये :

गुरुपूर्वक्रमादर्थाद् दश्यः शब्दार्थनिश्चितः ।
सान्यथा यदि जायेत जायेताध्ययनं तथा ॥

अर्थ : गुरुओं की पूर्व परम्परा से शब्दों के अर्थ का निश्चय करना चाहिये ॥ यदि शब्दार्थ का निश्चय अन्यथा होता है, तो अध्ययन भी अन्यथा हो जायेगा ॥

उपर्युक्त प्रमाण निश्चित ही इस सत्य की समीचीन समझ के लिये पर्याप्त है कि चारित्रमोह शब्द से आचार्य भगवंत को प्रकरणानुसार मैथुन सम्मोहोत्पादक[1] स्त्री वेदादि का तीव्रोदय ही इष्ट है ॥

इस प्रकार सिद्ध हो जाने पर ही सिद्ध हो पायेगा कि मैथुन अर्थात् मैथुन सम्मोहोत्पादक स्त्री वेदादि के तीव्रोदय से रहित स्त्रियों द्वारा पंचपरमेष्ठियों की की गई वंदना, नमस्कार, अभिषेक, चरण स्पर्श, आहारदानादि क्रियाएँ मैथुन कर्म नहीं हैं ॥

---

१ आत्मप्रवृत्तेर्मैथुनसम्मोहोत्पादो वेदः ॥ (श्री धवला जी पुस्तक १, पृष्ठ १४१)

अन्यथा अर्थात् ऐसा स्वीकार नहीं करोगे, तो ये क्रियाएँ मैथुन परिणाम ही सिद्ध होंगी, मैथुन परिणाम से अन्य कुछ भी नहीं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रव्रजित स्त्री व पुरुष का संयोग अथवा उनमें पाई जाने वाली नमस्कारादि क्रियाएँ मैथुन परिणाम से परिणमित नहीं होने से अब्रह्म नहीं है ॥

अब्रह्म नहीं होने से कुशील नहीं है ॥ कुशील नहीं होने से दोष का कारण नहीं है ॥

दोष का कारण नहीं होने से धर्म व मोक्ष पुरुषार्थ में बाधक नहीं है ॥

बाधक नहीं होने से साधक ही हैं ॥

साधक होने पर भी उन्हें जो अब्रह्म/कुशील/दोष कारक प्ररूपित करता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत के बाह्य है ॥

मैथुन अर्थात् प्रवीचार के भेद :-

चारित्र मोहोदय (स्त्री आदि वेद के तीव्रोदय) से मैथुन सेवन भी अनेक प्रकार से हो जाता है :-

यथा : १) काय प्रवीचार, २) स्पर्श प्रवीचार, ३) रूप प्रवीचार, ४) शब्द प्रवीचार और ५) मन प्रवीचार ॥[१]

प्रवीचार व मैथुन, दोनों ही शब्द एकार्थक हैं ॥[२]

अतः काय की चेष्टा द्वारा निष्पन्न मैथुन मात्र की ही प्रवीचार संज्ञा नहीं है, अपितु उपर्युक्त ५ भेदों में से किसी भी भेद के अंतर्गत आने वाली चेष्टाएं, फिर वे स्पर्श सहित हों या स्पर्श रहित, मैथुन संज्ञा को प्राप्त हो जाती हैं ॥

इसके भी पुन: द्रव्य व भाव ऐसे दो भेद करने होंगे ॥ जैसे साक्षात् काय प्रवीचार मे अयुक्त, किन्तु उसके ध्यान में लीन स्त्री अथवा पुरुष ॥

इसी न्यायानुसार यदि स्त्रियों द्वारा जिनबिंब के किये गये स्पर्श को मैथुन कहोगे, तो स्त्रियों द्वारा यह कहना भी :-

बोलूँ प्यारे वचन हित के, आप का रूप ध्याऊँ ।
तौ लौं सेवूं चरण जिनके, मोक्ष जौ लौं न पाऊँ ॥

अथवा

तव पद मेरे हिय में, मम हिय तव पुनीत चरणों में ।
तब लौं लीन रहे प्रभु, जब लौं न पाया मुक्ति पद मैंने ॥

---

१. काय प्रवीचारा आ ऐशानात् ॥७॥, शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥८॥
-(श्री तत्त्वार्थसूत्र जी, अध्याय ४, सूत्र ७,८)

२. मैथुनोपसेवनं प्रवीचारः ॥ *(श्री राजवार्तिक जी, अध्याय ४, सूत्र ७, वार्तिक १)*

मैथुन ही कहलायेगा ॥

नहीं कहलायेगा क्या ?

कहलायेगा क्यों नहीं ? कहलायेगा ही ॥

अर्थात् यदि आर्यिका माता द्वारा नमस्कार बुद्धि को चित्त में रख आचार्य भगवंत के चरणों को काय चेष्टा द्वारा किये गये स्पर्श को मैथुन सेवन कहोगे, तो यही मात्र मैथुन नहीं कहलायेगा, अपितु मैथुन के उपर्युक्त ५ भेदों में से निश्चित दूरी से सेवन किया गया रूप दर्शन, वार्तालाप आदि अथवा उसके भावों को भी मैथुन का भेद कहना होगा, ब्रह्मचर्य का नहीं, ठीक वैसे ही, जैसे कि अभी-अभी हम एक भ्रमबुद्धि कानजीपंथी विद्वान् के संदर्भ में कह आये हैं, जो स्त्रियों द्वारा भगवान को निरखने पर आँखों में उतर आई भगवान की छवि को मैथुन कह महापाप प्ररूपित कर रहे थे ॥

क्या ऐसी ही प्ररूपणाएँ हमें भी प्ररूपित नहीं करनी पड़ेंगी ?

पड़ेंगी न ?

प्रिय पाठको, आप यहाँ इस प्रश्न पर जब तक चिन्तवन करें, तब तक हम अगले शीर्षक में इसी विषय से संबंधित अन्य उदाहरण आपकी सहूलियत के लिये प्ररूपित कर रहे हैं ॥ अवकाश मिलते ही कृपया हमसे वहीं मिलिये ॥

॥ इत्यलम् ॥



बीसपंथ के पक्ष में श्रीमद्धवलाकारजी

महुवरमहुवरवाउलवियसियसियसुरहिगंधमल्लेहि ।
मल्लिजिणमच्चियूण य मोक्खणुयोगो परूवेमो ॥१॥

अर्थ - मधु को करनेवाले भ्रमरोंसे व्याकुल ऐसे विकसित, धवल और सुगन्धित पुष्पमालाओं के द्वारा मल्लि जिनेन्द्रकी पूजा करके मोक्ष-अनुयोगद्वार की प्ररूपणा करते हैं ॥१॥

-श्रीधवलाजी, पुस्तक -१६, मोक्षानुयोगद्वार (मंगलाचरण)

❐ स्त्र्याभिषेक व चरण स्पर्श को लेकर मंदबुद्धिता के उदाहरण व आगम

उदाहरण - १ :-

अभी अर्थात् कुछ दिनों पूर्व एक ब्रह्मचारिणी दीदी से मिलना हुआ था ॥

उनकी निजी डायरी उनके हाथ में थी और उस पर आचार्य भगवंत की तस्वीर चिपकी हुई थी ॥ स्त्री-अभिषेक व स्त्रियों द्वारा मुनियों के चरण स्पर्श की वे कट्टर विरोधी थी ॥ डायरी पर लगी आचार्य भगवंत की तस्वीर को देख प्रश्नवाचक दृष्टि से हमने उन्हें देखा ॥ हमारे मंतव्य को उन्होने भाँप लिया ॥ प्रत्युत्तर में बगैर पूर्वापर संबंधों का स्मरण/चिंतन किये, रटारटाया उत्तर उन्होने दिया कि तस्वीर ही तो है, कोई प्रतिष्ठित प्रतिमा थोड़े ही ?

यहाँ पाठक वर्ग स्वयं चिंतन कर सकता है कि यह उत्तर ब्रह्मचारिणी बहन के दिमागी दिवालियेपन का द्योतक है या नहीं ?

यह उत्तर बतलाता है कि इस बहन को प्रतिष्ठित प्रतिमाजी को छोड़ कर अन्य समस्त नग्न अथवा अनग्न प्रतिमाजी अथवा तस्वीर आदि को छूने से परहेज़ नहीं है ॥

उन्हें वे बगैर किसी हिचकिचाहट के छू सकती हैं ॥

मानो उन नग्न अथवा अनग्न अप्रतिष्ठित प्रतिमाजी आदि को छूने में उन्हें किसी भी विवक्षा से अब्रह्म सेवन आदि के दूषण नहीं लगेंगे, अब्रह्म सेवन के दूषण प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को छूने पर ही लगेंगे ॥ ॥

है न आश्चर्यकारक प्ररूपणा व विचित्र प्रकार का ब्रह्मचर्य ?

नहीं है क्या ?

है ही न ?

उदाहरण - २ :-

ऐसी ही एक ब्रह्मचारिणी बहन से हमारा परिचय किसी पंचकल्याणक में हुआ था ॥

जन्माभिषेक के दिन पांडुकशिला पर भगवान का उन्हें अभिषेक करते देख हमें आश्चर्य हुआ ॥ हमारे चेहरे के आश्चर्य भरे भावों पर उनकी दृष्टि पड़ी ॥ हमें समझाते हुए उन्होने कहा कि भाई, ये तो जन्म के भगवान हैं, इन्हें छूने में कैसा दोष ? अर्थात् कोई नही ॥

मुझे उनका उत्तर सुन कर हास्य मिश्रित आश्चर्य हुआ कि प्रतिमा तो वयस्क नग्न पुरुष

की थी, वह तो किसी भी विवक्षा से बालक की नहीं थी, हाँ ! उसमें कल्पना अवश्य बालक की की गई थी ॥

चूंकि कल्पना उसमें बालक की की गई थी, इसलिये उस नग्न वयस्क पुरुष की प्रतिमा को न सिर्फ उनके द्वारा किया गया स्पर्श, अपितु उसे करवाया गया स्नान भी अब्रह्म का कारण है, ऐसा उन्हें प्रतीत ही नहीं हो रहा था ॥

इस विवक्षानुसार उनकी ओर से कहा जा सकता है कि इस पूरे प्रकरण में मुख्य खेल कल्पना का है कि आप जिसके संपर्क में हैं, उसके प्रति आपकी बुद्धि क्या है, यही महत्वपूर्ण है, संपर्क नहीं ॥

अर्थात् जिनके संपर्क में हम हैं, उनके प्रति हमारी बुद्धि क्या है, इसी के द्वारा ब्रह्म अथवा अब्रह्म सेवन का निर्णय होगा, इसके अलावा अन्य किसी भी प्रकार से नहीं, इस विषय में हम जिनके संपर्क में हैं, वह व्यस्क है अथवा नहीं , इससे कोई अंतर नहीं पड़ता ॥

इसे इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि जिनके संपर्क में हम हैं, उनके प्रति यदि हमारी बुद्धि पूजनीय होगी, तो संसर्ग निर्दोष कहलायेगा व यदि प्रवीचार बुद्धि होगी, तो सदोष ॥

अरे ! यह तो हमारे मत की सिद्धि करने वाली प्ररूपणा हुई, उनके मत की नहीं ॥

इस उत्तर को अब उन्हें सर्वत्र ध्यान में रखना होगा ॥

यदि नहीं रखेंगे, तो जन्म कल्याणक के दिन जिसे स्नपन करवाया गया वह प्रतिमा वयस्क नग्न पुरुष की ही थी, नग्न पुरुष से अन्य किसी की भी नहीं, अतः चाहे जिस बुद्धि से उसे किया गया स्पर्श व करवाया गया स्नान हो, कहलायेगा तो वह सिवाय अब्रह्म सेवन के और कुछ भी नहीं ॥

मायाचारी का दूषण आयेगा सो अलग से ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि प्रतिमा तो वयस्क नग्न पुरुष की थी ॥ जब प्रतिमा स्पष्ट रूप से नग्न वयस्क पुरुष की थी, तब उसमें, उसे स्नपन व स्पर्श करने के परिणामों को उपयुक्त ठहराने की बुद्धि से बालक की कल्पना करना क्या मायाचारी नहीं कहलायेगी ?

कहलायेगी ही ॥

तप कल्याणक के पश्चात् चूँकि यह नग्न वयस्क पुरुष की प्रतिमा छूने तो मिलने वाली नहीं है, इसलिये अभी मौका है, स्नपन के बहाने न सिर्फ इसका स्नपन कर लो, अपितु मन भर के छू भी लो ॥

अथवा यह घटना इस सत्य का भी उद्योत करती है कि ब्रह्मचारिणी बहन के चित्त में

मदबुद्धि विद्वानों ने यह धारणा बैठाई है कि जब तक महाव्रतों के संस्कार नहीं हुए हैं, तब तक छू सकते हैं, महाव्रतों के संस्कारों के पश्चात् स्पर्श करना नरकायु के बंध का कारण है ॥

अर्थात् वे इस मत की हैं कि संसार में स्पर्श के अयोग्य वे अथवा उनकी प्रतिमाएँ व तस्वीरें हैं, जिन पर कि महाव्रतों के संस्कार आरोपित किये गये हैं, जिन पर महाव्रतों के संस्कार आरोपित नहीं किये गये हैं, उन्हें स्पर्श करने व उनका न्हवन कराना दोष का कारण नहीं है, फिर चाहे वे नग्न हों अथवा अनग्न ॥

अर्थात् इस उत्तर के द्वारा इस अर्थ की सिद्धि होगी कि महाव्रतों के संस्कारों से संस्कारित पात्रों के अतिरिक्त अन्य समस्त संसारीजनों के साथ प्रवीचार अथवा अप्रवीचार भाव पूर्वक प्राप्त किया गया सान्निध्य ब्रह्मचर्यव्रत में दूषण का कारण नहीं है, दूषण तो महाव्रतियों का प्राप्त किया गया सान्निध्य ही है ॥

क्या इसी अर्थ का उद्योत नहीं होगा ?

होगा ही ॥ बात शायद कड़वी हो गई ॥

कड़वी दवाई :-

नहीं-नहीं, कड़वी होने पर भी प्रतिपक्ष द्वारा जो जिनवाणी माँ का अवर्णवाद किया जा रहा है व सुस्थापित आचार्य भगवंतो को जो जैनाभाषी कहा जा रहा है, उसकी तुलना में मधुर ही है ॥

शायद पाठक वर्ग को विषय में निहित दोनों ब्रह्मचारिणी बहनों की मदबुद्धिता का उद्योत हो ही गया होगा ॥

स्त्री अभिषेक को लेकर समीचीन बुद्धि की निर्मिति का प्रयास :-

यहाँ समझना सिर्फ इतना ही है कि इस पूरे प्रसंग में मुख्य खेल कल्पना का है, संपर्क का नहीं ॥ आप जिसके संपर्क में है, उसके प्रति आपकी बुद्धि क्या है, यही महत्वपूर्ण है ॥ इसी बुद्धि के द्वारा ब्रह्म अथवा अब्रह्म सेवन का निर्णय होगा ॥ इसके अलावा अन्य किसी भी प्रकार से नहीं ॥

यदि आपके द्वारा किये गये स्पर्श मे मैथुन सेवन की बुद्धि होगी, तब तो स्पर्श करने का अवसर नहीं मिलने पर भी आस्रव व बंध अब्रह्म सेवन परिणाम का ही होगा, उससे अन्य किसी भी परिणाम का नहीं ॥

और यदि मैथुन सेवन परिणाम नहीं हैं, तो विद्याधर कन्याओं द्वारा भगवान बाहुबली का अथवा रानी चेलना द्वारा मुनिराज का किया गया उपसर्ग निवारण अथवा स्त्रियों द्वारा जिनेन्द्र भगवान को अपलक निहारते हुए उनके देह की स्तुति करना अथवा पूर्णांग नग्न खड़े मुनिवर्य को एक हाथ व अंजुलि से कुछ अंगुलियों के फासले से दिया गया आहारदान दोष

का कारण नहीं होगा ॥

वर्ना संसार में तो जब सवस्त्र पुरुष के समीप अकारण अर्थात् जहाँ-जहाँ पाँच प्रकार के मैथुनों में से एक मैथुन सेवन के अपवाद की भी किंचित् संभावना हो, स्त्री को स्थित होने की आज्ञा नहीं है, तब निर्वस्त्रों के सामीप्य की चर्चा ही कहाँ करें ?

अतः स्याद्वादवादियों के यहाँ न तो मुनिराजों के स्त्रियो द्वारा किये गये उपसर्ग निवारण ही दोष के कारण हैं और न ही तीर्थंकर भगवान के युगल चरणों को ही हृदय में विराजमान करना दोष का कारण है और न ही उनकी सर्वांग सुंदर देह को अपलक निहारते हुए आँखों में भर उसकी स्तुति करना दोष का कारण है, वर्ना भक्तामर स्तोत्र के ११वें व १२वें काव्य[१] का पाठ वे कभी नही कर पाएंगी ॥

इसी न्यायानुसार मैथुन सेवन का अपवाद व आरोप, दोनों ही नहीं होने के कारण स्याद्वादियों की स्त्रियाँ निःशंक हो आहारदानादि कार्यों में प्रवृत्त हो सकती हैं ॥

किन्तु स्पर्श अथवा सान्निध्य मात्र को मैथुन प्ररूपित करने वाले स्याद्वाद विरोधियों के यहाँ तो पर-पुरुषों अथवा स्त्रियों के छायाचित्रों से पूरित समाचार पत्रों आदि को भी किया गया स्पर्श जब अब्रह्म ठहरेगा, तब अन्य कथाओं का विस्तार क्या करें ?

अतः जहाँ-जहाँ जिनागम मे अब्रह्म के कारणों में स्त्री संसर्ग आदि का निरूपण किया गया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र स्याद्वादियों को राग पूर्वक अथवा प्रमत्तयोगात् पद का अनुवर्तन करना होगा, उसका अभाव कर की गई प्ररूपणाएं स्याद्वादवादियों की प्ररूपणाएं नहीं कहलायेंगी ॥

समंतभद्राचार्यजी का न्याय व अकलंकदेवजी की प्ररूपणा :-

इसी विषय को हम श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी की शैली में भी कह व समझ सकते हैं, देखिये (**श्री देवागमस्तोत्रजी की उपयोगी कारिकाओं ९२,९३,९४,९५ का भावार्थ मात्र**) :-

इन चार कारिकाओं में पाप और पुण्य का बंध कैसे होता है, इस रहस्य का उद्घाटन आचार्य भगवंत द्वारा किया गया है ॥

सामान्य धारणा है कि सुख देने से पुण्य और दुःख देने से पाप का बंध होता है ॥

इस धारणा पर आचार्य भगवंत आक्षेप उठाते हुए कहते हैं कि यदि ऐसा ही है, तब

---

१. दृष्ट्वा भवन्त मनिमेषविलोकनीयम्, नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ।
पीत्वापय शशिकर द्युति दुग्धसिंधोः, क्षारजल जलनिधे रसितुं क इच्छेत् ॥ ११ ॥
यैः शात राग रुचिभि परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितस् त्रिभुवनैक ललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्याम्, यत्ते समानमपर न हि रूपमस्ति ॥ १२ ॥

तो सुख व दुःख में निमित्त होने से पुद्गल को भी कर्मबंध होना चाहिये, किन्तु उसे तो बंध होता नहीं, अतः यह सूत्र स्याद्वाद्वादियों को एकांततः स्वीकृत नहीं है ।।

इस पर प्रतिपक्ष कहता है कि अपने को सुखी करने का उपाय करने से पुण्य और दुःखी करने का उपाय करने से पाप का बंध होता है ।।

इस पर आचार्य भगवंत कहते हैं कि यदि ऐसा ही है तो वीतराग और विद्वान् मुनियों को भी कर्म बंध होना चाहिये, क्योंकि वे भी अपने सुख और दुःख में निमित्त होते हैं, अतः यह विवक्षा भी स्याद्वाद्वादियों को एकांततः स्वीकृत नहीं है ।।

इस पर प्रतिपक्ष आचार्य भगवंत से प्रश्न करता है कि फिर पाप और पुण्य के बंध का स्याद्वाद्वादियों के यहाँ कहा गया रहस्य क्या है, कृपया आप ही बतलाइये ?

तब आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि :-

स्व और पर में होने वाला सुख और दुःख यदि विशुद्धि का अंग है, तो पुण्य का और यदि संक्लेश का अंग है, तो पाप का बंध होता है ।। यदि स्व-परस्थ सुख अथवा दुःख विशुद्धि अथवा संक्लेश का कारण नहीं है, तो वह पाप अथवा पुण्य बंध का कारण नहीं है ।।

इसी विषय को मैथुन शब्द से श्रीमद् भट्टाकलंक देव भी कह रहे हैं :-

(१) यदि दो द्रव्यों का संयोग ही मैथुन शब्द से कहा जायेगा, तब तो उदासीन भाव से स्थित राग रहित (स्त्री वेद अथवा पुरुष वेद के तीव्रोदय से रहित) स्त्री-पुरुष का संयोग अथवा उपलक्षण से एक हाथ की दूरी पर स्थित व कुछ अंगुलियो के फासले से मुनिराज की अंजुलि में आहार का ग्रास रखने को तत्पर स्त्री अथवा आर्यिका-दीक्षा देने को प्रस्तुत सुपात्रा के समीप स्थित आचार्य भगवंत मात्र ही नहीं, अपितु आत्मा और शरीर का मेल भी मैथुन ही कहलायेगा, क्योंकि दो द्रव्यो के सयोग मात्र को यहाँ मैथुन कहा गया है और इस प्रकार पंचम गुणस्थान की सप्तम प्रतिमा से ही नही, अपितु ब्रह्मचर्य व्रत का तो सर्व कालिक अभाव सिद्ध हो जायेगा, अतः यह सूत्र स्याद्वादवादियों को एकांततः स्वीकृत नहीं है ।।

(२) यदि दो द्रव्यों का कर्म ही मैथुन शब्द से कहा जायेगा, तब तो वंदना आदि क्रिया में प्रवृत्त स्त्री-पुरुष के कर्म अथवा उपलक्षण न्यायानुसार एक हाथ की दूरी पर स्थित व कुछ अंगुलियों के फासले से मुनिराज को आहारदान करने की क्रिया में रत स्त्री व आहार ग्रहण कर रहे मुनिराज अथवा आर्यिका दीक्षा देने को प्रस्तुत सुपात्रा के समीप स्थित दीक्षा संस्कार को संपन्न करते आचार्य भगवंत को तो दूर रखो, किन्तु आत्मा और शरीर के संयोग से होने वाली सभी क्रियाएँ मैथुन इस संज्ञा को प्राप्त हो जायेंगी, क्योंकि दो अर्थात् प्रथम मंगल माना गया है अथवा कहा गया है ।।

(३) इसलिये दो द्रव्यों का संयोग अथवा दो द्रव्यों का कर्म नहीं, अपितु मैथुन शब्द का अर्थ स्याद्वादवादियों के मत में कुछ और ही होना चाहिये ॥

वह अन्य अर्थ क्या है ? इस प्रकार प्रश्न करने पर आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि :-

चारित्रमोहनीय (स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद अथवा नपुंसकवेद) कर्म के तीव्रोदय से प्रमत्त हुए स्त्री-पुरुष-नपुंसकों के संयोग अथवा कर्म को यहाँ मैथुन शब्द से कहा गया है ॥ यह तीव्रोदय यदि मैथुन के इन ५ भेदों (काय-प्रवीचार, स्पर्श-प्रवीचार, रूप- प्रवीचार, शब्द प्रवीचार और मन- प्रवीचार) में से किसी एक अथवा उस एक के भी किसी उत्तर भेद के आश्रय से द्रव्य व भाव से दोनों से अथवा भाव मात्र से भी प्रवृत्त रहा है, तब भी वह विवक्षानुसार मैथुन ही है, मैथुन से अन्य कुछ भी नहीं, जैसे कि अनंगक्रीड़ा ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि प्रव्रजित स्त्री व पुरुष का संयोग अथवा उनमें पाई जाने वाली नमस्कारादि क्रियाएँ, चूँकि चारित्र मोह (स्त्री वेद आदि) के तीव्रोदय से नहीं हैं, इसलिये उसे अब्रह्म/कुशील नहीं कह सकते ॥

उन्हें जो अब्रह्म/कुशील कहता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता है ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि चारित्रमोहोदय (स्त्री वेद के तीव्रोदय) से रहित अप्रमत्त आर्यिका माताओं का चारित्रमोहोदय (पुंवेद के तीव्रोदय) से रहित अप्रमत्त आचार्य भगवंतों के चरणों का स्पर्श करना दोष का कारण नहीं है ॥

इसी विधान द्वारा स्त्रियों द्वारा किया जाने वाला जिनाभिषेक भी आगमोक्त विधि सिद्ध होता है ॥

मात्र जिनाभिषेक ही नहीं, अपितु आहारदान को तत्पर स्त्रियाँ भी आगमानुसार क्रिया करती ठहरती हैं ॥

मात्र आहारदान को तत्पर स्त्रियाँ ही नहीं, अपितु आर्यिका-दीक्षा देने के सम्मुख आचार्य भगवंत की क्रिया भी आगमोक्त क्रिया ठहरेगी ॥

इसी न्यायानुसार पिता-पुत्री का एकत्रित एक ही सवारी की एक ही सीट पर बैठना निर्दोष सिद्ध होगा ॥

इसी न्यायानुसार भाई-बहन की संयुक्त हो खेलना-कूदना व ऐसी ही अन्य चेष्टाएँ निर्दोष सिद्ध होंगी ॥

इसी न्यायानुसार हम माता और पुत्र के संबंधों में निहित पवित्रता की सिद्धि कर पायेंगे, अन्यथा उपर्युक्त समस्त क्रियाओं को मैथुन अर्थात् अब्रह्म ही कहना होगा, अब्रह्म

के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं ॥

जो इसे नहीं मानता है, वह स्याद्वादी नहीं है और जो स्याद्वादी नहीं है वह जिनेन्द्र भगवान के मत का नहीं है ॥

आइये अब इसी विषय को श्री मूलाचारजी से कहें, सुनिये :-

(अ) श्री समयसाराधिकार, गाथा ९९८-९९९

इन दो गाथाओं में अब्रह्म के १० जग प्रसिद्ध हेतु दर्शाये गये हैं व गाथा १००० में कहा गया है कि जो इन १० प्रकार के अब्रह्म का परिहार करता है, वह दृढ़ ब्रह्मचर्यव्रती होता है ॥

आइये, पता करें कि आर्यिका माताओं द्वारा किये गये आचार्य भगवंत के चरण स्पर्श, क्या किसी भी विवक्षा से अब्रह्म के १० भेदों में से किसी एक भेद का उत्तर भेद ही सही, किन्तु ठहरता है क्या ?

अब्रह्म के १० भेद :-

१) विपुल आहार करना, २) काय का शोधन करना, ३) गंध-माला आदि धारण करना, ४) गीत-वादित्र सुनना, ५) शयन स्थान का शोधन, ६) स्त्री संसर्ग, ७) धन संग्रह, ८) पूर्व रति स्मरण, ९) इन्द्रिय जन्य विषयों में अनुराग, १०) पौष्टिक रसों का सेवन ॥

निश्चित ही इन १० प्रकार के अब्रह्मों में से हमारा प्रकृत विषय **छट्ठे स्त्री संसर्ग** में संगर्भित हो सकता है, अन्य किसी में नहीं ॥

यहाँ स्त्री संसर्ग शब्द की विवेचना करते हुए सर्व प्रथम हमें पूर्व में **मैथुनमब्रह्म** सूत्र के व्याख्यान में श्रीमद् भट्टाकलंक द्वारा उठाई गई समस्त बाधाओं का स्मरण करना होगा ॥

बाधाओं का स्मरण करते हुए विचार करना चाहिये कि स्त्री संसर्ग शब्द से क्या आचार्य भगवंत को स्त्री के साथ सन्निकटता मात्र इष्ट है अथवा स्त्री संसर्ग के पूर्व भी प्रमत्तयोगात् पद का अनुवर्तन करके व्याख्यान करना इष्ट होगा ?

यदि प्रमत्त योग रहित स्त्री संसर्ग/सन्निकटता मात्र अर्थ ग्रहण किया जायेगा, तब तो आहारदान आदि लोकोत्तर पवित्र व्यवहार क्रियाएँ एवं माता-पुत्र आदि संबंधों में पाया जाने वाला पवित्र लोक व्यवहार, दोनों ही पाप कर्म/क्रियाएँ सिद्ध हो जायेंगी ॥

इतना ही नहीं, अपितु स्त्री-परिषह-जय भी जिनागम में नहीं बन सकेगा, क्योंकि स्त्री सन्निकटता व स्पर्श पूर्वक ही स्त्री परिषह होता है, अभाव करके नहीं ॥

इस प्रकार तो स्त्री सन्निकटता मात्र से ही यह मुनि अब्रह्मचारी/कुशील सेवक सिद्ध हो जायेगा ॥

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा ॥ हो क्यों नहीं जायेगा ?

व जब मुनि सन्निकटता/स्पर्श मात्र से ही कुशील सेवक हो गया, तब फिर वह स्त्री परिषहजयी घोर ब्रह्मचर्यगुणधारी महामुनि कहाँ रहा, वह तो संयम गुणस्थान से पतित हो असंयमी हो गया ॥

नहीं हो गया क्या ?

हो ही गया ॥ हो क्यों नहीं गया ?

अत: स्त्री संसर्ग पद से स्त्रियों से सन्निकटता मात्र अर्थ लिया ही नहीं जा सकता ॥

तब कौनसा अर्थ लिया जाना चाहिये ?

निश्चित ही निर्दोष अर्थ की सिद्धि के लिये हमें टीकाकार महोदय की शरण लेनी होगी, बगैर उनकी शरण ग्रहण किये समीचीन अर्थापत्ती की संभावना ही नहीं ॥

अतः आइये, चलें व ग्रहण करें टीकाकार महोदय की शरण ॥

श्रीमद् टीकाकार महोदय स्त्री संसर्ग शब्द से ग्रहण करने योग्य अर्थ की प्ररूपणा करते हुए कहते हैं कि :-

स्त्री संसर्गः रागोत्कटवनिताभिः कटाक्षनिरीक्षणपराभिरुपप्लवशीलाभिः संपर्कः क्रीडनं षष्ठमब्रह्म ॥

अर्थ : राग (स्त्रीवेद) से उत्कट भाव को धारण करती हई, (स्त्रीवेद के तीव्रोदय से युक्त) कटाक्ष से अवलोकन करती हुई, एवं चित्त में चंचलता (पुंवेद के तीव्रोदय को) उत्पन्न करती हुई स्त्रियों के साथ संपर्क रखना, उनके साथ क्रीड़ा करना छठा अब्रह्म है ॥

यहाँ तीन प्रकार की स्त्रियों का अथवा जिसमें तीनों अथवा दो अथवा एक कुशील परिणाम हैं, ऐसी स्त्री का स्त्रीसंसर्ग पद से त्याग करवाया गया है :-

(१) राग अर्थात् स्त्रीवेद के तीव्रोदय से उत्कट (मैथुन) भाव को धारण करती हुई ॥

(२) (स्त्रीवेद के तीव्रोदय से युक्त उत्कट मैथुन परिणामों को लक्षित करने वाले) कटाक्षों से अवलोकन करती हुई ॥

(३) चित्त में चंचलता (पुंवेद के तीव्रोदय को व उसके आश्रय से उत्कट मैथुन परिणामों को) उत्पन्न करती हुई ॥

इन तीन प्रकार की स्त्रियों का संसर्ग व उनके साथ किसी भी प्रकार की क्रीड़ा करने को यहाँ स्त्री संसर्ग शब्द से कहा गया है व इन्हीं का त्याग करवाया गया है ॥

उपर्युक्त तीनों प्रकार की स्त्रियाँ उपलक्षण न्याय से कही गई हैं ॥

उपर्युक्त तीन प्रकार की स्त्रियों के आश्रय से स्याद्वाद्वादियों ने महाव्रतधारियों से इन तीन प्रकार की स्त्रियों को आदि लेकर उत्कट मैथुन परिणाम से युक्त व उत्कट मैथुन परिणामों को उत्पन्न कराने वाली समस्त सचित्त, अचित्त व मिश्र स्त्रियों का त्याग करवाया है व कहा है कि जो इन स्त्रियों का परिहार करता है, उसके ही दृढ़ब्रह्मचर्यव्रत होता है, अन्य के नहीं ।।

अर्थात् स्त्री मात्र के संसर्ग का अभाव यहाँ नहीं कहा गया है, अपितु कहा गया है कि स्त्रीवेद के तीव्रोदय से युक्त उत्कट मैथुन परिणामों से परिणमित स्त्रियों का परिहार करे ।।

साथ ही अनर्पित न्यायानुसार कहा गया है कि यदि उत्कट मैथुन परिणामों से युक्त व उत्कट मैथुन परिणामों को उत्पन्न कराने वाली स्त्रियाँ बलात् संसर्ग करें, तो अपने चित्त में उत्कट मैथुन परिणामों को उत्पन्न न होने देना भी स्त्री संसर्ग परिहार है ।।

निश्चित ही स्त्री परिषह-जयी उत्कट मैथुन परिणामों से युक्त व उत्कट मैथुन परिणामों को उत्पन्न कराने वाली स्त्रियों के संसर्ग में होने पर भी स्त्री-संसर्ग परिहार बुद्धिवाला होने से ही मैथुनपरिषहजयी अघोरब्रह्मचारी अर्थ में तीनों लोकों के स्याद्वाद्वादियों द्वारा अर्चित, पूजित, वंदनीय व नमस्करणीय होता है ।।

इस स्थान पर विषय के सरलीकरण हेतु जंबुस्वामी की कथा का स्मरण कर अर्थ करना चाहिये कि स्त्री-संसर्ग मात्र अब्रह्म नहीं है, स्त्री-संसर्ग मात्र को जो अब्रह्म निरूपित करता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता है ।।

(ब) इसी विषय को पुनः श्रीमद् मूलाचारकारजी गाथा १०३०, शीलगुणाधिकार में पुनः कहते हैं :-

''स्त्री संसर्गः''

इसे परिभाषित करते हुए टीकाकार महोदय कहते हैं कि :-

स्त्रीसंसर्गः वनिताभिः सहातीव प्रणयः रागाहतस्य ।।

अर्थ : राग (पुंवेद) से पीड़ित होकर स्त्रियों के साथ प्रणय अर्थात् प्रीति, मैत्री, घनिष्ठता करना स्त्री संसर्ग है ।।

निश्चित ही पूर्व की गाथा में टीकाकार महोदय द्वारा किया गया स्त्री संसर्ग पद का अर्थ व यहाँ किया गया अर्थ, दोनों अर्थों में शब्द भेद है, अर्थ भेद नहीं ।।

पूर्व की गाथा में दो अर्थ प्ररूपित किये गये थे ।। प्रथम अर्थ परिचय में आने वाली कुत्सित परिणामों वाली स्त्री की अपेक्षा से कहा गया था, तो द्वितीय अर्थ उनके संसर्ग से अपने में उत्पन्न कुत्सित परिणामों की अपेक्षा से कहा गया था ।।

यहाँ इस गाथा में पूर्व की गाथा में किये गये अर्थ को और अधिक परिष्कृत करता

हुआ तृतीय अर्थ कहा गया है ॥

तृतीय अर्थ करते हुए कहा गया है कि कुत्सित परिणामों से युक्त होकर अर्थात् किसी कारण से यदि परिणाम कुत्सित हो रहे हों, तो उन कुत्सित परिणामों का उपशमन न करके, कुत्सित परिणामों के वशीभूत हो स्त्रियों के साथ प्रीति, मैत्री व घनिष्ठता करना ही स्त्री संसर्ग है ॥

कुत्सित परिणामों से रहित अथवा कुत्सित परिणामों के उपशामक को दोषी नहीं कहा है ॥

स्त्री-परिषह-जयी उत्कट मैथुन परिणामों से युक्त व उत्कट मैथुन परिणामों को उत्पन्न कराने वाली स्त्रियों के संसर्ग में आने पर, उनसे प्रीति, मैत्री व घनिष्ठता के परिणामों का, जिसे कि गाथा में प्रणय शब्द से कहा गया है, परिहार करके ही जगत् पूज्यपने को प्राप्त करता है ॥

टीकाकार महोदय द्वारा स्त्री संसर्ग के पूर्व प्रयुक्त किया गया राग ही श्री राजवार्तिकजी में प्रमत्तयोगाद् पद से कहा गया है ॥

अर्थात् दोनों ही ग्रंथों में शब्द भेद है, अर्थ भेद नहीं ॥ अर्थ एक ही है।

और सरल करके यदि कहें, तो मैथुन के ५ भेदों (कायप्रवीचार, स्पर्शप्रवीचार, रूपप्रवीचार, शब्दप्रवीचार और मनप्रवीचार) को ही यहाँ स्त्री-संसर्ग शब्द से कहा गया है व ब्रह्मचर्य व्रत में स्त्री-संसर्ग पद के द्वारा इन्हीं पाँचों (कायप्रवीचार, स्पर्श प्रवीचार, रूपप्रवीचार, शब्दप्रवीचार और मनप्रवीचार) का त्याग करवाया गया है, स्त्री मात्र का नहीं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि श्री मूलाचारजी का यह अर्थ श्री सर्वार्थसिद्धिजी व श्री राजवार्तिकजी का अनुसरण करते हुए न सिर्फ उन्हीं के अनुसार गमन कर रहा है, अपितु उन्हीं के अर्थ को पुष्ट भी कर रहा है ॥

यही विषय श्री सर्वार्थसिद्धिजी से :-

यद्यपि इस अर्थ को पूर्व में श्री राजवार्तिकजी से कहा जा चुका है, किन्तु श्री सर्वार्थसिद्धि से नहीं कहा गया था, अतः अब श्री सर्वार्थसिद्धि से कहते हैं ॥

श्री सर्वार्थसिद्धिजी, अध्याय ७, सूत्र १६ की टीका :-

मैथुनमब्रह्म सूत्र की टीका करते हुए आचार्य भगवंत कहते हैं कि :-

अपि च प्रमत्तयोगात् इत्युनवर्तते तेन स्त्रीपुंसमिथुनविषयं रतिसुखार्थं चेष्टितं मैथुनमिति गृह्यते, न सर्वम् ॥

अर्थ : चूंकि यहाँ प्रमत्तयोगात् इस पद की अनुवृत्ति है, इसलिये रति अर्थात् कामजन्य सुख के लिये जो स्त्री-पुरुष की चेष्टा होती है, सिर्फ उसे ही यहाँ मैथुन रूप से ग्रहण किया गया है, सभी चेष्टाओं को नहीं ॥

अर्थात् आचार्य भगवंत स्वयं ही कह रहे हैं कि सिर्फ और सिर्फ कामजन्य सुख के लिये स्त्री-पुरुष की जो चेष्टाएँ होती हैं, वे ही यहाँ ग्रहण की गई है, उन चेष्टाओं से अन्य किसी भी चेष्टा को नहीं ॥

वे अन्य चेष्टाएँ कौन- कौन सी हैं ? इस प्रकार प्रश्न होने पर उत्तर पारिशेष न्याय से स्वयं ही प्राप्त हो जाता है कि :-

स्त्री-पुरुष की अवशेष जिनबिंबाभिषेक, आहारदान, आर्यिका-दीक्षादि लोकोत्तर व माता-पुत्र, पिता-पुत्री आदि लौकिक पवित्र संबंध संबंधि चेष्टाएँ ही अन्य चेष्टाएँ हैं, इन चेष्टाओं को मैथुन संज्ञा नहीं दी जा सकती ॥

निष्कर्ष :-

निश्चित ही पाठक वर्ग को विषय सुस्पष्ट हो गया होगा कि :-

अब्रह्म की दुहाई देकर आर्यिका माताओं द्वारा आचार्य भगवंतों के चरणों के किये गये स्पर्श को अनाचार उद्घोषित करने वाले विद्वानों में स्याद्वाद समझ का अभाव है ॥

चूँकि स्याद्वाद समझ का ही अभाव है, अत स्वभाव से ही उनका मत जिनमत के बाह्य है, जिनमत के आश्रय से नहीं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अब्रह्म की दुहाई देकर न तो आर्यिका माताओं द्वारा आचार्य भगवंतों के चरणों का किया गया स्पर्श अनाचार/कुशील सिद्ध किया जा सकता है और न ही आचार्य भगवंतों द्वारा दी जा रही आर्यिका दीक्षाओं को ही ॥

जो इन्हें कुशील निरूपित करता है, उसे जिनमत व जिनागम का ज्ञान ही नहीं है ॥

विषय की समीचीन इति के लिये उत्तम यह भी होगा कि हम उत्तम ब्रह्मचर्य की परिभाषा भी पाठकों के सम्मुख रखें :-

देखिये (***श्री सर्वार्थसिद्धिजी, अध्याय ९, सूत्र ६की टीका***) :

अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्यं परिपूर्णमवतिष्ठते ॥

अर्थ : (प्रमत्त योग के वशीभूत हो) अनुभूत स्त्री का स्मरण न करने से, स्त्री विषयक कथा के सुनने का त्याग करने से और स्त्री से संसक्त अर्थात् सट कर[१] सोने व बैठने का

---

१. संस्कृत हिंदी कोश-वामन शिवराम आप्टे, पृष्ठ-१०५०

त्याग करने से परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है ।। (अनुवाद-पं. फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री)

यही विषय और अधिक परिष्कृत होकर इसी संदर्भ में श्री राजवार्तिकजी में भी है ।।

इस विषय में प्रिय पाठको, क्या अब और भी कुछ कहने को शेष है ?

नहीं न ?

श्री मूलाचारजी में वर्णित ५,६,७ हाथ की दूरी का विधान विवक्षाधीन कथन है, सर्वथा एकांत कथन नहीं ।।

इस वचन का एकांत आग्रह कर डॉ. साहब द्वारा श्री पद्मपुराणकारजी को मिथ्योपदेशक कहना अक्षम्य अपराध है ।। यदि हम अन्य किसी दण्ड का प्रावधान नहीं कर सकते हैं, तब भी हा ! मा !! धिक् !!! इन तीन दण्डों का प्रावधान तो कर ही सकते हैं ।।

।। इत्यलम् ।।



बीसपंथ के पक्ष में श्रीमद्धवलाकारजी

चरू-बलि-पुप्फ-फल-गंध-धूव-दीवादीही सगभत्तिपगासो अच्चणा णाम। एदाहि सह अइंदधव-कप्परूक्ख-महामह-सव्वदोभद्दादिमहिमाविहाणं पूजा णाम।

अर्थ - चरू, बलि, पुष्प, फल, गन्ध, दीप, धूप, आदिकों से अपनी भक्ति प्रकाशित करने का नाम अर्चना है। इनके साथ ऐन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष, महामह और सर्वतोभद्र इत्यादि महिमा विधान को पूजा कहते हैं।

-श्रीधवलाजी, पुस्तक - ८, बधस्वामित्वविचय, पेज नं. ९२

□ ५,६,७ हाथ की दूरी का एकांत आग्रह व हास्यास्पद दूषण

वैसे ५, ६, ७ हाथ की दूरी का एकांत आग्रह एक हास्यास्पद दूषण को भी जन्म देता है, सुनिये :-

यहाँ कहा गया है कि आर्यिका माताएं ७ हाथ की दूरी से साधु परमेष्ठी की वंदना करें।।

वंदना कृतिकर्म पूर्वक कही गई है।।

कृतिकर्म प्रदक्षिणा, गवासन से नमस्कार आदि पूर्वक कही गई है ।।

यहाँ प्रश्न यह है कि यदि ७ हाथ की दूरी से वंदना प्रदक्षिणा पूर्वक कही गई है, तो मुनिराज को ७ हाथ की दूरी से प्रदक्षिणा के लिये कितने वर्गफीट व्यास वाले कमरे में स्थित होना होगा ?

गणित अनुसार इसका हल इस प्रकार बनेगा :

दो हाथ पद्मासन से विराजमान स्वयं साधु परमेष्ठी को चाहिये ।।

दो हाथ स्वयं आर्यिका माता को गवासन से नमस्कार, आवर्तादि के लिये ।।

प्रदक्षिणा के लिये इन दोनों के मध्य में ७-७ हाथ चारों ओर से अर्थात् १४ हाथ का वर्गाकार व्यास चाहिये ।।

इस प्रकार कुल वर्गाकार व्यास चाहिये १४+४ = १८ हाथ।

एक हाथ अंदाजन १.५ फुट का होता है ।।

इस गणित के अनुसार १८ हाथ का अर्थ हुआ १८ X १.५ = २७ फुट ।।

इसके वर्ग फुट हो जायेंगे = २७ X २७ = ७२९ वर्ग फुट ।।

अर्थात् एक आर्यिका माता द्वारा एक मुनिराज की वंदनाके लिये न्यूनतम ७२९ वर्ग फुट व्यास वाला हॉल चाहिये, जिसमें कि एक उच्च मध्यमवर्गीय परिवार का दो बेड रूम, एक हॉल, एक रसोई घर व दो लेट-बॉथ वाला फ्लेट निर्मित हो जाता है ।।

तात्पर्य डॉ. साहब द्वारा समझाये जा रहे सूत्रानुसार तो ७२९ वर्ग फुट व्यास वाले हॉल में यदि मुनिराज विराजमान हों, तभी आर्यिका माताएं उनकी वंदनार्थ जा सकती हैं, वर्ना उन्हें गणिनी आर्यिका माता के साथ होने पर भी मुनिराज के कक्ष में प्रवेश का अधिकार नहीं होगा ।।

होगा क्या ?

नहीं ही होगा न ?

है न हास्यापद प्ररूपणा ?

किन्तु यदि श्री मूलाचारजी के उपदेश का एकांत आग्रह करोगे, तो प्ररूपणा तो ऐसे ही करनी होगी, इसके अलावा अन्य किसी प्रकार से नहीं ॥

अतः उपर्युक्त दूषण से परिहारार्थ श्री मूलाचारजी में वर्णित ५,६,७ हाथ की दूरी का विधान विवक्षाधीन कथन है, सर्वथा एकांत नहीं, यही कथन करना होगा ॥

अंतिम निष्कर्ष :-

प्रश्न : इस कथन में अनेकांत क्या है ?

उत्तर : निंदा दो प्रकार की होती है, (१) व्यवहार, (२) परमार्थ ॥

अंतिम निष्कर्ष हेतु आइये, इसे एक बार पुनः आचार्य भगवंत के ही श्रीमुख से सुनें **(श्री मूलाचारजी, समयसार अधिकार, गाथा १५५) :-**

होदिं दुगंछा दुविहा ववहारादो तधा य परमट्ठे ।
पयदेण य परमट्ठे ववहारेण य तहा पच्छा ॥

अर्थ :- (गाथा १५४ में आचार्य भगवंत ने आर्यिकाओं की वसतिका का मुनिराजों से त्याग करवाया था ॥ टीकाकार महोदय ने आचार्य भगवंत से पूछा कि क्यों ?)

इस सभावित प्रश्न को चित्त में रख आचार्य भगवंत ने इस गाथा में उत्तर दिया कि :-

गाथार्थ :- निंदा दो प्रकार से होती है, व्यवहार से व परमार्थ से ॥ (आर्यिका माताओं के संसर्ग से प्रथम) व्यवहार निंदा (लोकापवाद रूप होती है व पश्चात्) परमार्थ निंदा (व्रत भंग रूप) यत्न पूर्वक (अर्थात् प्रयत्न करने पर) होती है, (स्वयंमेव नहीं) ॥

इस उपदेश को सुन पुनः शंका उत्पन्न हुई कि इससे तो आर्यिका माताओं व स्त्रियों का सर्वथा त्याग कर देना ही उत्तम है ?

इस पर आचार्य भगवंत कहते हैं कि इतना भयभीत होने की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि :- (गाथा १५६, अनगार भावना अधिकार) :-

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि ।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा कुंभो ॥१५६ ॥

गाथार्थ : संसर्ग से बोधि वृद्धि को प्राप्त होती है और नष्ट भी हो जाती है ॥ जैसे कुंभ का जल (कमल के) संसर्ग विशेष से सुगंध युक्त हो जाता है ॥

अर्थात् स्त्रियों के साथ किया गया संसर्ग नाश का ही कारण होता है, ऐसा नहीं है, अपितु वह संसर्ग/संपर्क बोधि-वृद्धि का भी कारण है ॥ बोधि-वृद्धि का भी कारण है,

इसलिये संसर्ग/ सपर्क के सर्वथा त्याग का उपदेश आचार्य भगवंत ने नही दिया ।।

आचार्य भगवंत का स्पष्ट उपदेश है कि संसर्ग/संपर्क के विधान/ अनुशासन का बोध रखते हुए, तदनुसार यदि आर्यिका माताओं के संसर्ग/संपर्क में रहोगे, तो यह संसर्ग/संपर्क बोधि-वृद्धि का कारण हो जायेगा और यदि संसर्ग/ संपर्क के विधान/ अनुशासन का उल्लंघन करके संसर्ग/संपर्क करोगे, तो निश्चित ही पतन का कारण बनेगा।।

अतः संसर्ग/संपर्क ही नहीं करना, ऐसा नहीं, अपितु संसर्ग/संपर्क के विधान/ अनुशासन का बोध रखते हुए, तदनुसार संसर्ग/संपर्क में रहना, अन्यथा नहीं, क्योंकि स्त्रियाँ पुरुष वेद की उदीरणा की बाह्य निमित्त हैं।।

"चूँकि स्त्रियाँ पुरुष वेद की उदीरणा की बाह्य निमित्त हैं, अतः यदि इस विषय में किंचित् भी शिथिल हुए, तो सिवाय ब्रह्म नाश के और कोई फल मिलने वाला नहीं है ।।"

इसलिये संसर्ग/संपर्क के विधान/ अनुशासन का बोध रखते हुए, तदनुसार यदि संसर्ग/संपर्क में रहोगे, तो यह संसर्ग/संपर्क बोधि-वृद्धि का कारण हो जायेगा और यदि संसर्ग/ संपर्क के विधान/ अनुशासन का उल्लंघन करके संसर्ग/संपर्क करोगे, तो निश्चित ही पतन का कारण बनेगा ।।

अथवा

संसर्ग/ संपर्क के विधान/ अनुशासन का उल्लंघन करके अथवा विस्मृत करके संसर्ग/ संपर्क करोगे, तो यह संसर्ग/संपर्क यदि पतन का कारण न भी बना, तब भी अपवाद का कारण तो बनेगा ही बनेगा ।।

इसलिये सदैव व्यवहार व परमार्थ निंदाओं से अंतरंग भय रखते हुए ही स्त्री ससर्ग के सन्मुख होना, अन्यथा नहीं ।।

इसमें भी पुनः स्मरण रखना कि व्यवहार निंदा पराधीन होती है और परमार्थ निंदा व्रत भंग रूप स्वाधीन होती है ।।

इस परमार्थ निंदा में आप अपने बचाव के लिये अन्य किसी पर आरोप नहीं दे सकते कि उसके कारण स्खिलित हुआ ।। इस स्खलन का आरोप सिर्फ और सिर्फ जो स्खलित हुआ है, उसी पर आता है ।।

मुनिपद नियमतः इन दोनों निंदाओं से सर्वथा व सर्वदेश निर्मल होना चाहिये ।।

इन दो की संभावना जहाँ हो वहाँ ५, ६, ७ हाथ अथवा जहाँ जितने हाथ की संभावना हो, उतने हाथ की दूरी के विधान का कठोरता से पालन करना चाहिये, यह अनेकांत है ।।

अर्थात् ऐसे समय वंदनादि का निमित्त बने, तो सार्वजनिक स्थलों पर ही उनकी वंदना आदि के लिये गमन करना, अन्यथा नही ।।

इस सत्य को सदैव स्मरण में रखना चाहिये कि चारित्र धारियों के लिये २८ मूलगुणों में से ग्रहण किये गये महाव्रत, कही गई आवश्यक क्रियाओं (वंदना, स्तवन, कृतिकर्म आदि) की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ हैं ॥

अतः महाव्रतों को दोनों ही निंदाओं से निर्दोष बनाये रखते हुए चारित्रधारियों को वंदनादि में प्रवृत्त होना चाहिये, निंदाधीन होकर नहीं ॥

इसमें भी पुनः स्त्रियों को चारित्र वृद्ध अथवा गूढ़ चारित्रधारी आचार्य भगवंतों के ही चरण स्पर्श को प्रवृत्त होना चाहिये, सभी के नहीं ॥

इस विषय में दोनों ही मूढ़ हैं, प्रथम तो वे, जिन्होंने कि उपर्युक्त विधान का मर्म नहीं समझा व जिस किसीके चरण-स्पर्श को प्रवृत्त हुए, वे निंदाधीन हुए , और द्वितीय वे, जो कि मूढ़बुद्धि हो चरण-स्पर्श क्रिया से ही सर्वदेश विमुख हो गये ॥

मात्र इतना ही नहीं, अपितु ये तो स्व-वचन बाधितादि तर्कों के आश्रय से स्त्री अभिषेकादि के भी विरोधी हो गये ॥

स्याद्वाद कौशल्य इन दोनों से/इन दोनों में विशेष हैं ॥

मैं और मेरे भीतर का भय :-

वैसे श्रीमद् मूलाचारकारजी की ही तरह इस विषय में मैं भी भयभीत हूँ ॥

क्यों ?

क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरी इस प्ररूपणा का अनुचित लाभ पार्श्वस्थ[१] आदि पाँच प्रकार के मुनि, भोले श्रावकों के मध्य अपने कुशील सेवन को समीचीन सिद्ध करने में कर सकते हैं ॥

यदि डॉ. साहब आदि अपनी मंदबुद्धि के आश्रय से श्री पद्मपुराणजी आदि को जैनाभाषी कहने का दुःसाहस नहीं करते, तो संभवतः इस विषय पर हम मौन ही धारण करते ॥

किन्तु डॉ. साहब आदि द्वारा समीचीन मार्ग की मिथ्या प्ररूपणा ने बाध्य किया कि समीचीन प्ररूपणा का पुरुषार्थ किया जाये, क्योंकि नीति कहती है कि तस्करों द्वारा शस्त्रों के किये गये दुरुपयोग की दुहाई दे, क्षत्रियवंशों द्वारा शस्त्र निर्माण, धारण व प्रयोग करने की शिक्षा का लोप नहीं किया जा सकता, वह तो समीचीन था, है और रहेगा ॥

॥ इत्यलम् ॥



---

१. पासत्थो य कुसीलो संसत्तोसण्ण मिगचरित्तो य । दंसणणाणचरित्ते अणिउत्ता मंदसंवेगा ॥
अर्थ : पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपसंज्ञक और मृगचरित्र ये पाँचों दर्शन, ज्ञान, चारित्र में नियुक्त नहीं हैं एवं मंद संवेग वाले हैं ॥

❑ इस लेख अर्थात् चिंतन का मुख्य कारण परमपूज्य आचार्य विद्यासागरजी

वैसे इन (स्नयाभिषेकादि) लेखों की व्युत्पत्ति का मुख्य कारण हम पाठकों को बतलाना चाहते हैं ॥

मूल कारण अशोक नगर है ॥

अशोक नगर (म.प्र.) में संभवतः सन् १९९५ के आसपास किन्हीं आर्यिका माता का ससंघ चतुर्मास हुआ था ॥

उस चतुर्मास के मध्य एक अपवाद परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी को इंगित कर प्रसारित हुआ था कि उनके शील में दूषण है ॥

पूछा गया कि कैसे ?

तब उत्तर प्राप्त हुआ था कि स्त्रियों के हाथ से आहार लेते हैं, इसलिये ॥

पुनः पूछा गया कि स्त्रियों के हाथ से आहार लेने से शील में दूषण कहाँ से आ गया ?

तब प्रथम उत्तर १३ पंथ परंपरा के आश्रय से दिया गया कि जब स्त्रियाँ एक हाथ की दूरी से भगवान के बिंबों का अभिषेक नहीं कर सकती, तब एक ही हाथ की दूरी व अंजुलि से कुछ अंगुलियों के फासले से आचार्य भगवंत को जलादि कैसे दे सकती हैं ?

परंपरा की दृष्टि से प्रश्न न सिर्फ विचारणीय, अपितु शील दोषोत्पादक भी था ॥

इस चिंतन की अपेक्षा से आचार्य परमेष्ठी में शील दूषण की उत्पत्ति से इनकार नही किया जा सकता ॥

दूसरा उत्तर श्री मूलाचारजी की इसी गाथा के आश्रय से दिया गया था कि जब आर्यिका माताओं को ही ५ हाथ की दूरी से वंदना का विधान है, तब एक हाथ की दूरी से आहार ग्रहण करने का प्रावधान किस प्रकार मान्य कर लिया गया ?

५ हाथ की दूरी के विधान के चलते क्या एक हाथ की दूरी के विधान को सम्यक् कहा जा सकता है ?

नहीं न ?

इसलिये परंपरा व आगम, दोनों ही विवक्षाओं से आचार्य भगवंत द्वारा स्त्रियों से आहार लेना नियम से शील दोषोत्पादक ही था, इससे अन्य कुछ भी नहीं ॥

निश्चित ही इस प्ररूपणा में शंका को कोई स्थान नहीं था ॥

पाठक वर्ग कृपया स्मरण रखें कि अशोक नगर में अपवाद यद्यपि परमपूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी का किया गया था, किंतु यह अपवाद अकेले आचार्य विद्यासागर जी का न होकर, सम्पूर्ण दिगम्बर जैन आम्नाय में दीक्षित साधु समाज का था, क्योंकि सम्पूर्ण दिगम्बर जैन आम्नाय में दीक्षित साधु समाज, फिर वे १३ पंथी हो या २० पंथी, में स्त्रियों के हाथ से एक हाथ की दूरी व अंजुलि से कुछ अंगुलियों के फासले से आहार ग्रहण करने का आगम व परंपरा, दोनों से निषेध नहीं है, उनसे ग्रहण किया गया आहार दोष का कारण नहीं माना जाता, अतः उपर्युक्त दूषण दिगंबर जैन आम्नाय के सभी पंथों के आचार्यों, उपाध्यायों व साधु परमेष्ठियों में समान रूप से गमन करता है ॥

डॉ. साहब, संभवतः कानजी पंथियों द्वारा आचार्य भगवंतों के किये जा रहे इसी अपवाद से भयभीत थे ॥

उनके सम्मुख एक ओर तो आचार्य भगवंतों को आहारदान देती स्त्रियों के प्रथमानुयोग के उदाहरण थे, तो उसी समय दूसरी ओर ५, ६, ७ हाथ की दूरी का विधान करता श्री मूलाचारजी के आश्रय से प्रस्तुत किया गया आगम प्रमाण व इसी के साथ थी स्त्री-अभिषेक का कट्टर विरोध करती उनकी अपनी १३ पंथीय धारणा ॥

यह स्थिति ठीक २० पंथियों की स्थिति जैसी ही थी ॥

२० पंथियों के पास भी स्त्रियों द्वारा किये गये जिनाभिषेक व आचार्य भगवंतों के स्त्रियों द्वारा किये गये चरण स्पर्श के आगम प्रमाण तो थे, किन्तु उसी समय उस किये गये अभिषेक व चरण स्पर्श का खण्डनाभास उत्पन्न करता श्री मूलाचारजी का ५,६,७ हाथ की दूरी वाला विधान भी ॥

इसी विधान के आश्रय से डॉ. साहब आदि ने स्त्री अभिषेक व चरण स्पर्श को २० पंथियों का मिथ्याकृत्य कह, इसे जिनवाणी का अवर्णवाद घोषित कर दिया था व १३ पंथीय परंपरा की आगम पंथ के रूप में पुष्टि की थी ॥

अब यही प्रमाण व परंपरा उनके स्वयं के गले की हड्डी बन गई ॥

अब करें, तो क्या करें ?

इसी करें तो क्या करें की ऊहापोह में वे भी आदरणीय बैनाडाजी की तरह अनर्गल, असंगत व मिथ्या उपदेश का दुष्कृत्य कर बैठे, जिसकी कि हम मीमांसा कर रहे हैं ॥

यह दुष्कृत्य उनको स्वयं को बैनाडाजी की ही तरह स्व वचन बाधित करते हुए आचार्य भगवंतों में शीलदोषोत्पादक सिद्ध हुआ ॥

हमने इस विषय में विचार किया व पाया कि यदि हमें स्त्रियों द्वारा दिये जा रहे आहारदान

को आगमोक्त क्रिया सिद्ध करना है, जिसका कि स्पष्ट उपदेश परमागम में है, तो प्रथम बाधक कारण अर्थात् श्री मूलाचारजीगत ५, ६, ७ हाथ की दूरी के उपदेश को अनुभय वचन अर्थात् विवक्षा विशेष से निर्देशित विधान/वचन सिद्ध करना होगा ।।

उसे सिद्ध किये बगैर हम स्त्रियों द्वारा दिये जा रहे आहारदान को आगमोक्त क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते ।। उसके अभाव में प्रतिपक्ष के तर्क को समीचीन कहना ही कहना होगा कि जब स्त्रियाँ एक हाथ की दूरी से भगवान का अभिषेक नहीं कर सकती, तब एक ही हाथ की दूरी व अंजुलि से कुछ अंगुलियों के फासले से आचार्य भगवंत को जल, दुग्ध, रसादि की धारा कैसे दे सकती हैं ?

अर्थात् नहीं ही दे सकती ।।

अतः प्रथम श्री मूलाचारजी के वचनों को अनुभय अर्थात् अनैकान्तिक वचन सिद्ध करना होगा, अनैकान्तिक वचन सिद्धि के सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं ।।

इसीलिये हमने आचार्य भगवंतों में प्रतिपक्षियों द्वारा सिद्ध किये जा रहे शील दूषण से उन्हें मुक्त करने के लिये ही अब तक का यह उद्यम किया है ।।

इस विषय में की जा रही अब तक की प्ररूपणा को यदि आप पंथव्यामोहवशात समीचीन स्वीकार नहीं करते हैं, तो आपको बलात् कहना ही कहना होगा कि परमपूज्य १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज के शील में दूषण है ।।

और यदि आचार्य भगवंतों को शील दूषण से मुक्त करने के लिये पंथव्यामोह का त्याग करते हो, तब तो स्त्रियों द्वारा आचार्य भगवंतों को दिया जा रहा आहारदान मात्र ही आगमोक्त क्रिया है, इसकी सिद्धि नहीं होगी, अपितु स्त्री अभिषेक, आचार्य भगवंतों का स्त्रियों द्वारा किया गया चरण स्पर्श, वैयावृत्ति आदि लोकोत्तर परंपरया मोक्ष की प्राप्ति हेतु की जाने वाली क्रियाएँ भी समीचीन क्रियाएँ ही हैं, की भी सिद्धि हो जायेगी ।।

शंकाकार : क्या कहा आपने वैयावृत्ति ?

समाधान : जी हाँ ! वैयावृत्ति ।।

शंकाकार : तो क्या स्त्रियाँ भी मुनिराजों की वैयावृत्ति कर सकती हैं ?

समाधान : जी हाँ ! कर सकती हैं ।।

शंकाकार : कैसे ?

समाधान : इस विषय में चर्चा अगले शीर्षक के तहत करेंगे, अतः आइये, अगले शीर्षक की ओर चलें ।।

।। इत्यलम् ।।



❒ क्या स्त्रियाँ मुनिराजों की वैयावृत्ति कर सकती हैं ?

पिछली चर्चा में हमने कहा था कि :-

हमारे द्वारा स्त्र्याभिषेकादि के विषय में की जा रही अब तक की प्ररूपणा को यदि आप पंथव्यामोहवशात समीचीन स्वीकार नहीं करते हैं, तो आपको बलात् कहना ही कहना होगा कि परमपूज्य १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज के शील में दूषण है ॥

यदि आचार्य भगवंतों को शील दूषण से मुक्त करने के लिये पंथव्यामोह का हम त्याग करते हैं, तब तो स्त्रियों द्वारा आचार्य भगवंतों को दिया जा रहा आहारदान मात्र ही आगमोक्त क्रिया है, इसकी सिद्धि नहीं होगी, अपितु स्त्री अभिषेक, आचार्य भगवंतों का स्त्रियों द्वारा किया गया चरण स्पर्श, वैयावृत्ति आदि लोकोत्तर अर्थात् परंपरया मोक्ष की प्राप्ति हेतु की जाने वाली क्रियाएँ भी समीचीन क्रियाएँ ही हैं, की भी सिद्धि हो जायेगी ॥

इस पर शंकाकार ने शंका की थी कि क्या स्त्रियाँ भी मुनिराजों की वैयावृत्ति कर सकती हैं ?

तब हमने समाधान में कहा था कि हाँ, कर सकती हैं ॥

शंकाकार : कैसे ?

समाधान : यदि आपकी स्मृति में हो तो इस प्रकरण पर चर्चा हम आगम आलोक में अर्थात् श्री राजवार्तिकजी आदि ग्रंथराजों के आश्रय से कर चुके हैं .....

शंकाकार : कहाँ ?

समाधान : श्री तत्त्वार्थसूत्रजी, अध्याय ७, सूत्र १६ मैथुनमब्रह्म की व्याख्या में ॥ वहाँ पद आया था नमस्कारादि सेवने ॥ यहाँ नमस्कार के साथ जो आदि अव्यय है, वह आहारदान, वैयावृत्ति आदि स्त्री-पुरुषों के मध्य घटने वाली अमैथुन क्रियाओं के समुच्चय के लिये है ॥ यदि ऐसा नहीं मानोगे तो वैयावृत्ति की मैथुन कर्म इस अर्थ में सिद्धि करनी होगी व उसके मैथुन कर्म सिद्ध होते ही आहारदानादि सभी क्रियाएँ मैथुन सिद्ध हो जायेंगी ॥

चूँकि इस विषय में आगम प्रमाण युक्ति सहित दिये जा चुके हैं, इसलिये पुरातत्त्वीय प्रमाण देखिये :-

हमारे पास तीन दिशाओं में स्थित तीन पुरातत्त्वीय प्रमाण हैं :

१) तिरुमलई की गुफा (मद्रास/चेन्नई) ॥ इस गुफा में भगवान बाहुवलि की एक

प्रतिमा है, जिस पर बेलें चढ़ी हुई हैं ॥ इन बेलो को दो विद्याधर कुमारियाँ हटा रही हैं ॥

२) ऐलोरा की गुफा (महाराष्ट्र-औरंगाबाद) ॥ इस गुफा में भी उपर्युक्त दृश्य की निर्मिति की गई है ॥

३) अतिशय क्षेत्र बहोरीबंद (जिला : जबलपुर, मध्य प्रदेश) ॥ यहाँ भी उपर्युक्त दृश्य को दर्शाती एक मूर्ति है ॥

तीनों प्रतिमाओं के चित्र पाठकों की शंका के निवारणार्थ कवर पृष्ठ ४ (Back cover page) पर मुद्रित किये जा रहे हैं ॥

निश्चित ही उपर्युक्त तीनों ही वास्तु जिनागम में स्त्रियों द्वारा आचार्य भगवंत की वैयावृत्ति कर्तव्य की सूचना देने के लिये पर्याप्त हैं ॥

इसी दृश्य को दर्शाता श्री आदिपुराणजी व श्री हरिवंशपुराणजी में दृश्यांकन देखिये :-

(१) श्री आदिपुराणजी, सर्ग ३६, श्लोक १८३ :-

विद्याधर्यः कदाचिच्च क्रीड़ाहेतोरुपागताः ।
वल्लीरुद्वेष्टयामासुर्मुनेः सर्वाङ्गसंगिनीः ॥

कभी - कभी क्रीड़ा के हेतु से आयी हुई विद्याधरियाँ उनके सर्व शरीर पर लगी हुई लताओं को हटा जाती थीं ॥ १८३ ॥

(२) श्री हरिवंश पुराणजी, सर्ग ११, श्लोक १०१ :-

लतां व्यपनयन्तीभ्यां खेचरीभ्यां बभौ मुनिः ।
श्याममूर्तिः स्थिरो योगी यथा मरकताचलः ॥

दो विद्याधर परियाँ उनके शरीर पर लिपटी हुई लता को दूर करती रहती थीं जिससे श्याममूर्ति के धारक एवं स्थिर खड़े हुए योगिराज बाहुबली मरकतमणि के पर्वत के समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १०१ ॥

इन्हीं प्रमाणों से श्रेणिक चेलना कथा की सत्यता प्रगट होगी, जिसमें कि रानी चेलना श्रेणिक द्वारा किये गये उपसर्ग के समाचार ज्ञात होते ही रात्रि में ही मुनिराज के समीप पहुँच उनके उपसर्ग का निराकरण करती है ॥

यदि हम इतने परिश्रम पूर्वक उपर्युक्त सत्य की प्ररूपणा नहीं करते, तो निश्चित ही श्री पद्मपुराणकारजी की ही तरह श्री आदिपुराणकारजी व श्री हरिवंश पुराणकारजी भी क्षणार्द्ध में डॉ. साहब, बैनाड़ाजी, लुहाड़ियाजी आदि द्वारा मिथ्यादृष्टि घोषित कर दिये जाते ॥

रात्रिकालीन शुभोपयोगी चेष्टाएँ क्या मिथ्यात्व हैं?

वे तो नहीं कर पाये, किन्तु एक अन्य १३ पंथी विद्वान् हैं, जिन्होने इस श्रेणिक-चेलना कथा के आश्रय से इस कथा के कथाकार महोदय को ही मिथ्योपदेशक घोषित कर रखा है ॥

किसने ?

प्रतिष्ठाचार्य श्री विमल कुमारजी सौंरया, टीकमगढ़, ने ॥

उनका तो पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव में होने वाली शास्त्र सभाओं में दिये जाने वाले व्याख्यानों में का यह प्रिय विषय है ॥ उस व्याख्यान में और तो सब ठीक, किन्तु अवर्णवाद की अति करते हुए वे कहते हैं कि चेलना रात्रि में नहीं, अपितु दूसरे दिन सुबह उपसर्ग निवारणार्थ गई थी ॥

पूछा गया कि ऐसा क्यों ? सम्यक्दृष्टि को तो वात्सल्य व अनुकंपा गुण के कारण तुरंत विहार करना चाहिये था ?

इस पर उनका कहना है कि सम्यक्दृष्टि श्रावक रात्रि में जैसे वेदी प्रदक्षिणा, घण्ट-नाद आदि अन्य शुभोपयोगी चर्याओं को नहीं करता है, उसी प्रकार वह रात्रि में उपसर्ग निवारणार्थ भी विहार नहीं करेगा, संपूर्ण रात्रि आततार्ईयों द्वारा किया गया उपसर्ग उतना बडा अपराध नहीं है, जितना बडा अपराध रात्रि में उपसर्ग निवारणादि शुभोपयोगी चेष्टाओं को करना ॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टियों का समुदाय रात भर मुनिराज पर आततायों को उपसर्ग करते रहने देगा, किन्तु उपसर्ग निवारणार्थ रात्री में पहल नहीं करेगा, है न हास्यास्पद ?

नहीं है क्या ?

है ही न ?

किन्तु इस कथन में चूक उनकी भी नहीं है ॥

उन्होंने भी यह धारणा संभवतः १३ पंथियों के आद्य गुरु समझे जाने वाले आद्य विद्वान् आदरणीय पं. टोडरमलजी के उपदेश से निर्मित की है ॥

पं. टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय ६ में कहते हैं कि :

"पाप का अंश, बहुत पुण्य समूह विषै दोष के अर्थ नाहीं, इस छल करि पूजा प्रभावनादि कार्यनिविषै रात्रिविषै दीपकादिकरि हिंसादिक रूप पाप तो बहुत उपजावैं, अर स्तुति भक्ति आदि शुभ परिणाम विषैं प्रवर्तै नाहिं, वा थोरा प्रवर्तै, सो टोटा घना वा नफा थोरा, वा नफा किछु नाहीं ॥ ऐसा कार्य करने में बुरा ही दीखना होय ॥"

यहाँ पं.टोडरमलजी कहना चाह रहे हैं कि रात्रि पूजन के प्रसंग में श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी के वचनों का आश्रय नहीं लिया जा सकता ॥

कौनसे वचनों का ?

"सावद्यलेशोबहुपुण्यराशौ" अर्थात् जिनेन्द्रभगवान की पूजा में हिंसा अल्प व पुण्य बहुत है, इसलिये वह अल्प हिंसा यहाँ विचारणीय नहीं, अपितु उपेक्षणीय/उपेक्षा के योग्य है ॥

इन वचनों का आश्रय क्यों नहीं लिया जा सकता ?

क्योंकि पंडितजी के अनुसार रात्रि में प्रभावनादि कार्यों व दीपकादि से पूजन करने में हिंसादिक पापों की उत्पत्ति बहुत व स्तुति-भक्ति आदि शुभ परिणामों की हेतुभूत क्रियाओं में प्रवृत्ति अल्प अथवा नहीं होने से घाटा अधिक हो गया व लाभ थोड़ा या बिल्कुल ही नहीं हुआ, इसलिये रात्रिकालीन ऐसी क्रियाओं को करना तो उपयुक्त नहीं हुआ ।।

संभवतः पंडितजी के इसी उपदेश के आश्रय से १३ पंथी विद्वान् रात्रिकालीन शुभोपयोगी क्रियाओं का भी निषेध करते हैं ।।

इसमें भी महा मूढ़ता देखिये कि वे मात्र रात्रिकालीन पूजनादिक का ही निषेध करते हैं, प्रभावनादिक के नाम पर किये जा रहे रात्रिकालीन मनोरंजक आयोजनों का नहीं, मानो रात्रि में मात्र शुभोपयोगी चेष्टाएं ही पाप हों.......

इस विषय में तकरीबन सभी १३ पंथी विद्वानों की चिंतन वृत्ति एक सी है ।।

इन विद्वानों को स्व वचन दूषण का बोध ही नहीं है ।।

<u>**अब उपर्युक्त वचन ही देखें :-**</u>

पं. टोडरमलजी के भी रात्रिपूजनादि के निषेधार्थ दिये गये तर्क के भी दो अर्थ निकलते हैं, प्रथम अर्थ जो कि सीधे - सीधे ग्राह्य है, वह तो तेरापंथियों के नितांत विपरीत है ।।

वह प्रथम अर्थ यह है कि पण्डितजी कहते हैं कि यदि चित्त में भक्ति रूप राग मंद है अथवा नहीं है, तो रात्रि में दीपादि से पूजन व अयत्नाचार क्रिया द्वारा हिंसा बहुत व भक्ति रूप राग की मंदता से नफा अर्थात् लाभ कम अथवा भक्ति रूप राग के अभाव से नफा कुछ भी नहीं ।। इसका अर्थ हुआ कि यदि भक्ति रूपी राग निर्दोष है, उसी की प्रधानता है, तो रात्रिपूजन में दोष नहीं, क्योंकि फिर नफे की/लाभ की बहुलता हो जायेगी ।।

नहीं हो जायेगी क्या ?

हो ही जायेगी ।। हो क्यों नहीं जायेगी ।।

अतः यदि भक्ति रूपी राग निर्दोष है व उसी की प्रधानता है, तब तो रात्रिपूजन में कोई दोष नहीं ।।

यह तो रात्रिपूजन को पुष्ट करने वाला प्रथम अर्थ हुआ ।।

और यदि उपरोक्त वाक्य से "रात्रिपूजन करना ही नहीं," यह द्वितीय अर्थ लेते हो, तो पुनः पण्डितजी की ही शैली मे बाधा आ जायेगी कि "घर में रहकर दीपादि भोग जन्य सामग्री के उपयोग का, स्त्री संसर्ग का, महानतम् दोषों के स्थान व प्रमाद स्वरूप निद्रा एवं स्वप्नादि का त्याग कर यदि रात्रि व्यतीत करो, तो उचित भी है, किन्तु वहाँ तो महानतम् दोषों की कारणभूत वृत्तियों का तो संग्रह है और उसकी तुलना में मंदिर संबंधी कथंचित अयत्नाचार को महानतम् दोष निरूपित करते हो, सो तो उचित नहीं है ।।

अब पाठक वर्ग कृपया स्वयं ही चिंतन करें कि पण्डितजी रात्रिकालीन निद्रा, स्त्री

सेवनादि रूप होने वाली प्रमाद चर्याओं के संबंध में तो कुछ नहीं कह रहे हैं, जिनसे कि सिवाय पापार्जन के कुछ भी नहीं होने वाला है, किन्तु वह क्रिया जिससे कि पुण्यार्जन नहीं हो अथवा कम हो, लेकिन गृहस्थ संबंधि पाप का निरोध/संवर तो होगा ही, उन्हें ही करने से मना कर रहे हैं ॥

है न हास्यास्पद ?

अरे भाई ! समूची पाप क्रियाओं का निषेध करने के पश्चात्, उपर्युक्त शुभ क्रियाओं का निषेध यह कहते हुए बतलाओ कि रात्रि भर क्या करना, तब तो आपका कथन विचारणीय हो भी सकता है, किन्तु महान् पापाश्रव रूप प्रमाद चर्या का तो निषेध नहीं किया व शुभोपयोग रूप क्रियाओं का निषेध कर रहे हैं, तो यह छल नहीं, तो और क्या कहलायेगा ?

और यदि कोई कहे कि शुभोपयोग रूप चेष्टाएँ, जिनका कि आप विरोध कर रहे हैं, उन्हें न करके, जो क्रिया आप बतलायेंगे, उन्हें करने का सामर्थ्य हममें नहीं होगा, तो ऐसी स्थिति में क्या करना ?

क्या सर्वथा अशुभोपयोग के आश्रित हो स्त्री सेवनादि क्रियाओं में प्रवृत्त हो जाना अथवा जिस प्रमाण में बन पाये उस प्रमाण में शुभोपयोग के आश्रित क्रियाओं को करना, यह उपदेश दोगे ?

जैसे कि उत्तम तो उपवास/अनशन को कहा गया ॥ किन्तु उपवास/अनशन का सामर्थ्य नहीं होने पर सदोष होने पर भी एकाशन करने को कहा गया ॥ जिनके एकाशन का भी सामर्थ्य नहीं है, उनसे रस परित्याग करने को कहा गया व जो रस परित्याग भी नहीं कर सकते, उनसे कहा गया कि वे ऊनोदरी कर लें ॥

अर्थात् यहाँ आचार्य भगवंत ने पं. टोडरमलजी की शैली में यह तो नहीं कहा कि ऊनोदरी विषै भोजन त्याग का भाव थोरा, अर ग्रहण का भाव घना, सो त्याग भाव थोरा होने से शुभ परिणाम थोरा व अन्न का भोग भाव बहुत होने तैं पाप परिणाम घना, तातैं टोटा घना वा नफा थोरा, वा नफा किछु नाहीं ॥ ऐसा कार्य करने में बुरा ही दीखना होय ॥

क्या ऐसा कहा ?

पण्डितजी की प्ररूपणानुसार तो कहा ऐसा ही जाना चाहिये था ॥

किन्तु नहीं कहा गया न ?

संपूर्ण जिनागम में यह तो कहीं नहीं कहा गया है कि उत्तम कर्म करने का सामर्थ्य नहीं होने पर, उत्तम यह है कि उस कार्य को करो ही नहीं ॥

अपितु कहा यह गया है कि किंचित् भी शुभोपयोग का सामर्थ्य होने पर, उत्तम है कि उसे ही करो ॥

यदि ऐसा नहीं कहा गया होता तब तो अणुव्रतों का उपदेश ही नहीं बन सकता था ॥

अणुव्रतों का उपदेश उन्हींके लिये है, जिनमें उत्तम करने का सामर्थ्य नहीं पाया

जाता है, उनसे अन्य किसी के लिये नहीं ॥

ठीक इसी प्रकार पंडितजी को भी गृहस्थाचार संबंधि प्रमाद विमुखों से कहना यह चाहिये था कि उत्तम तो यह है कि यत्नाचार पूर्वक रात्रिपूजनादि ही करो, किन्तु किसी कारणवशात वैसा सामर्थ्य नहीं है, तो जितना बन सके उतने यत्नाचार पूर्वक रात्रिपूजनादि करें, अयत्नाचार के भय से भयभीत हो गृहस्थाचार संबंधि पापाचार अर्थात् प्रमाद के सम्मुख नहीं हो जाना चाहिये ॥

यह तो रात्रि पूजन के पक्ष में प्ररूपणा हुई, जो कि शुभाचार है, किन्तु आचार्य भगवंत तो पापाचार के विषय में भी कहते हैं कि पापाचार में भी उत्तम तो यही है कि पाप का त्याग मन, वचन व काय से करो ॥

इसमें भी मन से किया गया त्याग ही मुख्य त्याग है ॥

किंतु यदि मन से त्याग नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ यह नहीं कि त्याग करो ही नहीं ॥

आप पाप का त्याग वचन व काय से भी कर सकते हो ॥

वचन से नहीं हो सकता, तो काय से करो ॥

मन वचन व काय तीनों से नहीं हो सकता, तो कारित व अनुमोदना से करो ॥

कारित से भी नहीं हो सकता, तो अनुमोदना से करो, किन्तु करो ॥ चूको मत ॥

चाहे जिस प्रमाण में किया गया त्याग हो, वह फलीभूत तो शुभास्रव रूप में ही होगा, पापास्रव रूप में नहीं ॥

इसमें भी पुन· चूँकि जीव व अजीव अधिकरणों के कारण विशेषता आती है, अतः इस कथन को जीव व अजीव, दोनों अधिकरणगत विवक्षाओं को हृदयंगम् करते हुए ही विवेचित करना चाहिये ॥[१]

यहाँ समंतभद्राचार्यजी के आश्रय से इस सूत्र को विशेषरूप से स्मृति में रखना चाहिये है कि जो त्याग अथवा क्रिया हम कर रहे हैं, वह त्याग अथवा क्रिया आर्त्त अथवा रौद्र परिणामों का कारण न बने ॥ यदि की जा रही क्रिया आर्त्त अथवा रौद्र परिणाम का कारण नहीं है, तो समझ लीजिये कि कम अथवा अधिक मात्रा में विशुद्धि का कारण है, और यदि आर्त्त अथवा रौद्र परिणाम का कारण है, तो कम अथवा अधिक मात्रा में संक्लेश का कारण है ॥

जो विशुद्धि का कारण है, वह उपादेय है व जो संक्लेश का कारण है वह हेय ॥

अनुभव कहता है कि रात्रिपूजन और चाहे जो हो, किन्तु आर्त्त अथवा रौद्र परिणाम

---

१. तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥ अधिकरणंजीवाजीवाः ॥
अर्थ : *तीव्र, मंद, ज्ञात, अज्ञात, अधिकरण व वीर्य विशेष के भेद से उसकी विशेषता होती है ॥*
अधिकरण दो होते हैं, जीव और अजीव ॥ (श्री तत्त्वार्थसूत्रजी, अध्याय ६, सूत्र ६-७)

का तो कारण होती ही नहीं है, हाँ ! कम अथवा अधिक मात्रा में विशुद्धि का कारण अधिकरण व वीर्य विशेष से अवश्य होती है ॥

किन्तु पण्डितजी का तो सिद्धान्त ही कुछ और है ॥

पाठक वर्ग कृपया स्मरण में रखें कि श्रावकों को विशुद्धि द्रव्यावलंबन अर्थात् जीवाजीव अधिकरण पूर्वक कही है, रहित नहीं ॥

जब दिन में ही द्रव्यावलंबन रहित विशुद्धि श्रावकों के कही ही नहीं, फिर रात्रिमें कहाँ से कहेंगे ? कह ही नहीं सकते ॥

चूँकि श्रावकों को बहुलता से विशुद्धि के लिये बाह्य द्रव्य के आश्रित ही रहना होता है, रहित नहीं, अतः दिन की तरह श्रावकों की विशुद्धि रात्रि में भी बाह्य द्रव्यावलंबन पूर्वक ही संभव होगी, अभाव करके नहीं ॥

अतः द्रव्यावलंबन तो आवश्यक ही है ॥

उसका अभाव नियमतः विशुद्धि के भी अभाव का सूचक होगा ॥

अतः द्रव्यावलंबन पूर्वक रात्रि में पूजन करना भी विशुद्धि का कारण होने से शुभ का ही हेतु कहा जायेगा, अशुभ का नहीं ॥

वैसे भी आगम में रात्रि पूजन मुख्यता से नैमित्तिक ही कही है, नित्य नहीं, क्योंकि गृहस्थों/सागारों को रात्रि के समय स्त्री संसर्ग, निद्रादि चेष्टाओं का बाहुल्य रहता है, उस काल में कर्म का तीव्रोदय ही ऐसा है ॥

किन्तु सर्वथा निषेध भी नहीं किया गया है, नैमित्तिक रूप से उसे पर्वादि दिनों में करने का विधान आगम में है ॥ उसी विधान के अनुसार पर्वादि काल में अपने इसी तीव्र राग के अनुभाग का खंडन कर रात्रि में भी श्रावक भक्ति अंगीकार करता है ॥

जिन्होने रात्रि पूजनादि किये हैं, उन्होने उस काल की भक्ति विषयक विशुद्धता अनुभवी है, जिन्होने नहीं की उनके बारे में क्या कहूँ ? यह तो गूंगे का गुड़ है ॥

निश्चित ही पण्डित टोडरमलजी ने रात्रिकालीन पूजा-अर्चना की ही नहीं ॥

यदि की होती, तो उसकी विशुद्धि से नियमतः परिचित होते ॥

किन्तु नहीं, की ही नहीं, इसलिये उसकी विशुद्धि से नियमतः अपरिचित ही रहे ॥

इसीके साथ उन्हें रात्रिकालीन पूजा करने वाले पात्रों में से, जैसे हम दिन में भी पूजा करने वालों के दोष देख, उनकी आलोचना से नहीं चूकते, वैसे ही आलोचना योग्य पात्र ही मिले होंगे ॥

उन आलोचना योग्य पात्रों को देख, उनके अल्प शुभ परिणाम व बहु सावद्य परिणाम का अनुमान कर, भ्रम बुद्धि हो उपर्युक्त सूत्र प्ररूपित किया होगा, अन्यथा आगम विपरीत

इस सूत्र प्ररूपणा की कोई आवश्यकता ही नहीं थी ॥

जब रात्रिकालीन स्त्री सेवनादि अशुभोपयोग से विमुख हो कर अर्थात् उनका त्याग कर तुम्हारा चित्त शुभोपयोग के सम्मुख हुआ, यह समरंभ ही महान् पुण्य का आश्रव करने वाला है, तब अन्य समारंभ-आरंभ की क्या कहें ?

यह कथन तो युक्ति से हुआ ॥

अब आगम प्रमाण से देखिये ॥

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के रचयिता परम आदरणीय क्षुल्लकजी श्री जिनेन्द्र वर्णीजी को भी अपने चार महान् भागों में विस्तृत इन कोशों में संकलनार्थ इस विषय पर कि रात्रिपूजन नहीं ही करना चाहिए, प्रचलित/प्रतिष्ठित आचार्य कृत एक भी उपदेश नहीं मिला ॥

उपदेश मिले भी तो दो, एक श्री लाटी संहिताजी का व दूसरा पं. टोडरमलजी के इसी मोक्षमार्ग प्रकाशकजी का ॥

इन दोनों में भी श्री लाटी संहिताकारजी कहते हैं कि (अध्याय ६, श्लोक १८७):-

तत्रार्द्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि ।
हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥

अर्थ : आधी रात के समय अरहंत देव की पूजा नहीं करनी चाहिये ....

अर्थात् आधी रात के पूर्व की जा सकती है ॥

अथवा आधी रात के पूर्व अथवा पश्चात् की जा सकती है, आधी रात में नहीं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि श्री लाटी संहिताकारजी भी रात्रि में पूजन करना ही नहीं, इस पक्ष के नहीं थे, अपितु अर्द्धरात्रि में अथवा अर्द्धरात्रि के बाद न करें इस मत के थे ॥

एक मात्र पं. टोडरमलजी ही जिनागम में हुए हैं, जिन्हें कि रात्रिपूजन से परहेज है व उन्हींके आश्रय से परहेज है वर्तमान के १३ पंथी विद्वानों को, अन्यथा १३ पंथीय विद्वानों के पास इस विषय में आगम तो पृथक करें, आगमाभाष भी नहीं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि पं. टोडरमलजी द्वारा रात्रिपूजन निषेध को पुष्ट करने वाली प्ररूपणा आगम व युक्ति दोनों ही प्रमाणों से बाधित है ॥

अर्थात् न तो युक्ति से ही उपयुक्त ठहरती है और न ही आगम से ॥

मात्र इतना ही नहीं, अपितु श्रुतअवर्णवाद का कारण बनती है सो अलग ॥

बस यही १३ पंथी शैली है व इसी शैली ने सदैव तिल का ताड़ बनाया है ॥

इसी तिल के ताड़ का ही परिणाम है कि जिसने आदरणीय प्रतिष्ठाचार्य पं. विमलकुमारजी सौंरया को रात्रिपूजन निषेध के भी एक कदम आगे बढ़ कर सूत्र प्रतिपादित करने को बाध्य कर दिया कि रात्रि में मात्र पूजन के लिये ही नहीं, अपितु मुनि वैयावृत्ति के

अर्थ भी श्रावक गमन न करे, क्योंकि इस क्रिया मे टोटा घना वा नफा थोरा, वा नफा किछु नाहीं है, सो बुरा ही दिखना होय ॥

प्रश्न : वैयावृत्ति के संदर्भ में आगम आज्ञा क्या है ?

उत्तर : लीजिये सुनिये (श्री प्रवचनसारजी, अधिकार ३, गाथा : २५४/२५०) :-

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं ।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥ २५० ॥

अर्थ : यह (वैयावृत्ति) प्रशस्तभूत चर्या श्रमणों और गृहस्थों (दोनों) के होती है, (किन्तु) गृहस्थों के मुख्य होती है व उसीसे वह परं सौख्य को प्राप्त करता है, ऐसा (केवली श्रुत केवलियों द्वारा) कहा गया है ॥

यदि श्रमण वैयावृत्ति के लिये उद्यत होता हुआ ६ काय के जीवों को पीड़ित करता है, (तो) वह श्रमण नहीं है, अपितु अगारी अर्थात् श्रावक है, (क्योंकि) वह (६ काय के जीवों को पीड़ित कर की गई वैयावृत्ति) श्रावकों का धर्म है ॥

निश्चित ही पाठकों को इस वाक्य द्वारा कि वह (६ काय के जीवों को पीड़ित कर की गई वैयावृत्ति) श्रावकों का धर्म है, स्पष्ट हो ही गया होगा कि श्रावकों के लिये वैयावृत्ति मुख्य है, न कि काय खेद ॥

काय खेद के सूत्र को बाधा रूप प्रस्तुत कर वैयावृत्ति दिन में ही होगी, रात्रि में नहीं का न तो वे सिद्धान्त ही प्रतिपादित कर सकते हैं और न ही श्रावकों को परंपरा मोक्ष दिलवाने वाला मुख्य धर्म होने से, सिर्फ पुरुषों को ही यह वैयावृत्ति मोक्ष सुख दिलवाने वाली है, स्त्रियों को नहीं, ऐसा सूत्र भी प्रतिपादित कर सकते हैं ॥

हाँ ! इस विषय में भी अपवाद (व्यवहार निंदा) व स्खलन (लोकोत्तर निंदा) का सूत्र सदैव स्मरण रखना चाहिये ॥

अर्थात् जहाँ-जहाँ स्खलन अथवा अपवादों की किंचित् भी संभावना हो, वहाँ-वहाँ दूरी बनाकर की जाने वाली वैयावृत्तियों का पक्ष लेना चाहिए, किन्तु जहाँ-जहाँ स्खलन अथवा अपवाद की किंचित भी संभावना न हो वहाँ-वहाँ चेलना-श्रेणिक कथा का स्मरण करते हुए, तदनुसार अनुकरण करना चाहिए ॥

अर्थात् पुरुष वैद्य की अनुपलब्धि में स्त्री वैद्य आधे हाथ की दूरी से मुनिराज की नाड़ी नहीं देख सकती, ऐसा उत्सूत्र जिनेन्द्र भगवान के मत का नहीं है ॥

इस उपदेश के पश्चात्, निश्चित ही इस विषय में और अधिक कहने की आवश्यकता

ही नहीं ॥

इस उपदेश के पश्चात् भी यदि कोई विद्वान् हिंसा-अहिंसा आदि की अल्पता-बहुलता के एकांत आग्रह को आदि कर किसी भी विवक्षा से वैयावृत्ति का निषेध करता है, तो उसे अवर्णवादी, कुतर्की आदि के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

निश्चित ही कुछ नहीं ॥

उस धृष्ट के लिये कोश में इनसे अधिक सौम्य शब्द है ही नहीं ॥

***निष्कर्ष** (इस प्रकार सिद्ध हुआ कि) :-*

डॉ. साहब द्वारा श्री मूलाचारजी से प्रकरण लेकर प्रस्तुत किया गया प्रमाण व उसके आश्रय से दिया गया यह व्याख्यान कि :

"आर्यिकाओं को आचार्य, उपाध्याय व साधु से ५,६,७ हाथ की दूरी से वंदना करनी चाहिये ॥ यहां आर्यिका से स्त्री मात्र उपलक्षित है ॥ क्योंकि आर्यिका के मुनिचरण स्पर्श से जिस दोष की संभावना है, उसकी संभावना क्षुल्लिका व श्राविका के मुनिचरण स्पर्श से भी है ॥ यह अवश्य है कि आहारदान के समय मुनि से इतनी दूर नहीं रह सकती, पर यहां प्रधानता स्पर्श की है, जिसका परिहार आहारदान के समय संभव है ॥ "

स्वयं उनके ही मत का खण्डन करने वाला व जिन आचार्य भगवंतों के मत को अर्थात् श्रीमद् पद्मपुराणकारजी आदि को, जो वे अपनी मंदबुद्धि व हास्यास्पद निरुक्तियों के कारण मिथ्या व जिनागम प्रतिकूल आदि कह आये हैं, उन्हीं आचार्यों के मत को पुष्ट करने वाला सिद्ध होते हुए स्त्रियों द्वारा बिंबाभिषेक, आचार्य भगवंत के चरण स्पर्श, आहारदानादि लोकोत्तर क्रियाओं व पिता-पुत्री व माता-पुत्र आदि लौकिक पवित्र संबंधों के मध्य पाई जाने वाली लौकिक क्रियाओं को समीचीन सिद्ध करने वाला है ॥

शायद पाठक वर्ग को अनुभव हो गया होगा कि एक कुशल वैयाकरण, स्वयं को स्थापित दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ कहलवाने/मनवाने की चाह में न यहां के रहे, न वहां के ॥

मुहावरे में कहें तो........... चले हंस की चाल, और अपनी भी भूल गये ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ *विषयान्तर क्यों ?*

प्रश्न : आपका प्रकरण तो शासन देवता का था, उसे गौण कर आपने विषयान्तर कर लिया, क्या ऐसा आपको प्रतीत नहीं हो रहा है ?

उत्तर : निश्चित ही विषयान्तर हुआ है, नहीं हुआ है ऐसा नहीं, किंतु प्रत्युत्तर में यदि हम इस विषय में पूर्व में कहे गये अपने वाक्य दोहरा दें, तो उत्तम होगा :-

इन विषम परिस्थितियों में मुझसे भी लगातार पक्ष-विपक्ष दोनों ही के द्वारा पत्रों, दूरभाष एवं लौकिक व लोकोत्तर आयोजनों में होने वाली सम्मुख चर्चाओं में प्रश्न पूछा जा रहा है कि इस विषय पर मैं मौन क्यों हूँ, कुछ कहता क्यों नहीं ?

बार-बार व लगातार अनुरोध किया जा रहा है कि प्रस्तुत विषय पर मैं भी, पक्ष अथवा विपक्ष में, कुछ कहूँ अथवा कुछ लिखूँ, मौन न रहूं ॥

सच कहूँ, तो लिखने अथवा कहने का मानस मेरा स्वयं का भी है ॥

किन्तु समालोचनार्थ सम्मुख कुछ भी नहीं ॥

जो कुछ भी है, वह हास्यास्पद ही है, प्रौढ नहीं ॥

आप यहाँ पूछ सकते हैं कि प्रौढ़ क्यों नहीं ?

इसी क्यों का उत्तर देने के लिये यह उद्यम किया गया है ॥

प्रामाणिकता के लिये दो नियम हैं :

(१) वक्ता के प्रामाणिक होने पर उसके वचन प्रामाणिक कहे गये हैं ॥

(२) वचनों के प्रामाणिक होने पर वक्ता को प्रामाणिक कहा गया है ॥

प्रत्यक्षादि प्रमाणों व युक्ति से अबाधित वचनों को ही प्रमाण अर्थात् प्रामाणिक वचन कहते हैं ॥

उपर्युक्त विवेचन द्वारा हम उपर्युक्त वक्ताओं की प्रामाणिकता पर प्रश्न चिह्न लगा रहे हैं व यह सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं कि इन विद्वानों के आश्रय से निर्मित की गई धारणाओं को समीचीन नहीं कहा जा सकता है ॥[१]

---

१. **स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते।**

अर्थ : हे भगवन् ! (पूर्व में जिसे निर्दोष तीर्थंकर कहा गया है) वह आप ही हैं, क्योंकि आपके वचन युक्ति व आगम, (दोनों से) अविरोधी है, अविरोधी होने के कारण ही किसी भी प्रसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित नही किये जा सकते ॥ - **देवागमस्तोत्र, कारिका : ६, श्रीमद् समंतभद्राचार्य**

अर्थात् समीचीन मार्ग-बोध के लिये १३ पंथी विद्वानों के आश्रय से न तो समीचीन धारणाओं की ही निर्मिति की जा सकती है और न ही आज्ञासम्यक्त्व की प्राप्ति हेतु उन विद्वानों पर श्रद्धान ही किया जा सकता है ॥

पाठक वर्ग कृपया सतत स्मरण रखें कि डॉ. रतनचंदजी अथवा अन्य भी जिनके कि नाम यहाँ उल्लेखित किये जा रहे हैं अथवा किये जायेंगे, वे उपलक्षण मात्र हैं, इन्हें आदि लेकर अन्य समस्त जिनका कि नामोल्लेख हम नहीं कर रहे हैं अथवा नहीं कर पा रहे हैं, उन सभी को इस समुदाय में गर्भित कर लेना है ॥

जैसा कि हमने पूर्व में भी कहा था :-

सम्पूर्ण १३ पंथी श्रावकों का समुदाय, इन व इन जैसे ही अन्य अनेकोनेक छलियों/औसत बुद्धि के विद्वानों/तीर्थंकरों की बनाई गई नींव पर, अपने लिये मोक्ष रूपी महल की निर्मिति के स्वप्न देख रहा है ॥

पाठक वर्ग स्वयं सोचे कि जिस नींव के आश्रय से यह श्रावक अपने लिये मोक्ष रूपी महल की निर्मिति की परिकल्पना कर रहा है, क्या उसका यह स्वप्न अनंतकाल बीत जाने पर भी पूर्ण होगा ? निश्चित ही नहीं होगा ॥

१३ पंथी श्रावकों के साथ स्वयं १३ पंथी विद्वानों द्वारा किया जा रहा छल अथवा मंद बुद्धिता के प्रकरण अभी यहाँ विराम को प्राप्त नहीं हुए हैं, अभी इस विषय में कहने को और भी बहुत कुछ है, चलिये, अगले शीर्षक में सुनिये ॥

॥ इत्यलम् ॥



☐ आर्यिका माताएँ नवधाभक्ति के अयोग्य नहीं, योग्य ही हैं

(पाठकों से नम्र निवेदन है कि व्याकरणशास्त्र की विवक्षानुसार की गई इस प्ररूपणा का कुछ भाग मात्र क्लिष्ट है, सर्वांग नहीं, अतः विषय की समष्टि के लिये व्याकरण शास्त्र की विवक्षा को गौण करके ही सही, किंतु इस प्ररूपणा को विशेष ध्यान देकर पढ़ें ॥ इस प्ररूपणा में तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति के प्रकरण को आगम आलोक में संक्षेप में, किंतु विशेषता सहित निर्दिष्ट किया गया है - संपादक)

यँहाँ तक हमने डॉ. रतनचंदजी के शासन रक्षक लेख से प्रकरण लेकर प्ररूपणा की, अब उदाहरण उनके अन्य लेखों से भी देखें :-

उनका एक लेख प्रकाशित हुआ था "आर्यिकाएं पूज्य, मुनिराज परमपूज्य ॥"

कहाँ ?

अरे भाई ! जिनभाषित (दिसंबर २००१) में ही, जिनके कि वे यशस्वी संपादक हैं व नियंत्रण है आदरणीय रतनलालजी बैनाडा, आगरा वालों का ॥

डॉ. साहब इस लेख में एक ओर तो आर्यिका माताओं को पूज्य कह रहे हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें नवधा भक्ति एवं अष्ट द्रव्य से पूजा के अयोग्य अर्थात् अपूज्य ठहरा रहे हैं ॥ मात्र पूजा के अयोग्य/अपूज्य ही नहीं, अपितु उनकी नवधाभक्ति व अष्टद्रव्य से पूजा करने वालों को जैनाभाषी तक समझते हैं ॥ जब वे आर्यिका माताओं की नवधा भक्ति को ही उपयुक्त नहीं मानते हैं, तब आगम में उल्लिखित तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति विधान को उपयुक्त कैसे मान सकते हैं ?

अर्थात् कदापि नहीं मान सकते ॥

डॉ. साहब के साथ दुविधा यह हुई कि प्रतिपक्ष ने प्रमाण, डॉ. साहब को सर्वांग मान्य ग्रंथराज श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी की गाथा ३६० से ही दे दिया, जिसमें कि तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति का विधान है, देखिये :-

तिविहे पत्तम्हि सया सद्धाइ गुणेहि संजुदो णाणी ।
दाणे जो देदि सयं णव दान विहीहि संजुत्तो ॥

अर्थ : श्रद्धादि गुणों से युक्त जो ज्ञानी श्रावक सदा तीन प्रकार के पात्रों को दान की नौ विधियों के साथ स्वयं दान देता है, उसके तीसरा शिक्षाव्रत होता है ॥

अब डॉ. साहब को काटो तो खून नहीं ॥

करें, तो क्या करें ?

जैसा कि उन्होंने श्री पद्मपुराणजी को मिथ्या तत्त्वोपदेशक कहने का दुःसाहस पूर्व में किया था, वैसा दुःसाहस यहाँ नहीं कर सकते थे ॥

क्यों ?

क्योंकि जिस समूह अथवा समाज में वे असर रखते हैं, उस समूह और समाज में इस ग्रंथराज की साक्षात् जिनेन्द्र भगवान की वाणी की सी मान्यता है ॥

अब करें तो क्या करें ?

अंत में उन्होंने भी आदरणीय बैनाडाजी वाला मिथ्या व असंगत प्ररूपणा वाला मार्ग चुना कि चूँकि आम श्रोताओं, श्रावकों एवं औसत बुद्धि विद्वानों के पास स्याद्वादी बुद्धि तो होती नहीं है, अतः उन्हें आगम नहीं, मनभावन तर्क मात्र चाहिये ॥

चूँकि उन्हें आगम नहीं, मनभावन तर्क मात्र चाहिये, सो इसी चिंतन के अनुसार उन्होंने पुरुषार्थ किया व प्ररूपणा की, देखिये :-

पृष्ठ क्रमांक १० पर वे लिखते हैं -

"कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा ३६०) में जो यह कहा गया है कि उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रों को नवदान विधि पूर्वक आहारदान करना चाहिए, इस कथन में 'यथायोग्य' (योग्यतानुसार) अर्थ गम्य है ॥ क्योंकि ऐसा न हो तो संयतासंयत श्रावक (मध्यम पात्र) को असंयत सम्यग्दृष्टि (जघन्य पात्र) का चरणोदक मस्तक पर रखना पड़ेगा ....॥"

इस प्रकार डॉ. साहब उपर्युक्त प्ररूपणानुसार यथायोग्य पद को नवधा भक्ति के पूर्व गम्य अर्थात् पाठक को स्वयं ही अपनी बुद्धि से ग्रहण करने योग्य विशेषण स्वीकार करते हुए कहना चाह रहे हैं कि .-

"दान-दाता को यथायोग्य (पात्रों की पात्रगत योग्यातानुसार) नवधाभक्ति करनी चाहिये ॥"

इसी के साथ वे अपने वचनों को आगम वचन सिद्ध करने के लिये श्री श्रमण संघ संहिताजी का श्लोक प्रमाण रूप प्रस्तुत करते हैं :-

जघन्यमध्यमोत्कृष्ट पात्राणां गुणशालिणाम् ।
नवधा दीयते दानं यथायोग्यं सुभक्तितः ॥

इस प्रकार, प्रमाणरूप प्रस्तुत इस श्लोक द्वारा वे कहना चाह रहे हैं कि जैसे इस श्लोक में ग्रंथकार महोदय ने यथायोग्य शब्द को नवधा भक्ति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया है, ठीक वैसे ही अर्थात् इस प्रमाण को प्रमाण मानते हुए श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी की गाथा ३६० में आचार्य भगवंत द्वारा नहीं प्रयुक्त किये गये यथायोग्य पद को गाथा में प्रयुक्त कर पाठक वर्ग को अर्थ ग्रहण करना चाहिये ॥

अर्थात् डॉ. साहब कहना चाह रहे हैं कि श्री श्रमण संघ संहिताजी में यथायोग्य व नवधा के मध्य जैसा विशेषण-विशेष्य संबंध दर्शाया गया है, ठीक वैसा ही संबंध श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी में भी स्वीकार करना चाहिये ॥

इस प्रकार डॉ. साहब की निष्पत्ति अनुसार उनके मंतव्य की सिद्धि करने वाली प्रस्तुत श्लोक से वाक्य संरचना होगी कि :-

"यथायोग्य (पात्रों की पात्रगत् योग्यातानुसार) नवधा भक्ति पूर्वक दान देता है ॥"

कृपया अन्यथा न लें,

डॉ. साहब की यथायोग्य को नवधा का विशेषण कहने वाली प्रस्तुत मीमांसा को देख प्रतिपक्ष को अत्यंत दुःख के साथ उनके विषय में लिखना पड़ रहा है कि **"या तो उनका वैयाकरण रूप से संस्कृत व्याकरण व भाषा संबंधी ज्ञान अपूर्ण अथवा अपरिपक्व है, या फिर वे जानकर अनजान बन रहे हैं ॥"**

अब इस विषय में सत्य के बोधनार्थ कि यथायोग्य नवधा का विशेषण है भी या नहीं, आइये ! प्रथम व्याकरण व भाषाशास्त्रानुसार प्रयास करें ॥

विशेषता यह रहेगी कि यथायोग्य नवधा का विशेषण है भी या नहीं, इसकी सिद्धि के साथ-साथ यथायोग्य पद के श्लोकगत अर्थ की आगमानुसार प्ररूपणा का पुरुषार्थ भी हम करेंगे ॥

डॉ. साहब द्वारा यथायोग्य पद की पुष्टि के लिये प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया श्लोक जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्राणां ...एक वाक्य है ॥

इसके दो भाग हैं, उद्देश्य और विधेय ॥

विधेय का मुख्य अंश है दीयते अर्थात् दिया जाता है, है और शेष सभी पद गौण हैं ॥

ध्यान रहे इस वाक्य मे उद्देश्य भाग अप्रयोज्यमान है अर्थात् यह दान किसके द्वारा दिया जाता है अथवा दिया जा रहा है, इसे कहा ही नहीं गया है ॥

वाक्य की पूर्ति के लिये उसके स्थान पर आप 'दातृभिः' अर्थात् दाता के द्वारा अथवा गृहस्थैः, श्रावकैः अर्थात् गृहस्थ अथवा श्रावक के द्वारा शब्दों में से किसी भी शब्द को रख सकते हैं ॥

वाक्य में दीयते मुख्य विधेय पद विशेष्य है और शेष सभी पद उसी के विशेषण हैं, इन्हें विधेय विशेषण कहते हैं ॥

विधेय विशेषण के दो वर्ग हैं, जिनमें कुछ तो साक्षात् विशेषण होते हैं, और कुछ परम्परया विशेषण होते हैं ॥

अथवा कुछ मुख्य विशेषण होते हैं, जिन्हें विशेष्य विशेषण कहते हैं, और कुछ गौण होते हैं, जिन्हें विशेषण विशेष्य कहते हैं ॥

दीयते विधेय आख्यात् पद है, इसकी विशेषता बतलाने वाले साक्षात् विशेषण श्लोक में तीन हैं :-

१) यथायोग्यं, २) नवधा, ३) सुभक्तितः ॥

यथायोग्य विशेषण का अर्थ :-

यथायोग्यं पद अव्ययीभाव समास से सिद्ध है, योग्यं अनुरूपं अर्थात् उपयुक्त, योग्य, उचित इस अर्थ में योग्य शब्द से यथा शब्द का समास हुआ है व इसका संयुक्त अर्थ होता है यथोक्त रीति से[1], न कि यथा तथा अर्थात् जैसा पद, वैसी भक्ति इस रूप में, जैसा कि अर्थ डॉ. साहब कर रहे हैं ॥

अर्थात् जैसा अर्थ डॉ. साहब विशेषण का बल रखने वाले इस अव्यय का कर रहे हैं, वह अर्थ वैयाकरणों को यहाँ इष्ट ही नहीं है ॥

अर्थात् यथायोग्य पद विशेषण और दीयते विशेष्य होकर यथायोग्य दिया जाता है, इस अर्थ को प्रगट करता है कि यथायोग्य अर्थात् पात्र के अनुरूप, योग्य, यथोक्त रीति से दाता द्वारा दान दिया जाता है ॥

अर्थात् यथायोग्य शब्द जो द्रव्य दिया जा रहा है उसे व उसे देने की पात्रोचित यथोक्त विधि को कहता है ॥

अर्थात् मुनिराज के ३६ अंतरायो, जैसे कि संसक्त हाथ आदि अथवा तृतीय शिक्षाव्रती के कहे गये सचित्त निक्षेपादि अतिचारों के बोधनार्थ कि दाता को कौनसा द्रव्य दिया जाय व कैसे दिया जाय का बोध श्रावकों/दाताओं को होना चाहिये की सूचनार्थ यथायोग्य विशेषण का प्रयोग हुआ है ॥

यह यथायोग्य विशेषण कहता है कि श्री मूलाचारजी में निर्देशित पिण्डशुद्धि अधिकार का सम्यक् ज्ञान मात्र मुनिराजों को ही होना चाहिये, ऐसा नहीं, अपितु उनकी चर्या के निर्दोष निर्वहण के लिये अतिथीसंविभाग व्रती दाताओं को भी होना चाहिये ॥

यदि इसका बोध दाता को न हो, तो पात्र ऋषभदेव भगवान की तरह अंतराय करके

१. यथाऽथा (१/३/१/४१, सिद्धसेन) ॥

लौट जायेगा ॥

इसी कारण से अंतराय के श्रावकाश्रित समस्तरीतियों के बोधार्थ यथायोग्य विशेषण का इस पद में संकलन किया गया है ॥

इस प्रकार तीनों साक्षात् विशेषणों में से प्रथम विशेषण यथायोग्य का अर्थ किया गया, जो कि डॉ. साहब द्वारा की गई प्ररूपणा के सर्वथा विपरीत है, अब द्वितीय विशेषण सुभक्तितः का अर्थ देखिये :-

सुभक्तितः विशेषण का अर्थ :-

यथायोग्य अर्थात् यथोक्तरीति से जो द्रव्य दिया जाता है, उसे दाता, पात्र के प्रति किन परिणामों से युक्त हो उसे देता है, इस प्रश्न के उत्तर में सुभक्तितः विशेषण का प्रयोग हुआ है कि दाता द्वारा दिया गया वह दान पात्र के प्रति चाहे जैसे परिणामों से परिणमित होकर अथवा मन मार के नहीं, अपितु सम्यक् भक्ति पूर्वक दिया जाता है ॥

अर्थात् जैसे अंतरायों के बोधनार्थ व उनके निराकरण के उपायों में निपुणता की सूचनार्थ यथायोग्य विशेषण का प्रयोग हुआ था, वैसे ही सुभक्तितः विशेषण का प्रयोग दाता द्वारा **गुणशाली उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रों को, उनमें उपलब्ध अवगुणों को गौण करके व प्राप्त गुणों के प्रति भक्तिमय चित्त का होकर दान दिया जाता है, इस अर्थ को निर्दिष्ट करने के लिये किया गया है ॥**

जैसे अविरत सम्यग्दृष्टि में पाये जाने वाले असंयम, प्रमाद और कषाय को गौण करके, देशव्रतियों में पाये जाने वाले प्रमाद, कषाय व एकदेश असंयम को बुद्धि में न लाते हुए और उत्तम पात्रों में वर्तने वाले प्रमाद व कषाय को दृष्टिगत न करते हुए अर्थात् जिन-जिन पात्रों में जो-जो अशुभ आस्रव व बंध के हेतु प्राप्त होते हैं, उन-उन आस्रव व बंध के हेतुओं को चित्त से दूर करते हुए और तीनों पात्रों में प्राप्त होने वाले गुणों और मात्र गुणों के प्रति भक्तिमय चित्त का होकर आगम प्रसिद्ध श्रद्धा, क्षमा आदि सप्त गुणों से मंडित होकर दाता द्वारा दान दिया जाता है इस सत्य के प्रगटीकरण के लिये सुभक्तितः विशेषण का प्रयोग हुआ है ॥

अतः दाताओं को उपलब्ध पात्रों में प्राप्त गुणों के प्रति भक्तिमय चित्त का होकर व उनमें उपलब्ध अवगुणों को गौण करके, दान देने को तत्पर रहना चाहिये, यह द्वितीय विशेषण सुभक्तितः का अर्थ हुआ ॥

अब तृतीय ***विशेषण नवधा का अर्थ :-***

नवधा शब्द में विधार्थक 'धा' प्रत्यय है, जो क्रिया के समस्त प्रकार बतलाने में प्रयुक्त होता है ॥

इसलिये क्रिया प्रकार कहने पर नवधा का अर्थ होगा नौ प्रकार से ।।

यह नवधा विशेषण दाता के लिये दान क्रिया हेतु पात्र के आह्वान, संकलन, अहोभाव, दान का फल व विसर्जन क्रिया के नौ प्रकारों को कहने वाला है ।।

अर्थात् नवधा विशेषण दान देने के पूर्व व पश्चात् के कर्तव्यों का बोध कराने के लिये, जिसमें पात्र का आह्वान व संकलन कैसे किया जाये, संकलित पात्र के प्रति अहोभाव कैसे प्रगट किये जाये व दान क्रिया संपन्न होने के पश्चात् पात्र को विदा कैसे किया जाये के उत्तर स्वरूप प्रयुक्त किया गया है ।।

अर्थात् पडगाहन आदि विधियों द्वारा दान देने के लिये आह्वानित, संकलित, पूजित पात्र को दान दिये जाने के पश्चात् पुन: उन्हें उनके निज स्थान तक आरती व क्षमायाचना पूर्वक पहुँचा कर आना रूपी कर्तव्यों के नियामकनार्थ नवधा को पद में दीयते के विशेषण रूप में स्थान दिया गया है ।।

ऐसा नहीं कि आ गये इसलिये दे दिया और अब दे दिया, सो लो और जाओ ।।

इस विधि में पात्र के संकलनार्थ जहाँ गुणशाली मध्यम व जघन्य पात्रों को उनके स्थान पर भोजन हेतु निमंत्रण देना आह्वानन है, वहीं चर्या के लिये भ्रमण कर रहे गुणशाली उत्तम पात्रों में उत्तम मुनिराज, मध्यम आर्यिका माता व जघन्य ऐलक, क्षुल्लक व क्षुल्लिका माताजियों का अपने स्थान से ही आहारार्थ आदर पूर्वक गुहार लगाना आह्वानन है ।।

चूँकि पात्र द्वारा ग्रहण किये दान का फल परंपरया मोक्ष है अर्थात् दाता के लिये परंपरया मोक्ष का मार्ग खोलने वाला दान ग्रहण करने वाला पात्र होना है, जो कि संसार में दुर्लभ है, अत: उस परंपरया मोक्ष के जो कारण हैं, उन उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रों के प्रति अहोभाव व्यक्त करने के लिये नवधा भक्ति के अंतर्गत तीन विधियाँ कही गई हैं, नमस्कार, उच्चासन, पूजा ।।

इन्हीं निर्देशों के अनुसार सर्व प्रथम आह्वानन के पश्चात् जिसका संकलन किया गया है, ऐसे पात्र को उच्चासन पर स्थापित करने का निर्देश है ।।

उच्चासन के पश्चात् उसे कृतिकर्म विधि में निर्देशित विधि अनुसार नमस्कार करने का निर्देश है ।।

नमस्कार करने के पश्चात् उपलब्ध पात्र को दिये जा रहे दान के फल की प्राप्ति की काँक्षा व्यक्त करने का निर्देश पूजा शब्द के आश्रय से किया गया है जैसे कि जिसे मैं दान देने जा रहा हूँ, उसके द्वारा ग्रहण किये जा रहे दान का फल चूँकि परंपरया जन्म, जरा और मृत्यु का नाश है, अत: उसकी प्राप्ति के लिये मैं जल समर्पित करता हूँ, आदि ।।

जैसे कि मुनिगणों को पता है कि अर्चना, पूजा, वंदना व नमस्कार का फल परंपरया मोक्ष है, किंतु फिर भी इन कृत्यों को करने के पश्चात् फल की काँक्षा को व्यक्त करने का

निर्देश आगम में है कि इन कृत्यों के लौकिक फल का कांक्षी मैं नहीं हूँ, अपितु मुझे तो इन कृत्यों के मात्र और मात्र लोकात्तर फल दुखों का नाश, कर्मों का नाश, बोधि की प्राप्ति, समाधिमरण एवं जिनगुण संपत्ति चाहिये, ठीक वैसे ही इस दान ग्रहण कर रहे पात्र की पूजा विधि में, इस दान ग्रहण कर रहे पात्र में चूँकि परंपरया मोक्ष का मेरे लिये अबुद्धि पूर्वक आयोजन करने की पात्रता है, इसलिये दान देने के पूर्व उसके प्रति जल, चंदनादि अर्पित करते हुए दान का फल जन्म, जरा, मृत्यु का नाश, संसार ताप का नाश, अक्षय पद की प्राप्ति, काम बाण का विध्वंश आदि की कांक्षा को व्यक्त करते हुए उसके प्रति अहोभाव प्रगट करने का मेरे लिये आगम में निर्देश है ॥

जब दान ग्रहण करने वाला पात्र अनुपलब्ध होता है, तब जिस दाता को पात्र उपलब्ध हुआ है, ऐसे दाता की बहुमूल्य द्रव्यों द्वारा यह कहते हुए पूजा का निर्देश आगम में है कि महाभाग्यशाली व निकट भव्य हैं आप कि आपको आपके द्वारा दिये जा रहे परंपरया मोक्ष को दिलवाने वाले दान को ग्रहण करने वाला पात्र उपलब्ध हुआ, धन्य है, धन्य है, धन्य है आप आदि ॥ जैसे कि दान तीर्थंकर राजा श्रेयाँस की पूजा चक्रवर्ती भरत ने की थी ॥

जिनागमानुसार पूज्य कौन ? :-

यहाँ आप आदरणीय मूलचंदजी लुहाडियाजी की तरह, जैसाकि वे विभिन्न मुनिसंघों में कहते फिरते हैं, यह नहीं कह सकते कि हम वंदना 'वंदे तद्गुण लब्धये' के लिये ही करते हैं, अन्य किसी कारण से नहीं ॥ चूँकि मध्यम व जघन्य पद हमारी कांक्षा ही नहीं है, तब हम इनकी वंदनादि क्यों करें ?

यदि सत्य ऐसा ही है, तब तो जिनेन्द्र भगवान के मत में चैत्यालय की न तो देवता रूप स्थापना ही मान्य कहलावेगी और न ही उसकी पूजा ॥

जिनेन्द्र भगवान के मत में भिन्न-भिन्न कारणों से सचित्त, अचित्त व मिश्र, तीनों ही द्रव्यों को मंगल व आराधना के योग्य कहा है ॥ यहाँ तक कि णमोकार मंत्र में प्रयुक्त पाँच पदों को भी देषामर्षक कहते हुए कहा गया है कि मंगल प्रकरण में ये पाँचों पद देशामर्षक हैं अर्थात् मंगल ये पाँच ही हैं, पाँच से अन्य एक भी नहीं, ऐसा सिद्धाँत जिनेन्द्र भगवान को मान्य नहीं है, क्यों कि यदि सत्य ऐसा ही होता, तब तो श्रीमद् धवलाकारजी पाँचों परमेष्ठियों से पृथक् क्षेत्र मंगल व काल मंगल की प्ररूपणा ही नहीं कर सकते थे ॥[१]

किंतु नहीं, उन्होंने की, यही प्ररूपणा इस सत्य की स्थापनार्थ पर्याप्त है कि णमोकार मत्र देशामर्षक है अर्थात् इसमें कहे गये मंगल पाँच ही हैं, ऐसा नहीं, अपितु इन्हें आदि लेकर अन्य नहीं कहे गये मंगलों का भी यहाँ समुच्चय करना है ॥

---

१ श्री धवलाजी, पुस्तक - १, पृष्ठ ३०, प्रकरण नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव, इन ६ निक्षेपों के आश्रय से मगल मंत्र णमोकार का व्याख्यान ॥

जो इसे नहीं जानता वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता ॥

इस विषय पर श्री धवलाजी पुस्तक १, जहाँ कि मंगल मंत्र णमोकार का अवतरण हुआ है, वहाँ से श्रीमद् धवलाकारजी के वचनों का आश्रय लेते हुए विस्तार से अर्थ ग्रहण करना चाहिये ॥

अर्थात् पंचपरमेष्ठियों से अन्य मंगल हैं ही नहीं, ऐसा नहीं है, अपितु जिनेन्द्र भगवान ने जिनागम में पंचपरमेष्ठियों से अन्य गंधोदकादि कुछ ऐसे भी मंगल निर्देशित किये हैं, जो कि उस रूप होने योग्य तो नहीं है, किंतु उनमें परंपरया मोक्ष दिलवाने की पात्रता पाई जाती है, उन्हीं में से दो मंगलकारी पात्र गुणशाली जघन्य व मध्यम पात्र भी हैं ॥

इस प्रकार तीनों साक्षात् विधेय विशेषणों यथायोग्यं, सुभक्तितः एवं नवधा का शब्दार्थ भावार्थ व आगमार्थानुसार विवेचन किया गया ॥ इन तीनों साक्षात् विधेय विशेषणों का सम्मिलित अर्थ करने पर विधेय के इस भाग का अर्थ होगा :-

गुणशाली जघन्य, मध्यम व उत्तम पात्रों को यथायोग्य अर्थात् यथोक्तरीति से, भक्ति पूर्वक और नौ प्रकार से दिया जाता है ॥

क्या दिया जाता है ?

"दान" ॥

अतः अब दान पद की सिद्धि :-

दीयते विधेय पद कर्म वाच्य में प्रयुक्त है ॥

"दा" धातु में एक सम्प्रदान होता है और एक कर्म होता है ॥

क्रिया के व्याप्य को कर्म कहते हैं, जो कि इस वाक्य में दान है ॥

दान शब्द में प्रथमा है ॥

यदि प्रश्न यह हो कि क्या दिया जाता है ?

कर्म के द्वारा जिसका अभिप्राय किया जाता है, अर्थात् जिसकी और उन्मुखता होती है, वह दान क्रिया का सम्प्रदान होता है ॥

किन्तु जब सम्प्रदान में चतुर्थी अभीष्ट न हो, अथवा दान क्रिया से दान ग्राहक का संबंध मात्र अभीष्ट हो, तब सम्प्रदान की अविवक्षा में कारक शेष षष्ठी अथवा दान क्रिया से संबद्ध पदार्थ में संबंध शेष षष्ठी का विधान होता है ॥

इस प्रकार "जघन्यमध्यमोत्कृष्ट पात्राणां गुणशालिणां" में दोनों प्रकार से षष्ठी सिद्ध है ॥

यथायोग्यं सुभक्तितः नवधा दीयते इस विधेय खण्ड का परम्परया विशेषण दान है, जो कि क्रिया का मुख्य कर्म है ॥

अतः

१) दान शब्द परम्परया उपरोक्त विधेय खण्ड का विशेषण है

२) और जघन्यमध्यमोत्कृष्ट पात्राणां यह दान शब्द का विशेषण है अथवा विवक्षा विशेष से सीधे दीयते का भी विशेषण है और.....

३) गुणशालिणां यह जघन्यमध्यमोत्कृष्ट पात्राणां का विशेषण है ॥

४) इस प्रकार दानं, जघन्यमध्यमोत्कृष्ट पात्राणां और गुणशालिणां, ये तीनों परम्परया विधेय विशेषण हैं ॥

इस प्रकार विधेय अर्थात् इस श्लोक का पूरा अर्थ करने पर वाच्यार्थ होगा :-

गुणवान जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रों को यथायोग्य भक्तिपूर्वक चतुर्विध दान नौ प्रकार से दिया जाता है ॥

यथायोग्य नवधा का विशेषण नहीं है :-

नवधा शब्द प्रकारवाची विधार्थक 'धा' प्रत्यय से युक्त होकर दीयते विधेय का साक्षात् विशेषण है ॥

चूँकि उपर्युक्त प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत श्लोक में विधेय पद दीयते अर्थात् दिया जाता है का साक्षात् विशेषण नवधा है और यथायोग्यम् भी दीयते का ही साक्षात् विशेषण है, व नियम है कि साक्षात् के साक्षात् विशेषण नहीं होते हैं, इसलिये यथायोग्यम् अर्थात् यथोक्तरीति से यह नवधा का विशेषण हो ही नहीं सकता ॥

अतः यथायोग्य को नवधा का विशेषण बतलाना महान् वैयाकरण जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है, जिसकी कि मिथ्या सिद्धि व एकांत आग्रह का प्रयास आदरणीय डॉ. साहब कर रहे हैं ॥ ॥

इस प्रकार यथायोग्य विशेषण की व्याकरण शास्त्रानुसार कि इसका विशेष्य दीयते है, नवधा नहीं, की समीचीन सिद्धि के पश्चात्, प्रस्तुत श्लोक का तीनों पात्रों की नवधा भक्ति को प्रेरित करता हुआ अर्थ हुआ कि :-

"गुणशाली उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों को, उनमें प्राप्त गुणों के प्रति (श्रद्धान, क्षमादि से) परिपूर्ण भक्ति से आप्लावित चित्त का होते हुए दाता, दान देने के पूर्व व पश्चात् की कही गई (प्रतिग्रह, उच्चासनादि) नवधाभक्ति पूर्वक, दान देने की यथायोग्य अर्थात् कि जिसमें अंतरायादि के वर्जन व दिये जा रहे द्रव्य में विनय व्यवहार का प्रगटीकरण हो उस रीति से दान देता है ॥

निश्चित ही शब्दार्थ, भावार्थ व आगमार्थ आश्रित उपर्युक्त अर्थ डॉ. साहब को भी गम्य होगा और अपनी निष्पत्तियों पर हंसी भी आ रही होगी ॥

यह हंसी, स्पोर्ट्समेन स्पिरिट जिनमें होती है, उन्हें ही आ सकती है, अन्य को नहीं,

ऐसा बुधजन कहते हैं ॥

सारांश :-

डॉ. साहब का यह कहना कि ''कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गाथा ३६०) में जो यह कहा गया है कि उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रों को नवदानविधि पूर्वक आहारदान देना चाहिए, इस कथन में यथायोग्य (योग्यतानुसार) अर्थ गम्य है,'' श्रुतअवर्णवाद का पोषक होते हुए, काल्पनिक सिद्ध हो रहा है ॥

काल्पनिक सिद्ध होते हुए आर्यिका माताओं की उपासना से विमुख अपने अनुयायियों के लिये उपल नाव सिद्ध हो रहा है ॥

इतना ही नहीं, अपितु अपने उपर्युक्त मनःकल्पित मंतव्य की सिद्धि हेतु :-

जघन्यमध्यमोत्कृष्ट पात्राणां गुणशालिनाम् ।
नवधा दीयते दानं यथायोग्यं सुभक्तितः ॥

आपने जो यह प्रमाण प्रस्तुत किया है, इस प्रमाण में प्रयुक्त यथायोग्य यह विशेषण दीयते का है, न कि नवधा का, इसकी व्याकरण शास्त्रानुसार की गई उपर्युक्त सिद्धि आपके वैयाकरण होने पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है ॥

प्रश्न चिह्न लगाते हुए १३ पंथी श्रावकों के दुर्भाग्य को दर्शाती है व सिद्ध करती है कि १३ पंथी श्रावक १३ पंथी विद्वानों द्वारा ही छला जा रहा है, अन्य किसी के द्वारा नहीं ॥

१३पंथी विद्वानों द्वारा छले जाते हुए, जघन्य व मध्यम पात्रों को तो पृथक् करो, किंतु वे जो उत्तम पात्र मुनिराजों के अवर पद में स्थित हैं, ऐसी आर्यिका माताओं की नवधा भक्ति से भी १३ पंथी श्रावकों को विमुख किये हुए हैं, मानों आर्यिका माताओं की की गई नवधा भक्ति साक्षात् नरक का द्वार हो ॥

१३ पंथी श्रावकों के पास २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् भी नित नये तीर्थ की उत्पत्ति स्वरूप तीर्थंकरों की कोई कमी नहीं ॥

यहाँ एक प्रश्न को अवकाश है ॥

प्रश्न : क्या डॉ. साहब का मत स्वयं श्री कार्तिकेयाणुप्रेक्षाजी अथवा उस पर की गई व बुधजनों के मध्य प्रसिद्धि को प्राप्त श्रीमद् शुभचंद्राचार्यजी रचित टीका द्वारा भी खण्डित होता है ? यदि नहीं, तब तो व्याकरण शास्त्रानुसार की गई आपकी मीमांसा के पश्चात् भी पक्ष तो डॉ. साहब का ही सबल कहलायेगा ॥

समाधान :

स्वयं श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी व उसकी टीका से ही बाधित है डॉ. साहब का मत :-

निश्चित मानिये कि श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी व उसके मंतव्यों को हृदयंगम करने के उद्देश्य से उस पर की गई टीका का स्वाध्याय किये बगैर श्री कार्तिकेयाणुप्रेक्षाजी के मंतव्यों को हृदयंगम करना संभव ही नहीं ॥

किंतु डॉ. साहब साहब की उपर्युक्त विवेचना पढ़ कर प्रतीत होता है कि डॉ. साहब ने श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी के मंतव्यों को हृदयंगम करवाने वाली उस टीका का आद्योपांत स्वाध्याय किया ही नहीं है ॥

यदि किया होता, तो निश्चित ही इस गाथा में 'यथायोग्य' पद कार्तिकेयानुप्रेक्षाकारजी को गम्य है या नहीं, इस विषय में टीकाकार महोदय का आशय अवश्य लिया होता ॥

किन्तु उन्होंने नहीं लिया ॥

उन्होंने नहीं लिया, यही उनकी इस मानसिकता को द्योतित करने के लिये पर्याप्त हो जाता है कि वे स्वयं को केवली/श्रुतकेवली मान बैठे हैं, जिस कारण गाथाओं का अर्थ करने में अब उन्हें न तो किन्हीं अन्य आचार्य भगवंत की ही आवश्यकता है और न ही किसी अन्य विद्वान् की ॥

जिनागम की प्ररूपणा में वे स्वयं को स्वयंबुद्ध विद्वान् मानते हैं ॥

वर्ना इस विषय में वे टीकाकार महोदय का मंतव्य अवश्य प्रस्तुत करते, जिसे कि उन्होंने नहीं किया है ॥

देखिये, इस विषय में टीकाकार महोदय क्या कहते हैं : (गाथा ३७७ की टीका)

ततः पुनः नवरि विशेषेणत्रिविध पात्रं गृहीत्वा जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रं सम्यग्दृष्टिश्रावकमुनीश्वरलक्षणं नवरि सप्तदातृगुणनवविधपुण्योपार्जन विशेषेण गृहीत्वा.....

यहाँ इस गाथा की मीमांसा में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि प्रोषधोपवासी पारणे के दिन क्या करता है ?

उत्तर देते हुए कहा गया है कि "प्रोषधोपवासी पारणे के दिन जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट, तीनों ही पात्रों को दाता के लिये निर्देशित सप्त गुण व नवविध अर्थात् नवधा भक्ति अर्थात् नव प्रकार की भक्ति पूर्वक पुण्योपार्जन के लिये विशेष रूप से ग्रहण करता है........"

यहाँ कहा ही नहीं गया है कि यथायोग्य नवधा भक्ति से......

मात्र यहीं नहीं, अपितु गाथा ३६०, जिसमें कि तीनों प्रकार के पात्रों की नवधा भक्ति का उल्लेख है व जिसे प्रतिपक्ष द्वारा बैनाडाजी आदि के काल्पनिक मत 'आर्यिका माताओं की नवधा भक्ति मित्यात्व है' के खण्डनार्थ प्रस्तुत किया गया था, की टीका में भी यथायोग्य पद की सूचना देने वाली कोई निरुक्ति ही नहीं है ॥

अपितु डॉ. साहब के मत के विपरीत मूल ग्रंथकार का अनुसरण करता अपना मत टीकाकार महोदय इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :-

इति सप्तदातृगुणैर्नवविधपुण्योपार्जनविधिभिश्च कृत्वा त्रिविधपात्रेभ्यः अशनपानखाद्यखाद्यं चतुर्विध दानं दातव्यमित्यर्थः ॥

भावार्थ : इस तरह दाता को सात गुणों के साथ पुण्य का उपार्जन करने वाली नौ विधिपूर्वक चार प्रकार का दान तीन प्रकार के पात्रों को देना चाहिये ॥ (**भावानुवाद : सुप्रसिद्ध वैयाकरण व तेरहपंथी विद्वान पं. कैलाशचंद्रशास्त्री, प्रकाशक : श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, आगास, पृष्ठ २६४**)

अर्थात् आर्यिका मातायें ही नहीं, अपितु तीनों प्रकार के पात्र नवधा भक्ति के योग्य हैं, ऐसा स्वयं श्रीमद् कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी का ही नहीं, अपितु टीकाकार महोदय श्रीमद् शुभचंद्राचार्यजी का भी मत है व अनुमोदना है सुप्रसिद्ध वैयाकरण व १३ पंथी विद्वान् कैलाशचंद्र सिद्धाँतशास्त्री की ॥

क्या अब भी प्रिय पाठको, डॉ. साहब के पक्ष में कुछ कहने को आपके पास है ?

नहीं न ?

निष्कर्ष :-

अब कृपा कर प्रिय पाठको, आप स्वयं ही बतलाइये कि जिस अर्थ को न तो मूल ग्रंथ कर्ता कह रहे हैं और न ही उनके मर्म को कहने वाले टीकाकार महोदय व न ही जो व्याकरण व भाषाशास्त्र से ही सिद्ध है, ऐसे अर्थ को हम ग्रहण करें भी तो कैसे ?

और जो ग्रहण करेगा क्या वह जिनमतानुसारी कहलायेगा ?

नहीं न ?

डॉ. साहब का उपर्युक्त कृत्य बतलाता है कि वे लेखन, बैनडाजी आदि की ही तरह उन भोले प्राणियों, जो कि स्वयं तो भाषा अज्ञानादि कारणों से ग्रंथाध्ययन के अयोग्य हैं, किन्तु अन्य अनुवादकर्ताओं-विद्वानों के आश्रय से अपनी बुद्धि को जिनागमानुसारी बनाये रखने के लिये स्वाध्यायादि का उद्यम करते हैं, को बरगलाकर, उनकी भाषा अज्ञानादि का अनुचित लाभ उठाते हुए, उन्हें अपने पक्ष में करने के लिये कर रहे हैं ॥

चूँकि वे भोले प्राणी परीक्षाप्रधानी नहीं हैं, इसलिये सामान्य तर्कों का भी लंघन करने में असमर्थ होते हैं, चूँकि वे सामान्य तर्कों का भी लंघन करने में भी असमर्थ होते हैं, इसलिये अन्यमतियों की तरह उन्हीं मनभावन लुभावने तर्कों को जिनागम समझ, उसके अनुसार अपनी बुद्धि को करने वाले होते हैं ॥

इन्हीं भोले प्राणियों के मध्य, स्याद्वाद कौशल्य का अभाव होने पर भी स्वयं को

स्याद्वाद कुशल विद्वान् कहलवाने की/मनवाने की चाह में उनके लिये डॉ. साहब आदि उपल नाव की निर्मिति कर रहे हैं ॥

डॉ. साहब और कुछ नहीं चाहते, सिवाय इसके कि स्वयं की दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ विद्वान् के रूप में प्रतिष्ठा हो, जो कि वे नहीं हैं ॥

चूँकि वे दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ नहीं हैं, और चाह रहे हैं उसी रूप में प्रतिष्ठा पाना, जो कि वे दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ विद्वानों के मध्य पा नहीं सकते, इसलिये उन्होने सामान्य श्रोताओं/पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों, जिनकी कि संख्या प्रबुद्ध पाठकों व स्याद्वाद कुशल विद्वानों की तुलना में कहीं ज्यादा है, को लुभाने वाला आदरणीय बैनाडाजी का अनुसरण करता मिथ्या व असंगत प्ररूपणा वाला मार्ग चुना कि विद्वत् वर्ग न माने, न सही, औसत बुद्धि के विद्वान् व मंदबुद्धि पाठक ही दर्शनज्ञ/न्यायज्ञ होने का उन्हें मौखिक ही सही, किंतु प्रमाणपत्र तो दे देवे ॥

आर्यिका माताओं की आगम कथित नवधा भक्ति से १३पंथी श्रावकों को विमुख करने का यह तो प्रथम उदाहरण हुआ, किंतु उनकी इस बुद्धि को द्योतित करने वाले उदाहरण इसी एकउदाहरण से इति को प्राप्त नहीं हुए हैं, अभी और भी हैं ॥

उन्हीं अनेकों उदाहरणों में से उनकी उपल नाव बुद्धि को द्योतित करता इसी विषय में एक और उदाहरण अगले शीर्षक में देखिये ॥

॥ इत्यलम् ॥



बीसपंथ के पक्ष में श्रीमद्धवलाकारजी

णमियूण पुप्फयंतं सुरहियधवलिद्धपुप्फअंचियच्चलणं ।
कम्मट्ठिदिअणुयोगं वोच्छामि समासदो पयत्तेण ॥१॥

अर्थ - सुगन्धित, धवल और समृद्ध पुष्पों द्वारा जिनके चरणों की पूजा की गई है उन पुष्पदन्त जिनेन्द्र को नमस्कार करके मैं प्रयत्नपूर्वक संक्षेप में कर्मस्थितिअनुयोगद्वार का कथन करता हूँ ॥१॥

-श्रीधवलाजी, पुस्तक - १६, कर्मस्थितिअनुयोगद्वार, पेज नं. ५१८

❑ ऐलक-क्षुल्लक महाराज भी जिनाज्ञानुसार जिनलिंगी ही हैं

डॉ. साहब "आर्यिका पूज्य, मुनिराज परमपूज्य" लेख में पृष्ठ ७ पर "क्या आर्यिका माताएं पूज्य हैं ?" पुस्तक के लेखक पर अवर्णवाद का मिथ्या आरोप मढ़ते हुए लिख रहे हैं:-

"केवल मुनि का निर्ग्रंथ लिंग ही जिनलिंग है ।। क्षुल्लक, ऐलक, आर्यिका के लिंग जिनलिंग नहीं हैं ।। किन्तु कुछ आधुनिक विद्वानों ने क्षुल्लकादि के सवस्त्र लिंग को भी जिनलिंग मान लिया है ।। (देखिये पुस्तक क्या आर्यिका माताएं पूज्य है ? पृष्ठ १८-२०)

अर्थात् डॉ. साहब की विवक्षानुसार क्षुल्लकादि के साथ जिनलिंग विशेषण गमन नहीं करता अर्थात् क्षुल्लकादि को किसी भी विवक्षा से जिनलिंगी नहीं कहा जा सकता ।।

प्रतिपक्ष को आश्चर्य हो रहा है कि ....

खैर ! डॉ. साहब के मंतव्य पर काई भी टिप्पणी न करते हुए, आइये, सीधे-सीधे विषय की ही प्रश्नोत्तरी शैली में प्ररूपणा करें :-

१) आर्यिका माताओं में जिनलिंगीपने की सिद्धि :-

शंका : जिनलिंगी किसे कहेंगे ?

समाधान : जिनलिंगधारी को ।।

शंका : जिनलिंगी के एकार्थक शब्द कौन-कौन से हैं ?

समाधान : श्रमण, सव्वविरत, पंचमहाव्रतधारी, मुनि आदि-आदि ।। अर्थात् जिनलिंगी कहो, श्रमण कहो, सव्वविरत कहो, पंचमहाव्रतधारी कहो, मुनि कहो अथवा अन्य भी श्रमण वाचक शब्द, उन सभी का अर्थ जिनलिंगी ही होता है ।।

शंका : आर्यिका माताओं को ग्रंथांतरों में किस संज्ञा द्वारा इंगित किया गया है ?

समाधान :-

(१) श्री प्रवचनसारजी, गाथा २२४-९ में इन्हे समणी अर्थात् श्रमणी कहा गया है, जो कि श्रमण का स्त्रीलिंग होने से, श्रमण के एकार्थक जिनलिंगधारी का स्त्रीलिंग जिनलिंगधारिणी ही कहलायेगा ।।

(२) श्री मूलाचार जी, गाथा १८० में इन्हें विरदीणं कहा गया है ।। इस पद की संस्कृत छाया व टीकागत संस्कृत अर्थ है विरतीणां आर्यिकाणां, जो कि विरताणां सयतानां अर्थात् संयतों का स्त्रीलिंग है व चूँकि संयत जिनलिंगियों को ही कहते हैं, इसलिये विरदीणं शब्द का अर्थ हुआ जिनलिंगधारिणी ।।

(३) श्री मूलाचार जी, गाथा १७७ में इन्हें अज्जाणं कहा गया है ।। इस पद की संस्कृत छाया व समस्त वैयाकरणों को मान्य टीकागत् अर्थ है आर्याणां संयतीनाम्, जो कि आर्य अर्थात् संयमियों का स्त्रीलिंग है ।। इस प्रकार अज्जाणं का अर्थ भी जिनलिंगधारिणी ही हुआ ।।

(४) नंदीश्वर द्वीप भक्ति के अन्तरगत् समवशरण भक्ति में तृतीय कोठे का नाम व्रतिका अर्थात् आर्यिका कोठा है , यह व्रतिका भी व्रतियों का स्त्रीलिंग है ।। इसका अर्थ भी जिनलिंगधारिणी ही हुआ ।।

(५) श्री भगवती आराधनाजी पर विजयोदय टीका में गाथा : ४२३ की मीमांसा में इन्हें पंचमहाव्रतधारिणी कहा गया है, जो कि पंचमहाव्रतधारी का स्त्रीलिंग होने से पंचमहाव्रतधारी के एकार्थक जिनलिंगधारी का ही स्त्रीलिंग जिनलिंगधारिणी हुआ ।।

(६) श्री तिलोयपण्णत्तिजी, में समवशरण में इनकी संख्या बतलाते हुए इन्हें सव्वविरदो कहा है, जो कि इसकी संस्कृत छाया सव्वविरत होता हुआ, स्त्रीलिंग-पुल्लिंग दोनों में ही समान रूप से प्रयुक्त होता है ।। चूंकि यह सव्वविरत भी जिनलिंग का ही एकार्थक है, अतः पुल्लिंगियों में इसे ही जिनलिंगधारी व स्त्रियों में जिनलिंगधारिणी कहा जाएगा ।।

क्या इनके जिनलिंगी कहलाए जाने के अब और प्रमाण चाहिए ?

नहीं न ?

हाँ ! जैसे आचार्यों ने इनके आगे गम्य उपचार शब्द को गौण रखा है, कहा नहीं है, उसे सर्वत्र स्मरण रखना है ।। इस उपचार शब्द को बार-बार इनके लिए प्रयुक्त संज्ञाओं अथवा विशेषणों के आगे कहने की आवश्यकता नहीं ।।

इस प्रकार निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि आर्यिका माताएं आगमानुसार उपचार से जिनलिंगधारिणी ही हैं, जिनलिंगधारिणी से अन्य कुछ भी नहीं, ऐसा समस्त जैनाचार्यों का मत है ।।

उन्हें जिनलिंगधारिणी कहते हुए बार-बार उनके आगे उपचार शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं, वह गम्य है ।। उपचार पद के समीचीन अर्थ के लिये लेखक की पुस्तक "आर्यिका मातायें साधुपरमेष्ठी ही हैं," देखिये ।।

२) अब क्षुल्लक महाराजों में भी जिनलिंगत्व देखिये :-

क्षुल्लक शब्द का अर्थ होता है छोटा, क्षुद्र ।।

छोटा अथवा क्षुद्र की ही तरह क्षुल्लक भी विशेषण ही है ।।

विशेषणों के संदर्भ में स्मरण में रखने योग्य विषय यह है कि वे सदैव विशेष्यों के होते हैं, उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता और बहुधा विशेष्यों के अनुसार होते हैं ।।

यहाँ प्रश्न को स्थान है कि क्षुल्लक का विशेष्य क्या अथवा क्षुल्लक किसका विशेषण है?

निश्चित ही मुनि का, श्रावकों का तो हो ही नहीं सकता ॥

क्यों ?

क्योंकि क्षुल्लक महाराज श्रावकों से ज्येष्ठ होते हैं ॥

चूँकि क्षुल्लकजी श्रावकों से ज्येष्ठ होते हैं, इसलिये क्षुल्लक श्रावक अर्थात् छोटा श्रावक यह पद किसी भी विवक्षा से बन ही नहीं सकता, अतः क्षुल्लक यह मुनिराजों का ही विशेषण स्वीकार हो ॥

मुनिराजों का विशेषण होते हुए पूर्ण पद बनेगा "क्षुल्लक मुनि"॥

जैसे 'सत्यभामा' में 'सत्य' का लोप कर व्यवहार में 'भामा' शब्द से भी 'सत्यभामा' को कहा जाता है (**श्री धवलाजी, पुस्तक १३, पृष्ठ २६१**), वैसे ही 'क्षुल्लक मुनि' इस मूल पद में से 'मुनि' का लोप कर 'क्षुल्लक' शब्द से 'क्षुल्लक मुनि' को ही कहा जाता है ॥

जैसा कि ग्रंथांतरों में भी कहा गया है ॥

मात्र ग्रंथांतरों में ही नहीं, अपितु डॉ. साहब स्वयं भी पृष्ठ ८ पर कह रहे हैं :-

" 'क्षुल्लक' शब्द 'क्षुद्र' अर्थात् 'छोटा' अर्थ का वाचक है, जो उसके लघुमुनित्व को द्योतित करने के लिये प्रयुक्त किया गया है ॥"

डॉ. साहब ने यहाँ मुनि के आगे मुनिपने से तन्मय अर्थ को सूचित करने वाला 'त्व' प्रत्यय प्रयुक्त किया है, जो कि इनके अर्थात् ये मुनि का ही भेद हैं, की सूचना देता है ॥

ग्रंथांतरों में भी इन्हें (डॉ. साहब के द्वारा प्रमाणरूप से प्रस्तुत मात्र) .-

१) श्री पद्मपुराणजी (१०२/३) गृहस्थमुनि कहा गया है ॥

२) श्री यशस्तिलक चम्पूजी महाकाव्य में इन्हें मुनिकुमार/मुनिकुमारिका कहा गया है ॥

अर्थात् जब-जब और जहाँ-जहाँ क्षुल्लक शब्द का प्रयोग होगा, उसके अर्थ करने में मुनि शब्द गम्य होगा ॥

मुनित्व का अभाव कर मात्र क्षुल्लक शब्द से अर्थ ग्रहण नहीं हो पाएगा ॥

और मुनि शब्द चूंकि जिनलिंग का एकार्थक है, अतः क्षुल्लकमुनि को शब्दांतर से क्षुल्लक जिनलिंगी कहा जायेगा ॥

इस प्रकार क्षुल्लक मुनि का क्षुल्लक जिनलिंगी एकार्थक पद ग्रहण करने के पश्चात् डॉ. साहब का स्वयं का कहा गया वाक्य, उनके स्वयं के द्वारा इस प्रकार कहा जाएगा :-

"......... जो उसके लघुजिनलिंगत्व (त्व प्रत्यय तन्मय अर्थ में) को द्योतित करने के लिए प्रयुक्त किया गया है ॥ "

अतः चूंकि डॉ.साहब को स्वयं को ही जब क्षुल्लक शब्द मुनि के विशेषण रूप में ग्राह्य है, व मुनि शब्द जिनलिंग का ही पर्यावाची है, अतः निःसंकोच हो कहा जा सकता है कि क्षुल्लक शब्द व उसका अर्थ, दोनों ही, जिनलिंग के ही विशेषण है, अन्य किसी के नहीं ॥

यहाँ आश्चर्य यह है कि इन्हें मुनि कहते हुए, डॉ. साहब को स्वयं को ही विस्मृत हो गया था कि मुनि जिनलिंगी का एकार्थक शब्द है ॥

नहीं हो गया था क्या ?

हो गया था न ?

यदि नहीं हो गया होता, तो फिर वे चूकते कैसे ?

वे चूक गये यह दर्शाता है कि डॉ. साहब को स्वयं को ही विस्मृत हो गया था कि मुनि जिनलिंगी का एकार्थक शब्द है ॥

वे स्वयं आगे लिख रहे हैं कि ऐलक शब्द भी अचेलक (अल्पसंख्यक) शब्द का प्राकृत रूप है और इसमें भी अंशतः मुनिसदृश्य चर्या द्योतित होती है ॥

अर्थात् डॉ. साहब को क्षुल्लक व ऐलक महाराजों में अंशतः मुनिसदृश्य चर्या स्वीकार है/इस विषय में वे निःशंक हैं/उनके चित्तमें कोई शंका नहीं है ॥

निष्कर्ष :-

अब उनसे विनती है कि वे अपनी निष्पत्ति को स्मरण में रख श्री धवलाजी पहली पुस्तक से भगवान वीरसेन स्वामी के वचन सुनें .-

यह प्रकरण एक स्थान पर नहीं अपितु दो स्थानों पर है, एक ज्ञान को मंगल कहते हुए मिथ्यादृष्टि में भी मंगलपने की सिद्धि करते हुए व दूसरा केवलज्ञानियों की अपेक्षा मुनियों के अपूर्ण रत्नत्रयों में भी मंगलपने की सिद्धि करते हुए :-

मंगल मंत्र णमोकार के व्याख्यान में णमोलोए सव्वसाहूणं पद का प्रश्नोत्तरी विवेचन करते हुए आचार्य भगवंत पृष्ठ क्रमांक ५४, पर कह रहे हैं :-

"सम्पूर्णरत्नानि देवो न तदेकदेश, इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे समस्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः ॥"

अर्थ : शंकाकार शंका कर रहा है कि : संपूर्ण रत्न (त्रय) ही देव है, उसके एक देश में देवत्व नहीं हो सकता ॥

इस शंका पर आचार्य भगवंत समाधान देते हैं कि - ऐसा नहीं है, क्योंकि रत्नों के एक देश में देवत्व का अभाव मानने पर, रत्नों की संपूर्णता में भी देवपना नहीं बन सकता ॥ अर्थात् जो कार्य जिसके एक देश में नहीं देखा जाता है, वह उसकी समग्रता में कहाँ से आ सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं आ सकता है ॥

शायद डॉ. साहब समझ रहे हैं ॥

चूँकि वे निःशंक हो कर स्वीकार कर रहे हैं कि ऐलक व क्षुल्लक महाराजों में अंशतः अर्थात् एकदेश मुनित्व है, जो कि जिनलिंग का ही पर्यायवाची होने से निःशंक होकर कहा ही जा सकता है कि वे एकदेश जिनलिंगी हैं ॥

और यदि वे अपने द्वारा प्ररूपित इस एकदेश मुनित्व मे जिनलिगत्व का अभाव मानेगे तो, सर्वदेश मुनित्व में जिनलिंगत्व कहाँ से लायेंगे ?

अर्थात् ला ही नहीं सकते ॥

इस प्रकार शब्द, उसका अर्थ व उसके एकार्थक सहित श्रीमद् वीरसेन स्वामी के न्याय के विस्मरण से न सिर्फ डॉ. साहब की निष्पत्ति सदोष हुई, अपितु वे स्वयं स्व-वचन बाधित भी हुए ॥

अत उनका यह आरोप कि :-

कुछ आधुनिक विद्वानों ने क्षुल्लकादि के सवस्त्र लिंग को भी जिनलिंग मान लिया है ॥ (देखिये पुस्तक "क्या आर्यिका माताएं पूज्य हैं ?" पृष्ठ १८-२०)

उन विद्वानों पर नहीं, अपितु उन पर स्वयं पर ही लौट कर आते हुए, आर्यिका माताओं में व क्षुल्लक महाराजों में जिनलिंगत्व की सिद्धि करते हुए, उनके अपने निष्कर्षों में उनके अपने ही स्खलन को द्योतित करते हुए, उनके न सिर्फ न्यायज्ञ होने पर, अपितु वैयाकरणपने पर भी प्रश्न चिह्न लगाता है ॥

अर्थात् वे स्वयं क्षुल्लक महाराज को जिनलिंगी कह रहे हैं व आश्चर्य यह कि उन्हें स्वयं ही नहीं मालूम कि वे क्षुल्लक महाराज को जिनलिंगी कह रहे हैं ॥

दूसरा आश्चर्य यह कि वे विद्वान् जो कि क्षुल्लक महाराज को जिनलिंगी लिख रहे हैं, उन्हें वे जैनाभाषी कह रहे हैं ॥

शायद पाठक वर्ग समझ रहे हैं कि सम्पूर्ण १३ पंथी समाज ऐसे ही तीर्थंकरों से भरा पड़ा है ॥

इन तीर्थंकरों को यह भी नहीं पता कि वे जिनका खण्डन कर रहे हैं, उनका अपना मत, उनके मत से पृथक् नहीं है ॥

इसीलिये हमने पूर्व में कहा कि समालोचना के लिये सम्मुख एक भी प्रौढ़ चिंतन/चिंतक नहीं है, जो भी हैं, सो सब .... ॥

खैर ! इसे गौण करें व आइये, अगले शीर्षक में एक और उदाहरण देखें ॥

॥ इत्यलम् ॥



☐ *आर्यिका माताएँ भी परमपूज्य और मुनिराज भी परमपूज्य*

उपर्युक्त सभी उदाहरण न्यायाचार्य बनने की ललक में अपने मूलभूत मूलगुण वैयाकरणपने से ही डॉ. साहब के चूक जाने के थे, अब उदाहरण न्यायाचार्य कहलवाने की ललक में .....

नहीं-नहीं, हम कुछ नहीं कहेंगे, कहने का अधिकार अब हम डॉ. साहब के ही सुपुर्द करते हैं, किन्तु प्रकरण पूरा होने के बाद, पूर्व नहीं, अर्थात् हम चाहते हैं कि प्रकरण पूर्ण होने के पश्चात् अपने लिये विशेषण वे ही चुनें॥ वे जो भी विशेषण चुनेंगे, हमें स्वीकार होगा॥

देखिये :-

जैसा कि अभी-अभी हम कह आये हैं कि डॉ. साहब अपने आर्यिकाएं पूज्य, मुनिराज परम पूज्य नामक लेख में, एक ओर तो आर्यिका माताओं को पूज्य कह रहे हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें नवधा भक्ति एवं अष्ट द्रव्य से पूजा के अयोग्य/अपूज्य ठहरा रहे हैं॥ मात्र पूजा के अयोग्य/अपूज्य ही नहीं, अपितु उनकी नवधा भक्ति व अष्ट द्रव्य से पूजा करने वालों को तो वे जैनाभाषी/मिथ्यामती और न जाने क्या-क्या समझ व कह रहे हैं॥

इस विषय में उनका उपलनाववत् तर्क देखिये :-

पृष्ठ ९ पर आप लिखते हैं कि :-

अतः आर्यिकादि पूज्य हैं, किन्तु मुनिराज परम पूज्य॥

पूज्य और परमपूज्य की पूजा विधियों में अंतर होना स्वाभाविक है। उनमें ऐसा अंतर होना चाहिए, जिससे पूज्य की पूज्यता और परमपूज्य की परमपूज्यता द्योतित हो। यदि दोनों की पूजा विधियाँ एक जैसी हुई तो परमपूज्य की परमपूज्यता द्योतित न हो सकेगी, वह सामान्य पूज्य जैसी ही प्रतीत होगी। इससे पूजाविधि उसके सम्मान का माध्यम न बनकर अपमान का माध्यम बन जाएगी।

अतः पूजाविधियों में पद के अनुसार विशेषता होनी चाहिए।"

मीमांसा (१)

उपर्युक्त शब्द संरचना में डॉ. साहब अपनी ओर से निष्कर्ष दे रहे हैं कि आर्यिका माताएं पूज्य व मुनिराज परमपूज्य।

यहाँ प्रश्न यह है कि यदि आर्यिका माताएं पूज्य व मुनिराज परमपूज्य, तब अरिहंत व

सिद्ध भगवान ?

क्या अरिहंत व सिद्ध भगवान परमातिपरमपूज्य ?

यदि हाँ, तब तो प्रियवर श्री रतनचंदजी, आप ही की शैली व शब्द संरचना का अनुशरण कर प्रतिपक्ष आपके सम्मुख उपस्थित है कि :-

फिर परमपूज्य व परमातिपरमपूज्य, दोनों की पूजाविधियों में अंतर होना चाहिए या नहीं ?

क्या दोनों की पूजा-विधि, पूजा के द्रव्य व पूजा के मंत्र एक हो सकते हैं ?

क्या दोनों की पूजा-विधि, पूजा के द्रव्य व पूजा के मंत्रों में अंतर नहीं होना चाहिए ?

निश्चित ही होना चाहिए ।।

और यदि वह अंतर नहीं है अर्थात् यदि दोनों की पूजाविधियां एक जैसी हुई, तो परमातिपरमपूज्य की परमातिपरमपूज्यता द्योतित न हो सकेगी, वह सामान्य परमपूज्य जैसी ही प्रतीत होगी ।। इससे पूजाविधि उनके सम्मान का माध्यम न बनकर अपमान का माध्यम बन जाएगी ।।

क्यों, क्या नहीं बन जाएगी ?

आपकी चिंतन शैली व शब्द संरचनानुसार तो अवश्य ही बन जाएगी ।।

तब ? तब क्या ? बन पाए तो प्रतिपक्ष का समाधान करें, और यदि न बन पाए, तो अपने वक्तव्य व मंतव्य दोनों को ही क्षमा सहित वापस ले लें ।।

इतना ही नहीं, अपितु परमातिपरमपूज्यों की भी समान पूजा विधि द्वारा पूजा नही कर सकते ।।

क्यों ?

क्योंकि दोनों के पदों में महान् अंतर है, एक सकल परमात्मा हैं, तो दूसरे निकल परमात्मा ।।

चूँकि दोनों के पदों में महान् अंतर है, इसलिये बकौल डॉ. साहब दोनों की पूजा विधियाँ एक जैसी हुई, तो दोनों परमात्माओं में से जो परमपूज्य है, उसकी परमपूज्यता द्योतित न हो सकेगी, वह सामान्य परमपूज्य जैसी ही प्रतीत होगी ।। इससे पूजाविधि उसके सम्मान का माध्यम न बनकर अपमान का माध्यम बन जाएगी ।।

नहीं बन जायेगी क्या ?

बन क्यों नहीं जायेगी ? बन ही जायेगी ।।

इतना ही नहीं, अपितु इसी विधान के अनुसार तो णमोकार महामंत्र महामिथ्यात्व को पुष्ट करने वाला सिद्ध हो रहा है ।।

क्योंकि इस महामंत्र में अरिहंत व सिद्ध में से जो अधिक पूज्य हैं, ऐसे सिद्ध भगवानों

की पूज्यता को ताक पर रख कर, अपनी स्वार्थसिद्धि की विवक्षा को चित्त मे रख अरिहतों को प्रथम नमस्कार किया गया है ॥

क्या अरिहंतों को किया गया प्रथम नमस्कार बकौल डॉ. साहब सिद्धों के सम्मान का माध्यम न बनकर अपमान का माध्यम नहीं कहलाएगा ?

नहीं क्यों कहलायेगा ? निश्चित ही कहलायेगा ॥

अतः डॉ. साहब को आर्यिका माता की मुनि सदृश्य पूजा विधि का विरोध तो बाद में करना चाहिये, प्रथम तो उन्हें अपने मत को निर्दोष बनाने के लिये मुनिराजों को तो पृथक् करें, अरिहंत व सिद्धों के महान् पदों में से सिद्धों का पद सर्व प्रकार से उत्तमोत्तम है, उन्हें गौण करके जिस मंगलाचरण में अरिहंतों को प्रथम नमस्कार किया गया है, ऐसे नमस्कार महामंत्र का ही विरोध करना चाहिये ॥ उसका विरोध करते हुए उसे श्रुत अवर्णवाद घोषित करना चाहिये ॥

नहीं करना चाहिये क्या ?

नहीं क्यों करना चाहिये ? करना ही चाहिये ॥

शायद पाठकों के लक्ष्य में डॉ. साहब के तर्क में निहित दार्शनिक व तार्किक मूढ़ता लक्षित हो ही गई होगी, अतः इसे गौण करके आगे कहते हैं ॥

एक और उदाहरण देखिये ॥

मीमांसा (२)

आप पृष्ठ ९ पर लिखते हैं :-

"निम्न पद वालों के द्वारा नमोस्तु करने पर प्रसन्न मुद्रा में आशीर्वाद देना ही साधु का निम्नपद वालों के प्रति विनय प्रकाशन है ॥ तात्पर्य यह है कि उच्च निम्न पद के अनुसार पूजाविधि में अंतर होना पदानुसार सम्मान व्यक्त करने के लिए आवश्यक है ॥"

यही प्रश्न प्रियवर श्री रतनचंदजी, आपके लिए भी है कि मुनिराज अरिहंत भगवान से निम्न पद में हैं अथवा नहीं ?

यदि हैं तब दोनों के विनय प्रकाशन के नियम क्या ?

और उसके नियमों की प्ररूपणा पूर्वक यह भी स्पष्ट करने का कष्ट करें कि दोनों के उच्च व निम्न पद के अनुसार पूजाविधि में अंतर होना, पदानुसार सम्मान व्यक्त करने के लिए नियामक होना चाहिए या नहीं ?

निश्चित ही होना चाहिये ॥

यही नहीं, फिर तो णमोकार महामंत्र में इन्हें संयुक्त रूप से स्मरण करना व एक ही

णमो शब्द से दोनों की समान अर्थ वाली विनय का प्रकाशन करना, आपकी पदानुसारी पूजा सूत्रानुसार क्या श्रुत अवर्णवाद का विषय नहीं बन जाएगी ॥ .

बन क्यों नहीं जाएगी ?

निश्चित ही बन जाएगी ॥

यदि नहीं बनेगी तो स्व-वचन बाधा नामक दूषण, जो कि मिथ्यात्व का भेद है, राह तकता, आपको आपके ही द्वार पर स्थित दिखेगा ॥

नहीं दिखेगा क्या ?

निश्चित ही दिखेगा ॥

निष्कर्ष :-

प्रिय श्री रतनचंदजी !

हम यह जानते हैं कि उपर्युक्त समस्त बाधाओं के उत्तर आपके पास आगमोक्त/नय निक्षेप प्ररूपणानुसार अवश्य ही होंगे,

जिसे कि आर्यिका माताएं पूज्य, मुनिराज परमपूज्य व शासन देवता नामक लेख लिखते वक्त आप विस्मृत कर गये ॥

इसे पुन. स्मृत करें ॥

उसे पुनः स्मृति में लाते हुए अपने ही लिखे दोनों लेखों को समालोचक बुद्धि पूर्वक पढ़िये ॥

न सिर्फ पढ़िये, अपितु गुनिये भी ॥

निश्चित मानिये समालोचक बुद्धि पूर्वक पढ़ते हुए आपको न सिर्फ अपने लिखे पर हँसी आएगी, अपितु आश्चर्य भी होगा कि अरे ! क्या मैंने ऐसा लिखा/क्या मेरे द्वारा ऐसा लिखा गया ?

पूज्य व पूज्यता के सूत्रों में पद का अपना एक अलग माहात्म्य तो है ही, किन्तु पद में अंतर होने से पूजाविधिमें भी अंतर हो, ऐसा एकान्त नहीं है ॥

देखिये, आचार्य भगवंत मुनिराज व आर्यिका माताओं, दोनों ही के लिए संयम पालने का फल एक सा प्ररूपित कर रहे हैं (श्री मूलाचारजी, गाथा : १९६) :-

एवं विधाणचरियं, चरितं जे साधवो य अज्जाओ ।
ते जगपुज्जं कित्तिं सुहं च लद्धूण सिज्झंति ॥

अर्थ :- उपर्युक्त विधान रूप चर्या का जो साधु और आर्यिकाएँ आचरण करती हैं, वे जगत से पूजा को, यश को और सुख को प्राप्त कर सिद्ध हो जाती हैं ॥

आचार्य भगवंत यहाँ न सिर्फ दोनों की समान चर्या का विधान दिग्दर्शित कर रहे हैं,

अपितु उस चर्या को पालने से प्राप्त होने वाला फल भी दोनों के लिए समान है, इस सत्य को भी प्रकाशित कर रहे हैं ॥

यद्यपि आतापनादि उत्तर तपों के आर्यिका माताएँ योग्य नहीं हैं, अयोग्य ही हैं, किन्तु आतापनादि उत्तर तपों की अपेक्षा यहाँ फल नहीं कहा गया है, फल तो समाचारों के परिपालन की अपेक्षा कहा गया है, इसलिये वे विचारणीय नहीं है ॥ समाचारों के परिपालन की अपेक्षा मुनिवत् उन्हें भी तीनों फलों की अधिकारिणी निरूपित किया गया है :-

१) जगत से पूजा को, २) यश को, ३) सुख को ॥

वे भी, अर्थात् आर्यिका माताएं भी मुनिराजों से परस्पर में ज्येष्ठ व कनिष्ठ का भेद होते हुए सम्पूर्ण जगत के द्वारा समान रूप से पूज्य, समान रूप से यश लब्ध एवं समान रूप से सुख प्राप्ति की अधिकारीणी हैं ॥

उनमें परस्पर में पाया जाने वाला ज्येष्ठ व कनिष्ठ का भेद जिसे कि ग्रंथातरों में वर और अवर[1] कहा गया है, उनकी अपनी (साधु समाज की) कुल व्यवस्था है[2], जो कि श्रावकों का विषय नहीं है ॥

श्रावकों के लिए तो वे दोनों एक ही कुल के होते हुए सर्वत्र, सर्वकाल समान आचार आचरने वाले होते हुए समान रूप से पूज्य हैं ॥

जिस प्रकार परस्पर में दोनों अर्थात् अरिहंत भगवान व मुनिराजों के पद में महान् अंतर होने पर भी, श्रावकों द्वारा उनकी पूजा-विधि, पूजा के द्रव्य एवं पूजा के मंत्रों में अंतर करना आगमोक्त नहीं है,

ठीक उसी प्रकार परस्पर में दोनों अर्थात् आर्यिका माताओं व मुनिराजों के पद में महान् अंतर होने पर भी, जो कि उनकी अपनी (साधु-समाज की) कुल व्यवस्था है, श्रावकों द्वारा उनकी पूजा-विधि, पूजा के द्रव्य व पूजा के मंत्रों में अंतर करना युक्तियुक्त नहीं है, अपितु श्री मूलाचारजी द्वारा दी गई इनकी जगत्पूज्यता को द्योतित करने वाली आज्ञा के उल्लंघन रूप श्रुत

---

१. एकं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु। अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥
एकं जिनस्य रूपं द्वितीयमुत्कृष्टश्रावकाणां तु ।अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिंगदर्शनं नास्ति ॥
अर्थ : एक जिनेन्द्र भगवान् का नग्न रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का, और तीसरा अवर पद में स्थितों का अर्थात् मुनिराज के अवर पद में स्थित आर्यिका माताओं व ऐलक महाराज के अवर पद में स्थित क्षुल्लक व क्षुल्लिका माताओं का, इस प्रकार जिनशासन में तीन लिंग कहे गये हैं। चौथा लिंग जिनशासन में नहीं है ॥ १८ ॥ -श्री दर्शनपाहुड जी, गाथा १८

२. ग्रंथ : श्री प्रवचनसारजी, टीकाकार - जयसेनाचार्य जी, गाथा - २२४-८
तदुपचारेण कुल व्यवस्था निमित्तं । (अर्थ - यह उपचार कथन है, (मुनिराजों के) कुल की व्यवस्था के निमित्त कहा है ॥)

अवर्णवाद ही है ॥ अर्थात् पद भेद से पूजा की विधि, पूजा के द्रव्य व पूजा के मंत्रों में अंतर का उत्सूत्र गढ़ना सिवाय मिथ्यात्व के कुछ नहीं है ॥

इस विषय में **"क्या आर्यिका माताएँ पूज्य हैं ?"** एवं **"आर्यिका माताएं साधु परमेष्ठी ही हैं"**, पुस्तक का विधिवत् अध्ययन करना चाहिये, वहाँ इस विषय का विस्तार से विवेचन है ॥

इसलिए आर्यिका माताओं की पारलौकिक मान्यता वाला पूजा का मार्ग ही समीचीन है ॥

चिंतन के नाम पर चिंतनाभाव :-

हमारी व्यक्तिगत अथवा सामूहिक पीड़ा यह है कि हमारे पास शैली व शब्द संयोजन तो विद्वान् पुरुषों का सा होता है, किन्तु चिंतन ?

चिंतन के नाम पर चिंतनाभाव ॥

आर्यिका माताओं के विषय में उनकी पूज्यता से संबंधित निःशंकित करने वाले आचार्य कृत उपदेशों के उपलब्ध होने पर भी, उनकी पूजा, पूजा के द्रव्य एवं पूजा के फल के विषय में न सिर्फ स्वयं शंकित रहना, अपितु अन्य में भी शंका के उदय के पुरुषार्थ से युक्त होना, सिवाय चिंतनाभाष के और कुछ भी नहीं है ॥

इतना ही नहीं अपितु सर्वमान्य आचार्यों एवं विद्वानों के ज्ञान को, स्वयं मंदबुद्धि होते हुए, स्खलित ज्ञान निरूपित करना, चिंतनाभाषियों का अक्षम्य दुःसाहस नहीं है, तो क्या है ? (इसे आगे के प्रकरणों में और स्पष्ट करेंगे ॥)

होना तो यह चाहिए था कि शैली और शब्द संयोजन में कथंचित् त्रुटि हो तो हो, किन्तु चिंतन निर्दोष होना चाहिए ॥

जब तक यह नहीं होगा, तब तक अन्यमति तो इस पृथ्वी पर विचरेंगे ही, किन्तु उन्हीं के साथ तथाकथित जैनाभाषी भी विचरेंगे ॥

आइये, डॉ. साहब को चिंतन का अवकाश दे, हम अपने मूल विषय शासन देवता की ओर अगले शीर्षक में लौटें ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ शासन देवता व स्व-वचनबाधित डॉ. साहब

अब कि उदाहरण शासन देवता संबंधी डॉ. साहब की हास्यास्पद विवेचना से :-

उन्होने अपने जिस लेख में बैनाडाजी की मीमांसा को खण्डित किया था व पूर्व में उसीके कुछ प्रकरणों की हमने मीमांसा की थी, हम यहाँ से आगे उसी लेख के उद्धरण प्रस्तुत करेंगे, विशेषता यहाँ मात्र इतनी रहेगी कि आगे के सभी प्रकरण प्रकरणानुसार अन्य विषयों को अपने में समाहित करते हुए शासन देवता से संबंधित ही होंगे ॥

पाठकों के स्मरणार्थ पत्रिका का नाम, लेख का नाम, उप शीर्षक, कॉलम, पृष्ठ क्रमांक पुनः-पुनः देते रहेंगे :-

पत्रिका : जिन-भाषित (भोपाल, म.प्र. से प्रकाशित)

संपादक व लेखक : डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल

शीर्षक : शासन देवता सम्मान्य, पंचपरमेष्ठी उपास्य, पृष्ठ - ११, कॉलम - २

विषय :- आगम में सर्वत्र शासन देवताओं को विघ्न विनाशक व इष्टार्थ संपादक कह कर जो स्मरण किया गया है, उसका खण्डन व उसके आश्रय से जिनागम में शासन देवताओं की प्ररूपणा को मिथ्या सिद्ध करते हुए वे लिख रहे हैं कि :-

शासन देवताओं को विघ्न विनाशक और इष्टार्थ संपादक मानना जैन धर्म के प्राणभूत कर्मसिद्धांत पर अविश्वास करना और ईश्वरवाद को स्वीकार करना है ॥

अर्थात् डॉ. साहब की प्ररूपणानुसार जिनागम में न ही कोई विघ्न विनाशक होता है और न ही कोई इष्टार्थ सम्पादक ॥

किसी को भी विघ्न विनाशक व इष्टार्थ सम्पादक निरूपित करने पर उन्हें न सिर्फ उस प्ररूपणा में ईश्वरवाद की बू आती है, अपितु जैन धर्म के प्राणभूत कर्मसिद्धांत का घात होते हुए भी दीखता है ॥

इस एक तर्क के आश्रय से उन्होने, जिनागम में जहाँ-जहाँ अथवा कहें कि जिन-जिन ग्रंथों में शासन देवताओं का कथन अथवा प्ररूपणाएँ की गई हैं, उन सभी ग्रंथों/प्ररूपणाओं को मिथ्या घोषित कर दिया ॥ न सिर्फ उन ग्रंथों व प्ररूपणाओं को, अपितु उन ग्रंथों के प्ररूपक आचार्य भगवंतों को भी, स्वयं को साक्षात् श्रुतकेवली पद पर आसीन मानते हुए, अवर्णवादी/मिथ्योपदेशक प्रसिद्ध कर दिया ॥

अत आइये, साक्षात् श्रुतकेवली होने के दंभ से भरे डॉ. साहब के इसी तर्क द्वारा उनकी अपनी निष्पत्तियों के दूषण देखें :-

क्या इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक विशेषण जैनेतरों की परिकल्पना है ? :-

पृष्ठ ११, कॉलम २ मे पंच परमेष्ठी की भक्ति से ही शुभ कर्मों का बंध उपशीर्षक में, नमस्कार महामंत्र के माहात्म्य को दर्शाने वाला एक प्रमाण जिनागम से ग्रहण कर, अपने मत की पुष्टी के लिये वे उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं :-

अपराजित मंत्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशनः ।
मंगलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥

हँसी आती है ॥

जैसा कि हम पूर्व में भी कह चुके हैं, यहाँ पुन. कहते हैं कि व्याकरण शास्त्र के आश्रय से अन्यों की प्ररूपणाओं को मिथ्या व असंगत सिद्ध करने वाले तथाकथित विद्वान् महोदय, दार्शनिक/नैयायिक तो थे ही नहीं, किन्तु दार्शनिक/नैयायिक कहलाने की चाह में, अपनी मूलभूत पात्रता/योग्यता/मान्यता वैयाकरणपने से भी चूके ....

कदाचित्, बैनाडाजी चूंकि भाषा शास्त्री नहीं हैं, अतः उन्हें बाल कह क्षमा भी किया जा सकता है, किन्तु ....

किन्तु इनके विषय में मैं क्या कहूँ ....

मुझे तो बस तीन शब्द याद आ रहे हैं, हा ! मा !! धिक् !!! ....

इस श्लोक का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि :-

यह अपराजित मंत्र है । इससे सर्व विघ्नों का विनाश हो जाता है । समस्त मंगलकारी हेतुओं में यह प्रथम हेतु है ।

इस अर्थ में निहित हास्यास्पदता देखिये :-

अपने द्वारा किये गये अनुवाद में उन्होंने शब्द प्रयोग किया है :-

"मंगलकारी"

व्याकरण शास्त्र की विवक्षानुसार यह स्त्रीप्रत्ययांत शब्द कर्ताकारक है व इसका अर्थ होता है :-

"मंगल करने वाला"

अर्थात् डॉ. साहब के स्वयं के अनुसार यह मंत्र कर्ता है ॥

कर्ता अर्थात् कार्य को संपादित करने वाला है ।

किस कार्य को ?

मंगल कार्य को ॥

अर्थात् यह मंत्र मंगल कार्य को संपादित करने वाला है।

अब पाठक वर्ग कृपया स्वयं बतलाएँ कि जिनागम में इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक विवक्षा का सर्वथा अभाव है की सिद्धि में जो प्रमाण यहाँ डॉ. साहब प्रस्तुत कर रहे हैं, क्या उसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं हो रहा है कि यह मंत्र मंगलकारी अर्थात् इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक है ?

हो रहा है न ?

और भी देखिये :-

वे कहते हैं कि इस मंत्र से विघ्नों का विनाश हो जाता है ॥

इस वाक्य मे मंत्र को डॉ. साहब ने करण कारक कहा है, जैसे कहा जाता है कि देवदत्त कुल्हाड़ी से..... कुल्हाड़ी यहाँ देवदत्त के लिए करण अर्थात् साधन है ॥

उसी प्रकार यह मंत्र भी करण अर्थात् साधन है ॥

किसके लिए ?

विघ्नों के विनाश करने हेतु तत्पर पुरुष के लिए ॥

अर्थात् विघ्नों का विनाश करने को तत्पर पुरुष के लिए, यह मंत्र करण अर्थात् साधन है ॥

अर्थात् डॉ. साहब के अनुसार इस श्लोक में इस मंत्र को कर्ता कारक नहीं, अपितु करण कारक विभक्ति से युक्त किया गया है ॥

आइये, अब देखें कि श्लोककार क्या कहते हैं :-

श्लोक में कहा गया है कि :

" विघ्नविनाशनः "

अरे ! यह तो कर्ता कारक है और इसका अर्थ होता है विघ्नों का विनाशक अर्थात् नाश करने वाला ॥

अर्थात् इस पदके अनुसार डॉ. साहब को भावार्थ करना चाहिये था कि यह मंत्र विघ्नों का विनाश करता है और उन्होने अर्थ किया कि इस मंत्र से विघ्नों का विनाश हो जाता है ॥

यहाँ डॉ. साहब ने इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द का, व्याकरण शास्त्र निहित कारकों के अनुसार अर्थ न करके, कारक छल क्यों किया अर्थात् कर्ता कारक को करण कारक क्यों कर दिया, यह न तो उन्होने ही समझाया और न ही हमें समझ में आया ....

क्योंकि यदि यह मंत्र मंगलकारी है, तो विघ्न विनाशक भी हो सकता है ॥

इसके विघ्न विनाशक होने में कोई बाधा नहीं आनी चाहिए।

और वह भी तब, जबकि स्वयं श्लोककार इस मंत्र को विघ्नविनाशनः अर्थात् विघ्नों का विनाश करने वाला कह रहे हैं।

इसलिए हमारा तो सीधे-सीधे आदरणीय डॉ. साहब से यह प्रश्न है कि एक वैयाकरण द्वारा श्लोकानुवाद में अनावश्यक अथवा अपने मत की सिद्धि के लिए, बगैर किसी सूचना के, किये गये कारक छल को क्या क्षम्य अपराध कहा जा सकता है ?

वह भी तब, जबकि अपने मत की पुष्टि के लिए प्रतिपक्ष के समक्ष, इस श्लोक को, अपने आप को न्यायविद् समझने वाला एक वैयाकरण, प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत कर रहा हो ।।

नहीं न ?

प्रिय पाठकों, श्रीमद् भट्टाकलंकदेव ने भी राजवार्तिकजी में श्रुतज्ञान के प्रकरण में शब्दों की महिमा का बखान करते हुए कहा है कि :- (अध्याय १, सूत्र २०, वार्तिक १५)

यथाशाब्दमपि प्रमाणं श्रुतमेव ।

अर्थ : इसलिए शब्द भी श्रुत ही होने से प्रमाण है ।।

इस न्यायानुसार शब्दों से छेड़-छाड करना श्रुत से छेड़-छाड करना है, जिसे कि किसी भी विवक्षा से क्षम्य अपराध नहीं कहा जा सकता ।।

खैर ! अक्षम्य अपराध के दूषण से दूषित डॉ. साहब की गति डॉ. साहब ही जानें, किंतु यहाँ तो मात्र इसी सत्य की सिद्धि हो रही है, कि आदरणीय वैयाकरण डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल ने अपने मत की सिद्धि में जिस श्लोक को प्रस्तुत किया है, वह श्लोक स्वयं ही, आदरणीय डॉ. साहब के मत का खण्डन करते हुए, कह रहा है कि :-

यह मंत्र मंगलकारी अर्थात् इष्टार्थ संपादक तो है ही, किन्तु उसी समय विघ्नों का विनाश करने वाला अर्थात् विघ्न विनाशक भी है।

अब पाठकवर्ग कृपया बतलाइये कि यदि शासन देवताओं को इष्टार्थ संपादक व विघ्नविनाशक स्वीकार किया गया, तो जैन धर्म के प्राणभूत कर्मसिद्धांत पर अविश्वास करना व जैनेतरों के ईश्वरवाद को स्वीकार करना हो जाएगा,

तो क्या इस मंत्र को मंगलकारी अर्थात् इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक स्वीकार करना, जैन धर्म के प्राणभूत कर्म सिद्धांत पर अविश्वास करना व ईश्वरवाद को स्वीकार करना नहीं कहलाएगा ?

निश्चित ही कहलाएगा।

एक प्रबुद्ध वैयाकरण इस सत्य से इंकार ही नहीं कर सकता कि प्रस्तुत श्लोक में इस

मंत्र को इष्टार्थ संपादक व विघ्नविनाशक ही प्ररूपित किया गया है, इष्टार्थ संपादक व विघ्नविनाशक से अन्य कुछ भी नहीं।

निश्चित ही आदरणीय डॉ. साहब की विवेचनानुसार, कर्ता कारक विभक्ति से समन्वित यह श्लोक इस मंत्र को इष्टार्थ संपादक व विघ्नविनाशक अर्थ में प्रतिष्ठित कर रहा है, इसीलिये, यदि शासन देवताओं को इष्टार्थ संपादक व विघ्नविनाशक स्वीकार किया गया, तो जैसे जैन धर्म के प्राणभूत कर्मसिद्धांत पर अविश्वास करना व जैनेतरों के ईश्वरवाद को स्वीकार करना हो जाएगा, तो क्या, वैसे ही इस मंत्र को इष्टार्थ संपादक व विघ्नविनाशक स्वीकार करना, जैन धर्म के प्राणभूत कर्मसिद्धांत पर अविश्वास करना व ईश्वरवाद का स्वीकार करना नहीं कहलाएगा ?

निश्चित ही कहलायेगा ॥

कहलायेगा क्यों नहीं ?

इस प्रकार डॉ. साहब द्वारा स्व पक्ष की सिद्धि हेतु प्रस्तुत प्रमाण न सिर्फ स्वयं उन्हीं के मत में संशय उत्पन्न करने वाला सिद्ध हुआ, अपितु स्वयं उन्हीं के मत को खण्डित करने वाला भी ॥

न्यायशास्त्र की भाषा में स्वयं अपनी ही निष्पत्तियों को खण्डित करने वाले प्रमाण प्रस्तुत करने को ही पूर्वापर आदि दूषण कहते हैं, जिन्हें कि प्रस्तुत करना स्याद्वादवादियों ने अक्षम्य अपराध घोषित किया है ॥

मत स्थापनार्थ प्रयुक्त शब्द छल :-

शंकाकार : यदि इस श्लोक से इस ही अर्थ की सिद्धि हो रही है, इस अर्थ से पृथक् अन्य किसी अर्थ की नहीं, तो क्या आदरणीय डॉ. साहब को, जबकि वे स्वयं एक कुशल वैयाकरण व भाषाशास्त्री हैं, अपने ही मत को खण्डित करने वाले इस अर्थ का ज्ञान या बोध नहीं था ?

समाधान : नहीं, ऐसा नही कहा जा सकता कि उन्हे ज्ञान या बोध नहीं था।

ज्ञान तो था, किन्तु ......

जिस समूह/जिस समाज में वे रहते/बसते/असर रखते हैं, उस समूह/उस समाज में इस श्लोक के प्रति गहरी आस्था/श्रद्धा तिष्ठती है ॥

उस समूह/उस समाज में कुंडलपुर के बड़े बाबा हो या श्री महावीरजी के महावीर भगवान या अन्य अतिशय क्षेत्र, इन सभी के प्रति विघ्नविनाशक व इष्टार्थ संपादक रूप ही आस्था/श्रद्धा वर्तती है, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं ॥

शायद स्वयं डॉ. साहब के चित्त में भी ....

अतः इस श्लोक को मिथ्या अथवा जैनेतरों के ईश्वरवाद से प्रभावित मर्म वाला कहने का सामर्थ्य उनमें था ही नहीं ॥

इतना ही नहीं, अपितु, यद्यपि वे कुशल वैयाकरण/भाषाशास्त्री हैं, किन्तु उनके पास कुशल दर्शनज्ञ/दार्शनिक होने को नियामक/आवश्यक वह क्षयोपशम/वह पात्रता ही नहीं है, जिसके आश्रय से स्याद्वाद कौशल्य आता है ॥

स्याद्वाद कौशल्य के अभाव में जिन अर्थों की सिद्धि के लिए यह श्लोक रचा गया है, ठीक उन्हीं अर्थों की पुष्टि नहीं हो सकती, अतः वे नहीं कर सके ॥

यदि कर सकते, तो अवश्य करते, किन्तु नहीं, उन्होंने पुष्टि नहीं की ॥

चूँकि वे पुष्टि नहीं कर पाये, अतः कहा जा सकता है कि असमंजसता में थे कि अब करें तो क्या करें ?

इसी करें तो क्या करें की असमंजसता में आदरणीय पण्डितजी, क्षमा करें, डॉ. साहब ने आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों को, जिनकी कि संख्या प्रबुद्ध पाठकों व स्याद्वाद कुशल विद्वानों की अपेक्षा कहीं ज्यादा है, को लुभाने वाला तृतीय, आदरणीय बैनाडाजी वाला मार्ग चुना, **जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित व्याकरण व दर्शन को ताक पर रख बौद्धिक चातुर्य का ॥**

डॉ. साहब द्वारा असंगत व भ्रमपूर्ण अर्थापत्ति :-

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित व्याकरण व दर्शन को ताक पर रख बुद्धि चातुर्य का प्रयोग करते हुए उन्होंने प्ररूपणा की कि :-

इसका (इस श्लोक (अपराजितमंत्रोऽयं...) का) अभिप्राय यह है कि भगवान के गुण स्तवन से भाव शुभ होते हैं, जिनसे पुण्य कर्म का बंध होता है, पूर्व बद्ध अशुभ कर्म, शुभ कर्म में संक्रामित हो जाते हैं तथा अशुभ कर्मों का अपकर्षण और शुभ कर्मों का उत्कर्षण होकर, शुभ कर्म उदय में आ जाते हैं, जिनके निमित्त से जिनभक्त देव-देवियों साधर्मी वात्सल्य भाव से अथवा अन्य कोई स्त्री या पुरुष अनुकम्पा भाव से उपर्युक्त विघ्न निवारण में सहायक बन जाते हैं ॥

जहाँ सामान्य श्रोता/पाठक वर्ग एवं औसत बुद्धि के विद्वानों के लिए यह प्ररूपणा अथवा मीमांसा विद्वत्तापूर्ण व चित्त को प्रभावित/आकर्षित करने वाली थी, वहीं प्रबुद्ध पाठकों एवं स्याद्वाद कुशल विद्वानों के लिए हास्यास्पद ॥ देखिये :-

प्रथम दूषण :-

प्रथम दूषण तो यही है कि डॉ. साहब ने भगवान के गुणों, भक्त द्वारा किये गये स्तवन

व संपन्न हुए इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन रूपी कार्य में संबंध ही नहीं बतलाया है ॥

संबंधों के अभाव में कार्य के संपादन को संदिग्ध कहा जाता है ॥

कौनसा संबंध है दोनों के मध्य जिसके कि तहत विघ्नविनाशन व इष्टार्थ संपादन कार्य संपन्न होता है ?

निश्चित ही निमित्त-नैमित्तिक या भाव्य-भावक आदि संबंधों की तरह कार्य की संपन्नता को सिद्ध करने वाला इष्ट संबंध बतलाया जाना चाहिए था, जिसे कि नहीं बतलाया गया ॥

इष्ट संबंध के अभाव में णमोकार महामंत्र को विघ्नविनाशक व इष्टार्थ संपादक रूपी कार्य को संपन्न करने वाला कहना सिवाय अपलाप के और कुछ नहीं कहलायेगा ॥

नहीं कहलायेगा क्या ?

कहलायेगा ही ॥ कहलायेगा कैसे नहीं ?

द्वितीय दूषण :-

इनमें भी पुनः अर्थात् भगवान के गुण व भक्त द्वारा किये गये स्तवन में मुख्य मंगल कौन व उपचार मंगल कौन है, यह भी बतलाया जाना चाहिये था, जिसे भी नहीं बतलाया गया ?

उनकी प्ररूपणा सुनकर तो ऐसा लगता है मानो भगवान के गुणों में कोई अतिशय ही नहीं है, जो भी अतिशय है वह स्तवन कर्ता के स्तवन में है ॥

यदि स्तवन कर्ता के द्वारा किये गये स्तवन में ही अतिशय है फिर अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म को मंगल क्यों कहा गया है ?

फिर तो उन्हें मंगल कहा ही नहीं जा सकता ?

यदि मंगल कहा जा रहा है, तो किस विवक्षा से, इसे स्पष्ट करना चाहिये था ?

उस विवक्षा को क्यों नहीं कहा गया यह प्रश्न बुधजनों के लिये विचारणीय है ॥

तृतीय दूषण :-

तीसरी बाधा यह आती है कि इस प्रकार विवेचना करने पर अरिहंत, सिद्ध, साधु व धर्म उपचार से मंगल सिद्ध होते हैं व उपचार को तो डॉ. साहब मिथ्या अर्थात् असत्यार्थ मानते हैं, इसे पृथक् से सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं ॥

इसका अर्थ अत्यंत स्पष्ट है कि इन चारों में मंगलपना है ही नहीं ॥

जब इनमें मंगलपना ही नहीं है, तब डॉ. साहब व्यर्थ का विस्तार क्यों कर रहे हैं ? सीधे-सीधे कह क्यों नहीं देते कि ' ऐसो पंच णमोकारो' अथवा ' चत्तारि मंगल' प्ररूपणाएँ भी सिवाय केवली अवर्णवाद के कुछ भी नहीं ॥

क्या उन्हें व्यर्थ का विस्तार करने के स्थान पर इस प्रकार से प्ररूपणा नहीं करनी चाहिये थी ?

नहीं क्यों करनी चाहिये थी ? करनी ही चाहिये थी ॥

खैर ! यह बाधा तो बुधजनों द्वारा पहुँचाई गई है, अब प्रबुद्ध पाठकों के चित्त में उठने वाली शंकाओं को देखिये :-

चतुर्थ दूषण :-

आदरणीय डॉ. साहब कह रहे हैं कि :-

भगवान के गुण स्तवन से .... (अर्थात् उनके अर्चन, पूजन, वंदन व उन्हें किये गये नमन से) शुभ कर्म उदय में आ जाते हैं, जिनके (उन्हीं शुभ कर्मों के) निमित्त से जिन भक्त देव-देवियाँ साधर्मी वात्सल्य भाव से अथवा अन्य कोई स्त्री या पुरुष अनुकम्पा भाव से, उपर्युक्त विघ्न निवारण में सहायक बन जाते हैं ॥

इस प्रकार डॉ. साहब अपनी मीमांसा में यह समझाने का प्रयास कर रहे हैं कि इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन हेतु दो तथ्य विचारणीय हैं :-

१. भगवान का गुण स्तवन ॥

भगवान के गुण स्तवन से संक्रमणादि विधानानुसार शुभ-कर्म उदय में तो आ जायेंगे, किन्तु....

किन्तु क्या ?

किन्तु मात्र शुभ कर्मो के उदय में आ जाने से इष्ट का संपादन अथवा विघ्न का विनाश नहीं होगा ॥

२. तब कैसे होगा ?

इस प्रश्न के समाधान मे डॉ. साहब कह रहे हैं कि इस मंत्र के साधक को शुभ भावों से संक्रामित पुण्योदय के साथ-साथ साधर्मी वात्सल्य भाव से परिणमित जिन भक्त देव-देवियाँ अथवा अन्यों का सहयोग/सहायता भी चाहिए।

उन अन्यों की सहायता अथवा सहयोग प्राप्त होगा, तभी इष्ट का संपादन अथवा विघ्नों का निवारण होगा, अन्यथा नहीं ॥

अकेले भगवान के स्तवनादि से संक्रामित अथवा अर्जित शुभ कर्मों के वश की यह बात नहीं है ॥

शायद पाठकगण डॉ. साहब द्वारा की गई प्ररूपणागत हास्यास्पदता अनुभव कर रहे होंगे फिर भी प्रकरणानुसार कुछ कहने का प्रयास करते हैं, सुनिये :-

डॉ. साहब कह रहे हैं कि अशुभ कर्म, शुभ भावों के द्वारा शुभ कर्म में संक्रमित आदि करवा कर उदय में ला भी दिये गये, अर्थात् असाता अशुभ कर्म का अभाव कर भी दिया गया, तब भी विघ्नों का अभाव नहीं होगा........

अरे भाई ! यदि अशुभ कर्म का संक्रमणादि द्वारा सत्ता में से ही अभाव कर दिया गया, फिर विघ्न शेष कहाँ रहा, विघ्नों को शेष रहने को तो नियमतः असाता का ही उदय चाहिए ॥

और जब वह है ही नहीं, तब विघ्नों का सद्भाव कैसे रह सकता है ?

उसका सद्भाव तो किसी भी अपेक्षा से बन ही नहीं सकता, क्योंकि डॉ. साहब का स्वयं का समझा व समझाया जा रहा सूत्र है कि :-

"स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः" (पृष्ठ ११, कॉलम-२, जिनभाषित, सन् २००२, जनवरी)

चूँकि डॉ. साहब को स्वयं को ही उदय तो शुभ कर्म का ही इष्ट है, अशुभ का नहीं ॥

अशुभ का तो संक्रमणादि विधानानुसार अभाव कर दिया गया है, फिर शुभ कर्म के उदय में विघ्न का सद्भाव कैसे ?

पंचम दूषण :-

पंचम हास्यास्पद दूषण, जो कि पण्डितजी से, क्षमा करें, आदरणीय डॉ. साहब से हो रहा है, उसे भी देखिये :- (वे कहते हैं कि)

विघ्न काल में जिनेन्द्र भगवान के, अर्चन, पूजन आदि के द्वारा पूर्व बद्ध अशुभ कर्म शुभ कर्म में संक्रमित आदि करवा कर उदय में ला दिये गये, तब भी विघ्नों का विनाश नहीं होगा, अपितु विघ्नों का विनाश उस शुभ कर्म के उदय काल में साधर्मी वात्सल्य भाव से परिणमित, जिन भक्त देवी-देवताओं अथवा अन्य किसी का सहयोग/सहायता मिलने पर ही होगा, अन्यथा नहीं होगा।

नहीं तो वह उदयागत शुभकर्म, उदय में आ व्यर्थ ही खिर जाएगा।

अर्थात् आदरणीय पंडितजी अर्थात् डॉ. साहब की मीमांसानुसार प्रमाण रूप प्रयुक्त इस अपराजितमंत्रोऽयं श्लोक में जो नमस्कार मंत्र के जाप का माहात्म्य बतलाते हुए यह कहा गया है कि :-

"सर्वविघ्नविनाशनः"

इस पद में :-

"**कोई सहयोगी/सहायक उपलब्ध हो जाए, तो**" यह पद सदैव गम्य रहेगा ॥

अर्थात् डॉ. साहब की प्ररूपणानुसार वाक्य इस प्रकार होगा :--

१) यदि कोई सहयोगी/सहायक उपलब्ध हो जाए, तो यह मंत्र अपराजित है ॥

२) यदि कोई सहयोगी या सहायक उपलब्ध हो जाए, तो यह मंत्र विघ्नों का नाश करने वाला है ॥

३) यदि कोई सहयोगी या सहायक उपलब्ध हो जाए, तो यह मंत्र मंगलकारी अर्थात् इष्टार्थ संपादन करने वाला है ॥

नहीं, तो नहीं है।

निश्चित ही हास्यास्पद प्ररूपणा है यह।

नहीं है क्या ?

है ही न ?

षष्ठ दूषण :-

यहाँ डॉ. साहब यह भी नहीं कह सकते हैं कि वह शुभ कर्म, वात्सल्य अथवा अनुकम्पाधारी सहयोगी या सहायक को उपलब्ध करवा देगा ॥

जैसा कि उनकी मीमांसा में कहा भी गया है कि शुभ कर्म के निमित्त से ....

क्यों ?

क्योंकि मेरे द्वारा उपार्जित व मेरे ही उदय में आया हुआ कर्म, वह भी अभी-अभी संक्रमण आदि विधान द्वारा साता में परिणमित करवाया गया, अन्य में वह मेरा सहयोग/मेरी सहायता करे, इस प्रकार के परिणाम कैसे उत्पन्न करवा सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं करवा सकता ॥

क्योंकि यदि इस प्रकार स्वीकार कर लिया जाए, तो मेरे अभी-अभी साता में संक्रमित व उदय में आया कर्म, अन्य में परिणामों को उत्पन्न कराने वाला सिद्ध होते हुए, साक्षात् ईश्वर ही हो जाएगा ॥

इतना ही नहीं, अपितु कर्मों के उदय के अभाव में, अन्य में परिणामों की उत्पत्ति का प्रसंग आ जाएगा, क्योंकि कर्म तो मेरे उदय में अभी-अभी संक्रमित हो कर आया है ॥

नहीं आ जाएगा क्या ?

नियमत. आ जाएगा ॥

क्या एक कर्म सिद्धान्त की विवक्षा रखने वाले विद्वान् के लिए उपर्युक्त विवक्षा उपयुक्त है ?

नहीं न ?

वह भी तब, जबकि जिनेन्द्र भगवान कथित इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन सूत्र के खण्डनार्थ उनका समझा व समझाया जा रहा सिद्धान्त है कि (जिनभाषित, सन् २००२, जनवरी लेख : शासन देवता सम्मान्य, पंच परमेष्ठी उपास्य, पृष्ठ ११, कॉलम-२) :-

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परोददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

सप्तम दूषण :

इस संदर्भ में मूर्खता की, क्षमा करें स्व-दूषण आँकलन में अनिपुणता की अति देखिये :

एक ओर वे जिनेन्द्र भगवान के मत में इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन सूत्र के अभाव की वकालत करते हैं, वहीं दूसरी ओर इस लेख के अंत में स्थान शेष रह जाने पर, रिक्त स्थान की पूर्ति हेतु अपने संपादक धर्म का निर्वाह करते हुए श्रावकों को उत्तम युक्तियों से परिचित करवाने के उद्देश्य से श्री आदिपुराणजी के पर्व ९, श्लोक संख्या १६४, जिसमें कि साधु परमेष्ठियों के इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक स्वरूप को दर्शाया गया है, को वे उद्धृत करवाते हैं, देखिये :-

स्वदुःखे निर्घृणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः ।
निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥

अर्थ : मोक्ष के अभिलाषी साधुजन अपने दुःखों को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते, किंतु दूसरों का दुःख दूर करने के लिये सदा तत्पर रहते हैं और दूसरों का कार्य सिद्ध करने के लिये निःस्वार्थ भाव से कटिबद्ध रहते हैं ॥

प्रिय पाठको, अब आप ही बतलाइये कि डॉ. साहब को हम क्या कहें जो कि एक ओर तो कह रहे हैं कि जिनेन्द्र भगवान के मत में न तो कोई इष्टार्थ संपादक ही होता है और न ही कोई विघ्न विनाशक, वहीं दूसरी ओर साधु का इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक स्वरूप बतलाने वाले उद्धरण को उद्धृत करते हुए समस्त जैनाजैन बंधुओं को सूचित करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि जिनानुगामी साधु नियम से इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक ही होता है, इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक से अन्य इष्टार्थ विनाशक व विघ्न संपादक नहीं ॥ जो साधु अपने अन्य गुणों के साथ इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक नहीं होता, वह साधु ही नहीं होता ?

प्रिय पाठको, क्या आपको ऐसा कुछ भी सूझ रहा है कि डॉ. साहब को क्या कहा जाये ?

नहीं न ?

निश्चित ही कुछ कहने से अधिक उत्तम यही होगा कि पाठकगण भी हमारी तरह अपने बाल नोंचने को तत्पर हो जाएं ॥

अष्टम दूषण :-

अष्टम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दूषण इस विषय में यह है कि डॉ. साहब ने यह तो बतलाया ही नहीं कि उनके "स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः" सूत्रानुसार किस कर्म के

उदय से भक्त जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करने को बाध्य हुआ है ?

कर्म के उदय के अभाव में भक्ति रूपी कार्य को किस सूत्रानुसार स्वीकार करें यह तो उन्होंने बतलाया ही नहीं है ॥

इस प्रकार तो कर्म के उदय रूप कारण के अभाव में भक्ति रूपी कार्य की सिद्धि का कोई उपाय ही नहीं दिखता है व उपाय के अभाव में भक्ति रूपी कार्य का ही अभाव ठहरता है ॥

नहीं ठहरता है क्या ?

नहीं क्यों ठहरता है, अपितु कहना चाहिये किठहरता ही है ॥

निष्कर्ष :-

पाठकगण निश्चित ही डॉ. साहब की प्ररूपणागत हास्यास्पदता को निरख रहे होंगे ..

उनके अपने द्वारा प्रस्तुत प्रमाण कह कुछ और रहा है और उनकी अपनी प्ररूपणा कुछ और ॥

इसे ही उन्मत्तवत् कहते हैं, इससे अन्य और किसी स्थिति को नहीं ॥

कई बार होता है, हमारी शैली व शब्द विन्यास तो विद्वानों का सा होता है, किन्तु प्ररूपणा ?

प्ररूपणा उन्मत्तवत् -----

जैसे कि अन्य मतियों द्वारा की गई प्ररूपणाएँ ॥

जैसे कि आदरणीय बैनाडाजी की प्ररूपणा ॥

और अब डॉ. साहब की ॥

डॉ. साहब व्यर्थ ही दार्शनिक/दर्शनज्ञ कहलाने की ललक में न यहाँ के रहे न वहाँ के, अर्थात् दर्शन से तो वे चूके हुए थे ही थे, किन्तु अपने मूलगुण वैयाकरणपने से भी चूके ॥

किंतु नहीं, यहाँ एक सम्भावना और है ॥

वह क्या ?

वह यह कि जिस तरह आदरणीय डॉ. साहब ने, आदरणीय बैनाडाजी के कारण अपने पक्ष को निर्बल होता देख, यद्यपि वे उन्हीं के पक्ष के हैं, तब भी उनके लंघनीय अर्थात् स्व पक्ष को निर्बल करने वाले वचनों/तर्कों का स्वयं ही खण्डन कर, अपने श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार, बैनाडाजी के ही पक्ष में गुत्थी सुलझाने का प्रयत्न करते हुए, कुछ तर्क प्रस्तुत किये......

शंकाकार : आप कैसे कह सकते हैं कि डॉ. साहब बैनाडाजी के पक्ष के हैं व उन्होंने उन्हींके पक्ष में गुत्थी सुलझाने का प्रयत्न किया है ?

समाधान : देखिये उनका यही शासन देवता वाला लेख, पृष्ठ १२, कॉलम २, उप शीर्षक : प्रतिष्ठा ग्रंथों में सुधार की आवश्यकता :-

साक्षात् श्रुतकेवली होते हुए वे प्राचीन प्रतिष्ठा ग्रंथों को जिनागम बाह्य घोषित कर नये प्रतिष्ठा ग्रंथों के लेखन की वकालत करते हुए आदरणीय बैनाडाजी के निष्कर्ष को ही दोहरा रहे हैं, सुनिये :-

नये प्रतिष्ठा ग्रंथों में दिक्पालादि देवताओं को विघ्न निवारनार्थ आमंत्रित करने की बजाय साधर्मी के नाते जिनपूजा में सहभागी बनने के लिये आमंत्रित करने ...

क्या बैनाडाजी भी इसी मत की सिद्धि व स्थापना का पुरुषार्थ नहीं कर रहे थे ?

कर रहे थे न ?

इसलिये हमने कहा कि जिस तरह आदरणीय डॉ. साहब ने, आदरणीय बैनाडाजी के कारण अपने पक्ष को निर्बल होता देख, यद्यपि वे उन्हीं के पक्ष के हैं, तब भी उनके लंघनीय अर्थात् स्व पक्ष को निर्बल करने वाले वचनों/तर्कों का स्वयं ही खण्डन कर, अपने श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार, बैनाडाजी के ही पक्ष में गुत्थी सुलझाने का प्रयत्न करते हुए, कुछ तर्क प्रस्तुत किये, उसी प्रकार आदरणीय डॉ. साहब की उपर्युक्त प्ररूपणा के कारण अपने पक्ष को निर्बल होता देख उन्हीं के पक्ष के अन्य विद्वान्, डॉ. साहब के वचनों का खण्डन करते हुए कह सकते हैं कि....

क्या कह सकते हैं ?

चलिये, अगले शीर्षक में देखते हैं ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ बैनाडाजी की तरह डॉ. साहब भी मिथ्या व असंगत प्ररूपणाओं के प्ररूपक

आदरणीय डॉ. साहब के कारण अपने पक्ष को निर्बल होता देख उन्हीं के पक्ष के अन्य विद्वान्, डॉ. साहब के वचनों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि "आदरणीय डॉ. साहब का इष्टार्थ सम्पादक व विघ्न विनाशक वाला सूत्र तो जैसा डॉ. साहब कह रहे हैं, ठीक वैसा ही है, किन्तु णमोकार महामंत्र के माहात्म्य को लेकर जैसा वे कह रहे हैं, सत्य ठीक वैसा ही नहीं है, अपितु उसका मात्र एक देश ही समीचीन है, शेष असमीचीन ॥"

"वह असमीचीन/अनुपयुक्त अंश कौनसा है," ऐसा यहाँ पूछा जाना चाहिए ?

इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना होगा कि :--

डॉ. साहब द्वारा प्रस्तुत तर्क में "**जिनके (शुभ कर्मों के) निमित्त से जिनभक्त देव-देवियाँ साधर्मी वात्सल्य भाव से अथवा अन्य कोई स्त्री या पुरुष अनुकम्पा भाव से उपर्युक्त विघ्न निवारण में सहायक बन जाते हैं**" जो ऐसा कहा गया है, वह अनुपयुक्त/असमीचीन है ॥

इस एक पद के कारण उनकी प्ररूपणा न सिर्फ असंगत, अपितु मिथ्या भी सिद्ध होती है ॥

इन विद्वानों के अनुसार शुभ परिणाम व कर्म कार्य को संपादित करने हेतु पर्याप्त हैं, उन परिणामों व कर्मों के अतिरिक्त अन्य किसी भी लौकिक उपकारी अथवा सहयोगी की आवश्यकता ही नहीं ॥

शुभ कर्म ही इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन, दोनों कार्यों अथवा क्रियाओं को संपन्न करने के लिए सामर्थ्यवान है ॥

अतः उपर्युक्त डॉ. साहब की प्ररूपणा, बैनाडाजी की ही प्ररूपणा की तरह, न सिर्फ मिथ्या, अपितु असंगत भी है ॥

यह पूछे जाने पर कि फिर आपके अनुसार समीचीन प्ररूपणा क्या होगी ?

तब वे डॉ. साहब के वचनों में से उपर्युक्त तर्क का लोप कर, एक वाक्य अपनी ओर से युक्त कर कहते हैं कि :--

"भगवान के गुण-स्तवन से भाव शुभ होते हैं, जिनसे पुण्यकर्म का बंध होता है, पूर्वबद्ध अशुभ कर्म, शुभ कर्मों में संक्रमित हो जाते हैं तथा अशुभ-कर्मों का अपकर्षण व शुभ कर्मों का उत्कर्षण होकर, शुभ कर्म उदय में आ जाते हैं (यहाँ तक के वचन आदरणीय डॉ. साहब के हैं, यहाँ से आगे की पंक्ति व प्ररूपणा अन्य विद्वानों की) व वे उदयागत शुभ कर्म, विघ्नों का निवारण कर इष्टार्थ संपादन करते हैं ॥"

अर्थात्

"शुभ भाव व शुभ कर्मों से अन्य इस संसार में इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक कोई नहीं है, साक्षात् तीर्थंकर भी नहीं ॥"

इसके पश्चात् वे भी डॉ. साहब की ही तरह, जिन्हें कि डॉ. साहब सर्वांग मान्य करते हैं, विशेषकर इस शासन देवता प्रसंग में, ऐसे आदरणीय स्व. विद्वान् पं. टोडरमलजी के वचन मोक्षमार्ग प्रकाशकजी (अध्याय-५) से ग्रहण कर प्रमाण रूप से प्रस्तुत करते हैं :-

"उस (अर्हत्) के उपचार से यह विशेषण (अधमोद्धारकादिक) सम्भवै है, फल तो अपने परिणामनिका लागै है ॥"

अर्थात् तीर्थंकर भगवान में अधमोद्धारकादिक गुण किंचित् भी नहीं हैं ॥

उन्हें अधमोद्धारकादिक कहना भक्ति की अतिरेकता में उच्चारित उपचार वचन मात्र हैं, यथार्थ नहीं ॥

फल तो भक्ति से आप्लावित चित्त को, अपने परिणामों की तारतम्यतानुसार मिलता है ॥

इस प्रकार डॉ. साहब की प्ररूपणा व निष्कर्ष को मिथ्या व असंगत करार देते हुए, उन्हीं के पक्ष के कतिपय विद्वानों की यह प्ररूपणा हुई ॥

वैसे इस प्ररूपणा का खण्डन भी हम अभी-अभी कर आए हैं, किन्तु विस्मृत बुद्धि पाठकों के लिये पुनः कहते हैं ॥

डॉ. साहब के सहयोगी सहपाठियों ने डॉ. साहब की ही तरह यहाँ अक्षम्य चूक की है ॥

कौनसी ?

वही जो डॉ. साहब ने पूर्व में की थी ॥

अर्थात् जैसे डॉ. साहब ने पूर्व में भगवान के गुणों व भक्त द्वारा उनके किये गये स्तवन में संबंध नहीं बतलाया था, वैसे ही डॉ. साहब के सहयोगी सहपाठियों ने भी नहीं बतलाया है, जबकि नियम यह है कि निर्दिष्ट संबंधों के अभाव में संपन्न कार्य के संपादन को संदिग्ध

कहा जाता है ॥

अतः निमित्त नैमित्तिक या भाव्य भावक या अन्य संबंधों की ही तरह कार्य की संपन्नता को सूचित करने वाला कौनसा संबंध दोनों के मध्य है, यह बतलाया जाना चाहिये था, जो कि नहीं बतलाया गया है ॥

इनमें भी पुनः मुख्य मंगल कौन व उपचार मंगल कौन है, यह भी बतलाया जाना चाहिये था, जो कि नहीं बतलाया गया है ?

उनकी प्ररूपणा सुनकर तो ऐसा लगता है मानो भगवान के गुणों में कोई अतिशय नहीं है, जो भी अतिशय है वह स्तवन कर्ता के स्तवन में है ॥

यदि स्तवन कर्ता के द्वारा किये गये स्तवन में ही अतिशय है, फिर अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म को मंगल क्यों कहा गया है ?

दूसरी बाधा यह आती है कि इस प्रकार विवेचना करने पर अरिहंत, सिद्ध, साधु व धर्म उपचार से मंगल सिद्ध होते हैं, जैसा कि पं. टोडरमलजी ने स्पष्ट कहा भी है कि अर्हत् के उपचार से अधमोद्धारकादि विशेषण संभवै है व उपचार को तो डॉ. साहब की ही तरह उनके सहयोगी/सहपाठी गण मिथ्या अर्थात् असत्यार्थ मानते हैं ॥

इसका अर्थ अत्यंत स्पष्ट है कि इन चारों में मंगलपना है ही नहीं ॥

जब इनमें मंगलपना ही नहीं है, तब वे व्यर्थ का विस्तार क्यों कर रहे हैं ? सीधे-सीधे कह क्यों नहीं देते कि 'ऐसो पंच णमोकारो' अथवा चत्तारि मंगल प्ररूपणाएँ भी सिवाय केवली अवर्णवाद के कुछ भी नहीं ॥

किन्तु कुछ भी कहो यद्यपि है अवर्णवाद, फिर भी फल तो अपने परिणामनिका लागे है पद का अनुसरण करती डॉ. साहब की ही तरह उनके सहयोगी/सहपाठी गण की यह प्ररूपणा भी सामान्य पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों के लिये है तो अनुपम, अद्वितीय व अनुलंघनीय ....

प्रश्न : क्या इस प्रकार की प्ररूपणा पं. टोडरमलजी के अलावा भी कहीं किसी विद्वान् ने की है ?

उत्तर : जी हाँ ! प्राय करके सभी तेरहपंथी विद्वान् करते हैं ॥ तेरहपंथी विद्वानों में भी पुनः विशेष रूप से कानजी पंथी ॥

वैसे इस प्रकार की प्ररूपणा पं फूलचंदजी, जो कि अपने नाम के आगे सिद्धान्तशास्त्री लिखते थे, ने श्री सवार्थसिद्धिजी अध्याय दो, सूत्र ४ की टीका के विशेषार्थ में की है ॥

तीर्थंकर भगवान को सातिशय सिद्ध करने वाले सूत्रकारजी के मंतव्यों द्वारा अपनी धारणा को खण्डित होता देख, सूत्रकारजी के मंतव्यों के ठीक विपरीत जाकर अर्थात् उनकी टीका को असंगत व त्रुटिपूर्ण ठहराते हुए, तीर्थंकर भगवान निरतिशय ही होते हैं, ऐसी अपनी मिथ्या धारणा को पुष्ट करने वाला विशेषार्थ, ठीक सूत्रकार की टीका के पश्चात् लिखा है ॥

उन्होने वहाँ इसी भक्ति सूत्र के आश्रय से भगवान को निरतिशय सिद्ध करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है ॥

वैसे तो उनके मत का बाधित अंश का उद्योत यहाँ किया जा चुका है, किंतु फिर भी उनके मत की स्वतंत्र विवेचना हम उपयुक्त स्थान देख कर पृथक् रूप से करेने का प्रयास अवश्य करेंगे ॥

आइये, अगले शीर्षक में इसी प्रकरण के आश्रय से हम प्रयास कर अन्वेषण का उद्यम करें कि जिनेन्द्र भगवान के मत में तीर्थंकर भगवान सातिशय हैं या निरतिशय ?

॥ इत्यलम् ॥



❑ *तीर्थंकर भगवान सातिशय या निरतिशय ?*

डॉ. साहब की प्ररूपणा व निष्कर्ष को एक देश मिथ्या व असंगत करार देते हुए, उन्हीं के पक्ष के कतिपय विद्वानों ने प्ररूपणा की थी कि :-

"भगवान के गुण-स्तवन से भाव शुभ होते हैं, जिनसे पुण्य कर्म का बंध होता है, पूर्वबद्ध अशुभ कर्म, शुभ कर्मों में संक्रमित हो जाते हैं तथा अशुभ-कर्मों का उत्कर्षण व शुभ कर्मों का अपकर्षण होकर, शुभ कर्म उदय में आ जाते हैं व वे उदयागत शुभ कर्म, विघ्नों का निवारण कर इष्टार्थ संपादन करते हैं ॥"

अर्थात्

"शुभ भाव व शुभ कर्मों से अन्य इस संसार में इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक कोई नहीं है, साक्षात तीर्थंकर भी नहीं ॥"

इसके पश्चात् वे भी डॉ. साहब की ही तरह, जिन्हें कि डॉ. साहब सर्वांग मान्य करते हैं, विशेषकर इस शासन देवता प्रसंग में, ऐसे आदरणीय स्व. विद्वान् पं. टोडरमलजी के वचन मोक्षमार्ग प्रकाशकजी (अध्याय-५) से ग्रहण कर प्रमाण रूप से प्रस्तुत करते हैं :-

" उस (अर्हत्) के उपचार से यह विशेषण (अधमोद्धारकादिक) सम्भवै है, फल तो अपने परिणामनिका लागै है ॥ "

इस प्रकार वे सिद्ध करने को आतुर हैं कि जिनेन्द्र भगवान के मत में जिनेन्द्र भगवान को इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक उपचार से कहा गया है, यथार्थ में नहीं ॥ यथार्थ में न तो वे विघ्न विनाशक ही हैं, और न ही इष्टार्थ संपादक ही ॥

और चूँकि वे इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक उपचार से हैं, यथार्थ में नहीं, इसलिये कहा जा सकता है कि भगवान में सातिशयता उपचार मात्र से है, निश्चय से नहीं ॥ निश्चय से तो वे निरतिशय ही हैं ॥

प्रिय पाठको, आइये, डॉ. साहब व उनके सहयोगी/ सहपाठियों की उपर्युक्त विवेचना की समीक्षा कर अन्वेषण का प्रयास करें कि जिनेन्द्र भगवान यथार्थ में सातिशय हैं या निरतिशय ?

केवलज्ञान का प्रथम अतिशय :-

तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों में से केवलज्ञान का प्रथम अतिशय है :-

" जिस स्थान पर तीर्थंकर प्रभु का वास होता है, वहाँ से चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष व्याप्त जाता है ।।"

सुभिक्ष का अर्थ होता है अन्न की बहुतायत, अनाज धान्यादि की प्रचुर राशि, अन्न संभरण (आप्टे कोश, पृष्ठ ११११२) ।।

आइये, इस अतिशय को इसी अर्थ में श्रीमद् जिनसेनाचार्यजी के मुख से श्री आदिपुराणजी में सुनें व गुनें (आदि पुराण पर्व २०, श्लोक ३६) :-

त्वदास्थानस्थितोद्देशं परितः शत योजनम् ।
सुलभाशनपानादि त्वन्महिम्नोपजायते ।।३६।।

अर्थ :- (आदरणीय वैयाकरण डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर कृत)

हे नाथ ! जिस स्थान पर आपका वास अर्थात् समवशरण स्थित होता है, वहाँ से सौ-सौ योजन तक आपके माहात्म्य से अन्नपान आदि सब सुलभ हो जाते हैं ।।

इस अनुवाद में आदरणीय अनुवादकर्ता ने श्लोक में कहे गए दो मूल्यवान शब्दों के अर्थ ही नहीं किए ।।

उन दोनों शब्दों में से :-

पहला शब्द है परितः, इसका अर्थ होता है चारों दिशाओं में ।।

दूसरा शब्द है उपजायते, इसका अर्थ है, उत्पन्न होते हैं ।।

इस श्लोक में मूल पद है :

त्वन्महिम्नोपजायते

इसका अर्थ हुआ

आपकी महिमा से उत्पन्न होते हैं ।।

क्या ?

अशनपानादि अर्थात् अन्नपान आदि ।।

क्या हो जाते हैं ?

सुलभः अर्थात् सुलभ हो जाते है ।।

किन्हें ?

स्थित प्राणियों को (यह श्लोक में अनुक्त है ।।)

कहाँ स्थित प्राणियों को ?

परितः शत योजनम् अर्थात् हे नाथ ! जिस स्थान पर आप स्थित होते हैं, उस देश की चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक ।।

इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक का अर्थ हुआ :-

"हे नाथ !

जिस स्थान पर आप स्थित होते हैं, उस देश की चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक (स्थित प्राणियों को) आपकी महिमा से उत्पन्न अन्नपानादि सुलभ हो जाते हैं ॥"

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्वादवादी (प्रथम) :-

यहाँ आदरणीय डॉ. साहब व उन्हीं की सी बुद्धि रखने वाले विद्वत् वर्ग से, जो कि भगवान के गुणस्तवन से शुभभाव, शुभभावों से पुण्यबंध व पुण्यबंध की अनुभाग शक्ति अनुसार विघ्नों का विनाश व इष्टार्थ सम्पादन सूत्र के उपदेशक हैं, प्रश्न किया जाना चाहिये कि यदि स्यात् पद रहित व एकान्त आग्रह लिये उनका सूत्र वचन यही है कि :--

" शुभ भाव व शुभ कर्मों से अन्य इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक संसार में कोई नहीं है, साक्षात् तीर्थंकर भी नहीं ॥ "

तब, तब क्या उनके मत में उपर्युक्त अतिशय संभव है, जिसमें कि कहा गया है "त्वन्महिम्नोपजायते अन्नपानादि सुलभः" अर्थात् आपकी महिमा से उत्पन्न अन्न पानादि सुलभ हो जाते हैं ?"

निश्चित ही नहीं, क्योंकि उनका एकान्त आग्रह लिए, उनके अपने श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार समझा व समझाया जा रहा सूत्र है कि :-

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परोददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

इस श्लोक के अनुसार तो इस संसार में सुख व दुःख दोनों का ही दाता कोई नहीं है ...

स्वयं साक्षात् तीर्थंकर भी नहीं ॥

चूंकि सुभिक्ष पुण्य है, सुभिक्ष सुख है, इसलिए इस सुख/इस पुण्य का दाता भी कोई नहीं...

उसका अर्जन तो स्वयं हमें ही, हमारे अपने पुण्य परिणामों से करना होगा ॥

उसके अर्जन का, सिवाय पुण्य परिणामों के/शुभ भावनाओं के, और कोई उपाय ही नहीं ॥

किन्तु ये सौ-सौ योजन तक के समस्त प्राणीगण एक साथ एक ही समय में, जिस सुभिक्ष रूपी सुख से/पुण्य से समृद्ध अनायास ही तीर्थंकर भगवान के सान्निध्य से पाये जा रहे हैं, ऐसा कोई शुभ परिणाम करते हुए या शुभ परिणामों से परिणमते हुए, दिख ही नहीं रहे हैं जिसका कि फल सुभिक्ष हो, फिर उनको सुभिक्ष की प्राप्ति व भोग, दोनों कैसे बन सकता है ?

अर्थात् कदापि नहीं बन सकता ॥

इतना ही नहीं, अपितु इस अतिशय में तो त्वन्महिम्नोपजायते पद के आश्रय से इस

अतिशय को करने का/कर्तापने का आरोप तीर्थंकर प्रभु पर आता है, जिसे कि किसी भी विवक्षा से न तो आदरणीय डॉ. साहब ही मान्य कर सकते हैं और न ही उनके सहयोगी व सहपाठी, क्योंकि उन्हें इस प्रकार की समस्त प्ररूपणाओं में ईश्वरवाद की बू आती है ॥

इसलिए उनकी विवक्षानुसार तो शास्त्रों में निरूपित तीर्थंकरों का प्रथम अतिशय, सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष का सद्भाव, न सिर्फ जैनेतरों के ईश्वरवाद से प्रभावित, अपितु कर्म सिद्धान्त में अविश्वास उत्पन्न करवाने वाला भी कहलायेगा ॥

नहीं कहलायेगा क्या ?

निश्चित ही कहलायेगा ॥

अतः यह अतिशय तो उनकी मान्यतानुसार केवली/श्रुतकेवली कृत हो ही नहीं सकता ॥

तो ?

तो क्या, उनकी प्ररूपणानुसार तो यह अतिशय जिनागम में कहा ही नहीं गया है, यही कहना होगा ॥

नहीं कहना होगा क्या ?

कहना ही होगा ॥

अथवा जैसे णमोकार महामंत्र के माहात्म्य (अपराजितमंत्रोऽयं) में प्रयुक्त कर्ताकारकत्व रूपी दूषण से उसे मुक्त करने के लिए, जैसी मिथ्या व असंगत युक्ति आदरणीय डॉ. साहब ने वहाँ प्रयुक्त की थी, वैसी ही कोई युक्ति यहाँ भी प्रयुक्त करनी होगी ॥

नहीं करनी होगी क्या ?

करनी ही होगी, नहीं क्यों करनी होगी, वर्ना .....

वर्ना क्या ?

इस अतिशय को नियमतः मिथ्या कहना होगा ॥

किंतु इस अतिशय को मिथ्या तो वे कह नहीं सकते ॥

क्यों ?

क्योंकि णमोकार महामंत्र के माहात्म्य को कहनेवाले (अपराजितमंत्रोऽयं आदि) श्लोकों/गाथओं, जिससे कि ईश्वरवाद की पुष्टि हो रही थी, को मिथ्या कहने का सामर्थ्य जैसे डॉ. साहब आदि में वहाँ नहीं था, वैसे ही यहाँ भी नहीं होगा ॥

क्यों ?

कारण पूर्वोक्त ही है ॥

कौनसा ?

सुनिये :- जिस समूह/जिस समाज में वे रहते/बसते/असर रखते हैं, उस समूह/उस समाज में इस णमोकार महामंत्र के माहात्म्य की ही तरह तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों के प्रति भी गहरी आस्था/श्रद्धा तिष्ठती है ॥

चूँकि उस समूह/उस समाज में तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों के प्रति भी गहरी आस्था/श्रद्धा तिष्ठती है,

इसलिये इन ३४ अतिशयों में से एक भी अतिशय को मिथ्या अथवा जैनेतरों के ईश्वरवाद से प्रभावित मर्म वाला कहने का सामर्थ्य उनमें नहीं ही है, यदि होता, तब तो णमोकार महामंत्र के माहात्म्य को ही मिथ्या अथवा जैनेतरों के ईश्वरवाद से प्रभावित मर्म वाला कहने से वे चूकते क्या ?

कदापि नहीं चूकते ॥

जैसे इस अतिशय को मिथ्या अथवा जैनेतरों के ईश्वरवाद से प्रभावित मर्म वाला कहने का सामर्थ्य उनमें नहीं है, ठीक उसी प्रकार इस अतिशय के कर्ता स्वयं तीर्थंकर भगवान हैं, यह अर्थ जो इस अतिशय की प्ररूपणा में ध्वनित हो रहा है, को पुष्ट करने योग्य क्षयोपशम भी उनमें नहीं होगा ॥

क्यों ?

क्योंकि जैसे णमोकार महामंत्र में कर्ताकारकत्व की सिद्धि करने योग्य ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम, उनके पास वहाँ नहीं था, ठीक वैसे ही यहाँ भी नहीं होगा ॥

अर्थात् णमोकार महामत्र की तरह न तो इस अतिशय का खण्डन करने का सामर्थ्य ही उनमें है और न ही इस अतिशय के मण्डन योग्य क्षयोपशम, अत· नियमतः यहाँ भी वे वहाँ की तरह असमंजस में ही होगे कि अब करे तो क्या करें ?

अन्त में वे वहाँ की तरह यहाँ भी सामान्य पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों को, जिनकी कि संख्या प्रबुद्ध पाठकों व स्याद्वाद कुशल विद्वानो के अनुपात में कहीं ज्यादा है, लुभाने वाली बुद्धि-चातुर्य की शरण ग्रहण करेगे ॥

इस प्रकार अपने मत की सिद्धि अर्थात् आम श्रोताओं व औसत बुद्धि के विद्वानों को लुभाने के लिए वे प्ररूपणा प्रारंभ करते हैं :-

"अतिशय जैसा कहा गया है, वैसा नहीं ॥"

क्यों ?

क्योंकि यह तो उपचार से कहा गया है ॥

तब कैसा है ?

जैसा कहा गया है, उससे विपरीत व विवक्षाधीन है ?

कैसे ?

वह ऐसे कि जिस स्थान पर केवलज्ञानी तीर्थंकर प्रभु का वास अर्थात् समवशरण स्थित होता है, वहाँ से चारों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष नहीं व्यापता,

अपितु,

जिस स्थान से चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष रूपी पुण्य से संपादित प्राणियों का वास होता है, तीर्थंकर भगवान का वास अर्थात् समवशरण वहीं होता है, अन्यत्र नहीं ॥

क्यों, ऐसा क्यों ?

(इस क्यों के उत्तर में डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों ने, णमोकार महामंत्र के माहात्म्य की प्ररूपणा में, अपने मत की सिद्धि के लिये अपने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमानुसार समझे व समझाये जा रहे जिस सूत्र का प्रयोग किया था, उसी का प्रयोग यहाँ भी करेंगे ॥)

"स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः"

सभी प्राणी अपने-अपने कर्म के उदयानुसार प्राप्त सुख अथवा दुःख से ग्रथित हैं ॥

"शुभभाव व शुभकर्मों से अन्य इस संसार में इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक कोई नहीं है, साक्षात् तीर्थंकर भी नहीं ॥"

इसलिये सौ-सौ योजन तक के प्राणियों ने अपने-अपने कर्म के उदयानुसार इस सुभिक्ष रूपी पुण्य का अर्जन किया है, वह सुभिक्ष तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से उत्पन्न नहीं हुआ है ॥

प्रश्न : यदि प्ररूपणा ऐसी ही है, तब इसमें अतिशय क्या है ?

उत्तर : दुर्लभ योग है यह ॥

चूंकि दुर्लभ योग है, इसलिए इसका प्राप्त हो जाना ही अपने आप में एक अतिशय है ॥

चूंकि इसका प्राप्त हो जाना ही अपने आप में किसी अतिशय से कम नहीं है, इसलिए केवलज्ञान के कहे गए अतिशयों में इसे प्रथम अतिशय निरूपित किया गया है ॥

किन्तु नहीं, डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठीगण यह उत्तर नहीं दे सकते ॥

क्यों, क्यों नहीं दे सकते ?

वह इसलिये कि इस परिकल्पनानुसार तो डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों की स्थिति अधिक हास्यास्पद हो जायेगी ॥

वह कैसे ?

वह ऐसे कि इस परिकल्पनानुसार तो तीर्थंकर भगवान का वास यानि कि समवशरण

तभी संभव हो पाएगा, जब किसी स्थान विशेष से सौ-सौ योजन तक चारों ही दिशाओं में उन प्राणियों का वास होगा, जिनके कि द्वारा न सिर्फ सुभिक्ष को देने वाले साता वेदनीय व लाभान्तराय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम, पूर्व में किए गए किसी शुभ कर्म के फलस्वरूप संपादित किया गया होगा, अपितु तीर्थंकर भगवान के विहार काल में उन समस्त प्राणियों के ठीक उसी समय एक साथ, समान अथवा असमान अनुभाग शक्ति से युक्त, उदय में भी आया होगा ।।

जब तक यह नहीं होगा, तब तक तीर्थंकर प्रभु का विहार होता रहेगा व वास अर्थात् समवशरण टलता रहेगा ।।

नहीं टलता रहेगा क्या ?

नियमतः टलता रहेगा ।।

अर्थात् यह पूछे जाने पर कि तीर्थंकर प्रभु का विहार ही विहार क्यों हो रहा है, वास क्यों नहीं ?

उत्तर देना होगा कि :-

सौ सौ योजन तक सुभिक्ष रूपी पुण्य से युक्त प्राणियों का अभाव है ।।

अर्थात् तीर्थंकर प्रभु का वास करवाने वाला सौ-सौ योजन तक स्थित संख्यात प्राणियों के समूह का तीर्थंकर प्रभु के विहार काल में एक साथ व एक ही समय में उदय में आया हुआ सुभिक्ष रूपी पुण्य होगा ।।

उसके सद्भाव में वे वास करने को/ स्थित रहने को बाध्य होंगे, उन्हें वास करना ही करना होगा/स्थित रहना ही रहना होगा वे विहार नहीं कर सकते, किन्तु.....

किंतु जैसे ही उन सौ-सौ योजन तक स्थित संख्यात प्राणियों के समूह में से एक के भी पूर्व में किए गए किसी शुभ कर्म के फलस्वरूप संपादित सुभिक्ष रूपी पुण्य का अभाव होगा, तत् क्षण तीर्थंकर प्रभु का विहार हो जायेगा, फिर वे वास नहीं कर सकते, उन्हें विहार करना ही करना होगा, वे विहार करने को बाध्य हो जायेंगे ।।

अर्थात् तीर्थंकर प्रभु का वास व विहार सौ-सौ योजन तक स्थित संख्यात प्राणियों के समूह के सुभिक्ष रूपी पुण्य के सद्भाव व अभाव के आधीन होगा, स्वाधीन नहीं ।।

इस प्रकार, जैसे अनन्त शक्ति के धारक सिद्ध भगवान का गमन अलोकाकाश में क्यों नहीं होता, ऐसा प्रश्न किये जाने पर आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि :-

धर्म द्रव्याभावात् ।।

वैसे ही, ठीक ऐसा ही कोई सूत्र, तीर्थंकर प्रभु के वास व विहार के कारण को उजागर करने वाला, जिनागम से ढूँढ़कर कहना होगा ।।

नहीं कहना होगा क्या ?

नहीं क्यों कहना होगा ? कहना ही होगा ?

किन्तु कहेंगे कहाँ से ? जिनागम में तो ऐसे सूत्र का अभाव है ॥

अभाव है तो क्या हुआ, इस समुदाय में सूत्र तस्करी को अपराध थोड़े ही कहा गया है, अतः सूत्र की तस्करी कर ले आयेंगे, जैसा कि पूर्व में प्रतिष्ठाचार्य पुष्पजी व पं. नाथूलालजी का उदाहरण दिया गया था, उसी तरह ॥

अथवा डॉ. साहब या बैनाडाजी द्वारा किये गये मिथ्या व असंगत अनुवाद विधि का आश्रय ले लेंगे, और क्या ?

मात्र यही सूत्र ढूँढ़ कर कहना होगा ऐसा ही नहीं, अपितु स्वमत को बाधा पहुँचाने वाला एक दूषण और आयेगा ॥

वह क्या ?

वह यह कि इस प्रकार तो उनके मत में सौ-सौ योजन तक स्थित संख्यात प्राणियों के समूह का पूर्व में किए गए किसी शुभ भाव के आश्रय से अर्जित पुण्य ही तीर्थंकर प्रभु को वास व विहार हेतु बाध्य करने वाला ईश्वर हो जायेगा ॥

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा ॥ हो क्यों नहीं जायेगा ?

अब क्या करेंगे ? हो गई न हास्यास्पद स्थिति ?

नहीं हुई क्या ?

नहीं क्यों नहीं हुई ? हो ही गई ॥

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्‌वादवादी (द्वितीय) :-

दूसरी विचारणीय बाधा यहाँ यह आयेगी कि आखिर तीर्थंकर प्रभु को स्वयं के वास अर्थात् समवशरण के लिये अन्य के संपादित पुण्य की अपेक्षा ही क्यों ?

वह भी एक दो नहीं, अपितु चारों दिशाओं में सौ-सौ योजन तक स्थित प्राणियों के समूह की, जिनकी कि संभावित संख्या संख्यात तो होगी ही ॥

क्योंकि उन्हीं के शुभ कर्म अर्थात् संपादित पुण्य के प्रताप या माहात्म्य से ही तीर्थंकर प्रभु का वास संभव हो पाएगा, अन्यथा नहीं ॥

जबकि डा. साहब एवं उनके सहपाठियों का उनके स्वयं के ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशमानुसार समझा व समझाया जा रहा सूत्र है कि :-

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परोददातीति कुबुद्धिरेषा ।

अहं करोमीति वृथाभिमानं, स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

इस सूत्रानुसार प्रत्येक प्राणी अपने-अपने निज कर्मों के फलों का ही भोक्ता है ॥

जैसे कि अन्य-अन्य है और मैं, मैं ॥

मैं अन्य नहीं हूँ और अन्य मैं नहीं ॥

ठीक वैसे ही तीर्थंकर प्रभु, तीर्थंकर प्रभु हैं, सौ-सौ योजन में स्थित संख्यात प्राणियों का समूह नहीं और सौ-सौ योजन में स्थित संख्यात प्राणियों का समूह, प्राणियों का समूह है, तीर्थंकर प्रभु नहीं ॥

जब वे दोनों, एक दूसरे नहीं हैं व यह भी तय ही है कि एक का कर्म, दूसरे का कर्म नहीं है, जो जिसका कर्म है, वह उसी का है ॥

व डॉ. साहब अथवा उनके सहयोगी/सहपाठीगणों द्वारा समझा व समझाया जा रहा सूत्र है कि सभी का अपना-अपना स्वयं का कर्म, स्वयं में ही क्रिया अथवा भाव की उत्पत्ति करता है, अन्य में नहीं, इसलिए मेरा कर्म दूसरे से कोई क्रिया अथवा भाव की उत्पत्ति नहीं करा सकता, व अन्य का कर्म मुझसे अथवा मुझमें कोई क्रिया अथवा भाव उत्पन्न नहीं करा सकता, तब तीर्थंकर प्रभु को स्ववास के लिए सौ-सौ योजन तक के प्राणियों के सुभिक्ष रूपी पुण्य की अपेक्षा ही क्यों ?

वह तो होनी ही नहीं चाहिए ॥

अर्थात् सुभिक्ष हो अथवा न हो, वास हो जाना चाहिए ॥

नहीं हो जाना चाहिए क्या ?

नियमतः हो जाना चाहिए ॥

अतः डॉ. साहब अथवा उनके सहपाठीगण अपने "सुखस्य दुःखस्य......." सूत्रानुसार कह ही नहीं सकते हैं कि सौ-सौ योजन तक स्थित संख्यात प्राणियों के समूह द्वारा संपादित व उदय में आया सुभिक्ष रूपी पुण्य जहाँ वर्त रहा होगा, वहाँ तीर्थंकर प्रभु का वास अर्थात् समवशरण स्थापित होता होगा, क्योंकि दोनों में "सुखस्य दुःखस्य......." सूत्रानुसार इष्ट संबंध की सिद्धि का अत्यंताभाव है ॥

क्या डॉ. साहब अथवा उनके सहपाठीगण यहाँ इष्ट संबंध की सिद्धि कर सकते हैं ?

नहीं कर सकते हैं न ?

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्वादवादी (तृतीय) :-

इतना ही नहीं, अपितु इसे वे काललब्धि, होनहार या योग-संयोग भी नहीं कह सकते, जैसा कि पं. फूलचंद्र सिद्धांत शास्त्री, श्री सर्वार्थसिद्धिजी, अध्याय २,

सूत्र ४ पर अपने द्वारा किये गए विशेषार्थ में स्वयं सर्वार्थसिद्धिकारजी द्वारा प्रस्तुत मंतव्यों के कारण अपनी धारणा को खण्डित होती देखकर कहते हैं ॥

क्यों नहीं कह सकते ?

क्योंकि फिर जैनेतरों के ईश्वरवाद की तरह काललब्धि, दैव, योग-संयोग, होनहार ही जो कार्य हो रहा है अथवा हो चुका है अथवा होने वाला है, उसे करने वाला सिद्धि हो जायेगा ॥

इस प्रकार सिद्ध होते ही अन्य को तो पृथक् करो, किंतु डॉ. साहब को स्वयं को, स्वयं अपने ही सूत्र को संशोधित/संपादित करना/करवाना होगा ॥

कौन से सूत्र को ?

यही :-

स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

इसे संशोधित/संपादित कर कहना होगा कि :-

स्वकालसूत्रग्रथितो हि लोकः ॥

यह लो.....

अब क्या हो गया ?

वह यह कि डॉ. साहब अथवा उनके सहयोगी/सहपाठीगण इस संशोधित/संपादित सूत्र को भी नहीं कह सकते ॥

क्यों ?

वह इसलिये कि इस सूत्र के एकांत आग्रहियों को तो श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड आदि ग्रंथों में मिथ्यादृष्टि कहा गया है ॥

देखिये :-(श्री गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ८८२)

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य नियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदि वादो दु ॥

इस गाथा में आचार्य भगवंत ने काल अथवा दैव को कार्य के संपादित होने में कारण कहने वाले दैव/भाग्य/होनहार/नियति/काललब्धि आदि वादियों को मिथ्यादृष्टि निरूपित किया है ॥

काललब्धि अर्थात् होनहार की पुष्टि करने वाला डॉ. साहब का मत भी क्या इन्हीं मिथ्यादृष्टियों के ही मत का अनुसरण करने वाला नहीं है ?

यदि नहीं, तो स्वमत/ स्वपक्ष की रक्षा के लिये उन्हें इस काललब्धि का मोह भी त्यागना होगा ॥

नहीं त्यागना होगा क्या ?

नियम से त्यागना ही होगा ॥

इसलिए स्वमत में उत्पन्न होने वाले दूषण के निरसन के लिये वे काललब्धि को भी कारण रूप से प्ररूपित नहीं कर सकते कि तीर्थंकर के वास काल में ऐसी ही होनहार थी ॥

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्‌वादी (तृतीय) :-

उपर्युक्त प्ररूपणा के साथ वैयाकरणों को खटकने वाला दूसरा दूषण यह आयेगा कि होनहार व अतिशय, दोनों ही शब्द एक दूसरे के अर्थ को कहने वाले न तो पर्यायवाची ही हैं और न ही एकार्थक ॥

यदि वे परस्पर में पर्यायवाची अथवा एकार्थक होते, तब तो अतिशय का अर्थ होनहार या काललब्धि कहना उपयुक्त था,

किन्तु जब दोनों ही शब्द न तो पर्यायवाची ही हैं और न ही एकार्थक, तब दोनों का एक अर्थ ग्रहण करना शब्दार्थ, तदनुसार भावार्थ व तदनुसार आगमार्थ ग्रहण करने की विधि में दूषण उत्पन्न करने वाला नहीं कहलायेगा क्या ?

अर्थात् कहलायेगा ही ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि यह कार्य यदि अतिशय है, तो होनहार नहीं हो सकता और यदि होनहार है, तो अतिशय नहीं हो सकता ॥

दोनों ही शब्दों में, डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को जो इष्ट है, ऐसे संबंध का अत्यंताभाव है ॥

अतः डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी इस अतिशय की होनहार अर्थ में सिद्धि कर ही नहीं सकते ॥

डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों द्वारा
अनुकरण बैनाडाजी का :-

इस प्रकार एकबार पुनः डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी स्याद्‌वादवादियों द्वारा असमंजस में स्थित कर दिये जाएंगे ॥

उनकी असमंजसता स्याद्‌वादवादियों को लेकर ही होगी, आम पाठकों को लेकर नहीं ॥

आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों के पास स्याद्‌वाद कौशल्य का नितांत अभाव होता है ॥

चूँकि आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों के पास स्याद्‌वाद कौशल्य का नितांत अभाव होता है, इसलिये वे चाह रहे हैं कि इस बार आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों को

प्रभावित करनेवाली प्ररूपणा इस प्रकार की जाये कि उसके खण्डन को तत्पर स्याद्वादवादियों की प्ररूपणा इन आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों के पल्ले ही न पड़े, जैसा कि बैनाडाजी ने किया था ॥

स्वयं डॉ. साहब द्वारा किया गया बैनाडाजी का खण्डन आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों ने प्रथम तो पढ़ा ही नहीं व जिन्होंने पढ़ा उनका वह विषय नहीं होने से पल्ले कुछ भी नहीं पड़ा ॥

यदि पड़ता तो निश्चित मानिये बैनाडाजी के विपरीत उन्हें अवर्णवादी/जैनाभाषी घोषित करने वाली एक मुहिम तीव्र गति से क्रियान्वित हो जाती, जो कि नहीं हुई ॥

ऐसा कुछ भी नहीं होना बतलाता है कि डॉ. साहब द्वारा किया गया खण्डन आम पाठकों अथवा औसत बुद्धि के विद्वानों तक पहुँचा ही नहीं ॥

इतना ही नहीं, अपितु स्वयं बैनाडाजी की ही ओर से भी इस महान् भूल के प्रति कोई क्षमा ही ज्ञापित हुई ॥

यह व्यवहार भी बतलाता है कि उन्हें न तो अपने किये पर ही कोई पछतावा है और न ही किसी प्रकार केअवर्णवाद का भय ॥

इसलिये अब डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी इसी प्रयास में हैं कि प्ररूपणा ऐसी की जाये कि उसके खण्डन को तत्पर स्याद्वादवादियों की प्ररूपणा इन आम पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों के पल्ले ही न पड़े, मात्र इतना ही नहीं, अपितु उनकी पहुँच के बाहर भी हो ॥

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा रूपी कार्य का नये सीरे से प्रारंभ :-

इस प्रकार वे उधेड़बुन में हैं कि अपने मत की स्थापनार्थ आखिर करें, तो क्या करें ?

क्योंकि यदि वे तीर्थंकर भगवान के इस अतिशय को स्व-पक्ष में सिद्ध करने में असमर्थ रहते हैं, तो बैनाडाजी व डॉ. साहब की ही तरह उनके सहयोगी/सहपाठियों की प्ररूपणा भी मिथ्या व असंगत सिद्ध हो जाती है,

उसके मिथ्या व असंगत सिद्ध होते ही डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठियों का जिनेन्द्र भगवान के मत में प्ररूपित इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक सूत्र को मिथ्या घोषित करने वाली प्ररूपणा स्वयं ही मिथ्या सिद्ध हो जाती ॥

उसके मिथ्या सिद्ध होते ही, शासन देवताओं को मिथ्या सिद्ध करने वाली उनकी प्ररूपणा भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि फिर डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों के पास उन्हें मिथ्या कहने का कोई कारण ही शेष नहीं बचेगा ॥

इसलिये उन्हें कुछ करना होगा ॥ करना ही होगा ॥

अभी वे उधेड़बुन में ही थे कि उन्हें कुछ सूझता है ॥

मिथ्या व असंयत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्वादवादी (चतुर्थ):-

जैसा कि आदरणीय स्व. विद्वान् पं. टोडरमलजी, मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय - ५ में लिखते हैं :-

"उस (अर्हंत) के उपचार से वह विशेषण (अधमोद्धारकादिक) सम्भवै है ॥ फल तो अपने परिणामनिका लागै है ॥"

इस उक्ति का स्मरण आते ही उन तथाकथित विद्वानों के चित्त में आया कि स्व मत मंडनार्थ **"फल तो अपने परिणामनिका लागै है"** वचन ही एक मात्र उपाय है, इस वचन से अन्य और कोई वचन नहीं, इसलिये :-

यहाँ इस अतिशय में सौ-सौ योजन पर्यंत स्थित संख्यात प्राणियों के समूह में व्याप्त उन संभावित परिणामों की खोज करनी होगी, जो कि एक साथ, एक ही समय में इन प्राणियों के समूह में प्राप्त भी हो जाये व जिसका फल सुभिक्ष रूपी संपदा भी हो ?

निश्चित ही वे परिणाम सिवाय भक्ति के और कोई संभव ही नहीं ॥

क्यों ?

क्योंकि सौ-सौ योजन तक इतनी विशाल संख्या में स्थित समस्त प्राणियों के चित्त में एक साथ, एक ही समय में भक्तिमय परिणामों के सद्भाव की सिद्धि सरलता से की जा सकती है ॥

उसकी सिद्धि में प्रत्यक्ष व आगम, दोनों ही प्रमाणों से कोई बाधा नहीं आती है ॥

अतः कहा जा सकता है कि जिस स्थान पर तीर्थंकर भगवान का वास अर्थात् समवशरण स्थापित होता है, वहाँ से चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक स्थित प्राणियों के चित्त तीर्थंकर प्रभु के प्रति नियमतः भक्ति से आप्लावित हो जाते हैं, आप्लावित नहीं होने का कोई कारण ही नहीं है ॥

उन्हीं भक्तियुक्त परिणामों से शुभास्रव होता है ॥

न सिर्फ शुभास्रव होता है, अपितु वही भक्तिमय शुभ परिणाम सत्तास्थित अन्य अशुभ कर्मों को भी, जैसा कि पूर्व में डॉ. साहब ने समझाया था, संक्रमणादि विधानानुसार शुभ कर्म में संक्रमित कर, तत्काल शुभास्रव से बंधे शुभ कर्मों के साथ उदय में ला, सुभिक्ष का संपादन कर खिरा देता है ॥

निश्चित ही यही विधि अथवा विधान इस अतिशय के गर्भ में है, इस विधि अथवा विधान के अनुसार ही यह अतिशय कार्यकारी होता होगा, इस विधि अथवा विधान से अन्य किसी भी विधि अथवा विधान से नहीं ॥

यही विधि निर्दोष व निर्बाध है, इस विधि से अन्य और कोई विधि नहीं ॥

इस प्रकार प्ररूपणा कर आदरणीय डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठी न सिर्फ निश्चिंत हुए, अपितु अपने पक्ष के प्रति और अधिक दृढ़ चित्त हो गए ॥ स्वयं डॉ. साहब भी ॥

(१) किन्तु नहीं, वह प्ररूपणा भी सामान्य पाठकों व औसत बुद्धि के विद्वानों के लिए ही निर्बाध संभव है, प्रबुद्ध पाठकों व स्याद्वाद कुशल विद्वानों के लिए नहीं ॥

वह क्यों ?

वह इसलिए कि इस प्रकरण में भी उन्होने पूर्व प्रकरण की तरह यह बतलाया ही नहीं है कि उनके "**स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोक:**" सूत्रानुसार किस कर्म के उदय से सौ-सौ योजन तक का प्राणियों का समूह जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करने को बाध्य हुआ है ?

कर्म के उदय के अभाव में भक्ति रूपी कार्य को किस सूत्रानुसार स्वीकार करें यह तो उन्होने बतलाया ही नहीं है ॥

क्योंकि कर्म के उदय रूप कारण के अभाव में भक्ति रूपी कार्य की सिद्धि का कोई उपाय ही नहीं दिखता है व उपाय के अभाव में भक्ति रूपी कार्य का ही अभाव ठहरता है ॥

नहीं ठहरता है क्या ?

नहीं क्यों ठहरता है, अपितु कहना चाहिये किठहरता ही है ॥

(२) यह तो प्रथम दूषण हुआ, द्वितीय दूषण यह आयेगा कि भक्ति युक्त चित्त का निर्देश करते हुए, उन्हें प्रबुद्ध पाठकों व स्याद्वाद कुशल विद्वानों को यह भी बतलाना होगा कि इन भक्ति युक्त परिणामों से परिणमित सिर्फ सम्यग्दृष्टियों के ही चित्त होते हैं अथवा मिथ्यादृष्टि व अभव्यों के भी ?

अर्थात् उन्हें यहाँ यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि सिर्फ सम्यग्दृष्टि ही इन भक्ति युक्त परिणामों से आप्लावित चित्त के हो जाते हैं अथवा मिथ्यादृष्टि व अभव्य भी?

क्यों, ऐसा क्यों पूछ रहे हैं आप ?

वह इसलिए कि जब मिथ्यादृष्टि व अभव्य प्राणी समवशरण में ही पाये जाते हैं, तब क्या अन्यत्र अर्थात् चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक नहीं पाये जाते होगे ?

नियम से पाये जाते होंगे ॥

और यदि वे पाये ही जाते होंगे, तो क्या वे भी तीर्थंकर भगवान से प्रेरित हो, तीर्थंकर भगवान की आराधना व भक्ति में लीन हो जाते होंगे ?

यदि हाँ ! तब तो इस अतिशय की व्याख्या सुभिक्ष की व्याप्ति अथवा दुर्भिक्ष का अभाव, इस रूप न होकर, मिथ्यादृष्टियों व अभव्यों में भक्ति को प्रेषित करने वाला होना

चाहिए था, जो कि नही है ॥

अर्थात् उपदेश में इस अतिशय को इस प्रकार कहा जाना चाहिए था कि तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से सौ-सौ योजन तक के मिथ्यादृष्टि व अभव्य प्राणी तीर्थंकर भगवान के प्रति भक्तिमय परिणामों से परिणत हो जाते हैं ॥

इस प्रकार कहे जाने पर न सिर्फ यह अतिशय निर्दोष हो जाता, अपितु सुगम भी ॥

विवादास्पद तो किसी भी अपेक्षा से रहता ही नहीं ॥

वह कैसे ?

वह ऐसे कि यदि भक्ति युक्त परिणामों को ही इस अतिशय का मूल कर्ता मानोगे, तो चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक स्थित सम्यग्दृष्टियों की गणना इस अतिशय से लाभान्वित पात्रों में नहीं की जा सकेगी ?

क्यों ?

क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव तो तीर्थंकर भगवान साक्षात् हों अथवा न हों, सदैव ही भक्तियुक्त परिणामों से परिणमित प्राप्त होते हैं, रहित नहीं ॥

अतः सम्यग्दृष्टियों के लिये सौ-सौ योजन का नियम ही नहीं रहेगा ॥

वे तो सौ योजन के बाहर रहें अथवा भीतर, सदैव भक्ति युक्त परिणामों से आस्रवित पुण्य कर्म के फल सुभिक्ष सहित ही पाये जायेंगे, रहित नहीं ॥

अतः इस अतिशय को इस प्रकार कहना होगा कि --

इस अतिशय के फल से फलीभूत सौ-सौ योजन तक के अभव्य व मिथ्यादृष्टि ही होंगे, सम्यग्दृष्टि नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव तो पूर्व से ही अपने भक्तियुक्त परिणामों के कारण सुभिक्ष रूपी पुण्य संपदा से संपन्न थे ॥

नहीं थे क्या ?

नियम से थे, क्योंकि भक्तियुक्त परिणामों को सुभिक्ष का संपादक सिद्ध किया जा रहा है ॥

और जब वे पूर्व से ही सुभिक्ष रूपी संपदा से संपन्न थे, तब उनके लिये तो अतिशय से लाभान्वित होने का नियम ही नहीं रहा ॥

अतः अभव्य व मिथ्यादृष्टि ही इस अतिशय के प्रभाव से भक्तियुक्त परिणामों से परिणमित हो सुभिक्ष रूपी लाभ से लाभान्वित कहे जायेंगे, अन्य कोई नहीं, प्ररूपणा ऐसी ही करनी होगी ॥

इस प्रकार डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठियों को सप्रमाण यह बतलाना होगा कि यह अतिशय सिर्फ और सिर्फ मिथ्यादृष्टियों व अभव्यों के लिये ही कहा गया है, अन्य अर्थात्

सम्यक्‌दृष्टियो के लिये नहीं ॥

क्या इस प्रकार के प्रमाण वे जिनागम से उपलब्ध कर बतला पायेंगे ?

नहीं न ?

(३) यहाँ डॉ. साहिब व उनके सहयोगी/सहपाठीगण यह भी नहीं कह सकते हैं कि वे सम्यग्दृष्टि अतिरिक्त भक्तिमय परिणामों के कारण सुभिक्ष का संपादन कर लेंगे ॥

क्यों नहीं कह सकते ?

क्योंकि इस प्रकार तो इस सुभिक्ष की संपादिका यह अतिरिक्त भक्ति ठहरेगी, जिसका कि अभव्यों व मिथ्यादृष्टियों में सदैव अभाव होता है ॥

और चूंकि इस अतिरिक्त भक्ति की सिद्धि का अभव्यों व मिथ्यादृष्टियों में उपाय ही शेष नहीं है, अतः अभव्य व मिथ्यादृष्टि जीवों को इस अतिशय के फल सुभिक्ष से वंचित कहना होगा ॥

नहीं कहना होगा क्या ?

नियम से कहना होगा ॥

(४) अथवा यहाँ अतिरिक्त भक्ति का अर्थ स्पष्ट करना होगा कि अतिरिक्त भक्ति का अर्थ क्या ?

क्या अभव्यों व मिथ्यादृष्टियों में पाई जाने वाली भक्ति ?

इस प्रकार अर्थ करने पर तो अभव्यों व मिथ्यादृष्टियों में पाई जाने वाली भक्ति अतिशयवान सिद्ध हुई, न कि सम्यक्‌दृष्टियों में पाई जाने वाली भक्ति ॥

इस प्रकार तो सम्यक्‌दृष्टियों में पाई जानेवाली भक्ति निरतिशय सिद्ध हो जायेगी ॥

नहीं हो जायेगी क्या ?

हो ही जायेगी ॥

क्या इस प्रकार के उपदेश का सद्‌भाव जिनागम में है?

नहीं है न ?

इसलिये भक्तियुक्त परिणामों को भी कारण नहीं बतलाया जा सकता ॥

निष्कर्ष :

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि यदि डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठियों को भक्तियुक्त परिणामों का एकांत करना ही है, तो उसके लिये उन्हें आचार्य भगवंत कृत सुभिक्ष वाली प्ररूपणा को विस्मरण कर, इस अतिशय को इस प्रकार कहना होगा कि सौ-सौ योजन तक के मिथ्यादृष्टि व अभव्य प्राणी ही, तीर्थंकर भगवान के माहात्म्य से तीर्थंकर भगवान के प्रति

भक्तिमय परिणाम से परिणत हो, जिसका कि फल सुभिक्ष, सुभिक्ष और सिर्फ सुभिक्ष है, से समन्वित हो जाएंगे ॥

चूँकि सम्यक्दृष्टि जीव तीर्थंकर भगवान के वास के पूर्व भी, उनके प्रति भक्ति से आप्लावित होने के कारण, सुभिक्ष से पूर्व से ही समन्वित थे, इसलिये उनकी गणणा इस अतिशय से लाभान्वित पात्रों में नहीं की जायेगी ॥

भक्तियुक्त परिणामों का एकांत करने वाले डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को क्या इस अतिशय को इसी प्रकार नहीं कहना होगा ?

क्यों नहीं कहना होगा ? कहना ही होगा ॥

अन्य प्रकार से कहने के लिये उनके पास कोई उपाय ही नहीं है ॥

(४) किन्तु नहीं वे इस अतिशय को इस प्रकार भी नहीं कह सकते ॥

क्यों ?

क्योंकि जब समवशरण में ही भक्ति रहित एवं मनोरंजन व कौतुहल प्रिय अभव्य व मिथ्यादृष्टिजीव उपलब्ध होते हैं, तब सौ-सौ योजन में अन्यत्र वे अनुपलब्ध अर्थात् पाये ही नहीं जायेंगे अथवा पाये ही नहीं जाते होंगे, ऐसा कैसे कहा जा सकता ?

अर्थात् कहा ही नहीं जा सकता ॥

यहाँ देवों का उदाहरण देकर भी बाधा नहीं दी जा सकती कि वहाँ अर्थात् स्वर्गों में मिथ्यादृष्टि व अभव्य देव भी जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं ॥

क्यों, क्यों बाधा नहीं दी जा सकती ?

वह इसलिए कि प्रथम तो अन्य देवों के द्वारा प्रेरित किये जाने पर वे तीर्थंकर भगवान को मात्र कुलदेवता रूप में स्वीकार करते हैं ॥ (श्री तिलोयपण्णत्तिजी)

कुलदेवता की बुद्धि अनुसार ही वे उनकी सेवा पूजा करते हैं, भक्ति से आप्लावित चित्त के होकर नहीं ॥

किन्तु, जब समवशरण में ही ये अभव्य व मिथ्यादृष्टिजीव, किन्हीं अन्यों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान के प्रति भक्ति के लिए न तो प्रेरित किये जाते हैं और न ही कुलदेवता रूप में मान्य करवाये जाते हैं, मात्र इतना ही नहीं, अपितु शास्त्रों में यक्ष देवों द्वारा इन्हें १२ कोठों में प्रवेश करने से रोके जाने के प्रकरण भी प्राप्त होते हैं, तब हम स्वर्गों में स्थित अभव्य व मिथ्यादृष्टि देवों द्वारा की जाने वाली सेवा पूजा से इनकी तुलना कैसे कर सकते हैं ?

अर्थात् कर ही नहीं सकते हैं ॥

दोनों में कोई साम्य/समता ही नहीं है ॥

अतः सिद्ध हुआ कि जब भक्ति के लिए न तो प्रेरित किये गये और न ही अन्य द्वारा

परिणमाये गये, मनोरंजन व कौतुहल प्रिय अभव्य व मिथ्यादृष्टिजीव समवशरण में ही पाये जाते हैं, तब वे समवशरण से चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक अन्यत्र नहीं पाये जाते होंगे, ऐसा तो हो ही नहीं सकता ॥

अपितु कहा ऐसा जाना चाहिये कि पाये ही जाते होंगे ॥

अतः यह तर्क कल्पना मात्र है कि सौ-सौ योजन तक के समस्त प्राणी, जो कि संभवतः संख्यानुसार संख्यात हैं, जिनेन्द्र भगवान के प्रति भक्ति से अनुरंजित परिणामों के हों, इस सुभिक्ष रूपी पुण्य का संपादन करते होंगे ॥

अर्थात् डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठीगण एकांत से यह कह ही नहीं सकते कि सुभिक्ष की उत्पत्ति सौ-सौ योजन तक के प्राणी स्वयं ही जिनेन्द्र भगवान के प्रति भक्ति से अनुरंजित परिणामों से करते हैं ॥

निश्चित ही स्व परिणामों से ही फल प्राप्ति का एकांत करने वालों के लिये इन दूषणों का उल्लंघन दुष्कर है ॥

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्वादवादी (पंचम) :-

यहाँ कर्मसिद्धांत व न्याय ग्रंथों (तर्कशास्त्रों) का पक्ष रखने वाले आदरणीय डॉ. साहब के सहयोगियों/सहपाठियों से पुनः पूछा जाना चाहिए कि :-

मान लीजिये, ऐसा हो भी जाए कि चारों ही दिशाओं में स्थित सौ-सौ योजन तक के प्राणियों के चित्त भक्ति से आप्लावित हो जावें, तब भी यह प्रश्न तो शेष रहेगा ही रहेगा कि :-

सौ-सौ योजन तक के इन समस्त प्राणियों को, जो कि संभवतः संख्यानुसार संख्यात हैं, भक्ति युक्त परिणामों को करने हेतु उन्हें बाध्य कराने वाला कौन ?

क्यों ?

क्योंकि भक्ति युक्त परिणामों को उत्पन्न कराने वाले कर्म का अभाव है ॥

दूसरा यह कि भक्ति युक्त परिणाम तो कार्य हैं व अधिकरण अर्थात् आधार उन मिथ्यादृष्टि व अभव्य जीवों का जीवद्रव्य, किन्तु कर्ता का यहाँ लोप है ॥

यहाँ कर्ता कारक के विषय में न्याय ग्रंथों से प्रकरण लेकर धारणा बनानी चाहिये, जिनमें कि दो प्रकार के कर्ताओं की प्ररूपणाएँ हैं, एक पृथक्भूत, दूसरी अपृथक्भूत अर्थात् स्वयं ॥

इस प्रकार यहाँ मिथ्यादृष्टियों व अभव्यों में भक्ति युक्त परिणामों की उत्पत्तियों के हेतु अर्थात् भक्ति युक्त परिणामों की उत्पत्ति को बाध्य करने वाले कर्ताकारक का व्याख्यान करना आवश्यक है ॥

क्योंकि वह अस्पष्ट है ॥

उसे स्पष्ट किये बगैर अर्थात् उसके अभाव में उनमें अर्थात् मिथ्यादृष्टि व अभव्यजीवों में भक्तियुक्त परिणामों की प्ररूपणा नियमत: मिथ्या व असंगत कहलायेगी ॥

अत:,

प्रत्यक्ष में जैसे लकड़ी काटते हुए, तो कुल्हाड़ी दिखलाई देती है, किन्तु न्याय व व्याकरण कुशल विद्वत्जन जानते हैं कि लकड़ी को साक्षात् काटते हुए भी, उस कुल्हाड़ी पर, उस काटने रूप क्रिया को सम्पन्न करने का अर्थात् कर्तापने का आरोप नहीं आता,

वह आरोप तो सदैव देवदत्त पर ही आता है, क्योंकि देवदत्त ही जानता है कि कुल्हाड़ी से वार किस स्थान पर, किसकी सहायता से, किस गति से व कितने वजन से किया जाय कि लकड़ी कट कर अलग हो जाये ॥

कुल्हाड़ी में इस ज्ञान व क्रिया का सर्वथा अभाव पाया जाता है ॥

चूँकि कुल्हाड़ी में इस ज्ञान व क्रिया का सर्वथा अभाव पाया जाता है, इसलिये कुल्हाड़ी पर साक्षात् लकड़ी को काटते हुए भी लकड़ी को काटने का आरोप नहीं आता है, अपितु उसकी प्ररूपणा करण कारक रूप में की जाती है ॥

ठीक वैसे ही यहाँ भी विचार करना है कि भक्ति युक्त परिणामों की क्रिया किसके द्वारा संपन्न करवाई गई ?

क्या देवदत्त की तरह किसी अन्य के द्वारा ?

अथवा जैसे अग्नि अपनी उष्णता से जलाती है, वैसे ?

इस उदाहरण में जैसे कर्ता व करण दोनों ही अग्नि है, क्या ठीक ऐसे ही यहाँ भी कर्ता कारक की प्ररूपणा करनी है ?

यदि हाँ, तब तो ये अभव्य व मिथ्यादृष्टि जीव अग्नि की तरह स्वयं ही स्वयं को भक्तियुक्त परिणामों से परिणमित करने वाले सिद्ध हो जायेंगे ॥

नहीं हो जायेंगे क्या ?

हो ही जायेंगे ॥ हो क्यों नहीं जायेंगे ?

किंतु क्या ये संभव है ?

निश्चित ही इस प्रश्न का समाधान आवश्यक है ॥

इस प्रश्न का समाधान किये बगैर समीचीन प्ररूपणा को गति प्राप्त ही नहीं हो सकती ॥

अतः प्रश्न है कि क्या ये अभव्य व मिथ्यादृष्टि जीव अग्नि की तरह स्वयं ही स्वयं से स्वयं को भक्तियुक्त परिणामों से परिणमित करते होंगे ?

क्या ऐसा हो सकता है ?

नहीं, नहीं हो सकता ॥

क्यों ?

क्योंकि सम्यक्त्व का अभाव है ॥

सम्यक्त्व के अभाव में स्वयं से स्वयं ही जिनेन्द्र भगवान के प्रति भक्तियुक्त परिणामों का सद्भाव, किसी भी विवक्षासे संभव ही नहीं ॥

व जब सम्यक्त्व के अभाव में स्वयं से स्वयं ही जिनेन्द्र भगवान के प्रति भक्तियुक्त परिणामों का सद्भाव, किसी भी विवक्षा से संभव ही नहीं, तब ये चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक स्थित अभव्य व मिथ्यादृष्टिजीवों का समूह, जो कि सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, स्वयं से स्वयं ही सुभिक्ष का आस्रव करने योग्य भक्ति परिणामों को करने वाले कैसे हो सकते हैं ?

अर्थात् त्रैकालिक नहीं हो सकते ॥

दूसरा तर्क यह है कि जब समवशरण में ही, तीर्थंकर भगवान के इतने समीप होने पर भी, ये भक्ति रहित परिणाम वाले पाये जाते हैं, तब अन्यत्र स्वयं ही स्वयं से भक्ति परिणाम से परिणमित हो जाते होंगे, कैसे कहा जा सकता है ?

अर्थात् कहा ही नहीं जा सकता ॥

तो क्या देवदत्त की तरह कोई अन्य, इन मिथ्यादृष्टि व अभव्यजीवों को भक्ति युक्त परिणामों से परिणमाने वाला है ?

नहीं, वह भी नहीं हो सकता ॥

क्यों ?

क्योंकि डॉ. साहब स्वयं व उनके सहयोगी-सहपाठी गण अन्य को किसी भी अपेक्षा से कर्ता स्वीकार ही नहीं कर सकते ॥

अन्य को कर्ता स्वीकार करने वाली प्ररूपणा में उन्हें जैनेतरों के ईश्वरवाद की बू आती है ॥

अतः, अन्य भी इन परिणामों को उन परिणमाने वाला सिद्ध नहीं होता ॥

इस प्रकार तो इनमें भक्तियुक्त परिणामों का ही अभाव ठहरता है ॥

अर्थात् स्वयं ही स्वयं से इन परिणामों से परिणमन नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वयं ही स्वयं से उन परिणामों से परिणमन कर जायें, इस योग्य पात्र नहीं हैं और न ही अन्य के द्वारा प्रेरित कर परिणमने को बाध्य ही किये जा सकते हैं, क्योंकि फिर अन्य कर्ता हो जाता है और अन्य में कर्ता कारकत्व की प्ररूपणा में जैनेतरों के ईश्वरवाद की पुष्टि हो जाती है, अतः इस प्रकार भक्तियुक्त परिणामों का ही अभाव ठहरता है ॥

व भक्तियुक्त परिणामों का अभाव ठहरते ही डॉ. साहब के सहयोगियों/सहपाठियों

द्वारा सुभिक्ष के सद्भाव हेतु भक्तिमय परिणामों की प्ररूपणा भी मिथ्या व असंगत सिद्ध हो जाती है ॥

इसी के साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि इस अतिशय के जिनेन्द्र भगवान कथित विज्ञान के विषय में डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी कुछ नहीं जानते, निपट अज्ञानी हैं, उनके चिंतन मनन का अनुसरण करने पर तो स्याद्वाद वादियों को तो जिनेन्द्र भगवान कथित इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन की प्ररूपणा करने वाले मात्र इसी अतिशय को ही नहीं, अपितु अन्यान्य अनेकों आचार्य भगवंतों के उपदेशों को मिथ्या व असंगत कहना होगा ॥

नहीं कहना होगा क्या ?

नहीं क्यों कहना होगा ? कहना ही होगा, जिसे कि स्याद्वादवादी किसी भी अपेक्षा से कह ही नहीं सकता ॥

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्वादवादी (छह) :-

(१) और मान लीजिये कि यदि किसी अन्य को हम यहाँ, इस अतिशय के अंतर्गत प्रेरक कर्ता स्वीकार कर भी लें, तब पुनः प्रश्न उठता है कि वह अन्य कौन ?

क्या चतुर्णिकाय के देव ?

नहीं चतुर्णिकाय के देव नहीं हो सकते ॥

क्यों, देव क्यों नहीं हो सकते ?

चूंकि, यह उपर्युक्त सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष का सद्भाव अथवा डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठियों द्वारा कहा गया मिथ्यादृष्टियों व अभव्यों में भी भक्ति का संचरण नामा अतिशय देवकृत नहीं है, देवकृत १४ अतिशय तो इन दस अतिशयो से पृथक् कहे गये हैं, इसलिये चतुर्णिकाय के देव तो यहाँ इस अतिशय के कर्ता हो ही नहीं सकते ॥

तब ?

तब क्या ? खोजना चाहिये कि इस अतिशय के कर्ता अर्थात् अधिपति अथवा अधिष्ठाता कौन ?

जो इस अतिशय का अधिपति या अधिष्ठाता होगा, उसी पर देवदत्त की तरह, इस अतिशय को संपन्न करने का/कर्तापने का आरोप आयेगा, अन्य किसी पर नहीं ॥

तो क्या मनुष्य कृत यह अतिशय है ?

नहीं, यह अतिशय मनुष्य कृत नहीं हो सकता ॥

क्यों ?

क्योंकि इस प्रकार के उपदेश का अभाव है ॥

(२) और मान लिया जाय कि यह अतिशय मनुष्य कृत है अर्थात् देवदत्त की तरह यदि अन्य सम्यक्दृष्टि मनुष्यों द्वारा ये मिथ्यादृष्टि व अभव्यजीव भक्ति युक्त परिणामों से परिणमाये गये हैं, ऐसा स्वीकार किया जाये, तब तो यह तीर्थंकर प्रभु का अतिशय रहा ही नहीं ॥

यह तो जिनवरों से अन्य मनुष्यों के द्वारा किया गया अतिशय हो गया ॥

नहीं हो गया क्या ?

नियम से हो गया ॥

अर्थात् प्ररूपणा फिर इस प्रकार करनी होगी कि तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों में से १० अतिशय जन्म के, ९ अतिशय केवल ज्ञान के ......

केवलज्ञान के ९ अतिशय क्यों ?

क्योंकि १० में से १ अतिशय मनुष्य कृत सिद्ध हो रहा है ॥

क्या प्ररूपणा इस प्रकार नहीं करनी होगी ?

करनी ही होगी ॥ करनी क्यों नहीं होगी ?

चूँकि हम प्ररूपणा इस प्रकार नहीं कर सकते, अतः अवशेष मनुष्य तो इस अतिशय के कर्ता हैं ही नहीं ॥

तो ?

निष्कर्ष :-

तो क्या ? यदि यह अतिशय घटी हुई सत्य घटना ही है, असत्य नहीं, तब तो विचार करने को तीर्थंकर भगवान ही शेष बचते हैं, तीर्थंकर भगवान से अन्य और कोई नहीं ॥

इस प्रकार शेष बचते हुए, वे ही पारिशेष न्यायानुसार इस अतिशय के कर्ता सिद्ध होते हैं, उनके सिवाय अन्य कोई नहीं ॥

क्या डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को भी यही स्वीकार नहीं करना होगा ?

नहीं क्यों करना होगा ? नियमतः करना होगा ॥

आदरणीय डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों के पास अब दो ही मार्ग शेष हैं :-

१) या तो वे तीर्थंकर भगवान को इस अतिशय का कर्ता स्वीकार करें ॥

२) या फिर उद्घोषित कर दें कि यह अतिशय भी अन्य प्ररूपणाओं की तरह, भट्टारकों की परिकल्पना है, यथार्थ घटी घटना नहीं ॥

मिथ्या व असंगत अर्थ प्ररूपणा व स्याद्वादवादी (सप्तम) :-

इस विषय पर आदरणीय डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों का चिंतन हेतु किंचित् सहयोग करते हुए, आइये, इस प्रकरण को किंचित् अन्य प्रकार से प्ररूपित करें ।।

जैसा कि आदरणीय विद्वान् पं. टोडरमलजी लिखते हैं :-

उस (अर्हत्) के उपचार से यह विशेषण (अधमोद्धारकादि) संभवै है (यथार्थतः नाहीं) ।।

आदरणीय टोडरमलजी अपनी उपर्युक्त प्ररूपणा में अधमोद्धारकादि विशेषण तीर्थंकर भगवान में जैसे उपचार से स्वीकार करते हैं, यथार्थतः नहीं, क्या उनके यही वचन केवलज्ञान के इस प्रथम अतिशय में ठीक वैसे ही उच्चारित नहीं किये जा सकते?

कैसे ?

क्योंकि दोनों ही वक्तव्यों में संदर्भगत समानता है, विषमता नहीं ।।

दोनों ही वक्तव्यों के द्वारा तीर्थंकर भगवान इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक सिद्ध होते हैं, इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक से अन्य कुछ भी नहीं ।।

अर्थात् ?

अर्थात् अधमोद्धारक कहो अथवा तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से उत्पन्न सुभिक्ष सुलभ हो जाते हैं कहो, दोनों ही प्रकरणों में तीर्थंकर भगवान में इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक अर्थ की ही सिद्धि हो रही है, अन्य अर्थ की नहीं ।।

अतः आदरणीय टोडरमलजी की प्ररूपणानुसार यह कहा जा सकता है कि केवलज्ञान के १० अतिशयों में प्ररूपित प्रथम अतिशय तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से उत्पन्न सुभिक्ष की सुलभता, भी तीर्थंकर भगवान में उपचार से ही संभव है, यथार्थतः नहीं ।।

क्या ऐसा कहा जा सकता है ?

कहा जा सकता है, कहने में कोई बाधा दृष्टिगोचर नहीं होती ।।

अर्थात् तीर्थंकर प्रभु के माहात्म्य से यह अतिशय संपन्न हुआ, ऐसा कहना उपचार अर्थात् भावातिरेक में भक्त द्वारा किया गया स्तवन/स्तुति मात्र है, यथार्थ नहीं ।।

चूँकि ये वचन भावातिरेक में अंध भक्त द्वारा अंध-भक्ति में तीर्थंकर भगवान की की गई स्तुति/स्तवन मात्र होने से यथार्थ वचन नहीं हैं, इसलिये यथार्थ वचन नहीं होने से सत्य भी नहीं हैं ।।

और जो वचन सत्य नहीं होते, सत्य नहीं होने पर भी नाम नहीं, अपितु गुण अर्थ मे व्यवहृत होते हैं, उन्हें अतिशय तो दूर, अतिशयोक्ति भी नहीं कहा जा सकता, वे तो असत्य वचनों में समाविष्ट किये जाते हैं, अन्य किन्हीं वचनों में नहीं ।।

शंका : क्यों, नाम निक्षेप के अंतर्गत प्रयुक्त की गई संज्ञाएँ इन्हें क्यों नहीं कह सकते ?

समाधान : नहीं कह सकते, क्योंकि नाम निक्षेप में प्रयुक्त की गई संज्ञाएँ लोक व्यवहारार्थ निरूपित की जाती हैं, उनमें अर्थों को प्रधानता नहीं दी जाती ॥

जैसे ?

जैसे नाम नयनसुख, लेकिन आँख के अंधे ॥

किंतु अधमोद्धारकादि विशेषण लोकव्यवहारार्थ तीर्थंकरों को दी गई अर्थ रहित संज्ञाएँ नहीं, अपितु उनके गुणों के उद्योतार्थ उन्हें दिये गये विशेषण हैं ॥

अतः जो वचन सत्य नहीं होते, सत्य नहीं होने पर भी नाम नहीं, अपितु गुण अर्थ में व्यवहृत होते हैं, उन्हें अतिशय तो दूर, अतिशयोक्ति भी नहीं कहा जा सकता, वे या तो नाम निक्षेप की अपेक्षा व्यवहृत होते हैं या फिर असत्य वचनों में समाविष्ट किये जाते हैं, अन्य किन्हीं भी वचनों में नहीं ॥

अतः सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष का सद्भाव यदि असत्य ही है, घटी हुई सत्य घटना नहीं, तो उपचार अर्थात् भावातिरेक में अंध भक्त द्वारा अंध भक्ति में की गई, यथार्थ से सर्वथा दूर, अयथार्थ स्तुति/स्तवन मात्र है ॥

अयथार्थ स्तुति/स्तवन से अन्य कुछ भी नहीं ॥

और यदि यह अतिशय भावातिरेक में की गई स्तुति/स्तवन नहीं है, घटी हुई यथार्थ/सत्य घटना ही है, तब तो इसकी प्ररूपणा करने वाले वचन सत्य व घटना यथार्थ कहलायेगी, उपचार नहीं ॥

फिर तो इसे उपचार कहना असत्य वचन हो जायेंगे ॥

नहीं हो जायेंगे क्या ?

हो ही जायेंगे ॥ हो क्यों नहीं जायेंगे ?

अब आदरणीय डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठियों को उद्घोषित करना है कि अतिशय अर्थ में घटी हुई यह घटना सत्य है अथवा अंधभक्तों द्वारा अंधभक्ति में की गई अयथार्थ/मिथ्या कल्पना ?

निष्कर्ष :-

इस प्रकार आदरणीय डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठियों के पास इस प्रकरण के अंतर्गत अपने मत को स्पष्ट करने के लिये दो ही विकल्प शेष बचते हैं :-

(१) प्रथम तो वे यह कह निवृत्त हो जावेंगे कि इस अतिशय का उपदेश ही मिथ्या व जैनेतरों के ईश्वरवाद से प्रभावित है ॥

क्यों, वे ऐसा क्यों कहेंगे ?

क्योंकि तीर्थंकर के सिवाय अन्य कोई दिखता ही नहीं, जिनमें कि वे इस अतिशय के कर्तापने की सिद्धि कर पाएं ।।

दूसरी विडंबना यह है कि यदि अन्य कोई उन्हें उपलब्ध हो भी जाये, तब भी वे उस पर कर्तापने का आरोप नहीं दे सकते ।।

क्यों ?

क्योंकि यदि वे अन्य को इस अतिशय का कर्ता स्वीकार कर लेते हैं, तो उनका अपना प्ररूपित सिद्धांत मिथ्या सिद्ध हो जाता है ---

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ।।

इसलिये वे अन्य किसी को भी इस अतिशय का कर्ता निरूपित नहीं कर सकते ।।

अतः, चूंकि इस अतिशय में फल प्राप्त करने वालों के द्वारा इस अतिशय की उत्पत्ति नहीं हुई है, वे इसके कर्ता नही है, उनके तो फल देने वाले कर्म की सिद्धि का अभाव है, अतः उन्हें (डॉ. साहब के सहयोगी/सहपाठियो को) बलात् कहना होगा कि न सिर्फ यह अतिशय, अपितु इसके प्ररूपक आचार्य व ग्रंथ सभी मिथ्या हैं ।।

यह अतिशय घटी हुई सत्य घटना नहीं, अपितु उपचार अर्थात् भावातिरेक मे अर्थात् अंध भक्तों द्वारा अंधभक्तिवशात् की गई यथार्थ से सर्वथा दूर, अयथार्थ स्तुति/स्तवन मात्र है ।।

नहीं कहना होगा क्या ?

कहना ही होगा ।।

(२) अथवा वे अपने क्षयोपशम की मंदता को स्वीकार करते हुए अंततोगत्वा प्ररूपणा करेंगे कि इस विषय में उनका क्षयोपशम इतना मंद, इतना मंद है कि जिनेन्द्र भगवान के मत में स्यात् पद सहित की गई कर्तृत्ववाद की पुष्टि उनसे बन ही नहीं पा रही है, अतः, इस प्रकरण में वे आज्ञा-सम्यक्त्वी हैं ।।

अर्थात् वे ग्लानि सहित स्वीकार करने को तत्पर दिखेंगे कि जिनेन्द्र भगवान के मत में जिनेन्द्र भगवान को भी किसी न किसी अपेक्षा से अधमोद्धारक, इष्टार्थ संपादक, विघ्न विनाशकादि स्वीकार किया गया है, किंतु उसकी सिद्धि वे कर सकें ऐसे ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का उनके अभाव है ।।

किन्तु नहीं, मंदबुद्धि विद्वान् अपने क्षयोपशम की सीमाओं को अर्थात् अपनी मंदबुद्धिता को नहीं जानते हुए, सहसा उद्दंडवत् यह कहने का दुःसाहस कर बैठता है कि :-

दिया गया उपदेश मिथ्या अथवा जैनेतरों के ईश्वरादि वादों से प्रभावित है ।।

जैसा कि कर्तृत्ववाद में अनेकांतवाद की जिनागम निर्दिष्ट प्ररूपणा का समीचीन

ज्ञान नहीं रखने वाले व न ही उस पर श्रद्धा रखने वाले डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों की एकांत आग्रह रखने वाली प्ररूपणाएँ कह रही हैं ॥

डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों की प्ररूपणाएं व मिथ्या सिद्ध होता जिनागम :-

इस प्रकार डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को अपनी मिथ्या व असंगत प्ररूपणा के कारण न सिर्फ इस अतिशय को, अपितु इस जैसे अथवा इसी आशय को अर्थात् जिनेन्द्र भगवान को अधमोद्धारक, इष्टार्थ संपादक, विघ्नविनाशकादि कहने वाली अन्य समस्त प्ररूपणाओं व उनके प्ररूपकों को भी मिथ्या कहना होगा ॥

जैसे कि :-

(१) श्री भक्तामर स्तोत्र जी में कहा गया है :-

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथः ॥

अर्थ : तीनों भुवनों के दुःखों का नाश करने वाले, हे नाथ ! आपको नमस्कार है ॥

(२) जैसा कि श्री तिलोयपण्णत्तिजी (अधिकार ४, गाथा ९३३) में कहा गया है

आतंकरोगमरणुप्पत्तीओ वेरकामबाधाओ ।
तण्हाछुहपीडाओ जिणमाहप्पेण ण हवंति ॥

अर्थ : (समवशरण में) जिनेन्द्र भगवान के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति (जन्म), बैर, काम-बाधा व तृष्णा (पिपासा) और क्षुधा की पीड़ाएँ नहीं रहती हैं ॥

(३) (और भी देखिये) तिलोयपण्णत्ति ४/१०७९ :

जीएजीवो दिट्ठो महासिणा रोसभरिदहिदएण ।
अहिदट्ठे व मरिज्जदि दिट्ठिविसा णाम सा रिद्धी ॥

अर्थ :- जिस ऋद्धि के बल से रोषयुक्त हृदय वाले महर्षि से देखा गया जीव सर्प द्वारा काटे गये के समान मर जाता है, वह दृष्टि विष नामक ऋद्धि है ॥

(४) (और भी देखिये) श्री तिलोयपण्णत्तिजी ४/१०८९-१०९१ :

लाभंतरायकम्मक्खउवसमसंजुदए जीए फुडं ।
मुणिभुत्तवमसेसमण्णं धामत्थं पियं जं कं पि ॥
तद्दिवसे खज्जंतं खंधावारेण चक्कवट्टिस्स ।
झिज्जइ न लवेण वि सा अक्खीणमहाणसा रिद्धी ॥
जीए चउधणुमाणे समचउरसालयम्मि णरतिरिया ।
मंतियसंखेज्जा सा अक्खीणमहालया रिद्धी ॥

अर्थ :- लाभांतराय कर्म के क्षयोपशम से संयुक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहार से अर्थात् भोजनशाला में मुनि के आहार के पश्चात् शेष बचे हुए अन्न में से जिस किसी भी

प्रिय वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी खावे तो भी वह लेश मात्र क्षीण नहीं होता है, वह 'अक्षीणमहानसिक' ऋद्धि है।

जिस ऋद्धि से समचतुष्कोण चार धनुषप्रमाण क्षेत्र में असंख्यात मनुष्य तिर्यंच समा जाते हैं, वह 'अक्षीणमहालय' ऋद्धि है ॥

(५) धवला पुस्तक ९, खण्ड ४, भाग १, सूत्र २१, पृष्ठ ८६ में भी कहा गया है :

दिट्ठअमियाणं पि जाणिदूण लक्खणं वत्तव्वं ।

अर्थ :- इसी प्रकार दृष्टि अमृतों का भी लक्षण जानकर कहना चाहिए। (अर्थात् प्रसन्न होकर वह यदि 'नीरोग करता हूँ' इस प्रकार देखता है, (या) सोचता है, व क्रिया करता है तो निरोग करता है तथा प्रसन्नतापूर्वक अवलोकन से अन्य भी शुभ कार्य को करने वाला दृष्टि अमृत कहलाता है ॥

(६) जैसा कि श्री मूलाचारजी, गाथा ५१४, षडावश्यकाधिकार में कहा गया है :

एसो पंच णमोयारो सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलेसु य सव्वेसु पढमं हवदि मंगलं ॥

अर्थ : यह पंच नमस्कार सर्व पापों का नाश करने वाला है, (और) सर्वमंगलों में प्रथम मंगल है ॥

यद्यपि प्रस्तुत श्लोक का अर्थ प्रसिद्ध है, फिर भी यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मंगल किसे कहते हैं , अतः :-

(७) उपर्युक्त गाथा में प्रयुक्त मंगल शब्द का अर्थ बतलाते हुए श्री गोम्मट्टसार जीवकाण्डजी की श्रीजीवतत्त्वप्रदीपिका टीका में श्री तिलोयपण्णत्तिजी, अधिकार १, गाथा ९ व १५ से लेकर कहा गया है : (श्लोक ३,९)

गालयदि विणासयदि घादेदि दहेदि हंति सोधयदि ।
विद्धंसेदि मलाइं जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥३॥
अहवा मंगं सोक्खं लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा ॥९॥

अर्थ : यतः मल का गालन करता है, विनाश करता है, घात करता है, जलाता है, मारता है, शोधन करता है, विध्वंस करता है, अतः मंगल कहा जाता है ॥

अथवा मंग अर्थात् सुख को लाता है, इसलिए मंगल है ॥

अर्थात् पंच नमस्कार मंगल होने से, न सिर्फ इष्टार्थ संपादक है, अपितु विघ्न विनाशक भी है ॥

विशेष : यहाँ शंकाकार को शंका हो सकती है कि नमस्कार करने वाला मंगल है या जिन्हें नमस्कार किया गया है वे मंगल हैं ?

इस शंका के समाधानार्थ निम्न प्रमाण कहते हैं ॥

८) उपर्युक्त मंगल शब्द के विघ्न विनाशक व इष्टार्थ संपादक अर्थ को पंच परमेष्ठियों में

निरूपित करते हुए प्राचीन प्रतिक्रमणादि ग्रंथों के चत्तारिदंडक मंगल पाठ में कहा गया है :-

अरिहंत मंगलं । सिद्ध मंगलं।
साहू मंगलं । केवलि पण्णत्तं धम्मं मंगलं ॥

अथवा कुछ वर्तमान के विद्वान् इसे इस प्रकार भी पढ़ते हैं :-

अरिहंता मंगलं । सिद्धा मंगलं ।
साहू मंगलं । केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं ॥

यहाँ प्रकरणानुसार चत्तारिदण्डक की विवेचना अति आवश्यक है ॥

वह क्यों ?

वह इसलिये कि विवेचना के अभाव में भ्रांत्योत्पत्ति की संभावना है ॥

णमोकार महामंत्र में कहा गया है कि :-

नमस्कार है ॥

किन्हें ?

पंचपरमेष्ठियों को ॥

क्यों ?

(चत्तारिदण्डक में इसी क्यों का उत्तर दिया गया है कि पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार क्यों किया जाता है ?)

प्रथम कारण कहा कि वे लोकोत्तमा अर्थात् संपूर्ण लोक में उत्तम हैं, इसलिये नमस्कार किया जाता है ॥

यहाँ पुनः प्रश्न को अवकाश है कि क्या इसी कारण से उन्हें नमस्कार किया जाता है ?

तब आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि नहीं, सिर्फ इसी कारण से नहीं, अपितु अन्य कारण भी हैं ॥

उन अन्य अनेक कारणों में से एक कारण है मंगल ॥

चूँकि वे मंगल अर्थात् विघ्न विनाशक व इष्टार्थ संपादक भी हैं, इसलिये उन्हें नमस्कार किया जाता है ॥

इन्हीं कारणों से वे नमस्कार के योग्य हैं, न सिर्फ ऐसा कहा गया है, अपितु मैं उन्हीं की शरण को प्राप्त करता हूँ अर्थात् उन्हीं के प्रति श्रद्धावान होता हूँ, यह भी कहा गया है ॥

इस प्रकार समस्त उत्तमों में उत्तम व समस्त मंगलों में प्रथम मंगल की शरण को प्राप्त करते हुए/उन्हीं के प्रति श्रद्धावान होते हुए, उन्हें इस नमस्कार मंत्र में नमन/नमस्कार किया जाता है, यह चत्तारि दण्डक का आशय है, सिद्ध हुआ ॥

अर्थात्, चूँकि लोक में यह प्रसिद्ध नियम है कि अकारण कोई किसी को न तो नमन करता है और न ही किसी की शरण स्वीकार करता है, इसलिये इस चत्तारिदण्डक पाठ में उन दो कारणों को कहा गया है, जिन दो कारणों से जिनेन्द्र भगवान के चरणों में एक भक्त नमस्कार करता है या उनकी शरण स्वीकार करता है/उनके प्रति श्रद्धावनत होता है ॥

इस प्रकार इस चत्तारिदण्डक पाठ में भी पाँचों परमेष्ठियों अथवा उपलक्षण न्याय से ९ देवताओं को मंगल अर्थात् इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक कहा गया है, न कि भक्त के द्वारा किये गये नमस्कार को ॥

शंका : यदि सत्य ऐसा ही है, तो फिर श्री मूलाचारजी में पाँचों को किये गये नमस्कार को मंगल क्यों कहा गया है ?

समाधान : किसने कहा कि किया गया नमस्कार मंगल नहीं होता ? हाँ ! सभी किये गये नमस्कार मंगल नहीं होते, मंगलो को किये गये नमस्कार ही मंगल होते हैं ॥

अर्थात् जिन्हें नमस्कार किया गया है, वे यदि मंगल होंगे, तभी उन्हें किया गया नमस्कार मंगल कहलायेगा, अन्यथा नहीं ॥

इसीलिये मुख्यता से मंगलों को ही नमस्कार करने का विधान परमागम में किया गया है, अमंगलों को नहीं ॥

मंगलों में भी पुन मंगलों के दो भेदों लौकिक और लोकोत्तर मंगलों को स्मृति में रख कर नमस्कार विधान का प्रतिपादन करना चाहिए, उन्हें विस्मृत करके नहीं ॥

अथवा कार्य में कारण का उपचार करके किये गये नमस्कार को मंगल कहा गया है, क्योंकि किया गया नमस्कार साक्षात् मंगल नहीं होता, जिन्हें नमस्कार किया गया है, ऐसे मंगलों का अनुसरण करने वाला होता है, साक्षात् मंगल तो नमस्करणीय ही होता है ॥

इसे ही श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी भी श्री रत्नकरण्डक श्रावकाचारजी में कहते हैं, सुनिये :

अर्थ मात्र : (पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य कृत) श्रावक को आदर से युक्त प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले और कामों को भस्म करने वाले अरहन्त भगवान के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली परिचर्या करना चाहिये ॥

इस कारिका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि मनोरथों को पूर्ण करने वाले व काम को भस्म करने वाले देवाधिदेव के चरणों की ही परिचर्या समस्त दुःखों को दूर करने वाली है, चाहे जिसकी परिचर्या नहीं ॥ अर्थात् चूँकि देवाधिदेव के चरण मनोरथों को पूर्ण करने वाले अर्थात् मंगल हैं, इसीलिये उनकी परिचर्या दुःखों को दूर करने वाली अर्थात मंगल फल को देने वाली है, यदि देवाधिदेव के चरण मनोरथों को पूर्ण करने वाले अर्थात

मंगल नहीं होते, तो उनकी परिचर्या भी दुःखों को दूर करने वाली अर्थात् मंगल फलों को देने वाली कदापि नहीं होती ॥ पाठक गण कृपया स्मरण रखें कि उपर्युक्त मत हमारा ही नहीं, अपितु श्रीमद् समन्तभद्राचार्यजी का भी है ॥

तीर्थंकरादि भगवंतों के इसी मंगल स्वरूप का प्रतिपादन धवलाकार भी करते हैं, सुनिये :-

९) श्री धवलाजी : (पुस्तक - १, पृष्ठ ३३, ३४, ४०)

"मंगलस्य निरुक्तिरुच्यते मलं गालयति विनाशयति घातयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मंगलम् ॥ "

मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थस्याभिधायकः ।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मंगलं मंगलार्थिभिः ॥

कतिविधं मंगलम् ?

धर्मसिद्धसाध्वर्हद्भेदाच्चतुर्विधम् ॥

अर्थ : अब मंगल की निरुक्ति को कहते हैं ॥ जो मल का गालन करे, विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मंगल कहते हैं ॥

गाथार्थ : यह मंग शब्द पुण्य रूप अर्थ का (भी) प्रतिपादक माना गया है ॥ उस पुण्य को जो लाता है, उसे मंगल के इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं ॥

प्रश्न : (वह, पाप नाशक व पुण्य संपादक) मंगल कितने प्रकार का है ?

समाधान : धर्म, सिद्ध, साधु और अर्हत् के भेद से चार प्रकार का है ॥

इस प्रकार श्री धवलाजी में भी पाँचों परमेष्ठियों अथवा उपलक्षण न्याय से ९ देवताओं को मंगल अर्थात् इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक कहा है ॥

विशेष : निश्चित ही पाठक वर्ग को उपर्युक्त प्रमाण क्रमांक ६ से ९ तक में स्पष्ट हो ही गया होगा कि जिनेन्द्र भगवान के मत के ९ देवता निरतिशय नहीं, अपितु सातिशय हैं ॥उनमें न सिर्फ विघ्न विनाशन का सामर्थ्य है, अपितु इष्टार्थ संपादन की भी सामर्थ्य होती है ॥

उनमें निहित इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन सामर्थ्य का किसी भी अपेक्षा से निषेध नहीं किया जा सकता ॥

(१०) श्री आदिपुराणजी पर्व २०, श्लोक १३६,१३७ में भी कहा गया है, किन्तु मैं हूँ कि इस प्रमाण को प्रस्तुत करने में भय खा रहा हूँ ॥

भय इसलिये कि इस प्रमाण को पढ़ने के पश्चात् या तो डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी जिनेन्द्र भगवान के मत में इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक की प्ररूपणा

स्वीकार कर लेंगे या फिर श्री आदिपुराणजी के रचयिता श्रीमद् जिनसेनाचार्यजी को भी वस्त्रधारी भट्टारकों की श्रेणी में खड़े कर स्पष्ट मिथ्यादृष्टि घोषित कर देंगे ॥

किन्तु इससे श्रीमद् जिनसेनाचार्यजी को क्या ?

वे तो जो हैं, वही रहेंगे, श्रीमद् धवलाकारजी के सुशिष्य व उनके द्वारा अपूर्ण रह गये महान ग्रंथराज श्री जयधवलाजी के शेष रह गये भाग को उसी गरिमा व गांभीर्य सहित पूर्ण करने वाले ॥

नहीं रहेंगे क्या ?

रहेंगे ही ॥

वैसे भी ये सभी प्रमाण उन्हें हम दे भी इसिलिये रहें हैं कि **कर्तृत्ववाद में अनेकांतवाद की जिनागम निर्दिष्ट प्ररूपणा का समीचीन ज्ञान नहीं रखनेवाले व न ही उस पर श्रद्धा रखने वाले डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी मात्र केवलज्ञान के प्रथम अतिशय को ही मिथ्या कह निजात न पा जायें, अपितु उस एक के साथ अनेकों प्ररूपणाओं व उन प्ररूपणाओं के प्ररूपकों को भी उन्हें मिथ्या कहना होगा ॥**

अत: आइये इसे गौण करके कि डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी क्या कहेंगे, हम तो सुनें व गुनें कि आचार्य भगवंत इस विषय में क्या कहते हैं :-

दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा ।
शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यदः ॥
पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यदः ॥

अर्थ : (यहाँ प्रकरण दान का है) आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि :-

दान देने वाले दाता की विशुद्धता दान में दी जाने वाली वस्तु तथा दान लेने वाले पात्र को पवित्र करती है ॥

दी जाने वाली वस्तु की पवित्रता देने वाले और लेने वाले, दोनों को पवित्र करती है ॥

इसी प्रकार लेने वाले की विशुद्धि देने वाले पुरुष को तथा दी जाने वाली वस्तु, दोनों को पवित्र करती है ॥

निश्चित ही तीर्थंकर प्रभु के अतिशय की ही तरह, श्री आदिपुराणजी का यह दान प्रकरण डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों के मत के लिए अत्यंत घातक है ॥

इन दो श्लोकों में तो यहाँ तक कह दिया है कि दिये जाने वाले द्रव्य की पवित्रता, देने वाले व लेने वाले, दोनों को पवित्र करती है ॥

डॉ. साहब तो सिर्फ प्राणियों में इष्टार्थ संपादकता अर्थात् मंगलमयता का निषेध कर रहे थे, किन्तु यहाँ तो आचार्य भगवन्त पुद्गल जड़ द्रव्य को पवित्र अर्थात् मंगल करने

वाला कह रहे हैं ॥

निश्चित ही डॉ. साहब के अनुसार तो यह अति हो गई ॥

नहीं हो गई क्या ?

हो ही गई ॥ हो क्यों नहीं गई ?

किन्तु नहीं, अति नहीं हुई, क्योंकि श्रीमद् जिनसेनाचार्यजी की यह मीमांसा श्री तत्त्वार्थसूत्रजी, अध्याय ७, सूत्र ३९ का अनुसरण करते हुए गति कर रही है, देखिये :-

विधि द्रव्य दातृ पात्र विशेषात् तत् विशेषः ॥

निश्चित ही कुशल वैयाकरण आदरणीय डॉ. साहब को यह स्पष्ट करने की आवश्यकता ही नहीं कि विधि आदि के साथ जिसकी अनुवृत्ति होनी है, वह शब्द विशेष पंचमी का एक वचन है ॥

निश्चित ही यहाँ पुनः यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं कि पंचमी का एक वचन यह द्योतित कर रहा है कि विधि आदि चारों एकत्रित होने पर ही नहीं, अपितु पृथक्-पृथक् भी विशेष होने पर विशेष रूप से फलदाई हैं ॥

यदि ये सभी संयुक्त रूप से विशेष होने पर ही विशेष फलदाई होते तो,

सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि ॥ (तत्त्वार्थसूत्रजी, अध्याय १, सूत्र १)

की तरह यहाँ भी बहुवचन का प्रयोग किया गया होता ॥

किन्तु नहीं किया गया, इससे सिद्ध होता है कि विधि आदि में पृथक्-पृथक् विशेषता होने पर, वे पृथक्-पृथक् भी विशेष फलदाई हैं ॥

अर्थात् उपर्युक्त सूत्र चार पदों का संकलन है :-

१) विधि की विशेषता अर्थात् पवित्रता से......

२) द्रव्य की विशेषता अर्थात् पवित्रता से..........

३) दाता की विशेषता अर्थात् पवित्रता से........

४) व पात्र की विशेषता अर्थात् पवित्रता से........

क्या होता है ?

तो आचार्य भगवंत कहते हैं कि फल में विशेषता अर्थात् पवित्रता आती है ॥

किस-किस की विशेषता अर्थात् पवित्रता से किस-किस को विशेषता अर्थात् पवित्रता प्राप्त होती है ?

इस प्रकार से प्रश्न होने पर उत्तर दिया जाना चाहिये कि :-

अकेला दाता ही फल विशेष को पाने वाला होगा ऐसा नहीं, अपितु लेनेवाला व

दिया जाने वाला द्रव्य भी, क्योंकि सूत्र कथित सर्वनाम 'तत्' पूर्व सूत्र के अनुवर्तन के लिये प्रयुक्त हुआ है ॥

पूर्व सूत्र में कहा गया है कि अकेले स्व अथवा अकेले पर के अनुग्रह के लिये नहीं, अपितु स्व और पर दोनों के अनुग्रह अर्थात् उपकार के लिये दान दिया जाता है ॥

अर्थात् दाता की पवित्रता लेने वाले व दिये गये द्रव्य दोनों का अनुग्रह अर्थात् दोनों को ही पवित्र करने वाली है ॥

ऐसे ही लेने वाले की पवित्रता देने वाले व दिये गये द्रव्य दोनों का अनुग्रह अर्थात् दोनों को पवित्र करने वाली है ॥

इसी प्रकार दिये गये द्रव्य की पवित्रता देने वाले व लेने वाले दोनो का अनुग्रह अर्थात् दोनों को पवित्र करने वाली है ॥

शंकाकार : क्या द्रव्य के उपकारक गुण को कहने वाला कोई सूत्र सूत्रकारजी ने श्री तत्त्वार्थसूत्रजी में कहा है ?

समाधान : कहा है, देखिये :-**(अध्याय ५, सूत्र २०)**

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥

अर्थ : सुख, दुःख, जीवन, मरण व च शब्द से अन्य भी पुद्गलों के उपकार हैं ॥

है न पुद्गलों में भी उपकार करने व उपकृत होने वाला गुण ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि तत्त्वार्थसूत्रकारजी को भी यही इष्ट है कि दाता, द्रव्य व लेनेवाले की पृथक्-पृथक् व संयुक्त पवित्रता परस्पर में एक दूसरे को पवित्र करने वाली है ॥

है न श्री आदिपुराणजी की ही यह विवेचना ?

नहीं है क्या ?

है ही न ?

प्रश्न : प्रियवर, देने वाले व लेने वाले पवित्रता/विशेषता को प्राप्त हो जाते हैं, यह प्रकरण तो फिर भी सरल है, किन्तु सूत्रकार के वचन होने के पश्चात् भी दिया गया द्रव्य भी विशेषता अर्थात् पवित्रता को प्राप्त हो जाता है, यह विवेचन समझ में नहीं आया ?

समाधान : जैसे भगवान का स्नानीय जल अर्थात् गधोदक विशेषता अर्थात् पवित्रता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही ॥

अन्यथा गंधोदक अविशेष अर्थात् निरतिशय कहलायेगा ॥

इसी कारण मुनिवर्यों के आहार के पश्चात् का अवशेष भोजन, जो कि शेषा अर्थात् प्रसाद कहलाता है व जिसे समस्त श्रद्धालुगण सिर माथे पर लगा, मंगलकारी मानते हुए ग्रहण करते हैं, मंगल कहलाता है, अन्यथा उसे भी मंगलकारी नहीं कह सकते ॥

यहाँ पुनः प्रश्न किया जाना चाहिये कि अचित्त द्रव्य को मंगल अर्थात् पवित्र क्या किन्हीं अन्य सिद्धांत ग्रंथों में भी कहा गया है ?

इस प्रश्न का समाधान श्री धवलाकारजी देते हैं (पुस्तक १,पृष्ठ २७,२९) :-

तत् नोकर्म मंगलम् ।। तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तरमिति ।।

तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचित्तमचित्तं मिश्रमिति ।।

लोकोत्तरमंगलमपि त्रिविधं सचित्तमचित्तं मिश्रमिति ।।

अर्थ : वह नोकर्म मंगल है ।। वह नोकर्म मंगल दो प्रकार का है, लौकिक और लोकोत्तर मंगल ।। उनमें से लौकिक मंगल तीन प्रकार का है, सचित्त, अचित्त और मिश्र ।। इसी प्रकार लोकोत्तर मंगल भी तीन पव्रकार का है, सचित, अचित्त और मिश्र ।।

अर्थात् मंगल सिर्फ सचित्त ही होते हैं, अचित्त नहीं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है व जो इसे नहीं मानता वह जिनेन्द्र भगवान को मानने वाला नहीं है ।।

अत उपर्युक्त सूत्रानुसार सिद्ध हुआ कि :

जिनेन्द्र भगवान का स्नानीय जल अर्थात् गंधोदक अथवा शेषा (मुनिवर्यों के आहार पश्चात् का अवशेष भोजन) आदि नोकर्म तद् व्यतिरिक्त नोआगम लोकोत्तर अचित्त द्रव्य मंगल है, यह सैद्धान्तिक सूत्र हुआ ।।

इसी सूत्रानुसार गधोदक को जिनागम में मंगल अर्थात् पाप नाशक निरूपित किया गया है, यथा .-

निर्मलं निर्मलीकरणं पवित्रं पाप नाशनम् ।
जिन गंधोदकं वंदे अष्ट कर्म निवर्हणम् ।।

जो जिनागमानुसार अचित्त द्रव्यों मे की गई इस लोकोत्तर मंगल प्ररूपणा को स्वीकार नहीं करता है, वह सापेक्ष नहीं, अपितु निरपेक्ष नयों का प्ररूपक है ।।

निरपेक्ष नयों की प्ररूपणा ही मिथ्यात्व है ।।

अत· सिद्ध हुआ कि सचित्त तो होते ही होते हैं, किन्तु जिनागमानुसार अचित्तो में भी इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन की पात्रता पाई जाती है ।।

इस प्रकार जिनसेनाचार्यजी का मत समीचीन सिद्ध हुआ कि :-

दान देने वाले दाता की विशुद्धता दान में दी जाने वाली वस्तु तथा दान लेने वाले पात्र को पवित्र करती है ।।

दी जाने वाली वस्तु की पवित्रता देने वाले और लेने वाले, दोनों को पवित्र करती है ।।

इसी प्रकार लेने वाले की विशुद्धि देने वाले तथा दी जाने वाली वस्तु, दोनों को पवित्र करती है ।।

डॉ. साहब की मंदबुद्धिता व उससे मुक्त होने का उपाय :-

यहाँ हमारी प्ररूपणा पूर्ण हुई ॥

किन्तु डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों की प्रारंभ.......

अर्थात् ?

अर्थात् यहाँ से उनका परिश्रम प्रारंभ होता है ॥

क्यों ?

क्योंकि उपर्युक्त श्री धवलाजी आदि समस्त धर्म ग्रंथों की प्ररूपणाओं द्वारा यही सिद्ध हो रहा है कि तीर्थंकर भगवान न सिर्फ इष्टार्थ संपादक हैं, अपितु विघ्न विनाशक भी हैं, जो कि डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को किसी भी अपेक्षा से स्वीकृत नहीं है ॥

जैसा कि हमने पूर्व में भी कहा था कि :-

चूंकि, अपने स्वयं के ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की मंदता/अल्पता स्वीकार करने योग्य क्षयोपशम जिन तथाकथित विद्वानों के पास नहीं है,

वे मंदबुद्धि विद्वान् अपने क्षयोपशम की सीमाओं/मंदता को न जानते हुए, सहसा ही, उद्दंडवत् यह कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं कि :-

" दिया गया उपदेश मिथ्या अथवा जैनेतरों के ईश्वरादि वादों से प्रभावित है ॥"

इसलिए यहाँ से डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों का विशेष उद्यम काल प्रारंभ होता है ॥

मुख्यतया दो उद्यम उन्हे यहाँ अंजाम देने हैं :

१) उपर्युक्त समस्त प्ररूपणाओं को जैनेतरों के ईश्वरवाद से प्रभावित मर्मवाली घोषित करते हुए, उन्हें मिथ्या व जिनागम बाह्य निरूपित/प्ररूपित करना है ॥

२) उन्हें मिथ्या व जिनागम बाह्य निरूपित/प्ररूपित करते हुए जैन धर्म के प्राणभूत कर्मसिद्धांत में दोष उत्पन्न करने वाले व ईश्वरवाद का पोषण करने वाले श्री धवलाजी आदि धर्म ग्रंथों में व्याप्त समस्त व्याख्यानों, उपदेशों, सूत्रों, श्लोकों, गाथाओं आदि का जिनागम से निरसन कर, जिनागम को निर्दोष बनाये रखने हेतु इन सभी धर्मग्रन्थों का नये सिरे से लेखन करना है ॥

क्या ?

जी हाँ, ठीक सुना आपने कि नये सिरे से इन धर्म ग्रंथों का उन्हें लेखन कार्य करना है ॥

पाठक वर्ग कृपया अन्यथा न लें, क्योंकि नये सिरे से लिखे जाने का दुराग्रह हमारा नहीं, अपितु स्वयं डॉ. साहब का ही है, देखिये :-**(पत्रिका : जिनभाषित, अंक : जनवरी २००२, पृष्ठ : १२, कॉलम : १ उपशीर्षक : प्रतिष्ठा ग्रंथों में सुधार की आवश्यकता)**

" इस प्रकार हम देखते है कि पुराणो-प्रतिष्ठा ग्रंथों में जो दिक्पाल शासन देवता आदि को विघ्न विनाशक मानकर उनके आह्वान और पूजन का विधान किया गया है, वह उन्हें ईश्वरवत् सुख दुःख का कर्ता मान लेने की मिथ्या बुद्धि का प्रेरक है ॥ अतः उनमें सुधार की आवश्यकता है ॥ हम पूर्व रचित ग्रंथों में तो सुधार नहीं कर सकते, न ऐसा करना उचित है, किन्तु नये प्रतिष्ठा ग्रंथ लिख कर इस भूल का परिमार्जन कर सकते हैं ॥"

अर्थात् जिस हेतु से वे न सिर्फ दिक्पाल आदि शासन देवताओं के आह्वान-पूजनादि को, अपितु प्ररूपक आचार्य भगवन्तों को भी मिथ्या कह, उन प्रतिष्ठा ग्रंथों के पुनः लेखन की वकालत कर रहे हैं, उसी हेतु से न सिर्फ मिथ्या सिद्ध हो रहे श्री धवलाजी आदि ग्रंथों में प्ररूपित तीर्थंकर प्रभु के इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक प्रारूप को, अपितु उन ग्रंथों के प्ररूपक आचार्य भगवन्तों जैसे श्रीमद् वीरसेन स्वामी आदि को भी मिथ्या व जिनागम बाह्य घोषित करते हुए, उन्हीं ग्रंथों को नये सिरे से लिखने की पहल करनी चाहिये ॥

नहीं करनी चाहिये क्या ?

नियमतः करनी चाहिये ॥

अरे भाई, जैन धर्म का जो प्राण है, ऐसे कर्मसिद्धांत का पक्ष रखने वाला विद्वान्, तीर्थंकरों को दिये गये **"अघमोद्धारक, इष्टार्थ संपादक, विघ्न विनाशकादि"** विशेषण, जो कि तीर्थंकर भगवान में किसी भी अपेक्षा से नहीं हैं व जिसके कि द्वारा वे इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक सिद्ध होते हुए, जैनेतरों के ईश्वरवाद से स्पष्टतया दूषित हो रहे हैं, के समर्थन में अपना हाथ कैसे उठा सकता है ?

अर्थात् कदापि नहीं उठा सकता ॥

उसे तो खुलकर अपनी लेखनी के द्वारा भव्यजीवों को संसार सागर से तारने के लिये अपने श्रुत केवलीपने का निर्वाह करते हुए, पूर्वाचार्यों व उनके ग्रंथों को मिथ्या घोषित करते हुए, नवीन ग्रंथों के लेखन का उद्यम प्रारंभ कर देना चाहिये ॥

नहीं कर देना चाहिये क्या ?

निश्चित ही कर देना चाहिये ॥

आदरणीय डॉ. साहब को तो दिक्पाल आदि शासन देवताओं के विरोध में कलम बाद में उठानी चाहिये ....

प्रथम तो उन्हें, जो दूषण वे अन्यों में सिद्ध कर, उन दूषणों को सिद्ध करते हुए उन्हें मूर्खों में गिन रहे हैं, उन्हीं दूषणों से स्वयं को मुक्त अर्थात् निर्मल कर लेना चाहिये ॥

बगैर उन दूषणों से स्वयं को मुक्त किये वाद को प्रस्तुत होना ही महामूर्खता होगी ॥

क्योंकि वाद को प्रस्तुत विद्वान् के वचनों में स्व-वचन बाधा आदि दूषणों का होना अक्षम्य अपराध निरूपित किया गया है ॥

अतः डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को अपने पक्ष को निर्दोष बनाने अथवा बनाये रखने के लिये, सर्व प्रथम अपने पक्ष को निर्बल बनाने वाले श्री धवलाजी से लेकर पूजा की पुस्तकों तक की उन समस्त प्ररूपणाओं को जिनके कि द्वारा तीर्थंकर भगवान स्वयं ही इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक सिद्ध होते हैं, मिथ्या घोषित करते हुए, संशोधनात्मक नवीन धर्म ग्रंथों की संरचनार्थ प्रस्तुत होना होगा ॥

आइये, अब इस समूचे प्रकरण का उपसंहार, डॉ. साहब के निष्कर्षों के आश्रय से करें :- (पत्रिका : जिनभाषित, पृष्ठ : १०/११, कॉलम : २/१, उपशीर्षक : विपरीत शिक्षा ग्रहण) डॉ. साहब लिख रहे है कि :-

इन ग्रंथों में शासन देवताओं में विघ्न निवारण व इष्ट संपादन की शक्ति बतलाई गई है और कहा गया है .... (इस प्रकार) दुःखों से तत्काल छुटकारा पाने के लिए शासन देवताओं की पूजा भक्ति उनके (अर्थात् उन्हें मानने वालों के) जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती है ....

शायद स्व-दूषण आँकने में अनिपुण डॉ. साहब यहाँ भी चूक ही गये.......

आदरणीय डॉ. साहब का यह भय शासन देवताओं में तो कम, किन्तु तीर्थंकर प्रभु में ही अधिक व्याप्त हुआ दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि स्पष्ट रूप से देखने में आ रहा है कि वह श्री महावीरजी हो अथवा तिजाराजी अथवा कुण्डलपुर के बड़े बाबा या अन्य-अन्य अतिशय क्षेत्र/सिद्धक्षेत्र, इन सभी क्षेत्रों पर जैनाजैन श्रद्धालुगण सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये नहीं, अपितु विघ्नों के विनाश व इष्टार्थ संपादन के लिए ही मानता मानते व यात्राएं करते आये हैं, मानो वहाँ डॉ. साहब के मत वाली राग द्वेष से रहित वीतरागी तीर्थंकर परमात्मा की प्रतिकृतियों की नहीं, अपितु जैन धर्म के प्राणभूत कर्मसिद्धांत में अविश्वास व जैनतरों के ईश्वरवाद को पुष्ट करने वाली जैनेतरों की ही स्थापनाएँ हों ॥

अतः डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को, अपने पक्ष को निर्दोष बनाने अथवा बनाये रखने के लिये, सर्व प्रथम अपने पक्ष को निर्बल बनाने वाले श्री धवलाजी से लेकर, श्री भक्तामरजी से होते हुए, पूजा की पुस्तको तक की उन समस्त प्ररूपणाओं को, जिनके कि द्वारा तीर्थंकर भगवान स्वयं ही इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक सिद्ध होते हैं, मिथ्या घोषित करते हुए, संशोधनात्मक नवीन ग्रंथों की संरचनार्थ प्रस्तुत होना चाहिये ॥

इतना कर लें, उसके पश्चात् ही वे, इस तर्क के द्वारा क्षेत्रपाल आदि शासन देवताओं की मान्यताओं को मिथ्या घोषित करने का प्रयास करें, अन्यथा नहीं ॥

शासन देवताओं के निषेधार्थ उनके द्वारा की गई वाक्य संरचना में शासन देवताओं के स्थान पर तीर्थंकर भगवान को रख कर वाक्य संरचना शायद उन्हें ऐसे प्रारंभ करनी होगी :-

शासन देवताओं के निषेधार्थ उनका वाक्य इस प्रकार था :-

ग्रंथों में शासन देवताओं में विघ्न निवारण व इष्ट संपादन की शक्ति बतलाई गई है और कहा गया है ... (इस प्रकार) दुःखों से तत्काल छुटकारा पाने के लिए (ही) शासन देवताओं की पूजा भक्ति उनके (उन्हें मानने वालों के) जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती है ...

इस वाक्य को संशोधित कर अर्थात् शासन देवताओं के स्थान पर तीर्थंकरों को रख कर डॉ. साहब को प्ररूपणा निश्चित ही इस प्रकार करनी होगी :-

''ग्रंथों में तीर्थंकरों में विघ्न निवारण व इष्ट संपादन शक्ति बतलाई गई है और कहा गया है ....(इस प्रकार) दुःखों से तत्काल छुटकारा पाने के लिये तीर्थंकरों की पूजा भक्ति उनके (उन्हें मानने वालों के) जीवन में प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती है ॥

जैसे कुण्डलपुर के बड़े बाबा ॥ दमोह (म.प्र.) के पास स्थित इस सिद्ध क्षेत्र से, यद्यपि श्रीधर केवली मुक्त हुए हैं, किन्तु इस क्षेत्र की यात्रा, जैनीगण स्वयं भी श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि के दर्शन, पूजन, वंदन के लिये न करके, वहाँ, जैनेतरों के इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक सिद्धांत/अर्थ को पुष्ट करने वाली प्रसिद्धि को प्राप्त बड़े बाबा के ही दर्शन, पूजन, वंदनार्थ करते हैं ॥ कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा का मेला भी उन्हीं के लिये आयोजित होता है ॥''

किंचित् साँस लेकर पुनः कहना प्रारंभ करेगे,

''इसलिये मैं, डॉ. रतनचंद जैन, साक्षात् श्रुतकेवली होता हुआ, इस अर्थ को पुष्ट करने वाली न सिर्फ समस्त स्थापनाओं को जिनागम बाह्य घोषित करता हूँ, अपितु तीर्थंकर परम देव में मंगल अर्थ की पुष्टि करने वाली कि वे इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक हैं, समस्त प्ररूपणाओं को, जो कि धवलाजी से लेकर, भक्तामर आदि स्तोत्रों से होते हुए, पुरातन व नवीन समस्त पूजा की पूस्तकों में, पुरातन व नवीन दोनों ही प्रकार के सुप्रतिष्ठित आचार्यों द्वारा लिपिबद्ध हैं, को भी जिनागम बाह्य घोषित करते हुए, इन्हीं ग्रंथों को पुनः लिपिबद्ध करने को उद्यत/ कटिबद्ध होता हूँ ॥

जिनागम में निहित तीर्थंकर प्रभु के संदर्भ में इन मिथ्या प्ररूपणाओं के झुठलाने के पश्चात् ही मैं शासन देवताओं की मान्यताओं को झुठलाने वाली प्ररूपणाओं को लिपिबद्ध करूँगा, अन्यथा नहीं ॥

ऐसा इसलिये कि न्याय ग्रथों में निहित यह सूत्र हमें सुस्पष्ट हो गया है कि अन्यों में निहित जिन दूषणों को हम उजागर करके दृढ़ता पूर्वक निषेध करते हैं, उन दूषणों का हमारे अर्थात् निषेध कर्ता के मत में अत्यंताभाव होना चाहिये ॥

उन दूषणों के निषेध कर्ता के मत में किंचित् अर्थात् अणु मात्र सद्भाव को भी स्याद्वादियों ने अक्षम्य अपराध कहा है, अतः प्रथम जिनागम में निहित तीर्थंकर प्रभु को इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक सिद्ध करने वाली मिथ्या प्ररूपणाओं को ही मैं झुठलाने का पुरुषार्थ करूँगा, व उसके पश्चात् ही शासन देवताओं की मान्यताओं को झुठलाने वाली प्ररूपणाओं पर अपना मंतव्य दूँगा, अन्यथा नहीं ॥''

इस प्रकार डॉ.साहब प्रथम श्री धवलाजी से लेकर पूजा की समस्त पुस्तकों को मिथ्योपदेशक घोषित कर, उनमें निहित तीर्थंकर प्रभु में इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक अर्थ की पुष्टि करने वाले समस्त उपदेशों का निरसन करके, तीर्थंकर प्रभु के स्वरूप को नये सिरे से लिखने के पश्चात् ही शासन देवताओं के निरसनार्थ पुरुषार्थ करेंगे, उससे पूर्व नहीं ॥

क्योंकि उन्हें सुस्पष्ट हो गया है कि ''अन्यों में निहित जिन दूषणों को हम उजागर करके दृढता पूर्वक निषेध करते हैं, उन दूषणों का हमारे अर्थात् निषेध कर्ता के मत में अत्यंताभाव होना चाहिये ॥ उन दूषणों के निषेध कर्ता के मत में किंचित् अर्थात् अणु मात्र सद्भाव को भी स्याद्वादियों ने अक्षम्य अपराध कहा है ॥''

शायद पाठकों को डॉ. साहब के वचनों में न सिर्फ स्व वचन बाधा आदि दूषणों से उत्पन्न होने वाली हास्यास्पदता दृष्टिगोचर हो गई होगी, अपितु उपर्यक्त दूषणों के सद्भाव में स्वयं के प्रति उत्पन्न हुई श्रुतकेवलीपने की मूढ़ बुद्धि भी स्पष्ट हो गई होगी ॥

इन्हीं स्व-वचन बाधा आदि दूषणों के निराकरण में अनिपुण होने के कारण ही न सिर्फ उनकी प्ररूपणा सदोष सिद्ध हुई, अपितु हास्यास्पद भी ॥

न सिर्फ हास्यास्पद, अपितु सामान्य श्रोता गणों व औसत बुद्धि के विद्वानों, जिनकी कि संख्या प्रबुद्ध पाठकों व स्याद्वाद कुशल विद्वानों की अपेक्षा कहीं ज्यादा है, में जिनागम के नाम पर अवर्णवाद का संचरण करने वाली भी ॥

शंकाकार : चलिये, डॉ. साहब की मीमांसा से चित्त को पृथक करें व आपकी मीमांसा पर चित्त को स्थिर कर आप ही से प्रश्न करें कि आपकी मीमांसानुसार इन अतिशयादि के कर्ता कौन हैं ?

आपकी इस शंका के समाधानार्थ, चलिये, अगले शीर्षक की ओर चलें ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ क्या तीर्थंकर भगवान इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक हैं ?

पूर्व शार्षक के अंत में शंकाकार ने शंका की थी कि : चलिये, डॉ. साहब की मीमांसा से चित्त को पृथक् करें व आपकी मीमांसा पर चित्त को स्थिर करें व आप ही से प्रश्न करें कि आपकी मीमांसानुसार इन अतिशयादि के कर्ता कौन हैं ?

समाधान : स्वयं तीर्थंकर भगवान ॥

शंकाकार : और कारण ?

समाधान : कारण तीर्थंकर प्रकृति ॥

शंकाकार : क्यों ?

समाधान : क्योंकि अन्य अरिहंतों के चार घातिया कर्मों का अभाव तो पाया जाता है, किन्तु तीर्थंकरों में पाये जाने वाले समवशरणादि विभूतियों की तरह ३४ अतिशयों का सद्भाव नहीं, अत: सिद्ध होता है कि कारण तीर्थंकर प्रकृति ही है ॥

इस विषय में न्याय शास्त्रों का सूत्र भी प्रसिद्ध है कि :-

"जिसके बिना जो नियम से नहीं पाया जाता है, वह उसका कार्य व दूसरा कारण होता है ॥" (श्री धवलाजी, पुस्तक १२, भाग ८, सूत्र १२ की टीका)

इस विधान के अनुसार तीर्थंकर प्रकृति के अभाव में नहीं पाये जाने वाले ३४ अतिशय तीर्थंकर प्रकृति का ही कार्य है, अन्य किसी का नहीं ॥

अन्य किसी का कार्य न होते हुए, कारण तीर्थंकर प्रकृति ही, अन्य कोई नहीं ॥

"अतः तीर्थंकर प्रकृति कारण, अतिशय कार्य एवं कर्ता तीर्थंकर भगवान ॥"

तीर्थंकर भगवान का दातृत्व गुण व उन पर रागी होने का आरोप :-

शंकाकार : इस प्रकार तीर्थंकर प्रभु में कर्ता कारक की परिकल्पना करने पर, क्या उन पर रागी होने का आरोप नहीं आयेगा ?

समाधान : नहीं आयेगा ॥

क्यों ?

क्योंकि मोहनीय कर्म का जड़-मूल से नाश करने वाले तीर्थंकर भगवान के संदर्भ में

स्पष्ट आदेश उपलब्ध है कि :-

ईहापुव्वं ण होई केवलिणो ॥ (श्री नियमसारजी)

अर्थ : तीर्थंकर भगवान की गमनादि क्रियाएं (हम छद्मस्थों की तरह) इच्छा पूर्वक नहीं होती ॥

इच्छापूर्वक नहीं होती, इसीलिये दोष की कारण नहीं हैं ॥

यदि अतिशयों में कर्ता कारक की परिकल्पना से उनमें रागी होने का आरोप आयेगा, तो सर्वत्र आना चाहिये ॥

जैसे ?

जैसे अन्य सामान्य जनों के नहीं, अपितु चक्रवर्ती आदि पुण्य पुरुषों की उपस्थिति में ही दिव्यध्वनि का खिरना ॥

अथवा दिव्यध्वनि के खिरने हेतु स्वयं के पादमूल में ही दीक्षित गणधर भगवान की ही अपेक्षा का होना ॥

आदि ॥

इन सभी प्रकरणों में भी भगवान पर रागी होने का आरोप आयेगा ॥

अतः, ईहापुव्वं ण होई केवलिणो, इस सूत्र की दिव्यध्वनि व गमनादि क्रियाओं की तरह, इन अतिशयों के साथ भी अनुवृत्ति करते हुए व्याख्यान करना होगा ॥

यदि ऐसा न किया गया तो जैन धर्म निरतिशय सिद्ध हो जायेगा ॥

जैनों व जैनेतरों के देवों में अंतर :-

शंकाकार : यदि ऐसा ही है, तब फिर जैनों व जैनेतरों में अंतर क्या रह जायेगा ?

समाधान : अंतर तो महान् है ॥

शंकाकार : जैसे ?

समाधान : जैसे जैनतरों की मान्यताओं के अनुसार उनके देव स्तुति/उपासना किये जाने पर प्रसन्न होते हैं व प्रसन्न होकर स्तुतिकर्ता के इष्ट की सिद्धि करते हैं अथवा रुष्ट होने पर अनिष्ट करते हैं ॥

किन्तु जिनेन्द्र भगवान ऐसे देव नहीं हैं ॥

उन्हें प्रसन्न अथवा रुष्ट करने का कोई उपाय ही नहीं और न ही वे अपने स्वयं से भी किसी पर प्रसन्न अथवा रुष्ट होते हैं ॥

देखिये (**भगवन् समंतभद्राचार्यजी रचित श्री स्वयंभू स्तोत्र जी (वासुपूज्यजिन स्तोत्रं), श्लोक संख्या ५७):-**

न पूजयार्थस्त्वयिवीतरागे न निन्दयानाथ विवान्तवैरे ।।५७।।

इसके अलावा उनकी सभी क्रियाएं स्त्रियों में पाई जाने वाली मायाचारी की तरह स्वाभाविक होती हैं, इच्छापूर्वक नहीं, ऐसा भी कहा गया है ।।(श्री प्रवचनसारजी)

इच्छापूर्वक नहीं होती अर्थात् स्वतः निःसृत होती हैं, इसलिये रागोत्पत्ति की कारण नहीं हैं ।।

सूत्र के सामर्थ्य से तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण की सिद्धि :-

शंकाकार : आपने जो कहा वह हमने गमनादि औदयिकी क्रियाओं व दिव्य-ध्वनि के संदर्भ में तो सुना था, किन्तु अतिशयों के संदर्भ में कभी नहीं सुना ?

समाधान : इसे तो सूत्र के सामर्थ्य से ही जाना जा सकता है ।।

कैसे ?

जैसे कि कहा गया है कि केवलज्ञान के १० अतिशय ।।

यदि ईहापुव्वं ण होई केवलिणो पद की इस अतिशय के साथ अनुवृत्ति नहीं करोगे, तो इस अतिशय की सिद्धि कैसे करोगे ?

फिर तो इस अतिशय की सिद्धि का कोई उपाय ही नहीं रहेगा व सिद्धि के अभाव में इन अतिशयों को मिथ्या कहना होगा, जो कि वे नहीं हैं ।।

जैसे दिव्यध्वनि के खिरने हेतु नियम है कि वह तीर्थंकर भगवान के स्वयं के पादमूल में दीक्षित गणधर भगवान के सान्निध्य में ही खिरती है, अन्यथा नहीं, इस नियम में ईहापुव्वं ण होई केवलिणो नियम गम्य है, अन्यथा तीर्थंकर भगवान पर रागी होने का आरोप आ जायेगा, वैसे ही केवलज्ञान के अतिशय भी ईहापुव्वं ण होई केवलिणो नियम की अपेक्षा रखते हैं, यदि अतिशयों के व्याख्यान में ईहापुव्वं ण होई केवलिणो सूत्र का स्मरण नहीं रखोगे, तो नियमतः तीर्थंकर प्रभु पर रागी होने का दूषण आ जायेगा ।।

इसलिये तीर्थंकर भगवान के कहे गये प्रत्येक अतिशय के पूर्व ईहा पुव्वं ण होई केवलिणो पद की अनुवृत्ति करते हुए ही अर्थ करना होगा, अभाव करके नहीं ।।

यह उत्तर तो सूत्र के सामर्थ्य से हुआ, किन्तु इस विषय में अनुमान प्रमाण भी है ।।

अनुमान प्रमाण से तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण की सिद्धि :-

उस अनुमान प्रमाण से तीर्थंकर भगवान में राग रहित दातृत्व गुण की सिद्धि के लिये, आइये, श्री धवलाजी की शरण में चलें :-(श्री धवलाजी, पुस्तक ९, खण्ड ४, भाग १, सूत्र २९, पृष्ठ ९५)

णवरि असुहलद्धीणं पउत्ती लद्धिमंताणमिच्छावसवट्टणी ।। सुहाणं लद्धीणं पउत्ती पुण दोहि वि पयारेहि संभवदि, तदिच्छाए विणा वि पउत्तिदंसणादो ।।

अर्थ :- विशेष इतना है कि अशुभ लब्धियों की प्रवृत्ति लब्धियुक्तजीवों की इच्छा के वश होती है, किन्तु शुभ लब्धियों की प्रवृत्ति दोनों ही प्रकार से (स्वतः व इच्छा से) संभव है, क्योंकि इच्छा के बिना भी उक्त लब्धियों की प्रवृत्ति देखी जाती है ॥

यहाँ ऋद्धिधारी मुनिराजों का प्रसंग है ॥ ऋद्धिधारी मुनियों की ऋद्धियाँ कार्य कैसे करती हैं, यह यहाँ बतलाया जा रहा है ॥

शायद पाठक वर्ग समझ ही गये होंगे ॥

विशेष कुछ कहने की यहाँ आवश्यकता ही नहीं ॥

ऋद्धिधारी मुनियों को प्राप्त शुभ लब्धियाँ अर्थात् ऋद्धियाँ भी जब इच्छा के बिना स्वतः ही प्रवृत्त हो सकती हैं, तब तीर्थंकर भगवान के सौ-सौ योजन तक सुभिक्ष का सद्भाव नाम की लब्धि इच्छा के बिना स्वतः ही प्रवृत्त क्यों नहीं हो सकती ?

अर्थात् नियम से प्रवृत्त सकती है ॥

प्रवृत्तने में कोई बाधा ही नहीं है ॥

यदि ऐसा नहीं मानोगे, तो आपको स्वीकार करना होगा कि जिनेन्द्र भगवान के मत में ऋषि/यतिगण तो स्वतः प्रवृत्तने वाली शुभ लब्धियों/ऋद्धियों से संपन्न होते हैं, किन्तु वीतरागी/वीतमोही तीर्थंकर/जिनवर नहीं ॥

तीर्थंकर बनते ही वे सातिशय ऋषि/यतिगण निरतिशय हो जाते हैं ॥

क्या तीर्थंकर भगवान का मत निरतिशय तीर्थंकरों की ही प्ररूपणा करने वाला है, सातिशय तीर्थंकरों की नहीं ?

नहीं, वह तो सातिशय तीर्थंकरों की प्ररूपणा करने वाला है ॥

यह उत्तर अनुमान प्रमाण से हुआ, अब आगम प्रमाण देखिये ॥

आगम प्रमाण से तीर्थंकर भगवान में दातृत्व गुण की सिद्धि :-

तीर्थंकर प्रभु को जिनागम में देव कहा गया है ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि उन्हें देव क्यों कहा जाता है ?

जिन कारणों से देव गति के देवों को देव कहा जाता है, क्या उन्हीं कारणों से उन्हें भी देव कहा जाता है या इन्हें देव कहने के अन्य ही कारण हैं ?

वस्तुतः तीर्थंकर प्रभु को देव दो कारणों से कहा जाता है ॥

उन दो कारणों में से प्रथम कारण श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यजी श्री बोध पाहुडजी की गाथा २४ में कहते हैं :-

श्री बोध पाहुडजी की गाथा ३-४ में, इस पाहुड में वर्णित ११ अधिकारों का निर्देश है ॥

उन ११ अधिकारों में से ९ वाँ अधिकार **अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं**, पद के द्वारा अरिहंत भगवान द्वारा सम्यक् प्रकार से प्ररूपित देव का प्रारूप भी वे कहेंगे, का निर्देश किया गया है ॥

उसी निर्देश के अनुसार गाथा २४ में व्याकरण शास्त्र के आश्रय से निरुक्ति विधानानुसार सम्यक् देव का स्वरूप बतलाते हुए आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि :-

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेई णाणं च ।
सो देई जस्स अत्थि दु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा ॥२८॥

अर्थ : देव वह है जो अर्थ, धर्म, काम और ज्ञान को अच्छी तरह से देता है ॥ (लोक में ऐसा न्याय है कि) जिसके पास जो वस्तु होती है, वह उसे देता है ॥ (व देने योग्य देव के पास वस्तु) अर्थ, धर्म, प्रव्रज्या और च कार से अन्य भी हैं ॥

इस गाथा के अर्थ को गाथा स्थित लौकिक न्याय व व्याकरण शास्त्र के आश्रय से टीकाकार ने अत्यत सरल कर दिया है :-

स ददाति यस्य पुरुषस्य यद्वस्तु वर्तते असत्कथं दातुं समर्थः ॥ यस्यार्थो वर्तते सोऽर्थं ददाति,यस्य धर्मो वर्तते स धर्म ददाति, यस्य प्रव्रज्या दीक्षा वर्तते स केवलज्ञानहेतुभूतां प्रव्रज्यां ददाति, यस्य सर्वसुखं वर्तते स सर्व सौख्यं ददाति ॥

अर्थ : जिस पुरुष के पास जो वस्तु होती है, उसे ही वह देता है ॥ अविद्यमान वस्तु को देने के लिए कोई कैसे समर्थ हो सकता है ? (इस तरह यह सिद्ध हुआ कि) जिसके पास अर्थ (धन) है, वह धन देता है, जिसके पास धर्म है, वह धर्म देता है, जिसके पास प्रव्रज्या (दीक्षा) है, वह केवलज्ञान की प्राप्ति में कारणभूत प्रव्रज्या को देता है और जिसके पास सर्व सौख्य है, वह सर्व सुख को देता है ॥

अर्थात् देव विशेषण उन्हीं के वर्तता है, जिनके पास है और देते भी हैं ॥ जिनके पास है, किन्तु नहीं देते, वे देव नहीं कहलाते ॥

अर्थात् श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यजी कह रहे हैं कि तीर्थंकर भगवान यदि देव हैं, तो उनमें दातृत्व गुण प्रगट होना ही होना चाहिये, दातृत्व गुण के अभाव में उन्हें देव नहीं कहा जा सकता ॥

अर्थात् वे देव हैं, इसलिये देते ही हैं, देते हैं इसी कारण से देव हैं ॥

वीतरागता व तीर्थंकर भगवान का दातृत्व गुण :-

यहाँ पुनः पूर्व में पूछे गये प्रश्न को अवकाश है कि वह देव, जो कि दाता है, यदि देता है तो रागी ठहरेगा ?

इस पर आचार्य भगवंत कहते हैं कि नहीं ठहरेगा ॥

पूछा गया कि क्यों, क्यों नहीं ठहरेगा ?

तब आचार्य भगवंत कहते हैं कि वह दाता व्यपगत मोही है, इसलिये ।। लो, सुनो :-

देवो ववगयमोहो ।। (गाथा २५)

अर्थ : वह देव अर्थात् दाता व्यपगत मोह अर्थात् मोह रहित है ।।

यहाँ गाथा में प्रयुक्त पद **व्यपगत मोह**, श्री नियमसारजी में कहा गया **ईहा पुव्वं ण होई केवलिणो** का समानार्थक है ।।

अर्थात् तीर्थंकर प्रभु देव तो हैं/दाता तो हैं, किन्तु व्यपगत मोह अर्थात् राग रहित ।।

उनका देना हम संसारियों जैसा राग सहित नहीं होता है ।।

अर्थात् श्री बोधपाहुडजी के न्यायानुसार कि जिसके पास जो होता है, वह वही देता है व उसी दातृत्व गुण के कारण वह देव कहलाता है, अन्य कारण से नहीं , अतः तीर्थंकर भगवान के पास भी देने योग्य कुछ होना चाहिये, वह होगा तभी वे दे पायेंगे व दे पाने के बाद ही वे देव कहलायेंगे, उससे पूर्व नहीं ।।

शंका : उनके पास देने योग्य क्या है ?

समाधान : इस प्रश्न के उत्तर में श्रीमद् टीकाकार महोदय ने बहुत ही सुंदर पद का प्रयोग किया है, सुनिये :-

यस्य सर्वसुखं वर्तते स सर्व सौख्यं ददाति ।।

अर्थ : जिसके पास सर्व सौख्य है, वह सर्व सुख को देता है ।।

निश्चित ही तीर्थंकर भगवान सर्व सौख्य के स्वामी हैं, इस विषय में किसी एक सम्यग्दृष्टि के चित्त में भी शंका को स्थान नहीं होना चाहिये, यदि होगा, तब तो उसके सम्यक्त्व पर ही शंका हो जायेगी ।।

इसी सर्व सौख्य के दान देने की पात्रता के कारण ही वे देव हैं, ऐसा श्रीमद् कुंदकुंदाचार्यजी कह रहे हैं ।।

किन्तु अकेले कुंदकुंदाचार्यजी ही कह रहे हैं, अन्य नहीं, ऐसा भी नहीं है ।।

इस विषय को श्रीमद् पूज्यपादस्वामी भी श्री सर्वार्थसिद्धिजी में कह रहे हैं : **(श्री सर्वार्थसिद्धिजी, अध्याय २, सूत्र ४, पृष्ठ १११)**

यदि क्षायिकदानादिभावकृतमभयदानादि, सिद्धेष्वपि तत्प्रसंगः ? नैष दोषः, शरीरनामतीर्थंकरनामकर्मोदयाद्यपेक्षत्वात् ।।

अर्थ :

शंका : यदि क्षायिक दानादि भावों के निमित्त से अभय दान आदि कार्य होते हैं, तो

सिद्धों में भी उनका प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इन अभयदानादि के होने में शरीर नाम कर्म और तीर्थंकर नाम कर्म की अपेक्षा रहती है ।।

अर्थात् तीर्थंकर भगवान के दानान्तराय कर्म का अत्यंत क्षय हो जाने से क्षायिक दान नाम की लब्धि प्रगट हुई है ।।

किन्तु क्षायिक दान नाम की लब्धि मात्र से दातृत्व गुण प्रगट नहीं होगा ।।

तब कैसे होगा ?

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य भगवंत कहते हैं कि यह क्षायिक दान नाम की लब्धि शरीर व तीर्थंकर नाम कर्म की अपेक्षा करती है ।।

शरीर व तीर्थंकर नाम कर्मके सद्भाव में ही यह लब्धि करने योग्य कार्य को करती है, अभाव करके नहीं ।।

यही क्षायिक दान नाम की लब्धि, शरीर नाम कर्म व तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव से अनन्त प्राणियों के समुदाय का उपकार करती है ।।

इसी क्षायिक दान नाम की लब्धि के कारण वे दातृत्व गुण से युक्त हैं व इसी दातृत्व गुण के कारण वे देव हैं ।।

यही देवत्व प्रकारान्तर से मंगल कहलाता है ।।

अर्थात् देव व मंगल, इन दो शब्दों में शब्द भेद है, अर्थ भेद नहीं ।। प्रकारान्तर से ये पर्यायवाची ही हैं ।।

चार घातिया कर्मों के नाश व तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव से जहाँ तीर्थंकर प्रभु की लोकोत्तमता लोक में सिद्ध है, वहीं इसी शरीर नाम कर्म व तीर्थंकर प्रकृति के सद्भाव पूर्वक क्षायिक दान नाम की लब्धि से, न सिर्फ वे लोक में मंगल रूप में प्रसिद्ध हैं, अपितु संसार के सभी मंगलों में प्रथम मंगल कहे जाते हैं ।।

वैसे तीर्थंकर भगवान के इस लोकोत्तम व मंगल स्वरूप का सजीव व अलंकार युक्त चित्रण, अन्यत्र तो मिलता ही है, किन्तु इसे श्री भक्तामर स्तोत्रजी में आइये, पढ़ें व गुनें :-

२५ वें छन्द में भगवान को पुरुषोत्तम कहा गया है ।। पुरुषोत्तम तीनों लोकों में स्थित समस्त पुरुषों में जो उत्तम होता है, उसीको कहते हैं, देखिये :-

..........व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्मोऽसि ।।

अब तीर्थंकर प्रभु के क्षायिक दान नाम की लब्धि को सिद्ध करने वाले मंगल रूप

अर्थात् इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक रूप को देखिये (छंद ३८) :

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोल मूल,
मत्त भ्रमद्भ्रमर नाद विवृद्ध कोपम् ।
ऐरावताभ-मिभमुद्धतमापतन्तं,
दृष्ट्वा भयं भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥

इस छंद में तीर्थंकर भगवान के मंगल अर्थात् इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक स्वरूप का वर्णन किया गया है व कहा गया है कि तीर्थंकर भगवान के आश्रित अर्थात् शरण ग्रहण करने वाले भय मुक्त हो जाते हैं ॥

इतना ही नहीं, अपितु तीर्थंकर भगवान सर्व सौख्य के न सिर्फ स्वामी हैं, अपितु अपने सेवकों/भक्तों को अपने समान बना देने वाले संसार के एक मात्र स्वामी हैं की सूचना देने वाला पद भी श्री भक्तामर स्तोत्र जी से सुनिये :-

तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति ॥ १० ॥

भगवान के इसी देव शब्द की व्युत्पत्ति अनुसार प्रसिद्ध दातृत्व गुण को देव विशेषण पूर्वक कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी श्री रत्नकरण्डश्रावकाचारजी की कारिका क्रमांक ११९ में कहते हैं, सुनिये :-

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥

अर्थ : आदर से युक्त होकर प्रतिदिन मनोरथों को पूर्ण करने वाले व काम को भष्म करने वाले देवाधिदेव के चरणों में समस्त दुःखों को दूर करने वाली परिचर्या अर्थात् पूजा अवश्य करनी चाहिये ॥**(अर्थकर्ता : पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर)**

यहाँ भगवान समंतभद्राचार्यजी कह रहे हैं कि तीर्थंकर भगवान सिर्फ देव नहीं है, अपितु देवाधिदेव हैं ॥ अर्थात् इस लोक में जितने भी दातृत्व शक्ति से युक्त इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक अर्थ में प्रसिद्ध इंद्रादि जो देव हैं, उन सभी देवों से अधि अर्थात् अधिक दातृत्व गुण से युक्त तीर्थंकर परम देव हैं ॥ चूँकि तीर्थंकर प्रभू में दातृत्व शक्ति अन्य देवों की अपेक्षा अधिक है, इसलिये वे देवाधिदेव हैं ॥

शंकाकार : *यहाँ पर आपने देव शब्द से दातुत्व गुण से युक्त अर्थ कैसे ले लिया ?*

समाधान : इस प्रश्न का उत्तर तो स्वयं आचार्य भगवंत ने इसी कारिका में दिया है, सुनिये :-

आचार्य भगवत अरिहंत भगवान के चरणों की महिमा बतलाते हुए कह रहे हैं कि अरिहंत भगवान के अन्य अंगों को तो पृथक करो, क्यों कि उनकी महिमा का गुणगान तब क्या व कैसे करें, जब कि उनके युगल चरण मात्र ही न सिर्फ मनोरथों को पूर्ण करने वाले, अपितु काम को भष्म करने वाले भी हैं ।। निश्चित ही वह तो अवर्णनीय/अकथनीय है ।।

उनके चरण ही चूँकि अन्य दातृत्व गुणों से युक्त इंद्रादिकों के सम्पूर्ण दातृत्व गुण से अधिक महिमाशाली हैं, इसीलिये वे उन सभी देवों से अधिक महिमाशाली, गुणशाली होने से देवाधिदेव है ।।

चूँकि उन देवाधिदेव के चरण न सिर्फ मनोरथों को पूर्ण करने वाले, अपितु काम को भष्म करने वाले हैं, इसलिये मनोरथों को पूर्ण करने वाले होने से कामदं हैं और काम को भष्म करने वाले होने से मोक्षदं हैं ।।

इस प्रकार समंतभद्राचार्यजी तीर्थंकर भगवान के चरण युगलों को कामदं मोक्षदं विशेषण से विभूषित कर रहे हैं ।।

अर्थात् मानतुगाचार्यजी की तरह समंतद्राचार्यजी भी कह रहे हैं कि तीर्थंकर भगवान के युगल चरण लोक के समस्त स्वामियों के चरणों में इकलौते ऐसे चरण हैं, जो कि अपने सेवकों केचरणों को अपने समान जगत पूज्यता को दिलवा सकते हैं ।।

चूँकि ये इकलौते ऐसे चरण हैं, जो कि अपने सेवकों केचरणों को अपने समान बना कर जगत पूज्यता को दिलवा सकते हैं, इसलिये हमें परमागम में उन चरणों से जगत पूज्यता को दिलवाने वाली विधि ढुंढनी चाहिये ।।

आचार्य भगवंत कहते हैं कि उन चरणों से, जगत पूज्यता को दिलवाने वाली विधि उन चरणों की परिचर्या है, अतः हमें उन चरणों की परिचर्या निरंतर करनी चाहिये ।।

अर्थात् निरंतर उन चरणों के न सिर्फ अभिमुख रहना चाहिये, अपितु उनकी सेवा, अर्चना, पूजा, वंदना व नमस्कार को कृत संकल्पित रहना चाहिये ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि तीर्थंकर भगवान न सिर्फ लोकोत्तम, अपितु इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक भी हैं ।।

इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक अर्थात् मंगल भी हैं ।।

"अहो भगवन् !

हम संसारी अकारण न तो किसी की शरण ही स्वीकार करते हैं और न ही अकारण किसी को नमस्कार ही करते हैं ।। चूँकि भगवन् आप न सिर्फ लोकोत्तम हैं, अपितु मंगल भी हैं, इसीलिये अपने जीवन को मंगल करने के उद्देश्य से ही हम आपकी शरण को/आपके

आश्रय को प्राप्त होते हैं/स्वीकार करते हैं ।।" (पूर्व में कहे गये चत्तारिदण्डक का आशय ।।)

शायद पाठकों को स्पष्ट हो ही गया होगा कि आगम में तीर्थंकर भगवान को उनकी दातृत्व शक्ति के कारण देव व देवाधिदेव होने से लोकोत्तम कहा गया है ।।

इस विषय में शंका को निश्चित ही कोई स्थान शेष नहीं होगा ।।

किन्तु नहीं, यहाँ अभी एक और शंका के लिये स्थान शेष है ।।

कौन सी शंका के लिये ?

आइये इसे प्रश्न व उसके उत्तर रूप में श्रीमद् धवलाकार जी के ही मुखारबिंद से बगैर किसी टिप्पणी के सुनें :-

धवला पुस्तक १४, खण्ड ५, भाग ६, सूत्र १८ की टीका, पृष्ठ १६ व १७ :-

जा खइया दाणलद्धी सो वि खइयो अविवागपच्चइयोजीवभावबंधो, दाणंतराइयस्स णिम्मूलक्खएण समुप्पत्तीदो । अरहंता खीणदाणंतराइया सव्वेसिं जीवाणमिच्छिदत्थे किण्ण देंति ? ण, तेसिंजीवाणं लाहंतराइय भावादो ।।

जो क्षायिक दानलब्धि है वह भी क्षायिक अविपाकप्रत्ययिकजीवभावबंध है, क्योंकि, वह दानान्तराय के निर्मूल क्षय से उत्पन्न होती है।

शंका : अरिहन्तों के दानान्तराय का तो क्षय हो गया है, फिर वे सब जीवों को इच्छित अर्थ क्यों नहीं देते ?

समाधान : नहीं, क्योंकि, उन जीवों के लाभान्तराय कर्म का सद्भाव पाया जाता है ।।

अर्थात् श्री धवलाकार जी को भी यही इष्ट है कि तीर्थंकर भगवान देते हैं, किंतु इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधक हमारा ही लाभांतराय कर्म है ।।

हमारे लाभान्तराय कर्म के सद्भाव के कारण इच्छित वस्तु की अप्राप्ति तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण का खण्डन नहीं कर सकती ।।

चूँकि दानान्तराय कर्म का उदय कभी नहीं होता, अपितु क्षयोपशम ही होता है, अतः इच्छित वस्तु मिलती ही नहीं, ऐसा नहीं, अपितु साता वेदनीय, शुभ नाम व उच्च गोत्र कर्म की अपेक्षा करने वाले लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशमानुसार अर्थात् उसकी अनुभाग शक्ति की तारतम्यतानुसार वह मिलती है ।।

इस प्रकार आगम प्रमाण से भी सिद्ध हुआ कि व्यपगतमोही/वीतरागी तीर्थंकर भगवान चूंकि देव भी हैं, इसलिये दाता भी हैं ही हैं ।।

उनके व्यपगत मोही/वीतरागी होने के कारण ही उनके दातृत्व गुण में रागी होने का दूषण नहीं आता, अपितु पद निर्मित होता है कि व्यपगत मोही/वीतरागी दाता ।।

चूंकि वे व्यपगत मोही/वीतरागी दाता हैं, इसलिये व्यपगत मोही/वीतरागी उपकारक भी हैं ही ॥

व्यपगत मोही/वीतरागी उपकारक होने से वे साक्षात् व्यपगत मोही/वीतरागी मंगल भी हैं ॥

जो जिनेन्द्र भगवान में मंगलपने को अर्थात् उनमें इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक गुण को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके मत में तीर्थंकर प्रभु के क्षायिकदान नाम की लब्धि का अभाव है ॥

क्षायिकदान नाम की लब्धि के अभाव में उनके तीर्थंकर ८ लब्धियों वाले ही हैं, ९ लब्धियों वाले नहीं ॥

चतुर्णिकाय के देवों का दातृत्व गुण व तीर्थंकर परम देव :-

शंकाकार : यदि वे देने के कारण ही देव हैं, तो क्या देवगति के देव नहीं देते ? यदि वे भी देने के कारण ही देव हैं, तो दोनों में अन्तर ही नहीं रहा ?

समाधान : किसने कहा कि देव गति के देव नहीं देते ? यदि उनमें देने का गुण न हो, तो तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों में १४ अतिशय देवकृत कहे ही नहीं जा सकते थे ॥

किन्तु कहे गये, यही सूत्र इस सत्य की सिद्धि करने के लिये पर्याप्त है कि देवगति के देव भी देते हैं ॥

श्री सर्वार्थसिद्धिकारजी भी इसी सत्य की श्री तत्त्वार्थसूत्रजी, अध्याय ४, सूत्र २० में प्रयुक्त पद प्रभाव के द्वारा देवों के प्रभाव गुण का निर्देश करते हुए पुष्टि करते हैं :

शापानुग्रहशक्तिः प्रभावः ॥

अर्थ : श्राप व अनुग्रह की शक्ति प्रभाव है ॥

चतुर्णिकाय के देव उस शक्ति से युक्त रहते हैं ॥ उस शक्ति से उनका युक्त होना ही उनका प्रभाव नामक गुण है ॥

शापानुग्रहशक्तिः का अर्थ होता है इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन ही नहीं, अपितु इष्टार्थ विनाशन व विघ्न संपादन सामर्थ्य से भी युक्त ॥

अतः देव सिर्फ इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन सामर्थ्य से ही युक्त होते हैं, ऐसा नहीं है, अपितु वे इष्टार्थ विनाशन व विघ्न संपादन सामर्थ्य से भी युक्त होते हैं ॥

अतः सिद्ध हुआ कि दातृत्व गुण की अपेक्षा दोनों ही देव हैं, उनमें से एक है, और दूसरा नहीं, ऐसा नहीं, किंतु दोनों में अंतर मोह अर्थात् ईच्छा अर्थात् राग का है, मोह अर्थात् राग का अभाव हो जाने से, जहाँ एक का देना स्वतः प्रवृत्तमान क्रिया है, तो मोह अर्थात् राग के सद्भाव के कारण दूसरे की ईच्छाधीन क्रिया ॥

देव शब्द की गौण रखी गई द्वितीय विवक्षा :-

वैसे देव शब्द की व्युत्पत्ति दिव् धातु से भी की जाती है, जो कि क्रीड़ा करना आदि अर्थ में रूढ़ है ।। किन्तु, चूँकि यहाँ उसका प्रकरण नहीं है, इसलिये उसे गौण रख रहे हैं ।।

निष्कर्ष :-

इस प्रकार आगम प्रमाण से भी सिद्ध हुआ कि व्यपगतमोही/वीतरागी तीर्थंकर भगवान चूंकि देव भी हैं, इसलिये दाता भी हैं ही हैं ।।

उनके व्यपगत मोही/वीतरागी होने के कारण ही उनके दातृत्व गुण में रागी होने का दूषण नहीं आता, अपितु पद निर्मित होता है कि व्यपगत मोही/वीतरागी दाता ।।

चूंकि वे व्यपगत मोही/वीतरागी दाता हैं, इसलिये व्यपगत मोही/वीतरागी उपकारक भी हैं ही ।।

व्यपगत मोही/वीतरागी उपकारक होने से वे साक्षात् व्यपगत मोही/वीतरागी मंगल भी हैं ।।

जो जिनेन्द्र भगवान में मंगलपने को अर्थात् उनमें इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक गुण को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके मत मे तीर्थंकर प्रभु के क्षायिकदान नाम की लब्धि का अभाव है ।।

क्षायिकदान नाम की लब्धि के अभाव में उनके तीर्थंकर ८ लब्धियो वाले ही हैं, ९ लब्धियों वाले नहीं ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि तीर्थंकर भगवान दातृत्व गुण से समन्वित ही पाये जाते हैं, रहित नहीं ।।

किंतु नहीं, प्रतिपक्षी इतनी आसानी से इस मत को स्वीकार करने वाले नहीं हैं ।। उनकी झोली में इस मत को बाधा पहुँचाने वाला एक सूत्र अभी है ।।

चलिये, अगले शीर्षक में इस सूत्र को बाधित करने वाले सूत्र के आश्रय से उसकी विवेचना के साथ-साथ जैनागमों के समीचीन स्वाध्याय हेतु नियामक स्याद्वाद की प्ररूपणा का भी उद्यम करें।।

॥ इत्यलम् ॥



❑ क्या तीर्थंकर भगवान इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक नहीं होते हैं ?

मिथ्या व असंगत प्ररूपणा व स्याद्वादी (अष्टम) :-

शंकाकार : किन्तु श्री मूलाचारजी में तो कुछ और ही कहा गया है ॥

प्रति शंका : क्या कहा गया है ?

शंकाकार : यही कि तीर्थंकर भगवान नहीं देते अर्थात् उनमें दातृत्व गुण का अभाव है, देखिये (श्री मूलाचारजी, गाथा ५६९, षडावश्यक अधिकार) :-

भासा असच्चमोसा णवरि हु भत्तीय भासिदा एसा ।
ण हु खीण राग दोसा दिंति समाहिं च बोहिं च ॥

अर्थ : (पूर्व गाथा में कहा गया था कि वे जिनेन्द्र भगवान मुझे आरोग्य व बोधि का लाभ एवं समाधि प्रदान करें ॥) इस प्रकार कहे जाने पर आचार्य भगवंत कहते हैं -

यह असत्यमृषा भाषा (अनुभय वचन) है ॥ इसे मात्र भक्ति से कहा गया है, क्योंकि जिनके राग और द्वेष नष्ट हो चुके हैं, वे न तो बोधि ही देते हैं और न ही समाधि को ॥

इस गाथा की टीका करते हुए टीकाकारजी कहते हैं कि :-

यदि वे देने का कार्य करेंगे, तो राग द्वेष सहित हो जायेंगे ॥

इससे सिद्ध होता है कि तीर्थंकर भगवान नहीं देते ॥

समाधान : यही गाथा सूत्र हम आपसे चाह रहे थे ॥

हमने सिद्ध किया कि तीर्थंकर भगवान देते हैं, और आप सिद्ध कर रहे हैं कि तीर्थंकर भगवान नहीं देते ॥ उनसे यह कहना कि वे हमें प्रदान करें अथवा दें, असत्यमृषा भाषा अर्थात् अनुभय वचन है ॥

अब क्या करें ? क्या इन दोनों उपदेशों के आश्रय से, जैसाकि वर्तमान के विद्वान् करते हैं, अथवा कहें कि स्वयं डॉ. साहब कर रहे हैं (जिनभाषित, जनवरी २००२, सम्पादकीय, पृष्ठ १२, कॉलम २, पंक्ति ३० से ४१), दो पृथक् -पृथक् मतों की स्थापना कर लें अथवा दोनों आचार्यों की विवक्षाओं को समझते हुए आगम प्रणीत स्याद्पदांकित उत्तर तलाश करें ?

निश्चित ही हमारा पुरुषार्थ दोनों ही आचार्य भगवंतों की विवक्षाओं को समझते हुए, आगम प्रणीत स्याद्पदांकित मार्ग का अन्वेषण करना होगा ॥

नहीं करना होगा क्या ?

क्यों नहीं करना होगा ? नियम से करना होगा ॥

अतः आइये उसी का पुरुषार्थ करें ॥

यहाँ आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि पूर्वाचार्यों का तीर्थंकर भगवान से यह कहना कि वे हमें बोधि, समाधि, आरोग्य दें, असत्यमृषा वचन हैं ॥

पाठक वर्ग कृपया ध्यान दें कि पूर्वाचार्यों का तीर्थंकर भगवान से यह कहना कि वे हमें बोधि, समाधि आदि दें को मूलाचारकारजी असत्य वचन नहीं, अपितु असत्यमृषा कह रहे हैं ॥

असत्यमृषा व असत्य वचन, इन दोनों में जमीन-आसमान सा महान् अंतर है ॥

असत्यमृषा वचन असत्य वचनों की तरह सर्वथा असत्य नहीं होते, अपितु किसी विवक्षा विशेष की अपेक्षा असत्य, किन्तु उसी समय अन्य किसी विवक्षा की अपेक्षा अमृषा अर्थात् सत्य होते हैं ॥

इस विषय में शंका के निवारणार्थ, सर्व प्रथम आइये, असत्यमृषा भाषा को ही समझ लें ॥

पाठक वर्ग से मेरा नम्र निवेदन है कि क्लिष्ट लगने पर भी इस विषय पर जहाँ तक बन सके वहाँ तक तीनों योगों से एकाग्र हो हृदयंगम करें, क्योंकि इसी असत्यमृषा भाषा का अकौशल्य वाचक को क्षण मात्र में जिनमत के बाह्य कर देता है ॥

आदरणीय बैनाडाजी अथवा लुहाड़ियाजी या डॉ. साहब, इन सभी ने जिनेन्द्र भगवान के वचनों को उतनी ही श्रद्धा से हृदयंगम किया है, जितनी कि श्रद्धा से हम करते हैं, किन्तु चूक यदि कहीं हुई है, तो वह असत्यमृषा भाषा के अभ्यास में हुई है ॥ असत्यमृषा भाषा के अज्ञान के ही कारण अनजाने में पूर्वाचार्यों को वे मिथ्यादृष्टि, जिनागम-बाह्य व न जाने क्या-क्या कह बैठे, जो कि वे थे ही नहीं ॥ मजे की बात यह है कि इसी असत्यमृषा भाषा, जिसे कि अनुभय भाषा भी कहते हैं, के अनाभ्यास के कारण वे स्वयं ही, मिथ्यावाद/मत के पोषक सिद्ध हो गये ॥

अतः प्रिय पाठको, यदि आप भी नहीं चाहते कि मृषा अर्थात् मिथ्यावाद अनायास ही आपकी भी सोच व समझ को उद्वेलित कर जाये, तो कृपया हमारे इस प्रकरण को त्रियोग से हृदयंगम करें ॥

॥ इत्यलम् ॥



□ तीर्थंकर भगवान का दातृत्व गुण, असत्यमृषा भाषा व स्याद्वादी-१

असत्यमृषा वचन असत्य वचनों की तरह सर्वथा असत्य नहीं होते, अपितु किसी विवक्षा विशेष की अपेक्षा असत्य, किन्तु उसी समय अन्य किसी विवक्षा की अपेक्षा अमृषा अर्थात् सत्य होते हैं ॥

जो इस असत्यमृषा भाषा को नहीं जानते वे अनायास ही अर्थात् न जानते हुए मिथ्यात्व के वशीभूत हो जाते हैं ॥

शंकाकार : **कैसे पता चले कि हम मिथ्यावाद या मत के बहकावे में हैं भी या नहीं ?**

समाधान : यदि सुप्रतिष्ठित/सुप्रसिद्ध आचार्य भगवंत के वचनों में आपको शंका अथवा मिथ्यात्व का भाव हो, तो तत्काल समझना कि मिथ्यावाद/मत ने अपना कार्य करना प्रारंभ कर दिया ॥ यह आभाष इस सत्य की पुष्टि हेतु पर्याप्त है कि हम किसी न किसी अपेक्षा से मिथ्यावाद/मत के बहकावे में हैं ॥

वैसे, इसे पूर्व में हम बैनाडाजी, डॉ. साहब आदि के वचनों में दिखला चुके हैं, आगे भी दिखलायेंगे ही ॥

किंतु अभी आइये, असत्यमृषा भाषा के संदर्भ में समीचीन समझ की उत्पत्ति के लिये आचार्य भगवंतों की शरण स्वीकार करें :-

असत्यमृषा भाषा की परिभाषा श्री मूलाचार जी से :-

असत्यमृषा भाषा की परिभाषा, उसके भेद-प्रभेद व उदाहरण सहित श्री मूलाचारजी में कही गई है ॥

गाथा ३१४ में कहा गया है कि :-

तव्विवरीदा भाषा असच्चमोसा हवदि दिट्ठा ॥

अर्थात् इन (उभय वचनों अर्थात् सत्यासत्य वचनों) से विपरीत भाषा असत्यमृषा कही गई है ॥

गाथा ३१५-३१६ में इस भाषा के ९ भेद कहे गये हैं ॥

यहाँ पूर्वाचार्यों द्वारा की गई याचना अर्थात् "आचार्य भगवतों द्वारा तीर्थंकर भगवान से यह कहना कि वे हमें बोधि, समाधि, आरोग्य दें," असत्यमृषा भाषा के कहे गये ९ भेदों में से तीसरा भेद याचनी असत्यमृषा भाषा का है ॥

इस विवक्षानुसार किसीसे कुछ मांगना अर्थात् याचना करना असत्यमृषा भाषा है ॥

कैसे ?

आइये, देखें :-

इस भाषा की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि :- (श्रीमूलाचारजी, गाथा ३१५-३१६ की आचारवृत्ति टीका)

तथा याञ्चामात्रेण न मृषा, उत्तरकालं किं याचयिष्यतीति न ज्ञायते ततो न सत्या ॥

अर्थ : वैसे ही (उपर्युक्त भेदों में कहे गये न्यायानुसार) याचनी भाषा में याचना मात्र से असत्य नहीं है, (किन्तु) उत्तर काल में क्या माँगेगा यह नहीं जाना गया है, अत: सत्य भी नहीं है ॥

अर्थात् याचक द्वारा याचना की गई यह तो सत्य, किन्तु दाता संशय में है ?

क्यों, दाता संशय में क्यों है ?

क्योंकि यह याचक उत्तरकाल में क्या मांगेगा, इसका उसे ज्ञान नही है ॥

चूँकि दाता को ज्ञात नहीं है कि यह याचक उत्तरकाल में क्या मांगेगा, अत. दाता संशय में है ॥ यही संशय इस याचना को असत्यमृषा बना देता है ॥

इस विषय में उत्तम उदाहरण प्रतिक्रमणादि काल में पढ़ी जाने वाली भक्तियों के पश्चात् कही गई अंचलिकाएँ हैं ॥

भक्ति के पश्चात् कही गई अंचलिकाओं में कहा जाता है -

इच्छामि भंते !

इस पदके भी दो अर्थ हैं ॥ पहला अर्थ अभिवादन सूचक है कि भगवन् इच्छामि अर्थात् नमोस्तु व दूसरा अर्थ याचनासूचक है कि भगवन् मैं आपसे याचना करता हूँ ॥

द्वितीय अर्थ याचनी भाषा है ॥

किंतु सिर्फ इतना कहने पर कि भगवन् मैं आपसे याचना करता हूँ, इसमें उत्तर काल मे क्या मांगा जायेगा/क्या इच्छा जाहिर की जायेगी, यह नहीं जाना गया है, अतः ये वचन असत्यमृषा भाषा हैं ॥

किन्तु मांग लेने पर/मांग जाहिर हो जाने पर ये वचन याचनीय असत्यमृषा भाषा के नहीं रह जायेंगे, क्योंकि फिर दाता संशय में नहीं रहेगा, उसे अत्यंत स्पष्ट रूप से ज्ञात हो

जायेगा कि क्या माँगा जा रहा है ॥

निष्कर्ष :-

इस विवक्षा के अनुसार श्रीमद् मूलाचारजी द्वारा जो यह कहा गया है कि पूर्वाचार्यों का यह कथन कि भगवान उन्हें बोधि, समाधि आदि दें, असत्यमृषा भाषा है, घटित नहीं होता ॥

क्यों ?

क्योंकि उपर्युक्त असत्यमृषा भाषा की परिभाषानुसार, पूर्वाचार्यों द्वारा मांगना/ याचना करना असत्य नहीं, अपितु सत्य ही है, किन्तु उत्तरकाल में क्या मांगा जायेगा यह ज्ञात नहीं रहना चाहिये, ज्ञात होते ही वह असत्यमृषा भाषा नहीं रह जाती है, किन्तु श्री मूलाचारजी के उदाहरण में तो मांगना मात्र नहीं, अपितु जो मांगा गया है वह भी स्पष्ट है, इसलिये यह असत्यमृषा भाषा नहीं है ॥

तो क्या यह असत्यमृषा भाषा नहीं है ?

आइये, इस प्रश्न के मर्म में प्रवेश करने हेतु एक और प्रयास करें :-

असत्यमृषा भाषा की परिभाषा श्री भगवती आराधनाजी से :-

इसी असत्यमृषा भाषा की एक परिभाषा श्री भगवती आराधनाजी की गाथा ११९६ की टीका में भी कही गई है, चलिये अन्वेषणार्थ वहीं चलें :-

इस गाथा की टीका करते हुए आचार्य भगवंत कहते हैं कि :

" जायणी ज्ञानोपकरणं पिच्छादिकं वा भवद्भिर्दातव्यं इत्यादिका याचनी ॥ दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा ॥ "

अर्थ : (आचार्य भगवंत से शिष्य का) ज्ञानोपकरण और संयमोपकरण पिच्छादिक मुझे दो, ऐसा कहना याचनी भाषा है (अर्थात् याचक की अपेक्षा यहाँ की गई याचना सत्य है, किन्तु) दाता की अपेक्षा से पूर्ववत् अर्थात् (पूर्व के भेदों में किये गये न्यायानुसार) दाता ने उपर्युक्त पदार्थ दे दिये, तो यह भाषा सत्य है और यदि नहीं दिये तो असत्य ॥

अर्थात् पूर्व के उदाहरण में जहाँ दाता संशय में था, वहीं इस उदाहरण में याचक स्वयं ही संशय में है कि दाता देगा भी या नहीं ॥

अतः वर्तमान नय की अपेक्षा से यह की गई याचना असत्यमृषा भाषा है, किन्तु भविष्य की विवक्षा करें, तो दाता की इच्छा के अधीन यह कथन है, क्योंकि दाता का अभिप्राय यहाँ अज्ञात है ॥

उसके ज्ञात होते ही यह असत्यमृषा भाषा नहीं रह जायेगी ॥

अतः दाता का अभिप्राय अस्पष्ट रहने तक ही यह असत्यमृषा भाषा है, ज्ञात होने पर नहीं ॥

अर्थात् याचक के चित्त में संशय बने रहने तक यह याचना असत्यमृषा है, संशय के निवारण होते ही यह या तो सत्य हो जायेगी अथवा असत्य ॥

निष्कर्ष :-

किन्तु प्रतिपक्ष द्वारा प्रस्तुत श्री मूलाचारजी के उदाहरण में तो याचक को दाता का अभिप्राय अत्यंत स्पष्ट है कि दाता नहीं ही देगा ॥

कैसे ?

आचार्य भगवंत द्वारा प्रयुक्त इस पद द्वारा :-

ण हु खीण राग दोसा दिंति समाहिं च बोहिं च ॥

अर्थ : जिनके राग व द्वेष नष्ट हो चुके हैं, वे (क्षीण मोही जिन) न तो समाधि ही देते हैं और न ही बोधि ॥

चूँकि दाता का अभिप्राय यहाँ अत्यंत स्पष्ट है, अतः श्री भगवती आराधनाजी की विवक्षानुसार भी यह उदाहरण असत्यमृषा भाषा का नहीं है ॥

शंका का उद्भव व औसतबुद्धि विद्वान् :-

यहाँ पुनः प्रश्न को अवकाश है कि :-

यदि इन दोनों ही विवक्षाओं से यह असत्यमृषा भाषा नहीं है, फिर इसे स्वयं श्री मूलाचारकारजी ने असत्यमृषा क्यों कहा ?

निश्चित ही डॉ. साहब जैसी बुद्धि वालों के लिये यह प्रश्न पर्याप्त है, जिसके कि आश्रय से या तो वे श्री मूलाचार की टीका को कुआगम घोषित कर देंगे अथवा श्री भगवती आराधनाजी की टीका को अथवा दोनों को या दोनों को सत्य कहते हुए स्वयं मूलाचारजी के मूल ग्रंथ कर्ता श्रीमद् वट्टकेराचार्यजी को ही, किन्तु एक साथ एक ही समय में तीनों के प्रति आस्तिक्य बुद्धि की निर्मिति नहीं ही कर पायेंगे ॥

कर पायेंगे क्या ?

नहीं न ?

चलिये, आगे बढ़ें व हम ही अन्वेषण का पुरुषार्थ करें कि फिर स्वयं श्री मूलाचारकारजी ने इसे असत्यमृषा क्यों कहा ?

असत्यमृषा भाषा की परिभाषा श्री धवलाजी से :-

इस प्रश्न का सूत्रबद्ध उत्तर श्री धवलाजी में श्रीमद् आचार्य वीरसेन स्वामीजी ने दिया है, सुनिये :- (पुस्तक-१, सूत्र-४९, पृष्ठ-२८४)

" संशयानध्यवसायज्ञान निबन्धनमसत्यमोषमन इति ॥ "

अर्थ : जो संशय और अनध्यवसाय रूप ज्ञान का कारण है उसे असत्यमृषा मन

(अथवा वचन) कहते हैं ॥

अर्थात् वे वचन जिनसे संशय अथवा अनध्यवसाय उत्पत्ति की संभावना बनती है, असत्यमृषा वचन कहलाते हैं ॥

जैसे कि प्रतिपक्ष द्वारा प्रस्तुत उदारहण से सिद्ध है ---

इस उदाहरण में आचार्य भगवंत ने भक्ति से प्रेरित होकर कहा :-

" भगवन् ! हमें आरोग्य, बोधि, समाधि दें ॥ "

उपर्युक्त श्री धवलाजी की परिभाषानुसार यह वचन असत्यमृषा भाषा है ॥

क्यों ?

क्योंकि असत्यमृषा भाषा के वचनों को सुनकर किसी न किसी विवक्षा विशेष की अपेक्षा एक निश्चित अर्थ का प्रतिभाष सा अवश्य होता है, किन्तु वह निश्चित अर्थ भी विवक्षा सहित होने के कारण प्रतिपक्षी अथवा बाधित अर्थ को भी युगपत् कहने वाला होता है,...........

जैसा कि श्री गोम्मटसारजी की टीका में कहा गया है :-

यथा किंचित्प्रतिभाषते ॥

चूंकि यह प्रतिभाष किंचित् होने के कारण पूर्ण अर्थ को कहने वाला नहीं होता है, अतः संशय अथवा अनध्यवसाय अथवा दोनों की उत्पत्ति का कारण होता है ॥

अर्थात् जिन वचनों को सुनकर संशय अथवा अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो, स्पष्ट अर्थ का प्रतिबोध होकर भी, मिथ्या अथवा बाधित अर्थ की भी युगपत् प्रतीति/पुष्टि हो, तो जानना चाहिये कि असत्यमृषा भाषा के आश्रय से किया गया कथन है ॥

अर्थात् वे वचन जिनके उच्चारण में स्यात् पद नियामक हो, स्यात् पद रहित प्रयुक्त किये जाने पर जिनमें संशय, अनध्यवसायादि दूषणों की संभावना बने, समझना चाहिये कि असत्य मृषा भाषा है ॥

जैसा कि श्री मूलाचारजी की टीका के वचन असत्यमृषा के तृतीय भेद याचनी भाषा के अंतर्गत हमने पूर्व में कहे थे :-

अर्थ मात्र : वैसे ही (असत्यमृषा भाषा के भेदों में कहे गये न्यायानुसार) याचनी भाषा में याचना मात्र से असत्य नहीं है, (किन्तु) उत्तरकाल में क्या मांगेगा, यह नहीं जाना गया है, अतः सत्य भी नहीं है ॥

अर्थात् याचक द्वारा याचना की गई यह तो सत्य, किन्तु दाता संशय में है ?

क्यों दाता संशय में क्यों है ?

क्योंकि यह याचक उत्तर काल में क्या मांगेगा, इसका उसे ज्ञान नहीं है ॥

ठीक ऐसा ही प्रतिभाष हमने श्री भगवती आराधनाजी से भी उद्धृत कर कहा था :

अर्थमात्र : ज्ञानोपकरण और संयमोपकरण पिच्छिकादिक मुझे दो, ऐसा कहना याचनी भाषा है (अर्थात् याचक की अपेक्षा यहाँ की गई याचना सत्य है, किन्तु) दाता की अपेक्षा से पूर्ववत् (पूर्व के भेदों में किये गये न्यायानुसार) दाता ने उपर्युक्त पदार्थ दे दिये, तो यह भाषा सत्य है और यदि नहीं दिये तो असत्य ॥

अर्थात् याचक द्वारा की गई याचना यहाँ भी सत्य है, किन्तु याचक स्वयं ही संशय में है कि मिलेगा भी या नहीं ॥

अतः "भगवन् ! हमें बोधि समाधि दें ॥" इस पद को असत्यमृषा सिद्ध करने के लिये हमें इन वचनों में एक देश सत्य की सिद्धि पूर्वक संशय अथवा अनध्यवसाय की व्युत्पत्ति की संभावना भी सिद्ध करनी होगी ॥

वह व्युत्पत्ति सिद्ध होगी तभी हम पूर्वाचार्यों के इन वचनों को असत्यमृषा कह पायेंगे, अन्यथा नहीं ॥

शंकाकार : तो क्या पूर्वाचार्यों के उपर्युक्त वचन अथवा इस जैसे ही अन्य वचनों द्वारा संशय अथवा अनध्यवसाय की उत्पत्ति/सिद्धि भी संभव है ॥

समाधान : जी हाँ ! जिन आचार्य भगवंतों के वचनों को स्यात् बुद्धि पूर्वक पढ़ना चाहिये, यदि उनके उन वचनों को स्यात् पद रहित हम पढ़ते हैं, तो आचार्य भगवंत के वे ही वचन संशय, अनध्यवसाय आदि के उत्पादक हो जाते हैं ॥ मात्र आचार्य भगवंत के वचन ही नहीं, अपितु समवशरण में स्वयं साक्षात् तीर्थंकर प्रभु के वचन भी ॥

अर्थात् स्यात् पद रहित वचनों को ही असत्यमृषा कहते हैं ॥

अथवा किसी नय विवक्षा से किये गये कथन को असत्यमृषा कहते हैं ॥

क्यों ?

क्योंकि उस वचन का नय निरपेक्ष अर्थ ग्रहण करने पर संशय अथवा अनध्यवसाय की उत्पत्ति नियमतः पाई जाती है व अन्य नयों से सापेक्ष ग्रहण करने पर सम्यक्ज्ञान की ॥

शंकाकार : क्या ऐसा कहीं कहा भी गया है या कि आप अपनी कल्पना से समझा रहे हैं ?

समाधान : जी नहीं !! कल्पना से नहीं समझा रहे हैं, अपितु ऐसा ही उपदेश भी है, सुनिये :-

(श्री धवलाजी, पुस्तक पहली, खण्ड १, भाग १, सूत्र ५० की टीका, पृष्ठ २८५)

किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेन्न स्वार्थानन्त्याच्छ्रोतुरावरण-क्षयोपशमातिशयाभावात् । तीर्थकरवचनमनक्षरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र स्यादित्यादि असत्यमोषवचनसत्त्वतस्तस्य ध्वनेरनक्षरत्वा-सिद्धेः ॥

शंका : केवली के वचन संशय और अनध्यवसाय को उत्पन्न करते हैं इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान : केवली के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ अनन्त होने से और श्रोता के आवरण कर्म का क्षयोपशम अतिशयरहित होने से केवली के वचनों के निमित्त से संशय और अनध्यवसाय की उत्पत्ति हो सकती है ॥

शंका : तीर्थंकर के वचन अनक्षररूप होने के कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होने के कारण वे सत्य और अनुभय इस प्रकार दो प्रकार के नहीं हो सकते हैं ?

समाधान : नहीं, क्योंकि, केवली के वचन में 'स्यात्' इत्यादि रूप से अनुभय (असत्यमृषा) रूप वचन का सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवली की ध्वनि अनक्षरात्मक है, यह वाद असिद्ध है ॥

अर्थात् यह आगम प्रमाण हुआ कि केवली भगवान के वचनों में भी स्यात् आदि रूप से असत्यमृषा वचनों का सद्भाव पाया जाता है अर्थात् स्यात् आदि पदों से युक्त वचनों को ही अनुभय अर्थात् असत्यमृषा वचन कहते हैं, यह सिद्ध हुआ ॥

निष्कर्ष व औसत बुद्धि विद्वान :-

इस प्रकार श्रीमूलाचारजी के उपर्युक्त आचार्य भगवंत के उपदेश में असत्यमृषा भाषा की सिद्धि के लिये संशय-अनध्यवसाय की उत्पत्ति की संभावना की सिद्धि करनी होगी, सिद्धि के पश्चात् ही हम कह पायेंगे कि आचार्य भगवंत द्वारा की गई याचना असत्यमृषा है, अन्यथा नहीं ॥

अन्यथा दो उपदेशों के आश्रय से दो पंथों की स्थापना करनी होगी, जिनमें से एक पंथ भगवान देते हैं, इस मान्यता का होगा व दूसरा भगवान नहीं देते, इस पंथ को मानने वाला होगा ॥

इतना ही नहीं, अपितु " भगवान नहीं ही देते " मत की स्थापना जिनके वचनों से की जायेगी, ऐसे श्री मूलाचारजी के स्वयं के वचन स्व वचन बाधित हो जायेंगे, क्योंकि उन्होंने पूर्वाचार्यों के वचन "भगवन् ! हमें बोधि समाधि दें ॥" को असत्य नहीं, अपितु असत्यमृषा कहा है व असत्यमृषा न तो सर्वदेश असत्य ही होती है और न ही सर्वदेश सत्य, अपितु विवक्षाधीन होती है ॥

शंकाकार : *तब ?*

समाधान : *तब क्या ? या तो* अपने स्याद्वाद कौशल्य की स्वयं से स्वयं ही परीक्षा लो, अथवा औसतबुद्धि के विद्वानों की तरह पूर्वाचार्यों को मूर्ख अर्थात् मिथ्यादृष्टि घोषित कर, उन्हें जिनागम-घातक निरूपित कर दो, जैसा कि डॉ. साहब एवं उनके सहपाठी/सहयोगी करते हैं ॥

शंकाकार : नहीं-नहीं, स्याद्वाद कौशल्य का अनुसरण ही उपयुक्त है, अन्यथा..

समाधान : अन्यथा क्या ?

शंकाकार : अन्यथा, जिनागम के होने वाले ह्रास की हम कल्पना तो कर सकते हैं, किन्तु शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते ।। वैसे ही पूर्व में हम अनेकानेक घातक आघात झेल चुके हैं, अब बस, अब और नहीं ।। यदि आपसे भी न बन पाये तो कृपया यह न कहें कि पूर्वाचार्य जिनागम-घातक थे, अपितु यह कह कर ही विराम ले लें कि जिनागम में कहे गये वचनों में समीचीन प्रवेश हेतु नियामक मति-श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम का/स्याद्वाद कौशल्य का आपके भी सद्भाव नहीं है, अभाव ही है ।। हमारी आपसे करबद्ध विनती है कि अब बस, अब जिनागम में उपलब्ध किसी एक सूत्र को भी आप कृपया मिथ्या कहने अथवा सिद्ध करने का प्रयास न करें ।।

समाधान : यह लीजिए, यह तो आप प्रतिपक्षी होकर भी हमारी भाषा में बोलने लग गये ।। कहीं ऐसा तो नहीं कि अनुत्तरित होने का भय आपसे यह कहलवा रहा है अथवा इन वचनों को मिथ्या कहने का श्रेय कालान्तर में आप ही लेना चाहते हैं, अन्य किसी को लेने देना नहीं चाहते ?

क्यों, ऐसा क्यों कह रहे हैं आप ?

वह इसलिये कि आपके समूह में विद्वत्ता की कसौटी ही जिनागम के सूत्रों को मिथ्या सिद्ध करने की पात्रता से आती है, जैसा कि आपने किया था, हमारे द्वारा श्री बोधप्राभृतजी, श्री सर्वार्थसिद्धिजी आदि ग्रंथों से यह सिद्ध करने पर कि तीर्थंकर भगवान देते हैं, बगैर स्याद् पद का स्मरण किये, एकदम से निर्णय सा दे दिया था कि नहीं, तीर्थंकर भगवान नहीं देते।।

खैर !! आपकी मंशा/ आपकी रुचि आप ही जानें, हमारी रुचि तो जिनागम में उपलब्ध परस्पर विरुद्ध वचनों में भी स्यात् पद का अंकन करना है, जैसे कि यही असत्यमृषा भाषा वाला प्रकरण ।।

पूर्वाचार्यों ने कहा कि :- "**भगवन् हमें बोधि समाधि दें ।।**"

हमें इन वचनों में एक मात्र अमृषा अर्थात् सत्य का ही नहीं, अपितु असत्य की सिद्धि के लिए अनध्यवसाय अथवा संशय का भी अन्वेषण करना होगा, जिसके कि निराकरण के लिये हमें स्यात् पद का प्रयोग करने को तत्पर रहना होगा ।।

आइये, अगले शीर्षक में इसकी सिद्धि का प्रयास करें ।।

।। इत्यलम् ।।



□तीर्थंकर भगवान का दातृत्व गुण, असत्यमृषा भाषा व स्याद्वादी-२

जैसा कि पूर्व प्रकरण में श्री मूलाचारजी से लिये गये उद्धरण में पूर्वाचार्यों के वचन हमने मीमांसा के लिये उद्धृत किये थे कि "भगवन्! हमें बोधि, समाधि दें॥"

प्रश्न पूछा गया था कि बोधि, समाधि आदि माँगना सत्य है, असत्य है, सत्यासत्य है या अनुभय/असत्यमृषा?

मूलाचरारकाजी ने अपने उत्तर में कहा था कि ये वचन अरसत्यमृषा हैं॥

अब इन वचनों की असत्यमृषा वचन रूप सिद्धि के लिये हमें इन वचनों में एक मात्र अमृषा अर्थात् सत्य का ही नहीं, अपितु इन वचनों में निहित अनध्यवसाय अथवा संशय का भी अन्वेषण इनके असत्य होने की सिद्धि के लिये करना होगा॥

उन अनध्यवसाय अथवा संशय के अन्वेषण के पश्चात् उनके निराकरणार्थ स्यात् पद का भी कुशलता के साथ प्रयोग करना होगा, तभी ये वचन असत्यमृषा रूप समीचीन वचन कहलायेगें, वर्ना अर्थात् यदि हम सिद्ध न कर पाये, तो उन्मार्ग की ओर ले जाने वाले मिथ्या वचन॥

आइये, प्रयास करें:-

उपर्युक्त वचनों में सत्य यह है कि तीर्थंकर भगवान देते हैं॥

शंकाकार: नहीं, यह सत्य नहीं है॥

समाधान: क्यों?

शंकाकार: क्योंकि स्वयं श्रीमद् मूलाचारकारजी कह रहे हैं:--

ण हु खीण राग दोषा दिंति समाहिं च बोहिं च॥

अर्थात् जिनके राग-द्वेष क्षीण हो गये हैं, वे बोधि और समाधि को नहीं देते॥

समाधान: यह लीजिये, यह तो आप पुनः अपना पूर्व स्वभाव त्यागे बगैर कथन कर रहे हैं॥ न तो आपने अपने कहे की ही परीक्षा की है और न ही पूर्वोत्तर गाथाओं की विवक्षाओं को स्मरण में रख कथन किया है॥

खैर!

यह विवक्षाधीन कथन है, क्योंकि इस गाथा के ठीक बाद की गाथा में, जो कि इस

गाथा की पूरक गाथा है, स्पष्ट कहा गया है कि :-

जं तंहि दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं ॥

अर्थ : उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरों ने वह दे दिया है ॥

वैसे इस गाथा की पृथक् मीमांसा हम आगे करने ही वाले हैं, किन्तु यहाँ, इस गाथांश द्वारा यह अत्यंत स्पष्ट है कि स्वयं श्रीमद् मूलाचारकारजी को भी यही इष्ट है कि तीर्थंकर भगवान देते हैं ॥ नहीं ही देते ऐसा उनका मत नहीं है ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि स्वयं श्रीमद् मूलाचारकारजी का भी मत यही है कि जिनवर अर्थात् तीर्थंकर भगवान देते हैं ॥

अतः उपर्युक्त बोधि, समाधि दें, इस वाक्य में सत्य यही है कि :-

<u>तीर्थंकर भगवान देते हैं ॥</u>

शंकाकार : यदि सत्य यही है, तो इसमें निरूपित संशय, अनध्यवसाय आदि क्या है ?

समाधान : उसे ही कहते हैं ॥

"भगवन् ! हमें बोधि, समाधि दें ॥"

(१) इस गाथांश को सुनकर अथवा पढ़कर श्रोता अथवा पाठक वर्ग को प्रथम अनध्यवसाय यही उत्पन्न हो सकता है कि यह याचक तो अपने भगवान को सर्वज्ञ/ केवलज्ञानी कहता है ॥

और यदि इसके भगवान सर्वज्ञ/केवलज्ञानी हैं, तब यह उनसे माँग क्यों रहा है ?

क्या इसके सर्वज्ञ/केवलज्ञानी भगवान इसकी आकांक्षा से अनभिज्ञ हैं ?

यदि अनभिज्ञ/अनजान हैं, फिर सर्वज्ञ/केवलज्ञानी कैसे ?

वे तो अज्ञानी ही ठहरे ॥

यह प्रथम अनध्यवसाय हुआ ॥

(२) अब द्वितीय अनध्यवसाय देखिये :-

इन वचनों को सुनकर अथवा पढ़कर, श्रोता अथवा पाठक वर्ग को यह मिथ्या प्रतिभाष हो सकता है कि इस याचक के भगवान माँगने पर ही देते हैं, नहीं माँगने पर नहीं देते ॥

अर्थात् इस याचक के भगवान देते तो हैं, किन्तु माँगने पर, माँगा नहीं जायेगा, तो नहीं देंगे ॥

माँगा नहीं जायेगा, तो नहीं देंगे, इसीलिए ये यति याचक बनकर माँग रहे हैं ॥

चूंकि इस याचक के भगवान देने के पूर्व याचना की अपेक्षा रखते हैं व याचना की अपेक्षा बगैर राग भाव के संभव ही नहीं, अतः इस याचक के भगवान नियमतः रागी ही

होंगे, वीतरागी नही ॥

इसी प्रकार यहाँ व्यतिरेक न्यायानुसार यह भी सिद्ध हो जायेगा कि यदि माँगने पर ही देते हैं, तब तो नहीं माँगने वालों को नहीं ही देते होंगे ॥

नहीं माँगने वालों को चूँकि नहीं ही देते, इसलिये इसका अर्थ हुआ कि वे याचनाप्रिय हैं ॥

इस प्रकार याचनाप्रिय सिद्ध होते हुए वे याचना न करने वालों के प्रति द्वेषी ठहर जायेंगे, क्योंकि उन्हें वे कभी नहीं देंगे ॥

इस प्रकार यह याचना गाथा वीतरागी भगवान में राग-द्वेष के अनध्यवसाय की उत्पत्ति करने वाली ठहरती है ॥

जैसा कि टीकाकार महोदय भी कहते हैं :-

यदि दाने प्रवर्तेन सराग द्वेषा स्युरिति ॥

अर्थ : यदि (माँगने पर ही) दान देने में प्रवर्तते हैं, तो सरागी सद्वेषी होते हैं ॥

इस प्रकार यहाँ यह द्वितीय अनध्यवसाय कहा गया, जिसमें यह सिद्ध हुआ कि इस वाक्य मे सत्य यह है कि तीर्थंकर भगवान देते हैं और असत्य यह है कि मांगने पर देते हैं ॥

यही अर्थ इस वाक्य को असत्यमृषा बनाता है व इस अर्थ को पुष्ट करता है कि तीर्थंकर भगवान से बगैर माँगे भी मिलता है ॥

यही, बगैर माँगे तीर्थंकर भगवान द्वारा दिये जाने की सिद्धि हमें १०० योजन तक सुभिक्ष के सद्भाव की सिद्धि में भी सहयोग करेगी कि पात्रों में किसी भी प्रकार का भेद किये बगैर अर्थात् बगैर भव्य-अभव्य अथवा सम्यक्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि का उनमें भेद किये, सभी सौ-सौ योजन तक स्थित संख्यात-असंख्यात प्राणियों को तीर्थंकर भगवान के अतिशय से सुभिक्ष की प्राप्ति हो जाती है, अन्यथा इस अथवा इस जैसे अन्य अतिशयों की सिद्धि का हमारे पास कोई उपाय ही नहीं रहेगा व उपाय के अभाव में इनकी प्ररूपणा व प्ररूपकों, दोनों को मिथ्या कहना होगा ॥

(३) तृतीय अनध्यवसाय यह होगा कि पूर्वाचार्यों में निदान की सर्वदेश सिद्धि हो जायेगी, जिसका कि सद्भाव ६ट्ठे गुणस्थान में नहीं होना चाहिये ॥

शंकाकार : क्या ६ट्ठे गुणस्थान में निदान होता ही नहीं ?

समाधान : होता है, किंतु विवक्षाधीन, जिसे कि असत्यमृषा कहते हैं ॥

असत्यमृषा मूढ़ों के मत में विवक्षाओं का अभाव होने के कारण तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण की तरह निदान के भी विवक्षाधीन भेद नहीं होते ॥

निष्कर्ष :-

इन तीनों अनध्यवसायों का निराकरण करने के लिये ही आचार्य भगवंत ने कहा कि

यह असत्यमृषा है ॥

किनके लिये कहा है ?

स्याद्वाद कौशल्य से रहित उपदेशकों के लिये, जिनका कि अकौशल्य क्षण मात्र में मिथ्यामत की स्वतंत्र स्थापना अथवा पुष्टि का कारण बन जाता है ॥

आइये, विषय को और अधिक सरल करने का प्रयास करें :-

यदि आपने यह अर्थ लिया कि नहीं, तीर्थंकर भगवान देते ही नहीं, मांगा जाय अथवा न मांगा जाय, तब तो पूर्वाचार्यों द्वारा यह कहना कि :-

भगवन् हमें आरोग्य, बोधि, समाधि दें ....

असत्यमृषा नहीं, अपितु असत्य भाषा हो जायेगी, क्योंकि फिर उपर्युक्त वचन किसी भी विवक्षा से सत्य ही सिद्ध नहीं होंगे, अतः असत्य ही ठहरेंगे ॥

असत्य ठहरेंगे तो स्वयं श्रीमद् मूलाचारकारजी के ही वचन मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे, जिसमें कि वे उपर्युक्त वचनों को असत्यमृषा कहते हैं, असत्य नहीं ॥

इस प्रकार जिन्हें आप प्रमाण रूप प्रस्तुत कर रहें हैं, वे हीं अप्रमाण हो जायेंगे ॥

नहीं हो जायेंगे क्या ?

हो ही जायेंगे ॥ हो क्यों नहीं जायेंगे ?

असत्यमृषा, याचना व माता-पुत्र संवाद :-

अतः असत्यमृषा भाषा की सिद्धि के लिये इस गाथा से उत्पन्न संशय-अनध्यवसाय को पुष्ट करता अर्थ ही ग्राह्य करना होगा, अन्य नहीं कि :-

यद्यपि यहाँ पूर्वाचार्य स्पष्टतया अप्राप्य की प्राप्ति हेतु तीर्थंकर भगवान से याचना कर रहे हैं, किंतु यह याचना माता व पुत्र के मध्य हो रहे संवाद की तरह है, जिसमें कि पुत्र, भोजन परोसती अथवा निकट भविष्य में भोजन परोसने ही वाली माँ से आतुरतावश याचना करता हुआ दिखलाई देता है कि :-

"हे माँ ! मुझे भोजन दे ॥"

इस वाक्य को सुनकर यह अर्थ कदापि ग्रहण नहीं करना चाहिये कि यह माँ अपने पुत्र की क्षुधा वेदना को नहीं जानती है अथवा माँगने/याचना करने पर ही भोजन देती है, बगैर माँगे कभी नहीं ॥

अपितु इन वचनों को भोजन के प्रति तीव्र राग अथवा क्षुधा की तीव्र वेदना के कारण उच्चारित हुआ ग्रहण करना चाहिये ॥

इसी प्रकार यहाँ आचार्य भगवंत द्वारा यह कहा जाना कि भगवन हमें बोधि-समाधि दें, पद को सुनकर यह अर्थ कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये कि इन आचार्यों के भगवान

इनकी कांक्षा को नहीं जानते हैं या मांगने/याचना करने पर ही कांक्षा की पूर्ति करते हैं, अपितु इस पद से उनके अंतस् में स्थित बोधि-समाधि के प्रति तीव्र राग का अथवा संसार-ताप की असह्य वेदना को द्योतित करने वाला अर्थ ग्रहण करना चाहिये, उससे अन्य और कुछ भी नहीं ॥

ठीक ऐसे ही, जैसे पुत्र द्वारा भोजन के लिये माँ की शरण में आना व उसी से भोजन की याचना करना, पुत्र की माँ के प्रति आस्था/श्रद्धा को द्योतित करने वाली होते हुए, इस सत्य को कि क्षुधा वेदना का शमन व इष्ट की प्राप्ति यदि कहीं संभव है, तो माँ के चरणों में ही, अन्यत्र नहीं, को उजागर करने वाली है,

ठीक वैसे ही आचार्य भगवंतों द्वारा की गई यह याचना भी ऋषिवर्यों की तीर्थंकर भगवान के प्रति आस्था/श्रद्धा को द्योतित करने वाली होते हुए, इस सत्य को कि संसार ताप का शमन व इष्ट (बोधिसमाधि) की प्राप्ति यदि कहीं संभव है, तो इन्हीं तीर्थंकर प्रभु के चरणों में, अन्यत्र कहीं नहीं, को उजागर करने वाली है ॥

चूंकि यह याचना, आचार्य भगवंत के अंतस् में स्थित आस्था/श्रद्धा/भक्ति को द्योतित करने वाली है, इसलिये न तो तीर्थंकर भगवान मांगने पर ही देने वाले सिद्ध होते हैं और न ही पूर्वाचार्यों की याचना निदान, जैसे कि ऊपर कहा गया माता-पुत्र संवाद ॥

इसी अर्थ को स्वयं श्रीमद् मूलाचारकार जी प्रतिपक्ष द्वारा बाधा रूप प्रस्तुत गाथा से ठीक ६ठी गाथा अर्थात् गाथा क्रमांक ५७४ में इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं :-

तेसिं अहिमुहदाए अत्था सिज्झंति तह य भत्तीए।
तो भत्ति रागपुव्वं वुच्चइ एदं ण हु णिदाणं ॥

अर्थ :

उनके (जिनवरों के) ॥

क्या ?

अभिमुख होने से व उनकी भक्ति करने से ॥

क्या होता है ?

अत्था सिज्झंति ॥

अर्थात् मनोरथों/मनोवांछित फलों की सिद्धि हो जाती है ॥

क्या यह निदान नहीं है ?

नहीं ॥

क्यों ?

इसलिये कि भक्ति-राग पूर्वक कही गई है (राग का अभाव कर के नहीं) ॥

यहाँ आचार्य भगवंत स्पष्ट शब्दों में अपना मंतव्य प्रगट कर रहे हैं कि :-

मनोरथों की सिद्धि जिनवरों के अभिमुख होने से, उनकी भक्ति करने से ही हो जाती है, अतः उनसे याचना करने की आवश्यकता ही नहीं ।।

चूंकि मनोरथों की सिद्धि अर्थात् वांछित अर्थ की प्राप्ति इष्ट के अभिमुख होने/उनकी भक्ति करने से होती है, ऐसा सूत्र है,

अतः वह अभिमुखता/भक्ति जिस इष्ट के अभिमुख/सम्मुख होगी, वह यदि इष्टार्थ को संपन्न करने के सामर्थ्य से युक्त होगा, तब तो उनके प्रति भक्ति/अभिमुखता से मनोरथों/इष्टार्थ की सिद्धि हो जायेगी, और यदि सामर्थ्य से युक्त नहीं होगा, तो चाहे जितनी भक्ति कर लो/चाहे जितना अभिमुख हो लो, मनोरथों की सिद्धि नहीं होगी ।।

चूंकि जिनसे मनोरथ अर्थात् इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, उनके प्रति राग भी सरागियों को सहज/स्वाभाविक रूप से हो जाता है, इसीलिए सरागियों की भक्ति/अभिमुखता राग पूर्वक कही गई है, अभाव करके नहीं, जो कि राग, याचना, आतुरता आदि रूप से उपलक्षित होता है ।।

चूंकि यह आतुरता, यह याचना, जगत अथवा लोक में भी राग अर्थ में ही जानी व पहचानी जाती है, अशिष्टता अथवा निदान अर्थ में नहीं, जैसा कि हमने माता-पुत्र संवाद में सिद्ध किया था, इसलिये पूर्वाचार्यों का जिनवरों से याचना करना अशिष्टता, अनध्यवसाय अथवा निदान का नहीं, अपितु श्रद्धान/सम्यक्त्व के साथ अविनाभावी रूप से पाये जानेवाले सहज व स्वाभाविक राग का प्रतीक है ।।

इस प्रकार स्वयं श्रीमद् मूलाचारकारजी की अभिमुखता/भक्ति से मनोरथों की सिद्धि करने वाली गाथा ५७४ से सिद्ध हुआ कि जिनेन्द्र भगवान मनोरथों/इष्टार्थ की सिद्धि/संपादन के सामर्थ्य से नियमतः युक्त होते हैं, रहित नहीं ....

शंकाकार : नहीं होते ?

समाधान : अब क्या हुआ ?

कार्य की सिद्धि किससे ?

उपास्य की शक्ति से या उपासक की भक्ति से ?

शंकाकार : यहाँ कहा गया है कि भक्ति/अभिमुखता से कार्य की अर्थात् इष्टार्थ की सिद्धि होती है, जिनवरों से होती है, ऐसा कहाँ कहा गया है ?

समाधान : इस वाक्य में कारण में कर्ता का उपचार करके भक्ति/अभिमुखता को इष्टार्थ संपादक कहा गया है, भक्ति अथवा अभिमुखता को साक्षात् कर्ता निरूपित नहीं

किया गया है ॥

यदि भक्ति अथवा अभिमुखता को ही साक्षात् कर्ता निरूपित किया जायेगा तो पुनः सदोष कथन हो जायेगा ॥

शंकाकार : कैसे ?

समाधान :

(१) यदि भक्त अथवा अभिमुख की भक्ति/अभिमुखता ही मनोरथों/इष्टार्थ की सिद्धि करने वाली सिद्ध हो जाये, तब तो संसार में चाहे जिसकी भक्ति की जाये अथवा चाहे जिसके अभिमुख हुआ जाये, वह भक्ति/अभिमुखता इष्टार्थ की सिद्धि करने वाली सिद्ध हो जायेगी ॥

फिर इष्टार्थ संपादन के लिये भगवान की निर्मलता आदि से भक्त को प्रयोजन ही नहीं रहेगा, क्योंकि वे अकिंचित्कर हैं, ऐसा सिद्ध हो जायेगा ॥

इसी प्रकार अन्य उपास्यों की समलता आदि भी इष्टार्थ संपादन में बाधक नहीं रहेगी, क्योंकि अरिहंतवत उनकी भी यहाँ अकिंचित्कर रूप ही सिद्धि करनी होगी, क्योंकि इष्टार्थ का संपादन उपास्यों की समलता अथवा निर्मलता के आश्रय से नहीं, अपितु उपासक की भक्ति से होता है, ऐसा सिद्ध हो जायेगा ॥

इस प्रकार तो आप शासन देवताओं की भक्ति के विरोधियों के मत में भी शासन देवताओं की भक्ति समीचीन सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि कार्य की सिद्धि सदोष अथवा निर्दोष उपास्य के सामर्थ्य से नहीं, अपितु उपासक की उपासना से सिद्ध होने वाली है ॥

इसी प्रकार, डॉ. साहब व उनके सहयोगी सहपाठियों की विवक्षानुसार, मात्र उन्हीं की नहीं, अपितु स्व. पं. टोडरमलजी की भी विवक्षानुसार जो अधमोद्धारकादि गुण तीर्थंकर भगवान में नहीं है, किन्तु उनकी तीर्थंकर भगवान में कल्पना व स्थापना दोष की नहीं, अपितु भावों की विशुद्धि की ही कारण है, वैसे ही जैनेतरों के यहाँ की गई सकाम (सदोष) में निष्काम (निर्दोष) की कल्पना व उपासना भी सम्यक् रूप से इष्टार्थ की सिद्धि करने वाली सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि यहाँ तो भक्त द्वारा न सिर्फ कल्पना व स्थापना निष्कामादि विशिष्ट एवं निर्दोष गुणों की की गई है, अपितु भक्ति भी उन्हीं की की गई है, अन्य किसी की नहीं ॥

इतना ही नहीं, अपितु फिर सग्रंथ में निर्ग्रंथ की कल्पना व उपासना, दोनों ही न सिर्फ निर्दोष सिद्ध हो जायेंगे, अपितु फिर न ही होई आयतन रहेगा और न ही कोई अनायतन, क्योंकि सग्रंथता व निर्ग्रंथता अथवा आयतन व अनायतन, दोनों ही अकिंचित्कर सिद्ध हो जायेंगे ॥

नहीं हो जायेंगे क्या ?

हो ही जायेंगे, हो क्यों नहीं जायेंगे, यदि मनोरथो की सिद्धि,भक्ति अथवा अभिमुखता से सिद्ध की जायेगी तो ?

इस प्रकार यह प्रथम अनध्यवसाय हुआ ॥

(२) अब द्वितीय अनध्यवसाय को कहते हैं :-

इस अनध्यवसाय को पूर्व में कह चुके हैं, प्रकरणानुसार पुनः कहते हैं :-

यदि आपने यह अर्थ लिया कि नहीं, तीर्थंकर भगवान इष्टार्थ संपादन के सामर्थ्य से किसी भी विवक्षा से युक्त नहीं, तब तो पूर्वाचार्यों द्वारा यह कहना कि --

भगवन् ! हमें आरोग्य, बोधि, समाधि दें ....

असत्यमृषा नहीं, अपितु असत्य भाषा हो जायेगी, क्योंकि फिर उपर्युक्त वचन किसी भी विवक्षा से सत्य ही सिद्ध नहीं होंगे, अतः असत्य ही ठहरेंगे ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि पूर्वाचार्यों ने जिनवरों से याचना करते हुए कहा कि भगवन् ! हमें बोधि और समाधि दें ॥

आचार्य भगवंत ने कहा कि नहीं, जिनवर बोधि और समाधि को नहीं देते ॥

अब पाठक वर्ग को यहाँ शंका हुई कि यदि जिनवर बोधि और समाधि को नहीं देते, तो क्या पूर्वाचार्यों को इस सत्य का बोध ही नहीं था कि तीर्थंकर भगवान नहीं ही देते ?

यदि ज्ञान नहीं था तब तो वे अज्ञानी ठहरे ॥

और यदि ज्ञान था, उसके बाद भी याचना की, फिर तो वे व्यर्थ की क्रिया करने वाले अज्ञानी ठहरे ॥

नहीं ठहरे क्या ?

ठहरे क्यों नहीं, अपितु ठहरे ही ॥

क्योंकि लोक में भी, जिनके विषय में प्रसिद्ध है कि इन द्वारो पर की गई याचनाएँ फलीभूत नहीं होतीं, उन द्वारों पर खड़ा याचक या तो अज्ञानी समझा जाता है या फिर मूढ़ ॥

(३) इतना ही नहीं, अपितु, फिर तो आपके द्वारा प्रमाण रूप से प्रस्तुत श्रीमद् मूलाचारकारजी के स्वयं के भी वचन मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे, जिसमें कि वे पूर्वाचार्यों द्वारा की गई याचना को असत्यमृषा कहते हैं, असत्य नहीं ॥

इस प्रकार जिन्हें आप प्रमाण रूप प्रस्तुत कर रहे हैं, वे ही अप्रमाण हो जायेंगे ॥

नहीं हो जायेंगे क्या ?

हो ही जायेंगे ।। हो कैसे नहीं जायेंगे ?

उनके वचन सत्य सिद्ध ही तभी होंगे, जबकि आप इष्टार्थ संपादन के सामर्थ्य से जिनवरों को भी युक्त करेंगे ।।

अतः इस एकान्त को त्यागिये कि जिनवर नहीं ही देते, क्योंकि किये गये एकान्त आग्रह से सिवाय दुविधाओं के शेष कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि कार्य की सिद्धि भक्ति अथवा अभिम्खता से नहीं, अपितु जिसकी भक्ति की गई थी, अथवा जिसके अभिमुख हुआ गया था, उसके क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक दातृत्व गुण के कारण हुई ।।

शंकाकार : किन्तु यहाँ अनध्यवसाय तो वैसा का वैसा ही बना रहा कि भगवान देते तो हैं, किन्तु भक्ति करने पर अथवा अभिमुख होने पर, क्योंकि यहाँ कहा गया है कि मनोरथों की सिद्धि जिनवरों की भक्ति करने से अथवा उनके अभिमुख होने से होती है, इस प्रकार तो वे आपके ही द्वारा दी गई बाधा से दूषित होते हुए याचना प्रिय सिद्ध हो रहे हैं, नहीं हो रहे हैं क्या ?

समाधान : हो ही रहे हैं, और होंगे भी, यदि स्याद्वाद भंग-संयोजना का कौशल नहीं होगा तो ?

और यदि स्याद्वाद भंग संयोजना में पारंगतता/कुशलता होगी, तो न सिर्फ इस विवक्षाधीन कथन की सिद्धि कर लोगे, अपितु इसी कौशल्य से लोक व लोकोत्तर-गत सर्व ही विषयों की निर्दोष मीमांसा की अचिंत्य शक्ति से भी आप संपन्न हो जाओगे ।।

कलिकाल में समीचीन मार्ग के बोध को एक मात्र स्याद्वाद कौशल्य ही शरण है, स्याद्वाद कौशल्य से अन्य कोई नहीं, जिसे कि असत्यमृषा कहते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति का मार्ग इसी असत्यमृषा द्वार से होकर जाता है ।।

आइये, इस शंका पर स्याद्वाद का अनुसरण करता प्रयास अगले शीर्षक में करें ।।

।। इत्यलम् ।।



□ तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण को दर्शानेवाली दान की तीन विधियाँ

स्थूल रूप से यदि कथन किया जाये, तो भगवान से जो प्राप्त होता है, वह त्रिविध है ॥

हम यहाँ क्रम से तीनों विधियों को कहने का प्रयास करेंगे ॥

किन्तु उसे कहने के पूर्व, आइये एक बार पुनः श्री बोधप्राभृतजी की ओर चलें, जहाँ कि तीर्थंकर भगवान को दाता कहा गया है ॥ विचारणीय विषय इस संदर्भ में यहाँ यह है कि **'उनके इस गुण के पूर्व आचार्य भगवंत ने सु उपसर्ग लगाया है'** ॥

यह 'सु' उपसर्ग विशेषण अर्थ में प्रयुक्त होते हुए इस अर्थ की पुष्टि करता है कि जो दिया जाता अथवा प्राप्त होता है, वह सामान्य नहीं, अपितु विशेष होता है, अनुत्तम नहीं, अपितु उत्तम जाति का होता है, अप्रयोजन भूत नहीं, अपितु प्रयोजनभूत होता है, अनर्थक नहीं, अपितु सार्थक होता है व अनिष्टकारक नहीं, अपितु इष्टकारक होता है ॥

यह सु उपसर्ग सामान्य, अनुत्तम, अप्रयोजनभूत, अनर्थक व अनिष्टकारक आदि कुदानों को दिये जाने के निषेधार्थ प्रयुक्त हुआ है ॥

इस प्रकार यह सु उपसर्ग तीर्थंकर भगवान द्वारा समस्त कुदानों को दिये जाने के निषेध को करते हुए, संसार के समस्त दाताओं के मध्य उन्हें सर्वोत्तम, उत्तमोत्तम व समस्त मंगलों में प्रथम मंगल निरूपित करता है ॥

शंकाकार : यह तो भक्ति पूर्वक अभिमुख होने का फल आप निरूपित कर रहे हैं, किंतु यदि द्वेष बुद्धि पूर्वक कोई सचित्त, अचित्त अथवा मिश्र परमेष्ठियों के प्रति दुष्कृत्य को करे तो ?

समाधान : इस प्रश्न का समाधान आगे स्थापना निक्षेप के प्रकरण में किया जायेगा, उसे कृपया वहीं पर देखें ॥

इस प्रकार उत्तमोत्तम दातृत्व गुण से समन्वित व संसार के समस्त मंगलों में प्रथम मंगल रूप से जो प्रसिद्ध हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान द्वारा दिये जाने योग्य द्रव्य को देने की त्रिविधियों में से प्रथम विधि यहाँ कही जा रही है :-

प्रथम विधि :-

जैसा कि श्रीमद् मूलाचारकारजी कह रहे हैं कि भगवान के अभिमुख होने से मनोरथों की/मनोवांछित अर्थ की सिद्धि होती है ॥

कैसे ?

सरल है, किन्तु इसे सरल करने के लिये उदाहरण स्वरूप तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का सूत्र स्मरण करना होगा, अन्यथा यह सूत्र सरल नहीं है ॥

अन्यथा उपर्युक्त सूत्र सिवाय अनध्यवसाय के अन्य किसी भी परिणाम की उत्पत्ति करने वाला नहीं है ॥

आइये, समझें ॥

ग्रंथकार कहते हैं कि तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव दर्शनविशुद्धि आदि १६ कारण भावनाओं से होता है ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या १६ कारण भावनाओं के सद्भाव मात्र से तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जायेगा ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नहीं, नहीं होगा ॥

क्यों ?

क्योंकि १६ कारण भावनाओं के साथ केवली/श्रुतकेवली के पादमूलों का सान्निध्य भी चाहिये ॥

यहाँ पुनः प्रश्न को अवकाश है कि क्यों, क्यों चाहिये ?

इसी प्रश्न के भीतर तीर्थंकर अथवा केवली/श्रुतकेवलियों के दातृत्व गुण का रहस्य छिपा हुआ है ॥

१६ कारण भावनाएँ तो सदैव प्राप्त हो सकती हैं ॥

उन्हें भाने के लिये अर्थात् उनमें प्रवृत्ति करने के लिये कालकृत नियम का अभाव है कि इस ही काल में भायी जा सकती हैं, अन्य काल में नहीं ॥

इसका अर्थ यह हुआ कि इन भावनाओं में प्रवृत्ति करने के लिये काल का बंधन नहीं है, अपितु प्रतिबंधक नियम सामान्य ही है, जैसे संज्ञी, पर्याप्तक, सम्यक्दृष्टि आदि-आदि ही बांध पायेंगे, सभी नहीं ॥

किन्तु सर्वकाल में सर्वत्र उपलब्ध होने पर भी ये भावनाएँ तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का कारण नहीं है ॥

वह तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव को समर्थ होती ही केवली/श्रुतकेवली के पादमूल में है ॥

पादमूल में कहने का अर्थ ही है कि केवली अथवा श्रुतकेवली के अभिमुख होने पर

ही, अन्यथा नही ॥

इस विषय में विचारणीय विषय यह है कि :-

१६ कारण भावनाओं को, जो कि तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव की कारण हैं उन्हें तो जिनागम में विस्तार से सर्वत्र कहा गया, किन्तु केवल/श्रुतकेवलियों का क्षायिक/क्षायोपशमिक भाव, उस तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव में कारण किस प्रकार हुआ अथवा कैसे कार्यरत/कार्यकारी हुआ, उसे विस्तार से कहीं नहीं कहा गया ॥

उन चरणों के सान्निध्य के माहात्म्य को सिर्फ इतना कह कर टाल दिया गया कि जैसी विशुद्धि केवली/श्रुतकेवली के पादमूल में संभव है, वह अन्यत्र नहीं ॥

देखिये (श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड, जीवतत्त्वप्रदीपिका, गाथा ९३ की टीका, अनुवाद : पं. टोडरमलजी) :-

केवलिद्वयान्ते एवेति नियमः तदन्यत्र तादृक्विशुद्धिविशेषासंभवात् ॥

(शंका : केवली के पादमूल में ही बंधने का नियम क्यों ?)

समाधान : बहुरि केवली के निकट कहने का अभिप्राय यह है कि जौ और ठिकाने ऐसी विशुद्धता होई नाहीं, जिसतैं तीर्थंकर (प्रकृति का) बंध प्रारंभ होई ॥

अर्थात् १६ कारण भावनाओं के साथ नियामक विशुद्धि, भावक के नहीं, अपितु केवली/श्रुतकेवली के आधीन है, यदि नहीं होती, तो चाहे जहाँ यह विशुद्धि प्राप्त हो सकती थी, केवली-श्रुतकेवली के पादमूल का नियम ही नहीं रहता ॥

किन्तु नहीं, अन्यत्र का तो अत्यंत निषेध है ॥

अन्यत्र को तो पृथक् करें, स्वयं साक्षात् तीर्थंकर भगवान की अतिशय युक्त प्रतिमा के पादमूल का भी निषेध किया गया है कि नहीं, जिनबिंबों के पादमूल में भी नहीं होगी ॥

अर्थात् वह विशुद्धि यदि कहीं प्राप्त होगी, तो साक्षात् केवली/श्रुतकेवली के भक्तिपूर्वक अभिमुख होने पर ही प्राप्त होगी, अन्यत्र व अन्य प्रकार से नहीं ॥

इसीलिये मनोवांछित तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव के लिए जिनवरों की भक्ति/अभिमुखता का नियम कहा गया है ॥

यहाँ शंका को स्थान है ॥

शंका : यदि ऐसा ही है, तब तो सभी अभिमुखों को तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो जाना चाहिये, जो कि नहीं होता ?

इस प्रश्न का उत्तर श्री धवलाजी में दिया गया है, चलिये, उसे अनुमान प्रमाण के आश्रय से वहीं से सुनिये :- (धवला १३, खण्ड ५, भाग - ५, सूत्र ५३ की टीका, पृष्ठ २९१/२९२)

अणुव्रत - महाव्रतानि सम्यक्त्वाधिष्ठानानि गुणः कारणं यस्यावधिज्ञानस्य तद

गुण प्रत्ययकम्। जदि सम्मत्त- अणुव्वद महव्वदेहिंतो ओहिणाणमुप्पज्जदि तो सव्वेसु असंजदसम्माइट्ठिसंजदासंजद संजदेसु ओहिणाणं किण्ण उवलब्भदे ? ण एस दोसो, असंखेज्जलोगमेत्तसम्मत्त संजम - संजमासंजमपरिणामेसु ओहिणाणावरणक्खओवसमणिमित्ताणं परिणामाणमइथोवत्तादो। ण च ते सव्वेसु सभवंति, तप्पडिवक्ख परिणामाणं बहुत्तेण तदुवलद्धीए थोवत्तादो।

अर्थ : सम्यक्त्व से अधिष्ठित अणुव्रत और महाव्रत गुण जिस अवधिज्ञान के कारण हैं वह गुणप्रत्यय अवधिज्ञान है।

शंका : यदि सम्यक्त्व, अणुव्रत और महाव्रत के निमित्त से अवधिज्ञान उत्पन्न होता है तो सब असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयतों के अवधिज्ञान क्यों नहीं पाया जाता ?

समाधान : यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व, संयमासंयम और संयम रूप परिणाम असंख्यात लोकप्रमाण हैं। उनमें से अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम के निमित्त भूत परिणाम अतिशय स्तोक हैं। वे सबके सम्भव नहीं हैं, क्योंकि, उनके प्रतिपक्षभूत परिणाम बहुत हैं। इसलिये उनकी उपलब्धि क्वचित् ही होती है।

शायद पाठक वर्ग को स्पष्ट हो ही गया होगा कि भगवान के चरणों में जो भी आयेगा, वह तीर्थंकरप्रकृति के लिये नियामक विशुद्धि को प्राप्त कर लेगा, विशुद्धि प्राप्त कर लेने पर भी यदि तीर्थंकर प्रकृति का आस्रव नहीं हो रहा है, तो उसमें कारण तीर्थंकर भगवान नहीं, अपितु स्वयं में दर्शनविशुद्धि के साथ पाई जाने वाली अन्य भावनाओं से प्राप्त विशुद्धि की पराकाष्ठा का नहीं होना है, क्योंकि केवली भगवान के चरण सान्निध्य से प्राप्त विशुद्धि से अन्य अवशेष १६ कारण भावनाओं को भाने पर पाई गई विशुद्धि के जगत में असंख्यात भेद पाये जाते हैं, उनमें तीर्थंकरप्रकृति के आश्रव के योग्य सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि परिणाम अतिशय स्तोक हैं॥

अतिशय स्तोक हैं, इसीलिये उनकी उपलब्धि भी क्वचित ही होती है, सदैव नहीं॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव को दो प्रकार की विशुद्धियाँ चाहिये, १. केवली-श्रुतकेवलियों के पादमूल के अभिमुख होने से प्राप्त होने वाली विशुद्धि व २. १६ कारण भावनाओं को भाने से मिलनेवाली वाली विशुद्धि॥

इनमें से १६ कारण भावनाओं को भाने से मिलनेवाली विशुद्धि स्वाधीन है, जिसके कि असंख्यात् भेद हैं और केवली-श्रुतकेवलियों के पादमूल के अभिमुख होने से प्राप्त होने वाली विशुद्धि पराधीन॥

यहाँ विशेष रूप से समझने योग्य संदर्भ यह है कि यह अभिमुखता चार निक्षेपों के आश्रय से चार प्रकार की हो जाती है :-

१) नाम की अभिमुखता, २) स्थापना की अभिमुखता, ३) द्रव्य की अभिमुखता और

४) भाव की अभिमुखता ॥

(१) नाम अभिमुखता :-

तीर्थंकर भगवान के नाम स्मरण के अभिमुख होना नाम अभिमुखता है, जैसा कि पूजा की पुस्तकों के दो प्रसिद्ध पदों में कहा गया है :-

अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
ध्यायेत् पंच नमस्कारं सर्वपापं प्रमुच्यते ॥
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत् परमात्मानां सः बाह्याभ्यंतरे शुचिः ॥

अथवा जैसा कि श्री भक्तामरजी में कहा गया है :-

त्वन्नामनागदमनी हृदियस्य पुंसः ॥

अर्थात् भगवान के नाम का बगैर उस नाम के अर्थ के अभिमुख हुए स्मरण करना/ अभिमुख होना मंगलकारी है, जैसा कि जाप आदि में किया जाता है ॥

शंकाकार : आप ने ऐसा क्यों कहा कि बगैर उस नाम के अर्थ के अभिमुख हुए ?

समाधान : अरे भाई !! नामनिक्षेप की यही परिभाषा है ॥ इस निक्षेप में अर्थ की विवक्षा ही नहीं होती ॥ यदि इस विवक्षा को नही मानोगे, तो पार्श्वनाथ भगवान ने जिनकी देह का बहुभाग जल चुका था, ऐसे नाग-नागिनी को अथवा जीवन्धरकुमार ने मरणोन्मुख सर्वांग क्षत-विक्षत कुत्ते को जो नमस्कार मंत्र सुनाया था, ये कथाएँ व इसी प्रकार की अन्य कथाएँ मिथ्या सिद्ध हो जायेंगी ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि उपर्युक्त दोनों ही पात्र जिन्हें कि नमस्कार मंत्र अथवा अन्य कोई उपदेश सुनाया गया, वे मारणान्तिक पीडा को भोग रहे थे व दिये गये उपदेश एवं उसके अर्थ को ग्रहण करने के लिये पंच लब्धियों में कही गई क्षयोपशम व विशुद्धि लब्धि से युक्त नहीं थे ॥ इतना ही नहीं, अपितु वे न तो पंच परमेष्ठियों के स्वरूप के ही ज्ञाता थे और न ही नमस्कार आदि विनय सूचक पदों से परिचित ॥

अतः कहा जा सकता है कि उन्होने दिये गये उपदेश या नमस्कार मंत्र को नाम मात्र से सुना, उसके अर्थ को समझते हुए नहीं ॥

इतना ही नही, अपितु ये पात्र नाम मंगल के बलात् अभिमुख करवाये गये थे, स्वेच्छा से नहीं, क्योंकि स्वेच्छा से अभिमुख होने योग्य पात्रता का मारणान्तिक पीड़ा जन्य आर्त्त परिणामों से युक्त होने के कारण अभाव था ॥

यहाँ पाठक वर्ग कृपया स्मरण रखें कि अजनचोर की कथा में तो फिर भी अंजनचोर

को सेठ के वचनों पर श्रद्धा थी, किन्तु यहाँ तो श्रद्धान का भी अभाव था ॥

अतः इन कथाओं में निहित सत्यार्थ को प्रकाशित करने के लिये नाम अभिमुखता के सूत्र को समझते हुए प्ररूपणा करनी होगी कि भगवान के नाम का बगैर उस नाम के अर्थ के अभिमुख हुए स्मरण करना/अभिमुख होना अथवा अन्य के द्वारा बलात् अभिमुख करवाया जाना, मंगलकारी है, जैसा कि जाप आदि में किया जाता है अथवा जैसा नाग-नागिनी की कथा में कहा गया है अथवा जैसा कि वृद्ध महिलाओं में आज भी अर्थ की विवक्षा से रहित सहस्रनाम अथवा भक्तामरजी का पाठ सुनने की ललक पाई जाती है ॥

अथवा जैसा कि अदिपुराणकार जी (पर्व : २५, श्लोक : ९८, ९९, २१९, २२०) नाम निक्षेगत अभिमुखता व उसके फल को कहते हैं :-

अलमास्तां गुणस्तोत्रमनन्तास्तावका गुणाः ।
त्वां नामस्मृतिमात्रेण पर्युपासिसिषामहे ॥९८ ॥
प्रसिद्धाष्ट सहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम् ।
नाम्नाष्ट सहस्रेण तोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥९९ ॥
गोचरेऽपिगिरामासां त्वमवाग्गोचरो मतः ।
स्तोता तथाप्यसंदिग्धं त्वत्तोऽभीष्ट फलं भजेत ॥ २१९ ॥
त्वमतोऽसि जगद्बन्धुस्त्वमतोऽसि जगद्भिषक् ।
त्वमतोऽसि जगद्धाता त्वमतोऽसि जगद्धितः ॥ २२० ॥

अर्थ : हे भगवन्! आपके गुणों का स्तवन दूर रहे, क्योंकि आपके अनंत गुण हैं, उन सब गुणों का स्तवन होना कठिन है, इसलिये केवल आपके नामों का स्मरण करके ही हम लोग आपकी उपासना करना चाहते हैं ॥ आपके देदीप्यमान एक हजार आठ लक्षण अतिशय प्रसिद्ध हैं और आप समस्त वाणियों के स्वामी हैं, इसलिये हम लोग अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए एक हजार नामों से आपकी स्तुति करते हैं ॥

हे प्रभो ! यद्यपि आप इन नाम सूचक वचनों के गोचर हैं, तथापि वचनों के अगोचर ही माने गये हैं ॥ यह सब कुछ है, किंतु स्तुति करने वाला आपसे निःसंदेह अभीष्ट को पा लेता है ॥ इसलिये हे भगवन्! आप ही इस जगत के बन्धु हैं, आप ही जगत् के वैद्य है, आप ही जगत् का पोषण करने वाले हैं और आप ही जगत का हित करने वाले हैं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि भगवान के नाम का बगैर उस नाम के अर्थ के अभिमुख हुए स्मरण करना/ अभिमुख होना मंगलकारी है ॥

(२) स्थापना अभिमुखता :-

जिनेन्द्र भगवान के तदाकार अथवा अतदाकार जिनबिम्बों के इन भावों से युक्त हो अभिमुख होना मानो वे साक्षात् ही हैं ॥

उन्हें साक्षात् स्वीकार करते हुए, उनके साथ साक्षात् तीर्थंकर भगवान के साथ किये जाने वाले चार प्रकार के विनय व्यवहार अर्थात् उनकी, अर्चना, पूजा, वंदना व उन्हें नमस्कार करना, स्थापना अभिमुखता है ॥

स्थापित जिनेन्द्र भगवान यद्यपि श्री प्रतिमाजी में उपचार से हैं, किन्तु यह उपचार भी भव्यजीवों को साक्षात् फल देने वाला है, जैसा कि विषापहार स्तोत्र में स्थापना निक्षेपगत भगवान पार्श्वनाथ के अभिमुख होने का फल कविवर्य धनंजय ने प्राप्त किया था ॥

अथवा आचार्य भगवंत पूज्यपाद स्वामी भगवान शांतिनाथ के अभिमुख हुए और अंधी हो चुकी आँखों में पुनः प्रकाश पाया ॥

इतना ही नहीं, अपितु साक्षात् तीर्थंकर भगवान की अपनी कल्पना में तदाकार स्थापना कर उनके अभिमुख होना भी फलदाई होता है, जैसा कि समंतभद्राचार्यजी ने शिवपिण्डी के सम्मुख किया था अथवा भक्तामर स्तोत्र के रचयिता मानतुंगाचार्यजी ने कारागृह में किया था ॥

यह तो भक्ति पूर्वक अभिमुख होने के उदाहरण हैं, किंतु द्वेष बुद्धिपूर्वक जो जिनबिंबों के विमुख हुए अथवा उनके प्रति दुष्कृत्य किये अथवा बिंब के आगम निर्देशित माप का बोध नहीं रखा, उन्होने विपरित फल भी प्राप्त किये हैं, देखिये :-

साक्षात् तीर्थंकर भगवान को अपमानित करने के भाव ले पूर्वभव में सती अंजना द्वारा किया गया जिनबिंब का अपमान दु:ख रूप से फलीभूत हुआ ॥

अथवा सुभौम चक्रवर्ती द्वारा पानी पर नमस्कार मंत्र लिखकर उसे पैरों से मिटाना नरकायु का कारण हुआ ॥

शंकाकार : तो क्या द्वेषबुद्धि पूर्वक की गई जिनेन्द्र-प्रतिमाओं से अभिमुखता अनिष्ट संपादन रूप फलीभूत होती हैं ?

समाधान : जी हाँ !! कापोत लेश्या से परिणमित बुद्धि द्वारा किया गया जिनेद्र भगवान की प्रतिमाजी का अपमान, कृष्ण लेश्या से परिणमित किसी सामान्य जन के किये गये साक्षात् अपमान के फल की तुलना में कहीं अधिक विकराल होकर फलीभूत होता है, इस विषय में शंका नहीं करनी चाहिये ॥

यहाँ समझना सिर्फ इतना ही है कि साक्षात् जिनेन्द्र भगवान न तो अपनी स्तुति से प्रसन्न होकर स्तुतिकार के इष्ट का संपादन करते हैं और न ही द्वेषियों से रुष्ट होकर उनके अनिष्ट का संयोजन ॥ मात्र वे ही नहीं, अपितु उनके नाम से स्थापित की गई प्रतिमाएँ भी न

तो स्तुतिकार के इष्ट की संपादिका होती हैं और न ही द्वेषियों के अनिष्ट की ॥ यहाँ पूर्व में श्री धवलाजी के आश्रय से ऋषियों को प्राप्त स्वतः व इच्छापूर्वक प्रवर्तने वाली शुभ ऋद्धियाँ व मात्र इच्छापूर्वक ही प्रवर्तने वाली अशुभ ऋद्धियों के विषय में दिये गये व्याख्यान को संशोधन सहित स्मरण में लेना चाहिये कि तीर्थंकर भगवान के सम्मुख जो जैसे परिणाम ले कर आता है, उन्हें उनके लाभान्तरायादि बाधक अथवा साधक कारणों के सद्भावानुसार स्वतः प्रवर्तने वाली ऋद्धि के बल से शुभ या अशुभ फल से तीर्थंकर भगवान युक्त कर ही देते हैं, इसमें शंका नहीं करनी चाहिये ॥

जैसा कि हमने पूर्व में भी कहा था कि आचार्य भगवंतों द्वारा किया गया तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव की कारण १६ भावनाओं का विवेचन तो विस्तार से प्राप्त होता है, किन्तु केवली/श्रुतकेवलियों की क्षायिक/क्षायोपशमिक दान लब्धियों से विशुद्धि की प्राप्ति कैसे होती है, इस संदर्भ में आचार्य भगवंतों ने विस्तार से कुछ भी नहीं कहा है, ठीक वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ॥

यदि तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण का लोप करके अभिमुख हुए पात्र के परिणामानुसार फल का विवेचन करोगे, तो यह विवेचन बाद में करना होगा, प्रथम यह कहना होगा कि तीर्थंकर भगवान निरतिशय होते हैं, सातिशय नहीं ॥

चूँकि इस विषय में विस्तार से विवेचन पूर्व में किया जा चुका है व आगे श्रीमद् जयसेनाचार्यजी द्वारा विरचित प्रतिष्ठा ग्रंथ श्री प्रतिष्ठासारजी के आश्रय से (उत्तरार्द्ध में)और भी कहा जाने वाला है, अतः प्रकरण को यहाँ संकुचित करते हैं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जिनेन्द्र भगवान की तदाकार अथवा अतदाकार स्थापना में साक्षात् तीर्थंकर प्रभु की कल्पना कर आगम प्रसिद्ध अर्चनादि ४ प्रकार के विनय सूत्रों के अनुसार उनके अभिमुख होना स्थापना अभिमुखता है ॥

यह अभिमुखता भी इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक है ॥

(३) द्रव्य अभिमुखता :-

इसके बहुत सारे भेद हैं ॥

इन बहुत सारे भेदों में से निर्वाण पश्चात् तीर्थंकर भगवान के अवशेष नख व केशों का संस्कार, जिसे कि निर्वाण कल्याणक भी कहते हैं, इसी द्रव्य अभिमुखता का भेद है ॥

इसी दिव्याग्नि की इष्ट कार्यों में मंगल की प्राप्ति के लिये हवनाग्नि में स्थापना कर आहुतियाँ देना भी द्रव्य अभिमुखता का ही भेद है ॥

चूंकि यह द्रव्य अभिमुखता विशेष रूप से फलदाई है, इसलिये प्रत्येक विधान की सम्यक् सम्पन्नता हवन पूर्वक कही गई है ॥

हवन के अभाव में सभी विधान अपूर्ण कहे गये हैं ॥

गर्भ व जन्मकल्याणक भी इसी द्रव्य अभिमुखता के ही भेद हैं ॥

इसी प्रकार यंत्र व मंत्र भी द्रव्य अभिमुखता के ही भेद हैं ॥

कैसे ?

देखिये - श्री धवलाजी पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र १, पृष्ठ २२, (विषय - द्रव्य निक्षेप के आश्रय से मंगल का कथन):-

मंगल- पाहुड-सद्द-रयणा वा, तस्सत्थ - ट्ठवणक्खर-रयणा वा ॥

अर्थ : अथवा, मंगल विषय के प्रतिपादक शास्त्र की शब्द - रचना को आगम - द्रव्यमंगल कहते हैं। मंगल विषय को प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र की स्थापना रूप अक्षरों की रचना को भी आगम-द्रव्यमंगल कहते हैं।

अर्थात् तदाकार या अतदाकार प्रतिमाएँ जैसे स्थापना का भेद हैं, इसी प्रकार जिन वर्णों, शब्दों अथवा पदों में तीर्थंकर भगवान अथवा परमेष्ठियों की स्थापना की जाती है, वे भी द्रव्य निक्षेप के अनुसार साक्षात् तीर्थंकर भगवान अथवा परमेष्ठी ही हैं व उनकी की गई अभिमुखता/भक्ति भी साक्षात् तीर्थंकर भगवान की की गई भक्ति/अभिमुखता की तरह मनोवांछित फलों को देने वाली है ॥

चूंकि वे भी तीर्थंकर भगवान ही हैं, इसीलिये श्री मंदिरजी में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के साथ इन्हें भी स्थापित किया जाता है ॥ यदि ये परमेष्ठियों की ही स्थापना को कहने वाले नहीं होते, तो निश्चित ही न ही इनके लिये भगवान की वेदी में ही कोई स्थान होता और न ही परमेष्ठी सूचक शब्दों वाली इनकी संज्ञाएँ होतीं, जैसे सिद्धचक्र यंत्र, विनायक यंत्र, नमस्कार मंत्र, एकाक्षरी ॐ मंत्र आदि ॥

एकाक्षरी मंत्र ॐ की दातृत्व शक्ति के विषय में तो यहाँ तक प्रसिद्धि है कि :-

ओंकारं बिंदु संयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ॥

अर्थात् एकाक्षरी मंत्र ॐ के दातृत्व गुण को कहने वाला यह आगम प्रसिद्ध स्वरूप मात्र परमेष्ठियों की स्थापनाओं अथवा उनके साक्षात् सान्निध्य में ही इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन की सामर्थ्य है, परमेष्ठी वाचक शब्दों व वर्णों में नहीं, का निराकरण करता हुआ परमेष्ठी वाचक शब्दों व वर्णों में भी इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन की सामर्थ्य है, की समीचीन सिद्धि के लिये पर्याप्त है ॥

विस्तार से इन मंत्रों व यंत्रों का स्वरूप व संज्ञाएँ भी श्रीमद् जयसेनाचार्यजी द्वारा विरचित प्रतिष्ठाग्रंथ श्री प्रतिष्ठासारजी अथवा अन्य भी ग्रंथों के आश्रय से जानना चाहिये ॥

इस विषय में सर्वाधिक प्रसिद्ध व सर्वप्रिय जिनागम निर्दिष्ट पात्रा मैना सुन्दरी की कथा का यहाँ स्मरण करना चाहिये ॥

इस कथा में वर्णित सिद्धचक्र यंत्र की निर्माण व पूजन विधि का वर्णन श्री भावसंग्रहजी गाथा क्रमांक ४४४, ४४५, ४४६ में विस्तार से किया गया है, इसे वहीं से देखना चाहिये ॥

कुछ विद्वत्‌गण हैं, जो कि जिनाभिषेक के पश्चात् शांतिधारा में वर्णित् छिंदि-छिंदि भिंदि-भिंदि पाठ से भ्रम बुद्धि हो शांतिधारा को श्रीजी पर नहीं, अपितु यंत्र पर करने का एकांत करते हैं, निश्चित् ही इन्हें जिनेन्द्र भगवान के मत में कहे गये द्रव्य मंगल से अनभिज्ञ या मूढ़ बुद्धि ही कहना होगा, वर्ना वे यंत्रजी को श्रीजी से न तो सर्वथा पृथक ही मानते व न ही ऐसी प्ररूपणा कर बैठते कि लोकिक मंगल कार्यों की सिद्धि के लिये यंत्राभिषेक किया जाये व लोकोत्तर मंगल कार्यों की सिद्धि के लिये श्रीजी का अभिषेक किया जाये ॥

इसी प्रकार वे जो कि श्रीजी पर किये गये जन्माभिषेक को प्रतिमाभिषेक निरूपित करते हैं, वे भी जिनेन्द्र भगवान के मत में द्रव्य मंगल के आश्रय से कही गई मंगल क्रिया जन्माभिषेक के संदर्भ में मूढ़मति हैं ॥

जन्माभिषेक के विषय में मूढ़मति होते हुए, जिनेन्द्र भगवान के मत में जिसे कहा ही नहीं गया है, ऐसे प्रतिमाभिषेक के एकांत आग्रही हैं ॥

इतना ही नहीं अपितु मूढ़ता की अति देखिये कि इन निषेधकों के संग्रह में प्रतिमाभिषेक के नाम पर श्रावकों को करने को जन्माभिषेक ही मिलता है ॥

किनके संग्रहों में ?

प्रतिष्ठाचार्य पुष्प जी व पं. नाथुलालजी शास्त्री का उदाहरण पूर्व में दिया जा चुका है, इस बार उदाहरण जिनभारती संग्रह, संपादक/संकलक ब्र. प्रदीप पीयूष शास्त्री, जबलपुर (म.प्र.) का है ॥

इस जिनवाणी संग्रह के अपने संपादकीय वक्तव्य में एक ओर तो वे श्रावकों से कह रहे हैं कि जन्माभिषेक नहीं करना, प्रतिमाभिषेक करना, वहीं दूसरी ओर उन्होंने पाठकों को करने के लिये प्रतिमाभिषेक का नहीं अपितु श्रीमद् माघनंदि आचार्य कृत् जन्माभिषेक की पुष्टि करने वाला पाठ संकलित किया है ॥

इतना ही नहीं अपितु श्रीमदअभयनंदि आचार्यकृत पंचामृत अभिषेक पाठ से दूध आदि अमृतों से करने हेतु लिखे गये पाठों का लोप कर मात्र जलाभिषेक के पाठ को संकलित कर स्वामी समंतभद्राचार्यजी के अनुसार सम्यक्‌ज्ञान में दूषण उत्पन्न करने वाला आचार्य भगवंत की वाणी में से अपनी बुद्धि से ही कुछ कम कर उसे प्रस्तुत करने का

दुष्कृत्य भी किया है ॥(संस्करण २००१, जिनभारती संग्रह)

निश्चित ही प्रचलित जिनवाणी संग्रहों में इस प्रकार के अपराध क्षम्य नहीं कहे जाने चाहिये ॥

चूँकि उपर्युक्त सभी विद्वान जन्म कल्याणक मूढ़ हैं, अतः जन्म कल्याणक की मंगलमयता के संदर्भ में लोक में अनायास ही प्रसिद्ध कर दी गई भ्रान्तियों के निवारणार्थ आगम प्रमाण देना यहाँ निश्चित ही उपयुक्त रहेगा, ऐसा समझते हुए हम प्रमाण प्रस्तुत करते हैं, सुनिये :-

प्रथम प्रमाण, जो प्रतिपक्षियों को अत्यंत इष्ट हैं, ऐसे श्री मूलाचारजी से :-

गाथा ६६२ की टीका में कब कितने श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिये, प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य भगवंत उत्तर देते हैं कि :-

जिनेन्द्रनिर्वाणसमवसृतिकेवलज्ञानोत्पत्तिनिष्क्रमणजन्मभूमिस्थानेषु वन्दनाभक्ति हेतोर्गतेन पंचविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गे कर्तव्याः ॥

अर्थ : जिनेन्द्रदेव की निर्वाण भूमि, समवशरण-भूमि, केवलज्ञान उत्पत्ति-भूमि, निष्क्रमण भूमि और जन्म-भूमि की वंदना भक्ति के लिये जाने पर पच्चीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिये ॥

प्रिय पाठको, इस उपदेश में अत्यंत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि केवलज्ञानोत्पत्ति व निर्वाणभूमि की ही तरह मुनि तीर्थंकर भगवान की जन्म भूमि की भी वंदना व भक्ति के लिये जाते हैं व वहाँ की भक्ति संपन्न करने के उपरांत निर्वाण व केवलज्ञानोत्पत्ति भूमि की वंदना भक्ति के लिये निर्देशित २५ श्वासोच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग भी करते है ॥

जब मुनिराज के लिये ही भगवान की जन्मभूमियों की वंदना व भक्ति का आगम में निर्देश है, तब क्या श्रावकों के लिये तीर्थकर भगवान के जन्माभिषेक उत्सव को करने का निषेध हो सकता है ?

निश्चित ही नहीं ॥

अब द्वितीय प्रमाण श्री आदिपुराणजी से देखिये :- (श्लोक संख्या २१६, पर्व १३)

अर्थ मात्र (डॉ. पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर) : मेरु पर्वत के मस्तक पर स्फुरायमान होता हुआ जिनेन्द्रभगवान के जन्माभिषेक का वह प्रवाह हम सब की रक्षा करे जिसे इंद्रों ने बडे आनन्द से, देवियों ने आश्चर्य से, देवों के हाथियों ने सूँड़ ऊँची उठाकर बड़े भय से, चारण ऋद्धिधारी मुनियों ने बड़े आदर से और विद्याधरों ने 'यह क्या है ?' ऐसी शंका करते हुए देखा ॥

प्रिय पाठको, यहाँ पुनः कहा गया है कि चारण ऋद्धिधारी मुनियों द्वारा वह जन्माभिषेव

का क्षीर-प्रवाह देखा गया, क्या अब भी आपको द्रव्य निक्षेप के आश्रय से प्ररूपित जन्म-कल्याणक की मंगलमयता के संदर्भ में और कोई प्रमाण चाहिये ?

नहीं न ?

वैसे इन विद्वानों की भी भूल नहीं है ॥

इनका अज्ञान ही मूल में बाधक है ॥

इन्हें मूल में भ्रम यह हो गया है कि मंदिरजी में स्थापित प्रतिमा तीर्थंकर भगवान के एक मात्र अरिहंत स्वरूप की है, अरिहंत स्वरूप से अन्य किसी भी स्वरूप की नहीं ॥

इसी मति ने इनसे उपर्युक्त प्ररूपणा करवाई है ॥

जबकि सत्य यह है कि :

१) उस प्रतिमाजी में चार कल्याणकों की क्रम से मांत्रिक व मोक्ष कल्याणक की मानसिक स्थापना हवन कुण्ड में आहुतियों पूर्वक की गई है ॥

२) उस प्रतिमाजी में भगवान के पाँचों कल्याणकों की स्थापना भगवान के पाँचों कल्याणकों की अर्चना, वंदना व नमस्कार हेतु की गई है ॥

३) उस प्रतिमाजी के आश्रय से भगवान के पाँचों कल्याणकों की अर्चा-पूजा-वंदना व नमस्कार का श्रावकों व मुनिराजों के लिये विधान किया गया है ॥

यदि ऐसा नहीं होता, तो तीर्थंकर भगवान की पूजा में से गर्भ व जन्म कल्याणकों के अर्घ्यों को कहा ही नहीं जाता,

किन्तु नहीं, वे तो कहे गये हैं ॥

वे अर्घ्य कहे गये है, यही इस विषय में प्रमाण है कि सम्मुख प्रतिमा में भगवान के गर्भ व जन्मकल्याणकों की भी स्थापना है ॥

यदि स्थापना नहीं होती तो भगवान को मेरे द्वारा चढ़ाया जा रहा गर्भ या जन्म कल्याणक का अर्घ्य, गर्भ या जन्म कल्याणक संपन्न भगवान की कल्पना कर के, कल्पना के भगवान को चढ़ाने का निर्देश दिया गया होता ॥

किंतु नहीं, ऐसा कोई निर्देश तो दिया ही नहीं गया है ॥

ऐसा कोई निर्देश दिया नहीं जाना इस सत्य को पुष्ट करने के लिये पर्याप्त है कि उस अर्घ्य को तो पंचकल्याणकों के संस्कारों से संपन्न प्रतिमाजी के ही श्री चरणों में अर्पित करने का आगम निर्देश है ॥

इस विषय में हमें बहुत दूर जाने की आवश्यकता ही नहीं ॥

आइये, ब्र. प्रदीप पीयूष शास्त्री द्वारा संकलित जिनभारती संग्रह में मुद्रित माघनंदि

आचार्य भगवंत द्वारा रचित अभिषेक पाठ के वचनों की ही शरण स्वीकारें व जाने कि ब्रह्मचारीजी ने इस पाठ को जन्माभिषेक के लिये संकलित किया है या प्रतिमाभिषेक के लिये :-

इस अभिषेक पाठ के छट्ठे काव्य के उत्तरार्द्ध में कहा गया है कि :-

वृषभादि वीरान्तान् जन्माप्तौ जिष्णुचर्चितान् ।
स्थापयाम्यभिषेकाय भक्त्या पीठे महोत्सवम् ।।

ठीक ऐसा ही सुस्पष्ट पद ११ वाँ भी है :-

तीर्थोत्तम भवैर्नीरैः क्षीर-वारिधि रूपकैः ।
स्नपयामि सुजन्माप्तान् जिनान् सर्वार्थसिद्धिदान् ।।

यह लीजिये !! ये तो जन्माभिषेक की सूचना देने वाले पद हैं ।।

फिर ये ब्रह्मचारीजी को क्या हो गया है ?

सम्पादकीय में जिस जन्माभिषेक का निषेध कर रहे थे, संकलन में उसी जन्माभिषेक की सिद्धि करने वाले आचार्य भगवन् कृत अभिषेक पाठ का संकलन करते हैं और जिस प्रतिमाभिषेक की वकालत कर रहे हैं, उसके पक्ष में एक भी अभिषेकपाठ का नहीं ।।

है न आश्चर्य ?

नहीं है क्या ?

है ही न ?

और अब जन्माभिषेक के लिये स्थापित भगवान को चढाये गये अर्घ्य का प्रमाण भी देखिये (जिनभारती संग्रह, सकलन/सपादन ब्र. प्रदीप पीयुष शास्त्री, सस्करण २०००, माघनंद्याचार्य, पृष्ठ ४५ एवं अभयनंद्याचार्य विरचित अभिषेक पाठ, पृष्ठ ५०) :-

१. माघनंद्याचार्य विरचित अभिषेक पाठ से :-

आनन्द- निर्भर- सुर- प्रमदादि- गानैर्वादित्र- पूर जय- शब्द- कलप्रशस्तैः ।
उद्गीयमानजगतीपतिकीर्तिमेनां, पीठस्थलीं वसु- विधार्चन- योल्लसामि ।। ९ ।।

इस पद में पद संख्या ५-६ में जो पांडुक शिला पर जन्माभिषेक हेतु सिंहासन स्थापित किया था, उस पीठ स्थित भगवान को अष्ट द्रव्य से अर्चन का उल्लेख है ।।

२. अभयनंद्याचार्य विरचित अभिषेक पाठ से :-

अर्थ मात्र : सुमेरू पर्वत के अग्र भाग में स्थित निर्मल पाण्डुक शिला पर स्थित श्री आदि जिन का पहले देवेन्द्रों ने अभिषेक किया था, कल्याण का इच्छुक मैं उन आदि जिन की प्रतिमा की स्थापना कर अक्षत, जल और पुष्पों से पूजा करता हूँ ।। ७ ।।

क्या अब भी प्रिय पाठको, जन्माभिषेक व जन्मकल्याणक के अर्घ्य को लेकर कुछ

कहने को बचता है ?

नहीं न ?

कृपया स्मरण रखें, उपर्युक्त प्रमाण पं. गुलाबचंदजी पुष्प, पं. नाथुलालजी आदि की तरह जन्माभिषेक के विरोधी व प्रतिमाभिषेक का पक्ष रखने वाले आदरणीय ब्र. प्रदीप पीयूष शास्त्रीजी के संकलन से ही कहे जा रहे हैं, अन्यत्र से नहीं ॥

हमें तो लगता है कि ब्रह्मचारीजी सोचते अवश्य हैं, किन्तु पढ़ते नहीं है या पढ़े लिखे नहीं हैं, यदि पढ़ते अथवा पढ़े-लिखे होते, तो निश्चित ही उनके चिंतन व आचार्य-कृत उपदेश के मध्य जो अन्तर अर्थात् फासला है, वह नहीं होता ॥

वह फासला है, यही इस सत्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि ब्रह्मचारीजी की धारणाएँ नियमतः उनके अनुयायियों के लिये उपलनाववत् हैं, उपलनाव से अन्य कुछ भी नहीं ॥

किंतु नहीं, ब्रह्मचारीजी के विषय में ऐसा कहा ही नहीं जा सकता ॥

वे न सिर्फ पढ़े लिखे हैं, अपितु निरंतर स्वाध्यायशील रहते हुए पढ़ते-लिखते भी रहते हैं ॥ **इस विषय में प्रमाण उन्हींके संपादन दायित्व में प्रकाशित, जिसका कि यहाँ निरंतर संदर्भ है, जिनभारती संग्रह का ही है ॥**

२००१ तक के संस्करण जहाँ उपर्युक्त दूषण से दूषित थे, वहीं २००२ व उसके पश्चात् के संस्करण इन दूषणों से कथंचित् मुक्त ॥

ब्रह्मचारी जी के पक्ष में उत्तमोत्तम सत्य यह है कि वे आदरणीय डॉ. रतनचंद्रजी, बैनाड़ाजी, लुहाड़ियाजी आदि की तरह आगम प्रमाण मिलने पर भी अपने ही पक्ष को पुष्ट करने वाली बुद्धि के नहीं हैं, अपितु आगम प्रमाण मिलते ही अपनी बुद्धि को आगमानुसार करने में क्षण मात्र का भी विलंब नहीं करने वाली बुद्धि के हैं ॥

निश्चित ही सम्यक्दृष्टियों के आगम में कहे गये अनेकानेक लक्षणों में से एक लक्षण यह भी है ॥

शंकाकार : यदि मंदिरजी में स्थित श्रीजी में पाँचों ही कल्याणकों की स्थापनाएँ हैं, फिर उन्हें नग्न मात्र क्यों दर्शाया जाता है ?

समाधान : तीर्थंकर भगवान का मात्र नग्न स्वरूप ही क्यों दर्शाया जाता है, प्रश्न ऐसे नहीं करना चाहिये, अपितु कहना चाहिये कि फिर तीर्थंकर भगवान का अंतरंग व बहिरंग लक्ष्मी से युक्त नग्न स्वरूप ही क्यों दर्शाया जाता है ?

शंकाकार : क्यों, इस प्रश्न को प्रकार क्यों किया जाये ?

समाधान : क्यों कि मात्र नग्न स्वरूप तो साधु अवस्था का होता है व विवक्षा विशेष

से सिद्ध अवस्था का, अरिहत अवस्था का नही ।। अरिहत अवम्था का स्वरूप तो अंतरंग अनंत चतुष्टय व बहिरग समवशरण, अष्टप्रातिहार्यादि लक्ष्मी से युक्त ही कहा गया है ।।

यहॉ स्मरण मे रखने योग्य विषय यह है कि चार निक्षेपों मे से मुख्य उपदेश आगे कहे जाने वाले भाव निक्षेप का होता है व गौण उपदेश अन्य निक्षेपों का ।।

चूँकि तीर्थंकर भगवान की मुख्यतया मगलकारी पर्याय अरिहंत अवस्था की ही है, जो कि भाव निक्षेप की प्ररूपणा है, अन्य निक्षेपों के अतर्गत की गई मंगल प्ररूपणा इसी भाव निक्षेप के आश्रय से मगल कही जाती हैं, इसलिये उनके इसी भावनिक्षेप आश्रित अंतरंग अनंत चतुष्टय व बहिरंग समवशरण, अष्ट प्रातिहार्यादि लक्ष्मी से युक्त नग्न स्वरूप को ही मुख्यता से सम्मुख दर्शाया जाता है, शेष चार स्वरूप देशामर्षक न्यायानुसार ग्रहण करने होते हैं ।।

यदि ऐसा नहीं मानोगे, तो मात्र गर्भ व जन्म के ही नहीं, अपितु तप व निर्वाण कल्याणक के अर्घ्य भी भगवान के सम्मुख नही चढ़ाये जा सकते, क्यों कि वर्तमान नयानुसार तो वह प्रतिमा अरिहंत अवस्था की है ।। अत शेष कल्याणकों के चार स्वरूप देशामर्षक न्यायानुसार ग्रहण करने होते हैं, यही मत स्वीकार हो ।। ।।

जो स्वीकार कर लेता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत का ज्ञाता हो जाता है, व जो नहीं कर पाता है, निश्चित ही वो या तो जिनेन्द्र भगवान के मत को जानता ही नहीं, या फिर जैनाभाषी हो जाता है ।।

इसी न्यायानुसार कृत्रिमाकृत्रिम चैत्यालय, पॉचों कल्याणकों के क्षेत्र, पाँचों कल्याणकों के काल सहित अष्टाह्निक आदि पर्वों के काल, पाण्डुकशिला, तीर्थंकर भगवान के माता-पिता, शासनदेवता, गंधोदक आदि समस्त सचित्त, अचित्त व मिश्र मंगल भी चूँकि किसी न किसी अपेक्षा से भाव निक्षेप के आश्रय से ही द्रव्यादि निक्षेपों में गमन करते हुए अपना-अपना मंगल अस्तित्व रखते हैं, इसलिये वे भी इसी द्रव्यादि मगलों के भेद परमागम में कहे गये हैं और इनके अभिमुख होने को द्रव्य अभिमुखता कहा गया है ।।

चूँकि वर्तमान काल की मुख्य भ्राँतियाँ इसी द्रव्य निक्षेप मूढ़ता के कारण ही अस्तित्व में है, इसलिये इस विषय में नि.शंक होने के लिये इस विषय का विस्तार से स्वाध्याय किसी स्याद्वाद कुशल विद्वान के निर्देशन में श्री धवलाजी पुस्तक एक से किया जाना चाहिये ।। जो कर लेंगे, निश्चित मानिये तर जायेंगे, व जो नहीं करेंगे अथवा नहीं कर पायेंगे, उनकी प्ररूपणायें उन्मत्तवत् कभी आचार्य भगवंतों को समीचीन कहने वाली, तो कभी उन्हीं को मिथ्या कहने वाली होंगी, अपनी प्ररूपणागत् दोषों का आँकलन करने वाली कभी नहीं होगी ।।

इस प्रकार हमने यहाँ कुछ कुधारणाओं के निरसन पूर्वक द्रव्य मंगल के आश्रय से की जाने वाली द्रव्य अभिमुखता का कथन किया ॥

निश्चित ही पूर्व की अभिमुखताओं की तरह यह अभिमुखता भी इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक है, इसमें शंका को कोई स्थान नहीं ॥

(४) भाव अभिमुखता :-

साक्षात् तीर्थंकर भगवान अथवा पंचपरमेष्ठियों के अभिमुख होना ही भाव अभिमुखता है ॥

१६ कारण भावनाओं के उदाहरण में इसी भाव अभिमुखता को कहा गया है कि यदि तीर्थंकर प्रकृति का बंध होगा, तो नाम, स्थापना अथवा द्रव्य अभिमुखता से नहीं, अपितु भाव अभिमुखता से ही होगा ॥

भाव अभिमुखता में भी सभी परमेष्ठियों के अभिमुख होने से नहीं, अपितु उन परमेष्ठियों मे भी पुनः केवली-श्रुतकेवलियों के पादमूल में ही ॥

पाठकगण कृपया स्मरण रखें कि उपर्युक्त १६ कारण भावनाओं का उदाहरण भाव निक्षेपगत अनेकानेक उदाहरणों में से एक उदाहरण मात्र है, इस उदाहरण को आदि लेकर पाँचों परमेष्ठियों के साक्षात् अभिमुख हाने के परमागम में निर्देशित समस्त उदाहरणों को सकलित कर लेना चाहिये ॥

इस प्रकार जिनवरों के अभिमुख होने पर मनोरथों की/मनःवांछित अर्थ की सिद्धि का सूत्र निर्दोष सिद्ध हुआ ॥

अर्थात् प्रथम विधि जिनेन्द्र भगवान के चार निक्षेपों के आश्रय से अभिमुख होने पर, उनकी भक्ती करने पर कार्य की सिद्धि को कहने वाला सूत्र मय उदाहरणों के पूर्ण हुआ ॥

अब द्वितीय विधि को कहते हैं :-

इस विधि में, जो बहुतों को प्रयोजनभूत, इष्ट व उत्तम है, उन्हें अर्थात् उन बहुतों को, बगैर उनमें सम्यग्दृष्टि आदि का भेद किये, बगैर अभिमुखता अथवा भक्ति की विवक्षा के, यहाँ तक कि शुभास्रव के हेतुभूत शुभ परिणामों की भी उनमें विवक्षा न रखते हुए, तीर्थंकरों/जिनवरों द्वारा जो एक साथ एक ही काल में दिया जाता है, वही इस द्वितीय विधि का विषय है ॥

इस विधि अर्थात् विषय में प्रमाण केवलज्ञान के १० अतिशयों में से प्रथम अतिशय सौ योजन तक सुभिक्ष का सद्भाव है, जिसकी कि मीमांसा विस्तार से पूर्व में की जा चुकी है व जिसमें हमने सिद्ध किया था कि :-

तीर्थंकर भगवान में यदि दातृत्व गुण को स्वीकार नहीं करोगे, तो इस अतिशय की सिद्धि का कोई उपाय ही शेष नहीं रहेगा ॥

उपाय के अभाव में न सिर्फ इस अतिशय को, अपितु इस जैसी अन्य समस्त प्ररूपणाओं एवं उनके प्ररूपकों को मिथ्या कहना होगा ॥

यहाँ पुन: एक प्रश्न को अवकाश है ॥

प्रश्न : यदि सुभिक्ष का सद्भाव क्षायिक दान का भेद है, तो चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक का ही नियम क्यों, सर्व दिशाओं के सर्व ही प्राणियों को इस सुभिक्ष की प्राप्ति का नियम क्यों नहीं ?

उत्तर : क्षायिक दान का इस अतिशय के अन्तर्गत ऐसा ही स्वभाव है ॥

और स्वभाव का लक्षण सर्वत्र प्रसिद्ध ही है कि :-

स्वभावोतर्कोऽगोचरः

अर्थात् स्वभाव तर्क के अगोचर होता है ॥

चूंकि स्वभाव तर्क के अगोचर होता है, इसलिये न ही वह तर्कों के द्वारा सिद्ध ही किया जा सकता है और न ही बाधित ॥

जैसे अनंत शक्ति के स्वामी सिद्ध भगवान, अनंत शक्ति के स्वामी होने के पश्चात् भी लोकाकाश के बाहर नहीं जा सकते ॥

क्यो ?

क्योंकि वह शक्ति यद्यपि अनंत है, किन्तु अनंत होने के पश्चात् भी, उसकी प्रवृत्ति विधि अनुसार होती है, विधि का उल्लंघन करके नहीं ॥

व विधि कहती है कि गमन के लिये अनंत शक्ति के धारक हों अथवा क्षायोपशमिक, दोनों को ही धर्म द्रव्य नियामक है ॥ उसके अभाव में लोकाकाश अथवा अलोकाकाश, दोनों ही स्थानों में गमन संभव नहीं ॥

ऐसे ही तीर्थंकर भगवान का यह अतिशय भी साता वेदनीय कर्म व नामकर्म समन्वित तीर्थंकर प्रकृति के उदय की अपेक्षा रखता है ॥

व इन जड़ प्रकृतियों का उदय तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण को दर्शाने वाले इस अतिशय को चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक सीमांकित कर देता है ॥

प्रश्न : यह कैसे जाना जाता है ?

उत्तर : सूत्र के सामर्थ्य से ॥

प्रश्न : अर्थात् ?

उत्तर : अर्थात् इस सूत्र में दर्शाया गया सीमांकन कि चारों ही दिशाओं में सौ-सौ योजन तक ही सुभिक्ष का सद्भाव होता है न उससे कम और न ही उससे अधिक, उसीसे जाना जाता है, वर्ना अतिशय के प्ररूपक इस सूत्र का निरूपण अन्य प्रकार से होता, इस प्रकार से नहीं ॥

शंकाकार : क्या इस विषय में कोई अन्य प्रमाण भी है ?

समाधान : हाँ ! है ही, है क्यों नहीं ? सुनिये :-

श्री तिलोयपण्णत्तिजी (अधिकार ४, गाथा १३३) :

आतंकरोगमरणुप्पत्तीओ बेरकामबाधाओ ।
तण्हाछुहपीडाओ जिण्माहप्पेण ण हवंति ॥

अर्थ : (समवशरण में) जिनेन्द्र भगवान के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति (जन्म), बैर, काम बाधा व तृष्णा (पिपासा) और क्षुधा की पीड़ाएं नहीं रहती हैं ॥

इस गाथा में भी यही कहा गया है कि समवशरण स्थित समस्त प्राणी इस अतिशय के लाभ से लाभान्वित होते हैं, उसके बाहर के नहीं ॥ इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि यह अतिशय तीर्थंकर भगवान के माहात्म्य से कार्यकारी हुआ है, समवशरण स्थित प्राणियों के माहात्म्य से नहीं ॥

चूँकि तीर्थंकर भगवान व क्षायिक लब्धि परस्पर में अविनाभावी हैं, इसलिये कहा जायेगा कि क्षायिक लब्धि के माहात्म्य से यह अतिशय कार्यकारी हुआ है, समवशरण स्थित प्राणियों की क्षायोपशमिक लब्धि के कारण नहीं ॥

यह तो जिनवरों/तीर्थंकरों के अतिशय हुए, जबकि ऋद्धिधारी ऋषियों/यतियों के अतिशय भी इसी विधि/प्रकरण के अंतर्गत जिनागम में कहे गये हैं ॥

खदिरसार भील को कौवे का माँस त्यागने के लिये प्रेरित करने वाले ऋद्धिधारी मुनि की कथा को यहाँ श्री उत्तरपुराणजी से ग्रहण कर कहना चाहिये कि जिनके तप के प्रभाव से भील शिकार करने में असमर्थ हो रहा था ॥

इसी प्रकार अक्षीणसंवास, अक्षीणमहानस आदि ऋद्धियों का व्याख्यान भी यहाँ श्री धवलाजी आदि ग्रंथों से ग्रहण कर कहना चाहिये ॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के मत में, सिर्फ जिनेन्द्र भगवान ही नहीं, अपितु ऋद्धिधारी ऋषि/यतिगण द्वारा भी जो बहुतों को प्रयोजनभूत/इष्ट हो, वह बगैर पात्रों में सम्यक्दृष्टि आदि का भेद किये, अभिमुखता अथवा भक्ति की विवक्षा रहित स्वतः/सहज/स्वाभाविक रूप से अर्थात् बिना इच्छा के दिया जाता है, उनके द्वारा दिये जाने का जिनागम में कहीं भी निषेध नहीं है ॥

इस विषय में शुभ/अशुभ तैजस ऋद्धि संपन्न महामुनिराज का विवेचन हम श्री द्रव्य संग्रहजी की टीका के आश्रय से आगे करने ही वाले हैं ॥

शंकाकार : अशुभ तैजस भी ?

समाधान : हाँ! अशुभ तैजस भी ॥ अंतर सिर्फ इतना है कि अशुभ लब्धियाँ लब्धिधारी की इच्छा के वशीभूत होती हैं, स्वतः निःसृत नहीं, अत इस लब्धि में कहा जायेगा कि जो बहुतों को अप्रयोजनभूत, अनिष्टकारक हो, उसे बगैर पात्रों में सम्यग्दृष्टि व सचित्त-अचित्त आदि का भेद किये, बगैर उनसे किसी प्रकार का अहित हुए दिया जाता है, वह भी इसी दातृत्वता का भेद है ॥

किन्तु कथा तो कहती है कि द्वीपायन मुनि का यादवों ने अहित किया था ?

समाधान : हाँ किया था, किन्तु सभी द्वारिका वासियों ने नहीं ॥ उन्हें तो पता भी नहीं था कि अहित किया जा रहा है ॥ उसके पश्चात् भी नाश को वे प्राप्त हुए ॥ वे ही नहीं, अपितु अचित्त/जड़ पदार्थ भी ॥ इसीलिये कहा गया कि जो बहुतों को अप्रयोजनभूत, अनिष्टकारक हो, उसे बगैर पात्रों में सम्यक्दृष्टि व सचित्त-अचित्त आदि का भेद किये, बगैर उनसे किसी प्रकार का अहित हुए अथवा अहित की अपेक्षा किये दिया जाता है, वह भी इसी दातृत्वता का भेद है ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि बहुतों को जो प्रयोजनभूत/इष्ट/उत्तम है, उसे, बगैर पात्रों में सम्यग्दृष्टि आदि का भेद किये, अभिमुखता अथवा भक्ति की विवक्षा रहित तीर्थंकरों/जिनवरों द्वारा दिया जाता है, यह तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण का द्वितीय भेद है ॥

जो इसे स्वीकार नहीं करता, वह जिनेन्द्र भगवान के अनेकान्त मत को नहीं जानता है ॥

इस प्रकार यह द्वितीय विधि हुई ॥

अब तृतीय विधि को कहते हैं (श्री मूलाचारजी से):-

दान दो प्रकार के होते हैं, १. जिसे साक्षात् दिया जा सकता है और २. जिसे साक्षात् नहीं दिया जा सकता ॥

इन दोनों में से पहली विधि कही जा चूकी, यहाँ द्वितीय विधि को कहते हैं ॥

इस तृतीय विधि के भी दो भेद हैं :-

१) जिस द्रव्य अथवा भाव को दान में साक्षात् नहीं दिया जा सकता, अपितु स्व पुरुषार्थ से ही प्राप्त किया जाता है, यह प्रथम भेद हुआ ॥

२) अथवा जिन्हें दान में साक्षात् दिया भी जा सकता है व स्वयं के पुरुषार्थ से भी प्राप्त किया जा सकता है, यह द्वितीय भेद हुआ ॥

इस विधि में उन द्रव्यों अथवा भावों को पुरुषार्थ से प्राप्त करने या करवाने के लिये,

उन्हें प्राप्त करने की विधि बतलाई जाती है.........

जैसा कि श्री मूलाचारजी में कहा गया है :- (गाथा : ५७०)

इस गाथा का पूर्वार्द्ध हमने यह कहते हुए पूर्व में कहा भी था कि इस गाथा की स्वतंत्र मीमांसा आगे करेंगे, अतः उसे ही यहाँ कहने का प्रयास करते हैं ॥

जं तेहिं दु दादव्वं तं दिण्णं जिणवरेहिं सव्वेहिं ।
दंसणणाणचरित्तस्स एस तिविहस्स उवदेसो ॥

अर्थ : उनके द्वारा जो देने योग्य था, सभी जिनवरों ने वह दे दिया है, सो वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों का उपदेश है ॥

इस गाथा में आचार्य भगवंत ने स्वीकार किया है कि उनके द्वारा (मुनिराजों को) जो देने योग्य था, वह (एक अथवा दो जिनवरों ने नहीं, अपितु) सभी जिनवरों ने दे दिया है, सो वह (मुनिराजों के लिए प्रयोजनभूत) दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपदेश है ॥

यहाँ स्मरण रखने योग्य विषय यही है कि सुभिक्ष की तरह दर्शन, ज्ञान, चारित्र दिया नहीं जा सकता, उसे प्राप्त करने की सिर्फ विधि बतलाई जा सकती है ॥

यदि दर्शन, ज्ञान, चारित्र दिया जा सकता, तब तो विदेह क्षेत्र में जहाँ कि साक्षात् तीर्थंकर भगवान ही विद्यमान हैं, वहाँ, उनके समवशरण में मिथ्यादृष्टि व मिथ्याज्ञानी पाये ही नहीं जाने चाहिये थे , किन्तु नहीं, वे वहाँ पाये जाते हैं, इसी से सिद्ध होता है कि दर्शन व ज्ञान को सुभिक्ष की तरह दिया नहीं जा सकता, उसकी मात्र विधि ही बतलाई जा सकती है ॥

इसी प्रकार चारित्र भी दिया नहीं जा सकता ॥

अर्थात् चारित्र भी दिया नहीं जा सकता, उसकी भी मात्र विधि ही बतलाई जा सकती है, क्योंकि यदि सुभिक्ष की तरह चारित्र भी दिया जा सकता, तब तो, जिस प्रकार सौ-सौ योजन तक धन-धान्य से रहित जीव पाये नहीं जाते, उसी प्रकार द्वादस कोठों में असंयमी जीव पाये ही नहीं जाने चाहिये थे, किन्तु नहीं, वे पाये जाते हैं, इसी से ज्ञात किया जाता है कि सुभिक्ष की तरह चारित्र दिया नहीं जा सकता, उसे प्राप्त करने की विधि मात्र दी जा सकती है ॥

अर्थात् रत्नत्रय प्राप्ति के लिये उसे प्रेरित अवश्य किया जा सकता है ॥

प्रेरित होने पर संकल्प भी करवाया जा सकता है ॥

संकल्प करवा कर उसकी रक्षा व निभाने के उपाय व संसाधन भी दिये जा सकते हैं ॥

किन्तु सुभिक्ष की तरह उन्हें साक्षात् नहीं दिया जा सकता ॥

इसी प्रकार, यद्यपि यह सत्य है कि तीर्थंकर भगवान बोधि और समाधि को नहीं देते,

किन्तु बोधि और समाधि के लिये अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, आदि अवश्य देते हैं ।।

यदि न दें, तो कौन बुद्धिमान पुरुष बोधि व समाधि के लिये भगवान के अभिमुख होगा ? अर्थात् कोई नहीं ।।

जैसे माँ का अधिकार भोजन के परोसने तक ही है, भोजन परोसने के पश्चात् नहीं, भोजन परोसने के पश्चात् भूख के शमन हेतु परोसे गये भोजन का समीचीन उपयोग पुत्र को स्वयं ही करना होता है, वैसे ही तीर्थंकर भगवान से मोक्ष के योग्य अनुकुलतायें अवश्य मिलती हैं, नहीं मिलती ऐसा नहीं, किंतु उन प्राप्त हुई अनुकुलताओं का सम्यक् उपयोग कर बोधि, समाधि का उद्यम याचक को स्वयं ही करना होता है ।। ।।

अतः कार्य में कारण का उपचार करके आचार्य भगवंतों ने भगवान के अभिमुख हो बोधि और समाधि के नाम बोधि और समाधि के योग्य अनुकूलताओं की याचना की है ।।

कार्य में कारण का अथवा अन्य उपचार विधि अनुसार अपने मंतव्यों को कहना असत्यमृषा अर्थात् अनुभय वचनों का ही भेद है , क्योंकि इन्हें भी स्यात् पद सहित ही कहा अथवा सुना जाता है ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि तीर्थंकर भगवान जो साक्षात् दिया जा सकता है, उसे साक्षात् देते हैं व जिसे साक्षात् नहीं दिया जा सकता, किन्तु प्राप्त किया जा सकता है, उसे प्राप्त करने की विधि देते हैं ।।

यदि ऐसा नहीं मानोगे तो पुनः दूषण आयेगा ।।

वह क्या ?

वह यह कि यहाँ मूलाचारकारजी कह रहे हैं कि :-

जो देने योग्य था वह सब सभी जिनवरों ने दे दिया है, और वह दर्शन , ज्ञान, चारित्र का उपदेश है ।।

इस प्रकार तो तीर्थंकर भगवान १४ मार्गणाओं में से मात्र सम्यक्त्व, ज्ञान व संयम, इन ३ ही मार्गणाओं का उपदेश करने वाले सिद्ध हो जायेंगे, अवशेष ११ मार्गाणाओं के नहीं, क्योंकि गाथा उन्हें इन तीन मार्गणाओं की ही उपदेशक प्ररूपित कर रही है, अवशेष ११ मार्गणाओं की नहीं ।।

इस प्रकार तो अवशेष ११ मार्गणाओं के प्ररूपक किन्हीं अन्य को कहना होगा ।।

नहीं कहना होगा क्या ?

क्यों नहीं कहना होगा ? नियम से कहना होगा ।।

चूंकि यहाँ प्रकरण बोधि और समाधि का था, इस ही लिये यहाँ आचार्य भगवंत ने अन्य मार्गणाओं व देने की अन्य समस्त विधियों को गौण करके, तीन मार्गणाओं के उपदेश

को बुद्धि में रख समाधान दिया कि नहीं, बोधि और समाधि क्षीण-मोही-जिन नहीं देते, अपितु उसकी प्राप्ति का उपदेश मात्र देते हैं, क्योंकि सुभिक्ष की तरह उसे साक्षात् नहीं दिया जा सकता ॥

अतः इस उपदेश को कि जो देने योग्य था वह सब सभी जिनवरों ने दे दिया है, और वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपदेश है, को सर्वदेश ग्रहण कर व्याख्यान नहीं करना चाहिये, अन्यथा मूलाचारकारजी स्वयं ही स्व-वचन बाधित हो जायेंगे व उत्तर देना मुश्किल हो जायेगा कि फिर अवशेष ११ मार्गणाओं का उपदेशक कौन ?

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा, हो क्यों नहीं जायेगा ?

इतना ही नहीं, अपितु फिर अविपाक निर्जरा अर्थात् मुक्ति का मुख्य कारण जो तप है, उसके उपदेशक भी अन्य ही कोई हैं, तीर्थंकर भगवान नहीं, ऐसा भी कहना होगा ॥

क्यों ?

क्योंकि चारित्र के एकदेश व सकलदेश भेदों से तप पृथक् है ॥

श्री तत्त्वार्थसूत्रजी में भी चारित्र के पाँचों सामायिकादि भेदों को संवरक तो कहा है, किन्तु निर्जरक नहीं, संवरक व निर्जरक तो तप को कहा है, जिसके कि १२ भेद चारित्र के ५ भेदों से पृथक् कहे गये हैं ॥(श्री तत्त्वार्थ सूत्रजी, अध्याय ९, सूत्र २,३, १८, १९)

इस प्रकार अविपाक निर्जरा अर्थात् मुक्ति का मुख्य कारण जो तप है, उसके उपदेशक अन्य ही कोई हैं, तीर्थंकर भगवान नहीं, ऐसा कहना होगा ॥

नहीं कहना होगा क्या ?

कहना ही होगा ॥

यहाँ आप यह नहीं कह सकते कि तप को चारित्र से युक्त करके रत्नत्रय को साक्षात् मोक्ष का कारण कहा है ॥

क्यों, ऐसा क्यों नहीं कह सकते ?

वह इसलिये कि ऐसा कहते ही रत्नत्रय को साक्षात् मोक्ष का हेतु कहना असत्यमृषा अर्थात् विवक्षा विशेष से उच्चारित वचन सिद्ध हो जायेंगे, क्योंकि तप को विवक्षाधीन होकर चारित्र के साथ ग्रहण करना है ॥

अतः इस उपदेश को कि जो कुछ भी देने योग्य था वह सब सभी जिनवरों ने दे दिया है, और वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र का उपदेश है, को सर्वथा/सर्व देश ग्रहण कर व्याख्यान नहीं करना चाहिये, अपितु स्याद्वाद कुशलों की तरह विवक्षाधीन होकर व्याख्यान करना चाहिये ॥

विवक्षाधीन होकर अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि चूँकि यहाँ प्रकरण बोधि-समाधि का है, इसलिये यहाँ आचार्य भगवंत ने अन्य मार्गणाओं व देने की अन्य समस्त विधियों को गौण करके, तीन मार्गणाओं के उपदेश को बुद्धि में रख कर समाधान दिया कि नहीं, बोधि और समाधि को क्षीण मोही जिन नहीं देते, अपितु उसकी प्राप्ति का उपदेश मात्र देते हैं, क्यों कि सुभिक्ष की तरह उन्हें साक्षात् नहीं दिया जा सकता ।।

इस विषय में न्याय शास्त्रों से इस सूत्र को ग्रहण कर अपनी बुद्धि को भी इसी सूत्र के अनुसार बनाने का प्रयास/उद्यम करना चाहिये कि चूँकि दिये गये उपदेश में, समाधान हमेशा शंकाकार की शंका के निरसन के उद्देश्य से विवक्षानुसार दिया जाता है, अत: दिये गये उस उपदेश से सर्वदेश समाधान की अपेक्षा न करके, विवक्षानुसार ही दिये गये समाधान का अर्थ ग्रहण करना चाहिये, वर्ना बाधाओं का कोई अंत नहीं रहेगा ।।

जैसे कि यहाँ पूर्वाचार्यों के स्थान पर कोई श्रावक होता व जिनवरों से याचना करता कि भगवन् ! आप हमें अचिंत्य शक्ति वाली विद्याएँ दें ।।

तब आचार्य भगवंत उपर्युक्त उत्तर ही दोहराते हुए कहते हैं कि नहीं, इस प्रकरण में जो कुछ भी जिनवरों द्वारा दिया जा सकता था, वह सब उन्होंने विद्यानुवाद आदि पूर्व में कह दिया है ।।

किन्तु इस उपदेश को भी सर्वदेश ग्रहण न करके, सिर्फ उन्हीं विद्याओं के लिये ग्रहण करना चाहिये कि जिन विद्याओं की सिद्धि, उपासना व साधना द्वारा की जाती है, उनसे अन्य विद्याओं के लिये नहीं ।।

ऐसा क्यों ?

ऐसा इसलिये कि जिन विद्याओं की सिद्धि, उपासना व साधना द्वारा की जाती है, उन्हें, उनके लिये नियामक उपासना व साधना, द्वारा ही सिद्ध किया जा सकता है, उनका अभाव करके नहीं ।।

अतः उनकी सिर्फ विधि बतलाई जा सकती है, जो कि विद्यानुवाद आदि पूर्वों में बतलाई गई है, जैसे कि चक्रवर्ती दिग्विजय यात्रा के मध्य करता है ।।

यह अर्थ उपर्युक्त उत्तर से ग्रहण करना चाहिये ।।

किन्तु विद्याएँ प्राप्त करने का एक मात्र उपाय साधना व उपासना ही नहीं है, उन्हें अन्य प्रकार से भी प्राप्त किया जा सकता है, जिन्हें कि तीर्थंकर भगवान ने जिनागम में अनेकों स्थलों पर बतलाया है ।।

शंकाकार : जैसे ?

समाधान : सुनिये :-

१) उन अचिंत्य शक्तिवाली विद्याओं में से जो विद्याएँ कुल परंपरा से प्राप्त होती हैं, वे उस कुल में उत्पन्न होने पर ही प्राप्त होंगी, अन्य प्रकार से नहीं ।।

२) जो विद्याएँ जाति के आश्रय से सिद्ध होती हैं, वे विद्याएँ जिस माँ के गर्भ से जन्म हुआ है, उस माँ की कुल परंपरा के आश्रय से ही प्राप्त होंगी, अन्य प्रकार से नहीं ।।

३) विद्याओं की सिद्धि का एक उपाय ग्यारहवें अंग का शब्द व अर्थ दोनों से ही किया गया स्वाध्याय है ।। ग्यारहवें अंग को, शब्द व अर्थ दोनों से पढ़ चुकते ही इन विद्याओं की सिद्धि हो जाती है, जैसे कि पुण्य पुरुषों में गिनवाये गये ९ रुद्र ।।

४) मासोपवासादि घोर तपों को तपने से भी विद्याओं की सिद्धियाँ होती हैं ।। ये विद्याएँ भवान्तर में भी साथ जाती हैं ।। जैसे श्री हरिवंशपुराणजी का प्रसिद्ध पात्र कंस ।। कंस को कंस के भव में सिद्ध विद्याएँ, पूर्व भव में मासोपवास तप के आश्रय से वसिष्ठ नामक मुनि की पर्याय में सिद्ध हुई विद्याएँ थीं, जिन्होंने कि मासोपवास तप को विद्याओं की सिद्धि के लिये नहीं तपा था ।।

५) पाँचवी विधि विद्याधरों अथवा विद्याधारियों को प्रसन्न करके अथवा उनकी स्वयं की ही अनुकंपा, करुणा या वात्सल्य से प्राप्त करने की है, जैसे कि भगवान आदिनाथ के पुत्र नमि और विनमि को धरणेन्द्र देता है ।। इस विषय में प्रद्युम्न की कथा भी विचारणीय है ।।

६) छठ्ठी विधि क्रय करके प्राप्त करने की है, जैसा कि श्री मूलाचारजी में पिंडशुद्धि अधिकार के अंतर्गत विद्या और मंत्र का विक्रय कर निर्मित आहार को दूषण कहा है ।।

७) सातवीं विधि छल से अथवा बल से चुराकर अथवा छीनकर अथवा किसी की गिरी हुई या पड़ी हुई या विस्मृत विद्या को प्राप्त करने की कही गई है, जैसा कि श्री पद्मपुराणजी की सुप्रसिद्ध कथा में कहा गया है ।। लक्ष्मण को जम्बुकुमार द्वारा सिद्ध चंद्रहास खड्ग मार्ग से गुजरते हुए बाँस के ढेर पर पड़ा मिलता है, उसे दिव्य जान, उसे न सिर्फ वे उठा लेते हैं, अपितु प्रयोग की मंशा से उसी बाँस के ढेर पर वार भी करते हैं, जिससे उस ढेर के भीतर बैठे, उस खड्ग के मूल स्वामी जम्बुकुमार का घात हो जाता है ।।

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध हुआ कि जिन द्रव्यों अथवा भावों को साक्षात् नहीं दिया जा सकता, उनकी प्राप्ति के उपायों का उपदेश दिया जाता है, किन्तु जिन द्रव्यों अथवा भावों को साक्षात् दिया जा सकता है अथवा छीना जा सकता है या फिर चुराया जा सकता है या अन्य विधियों से प्राप्त किया जा सकता है, उनकी प्राप्ति के लिये उनकी प्राप्ति की विधि मात्र बतलाई जाती है, ऐसा एकांत जिनागम में नहीं है ।।

जो इसे स्वीकार नहीं करता, वह जिनेन्द्र भगवान के अनेकान्त मत को नहीं जानता है ।।

इस प्रकार यहाँ तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण को प्रगट करने वाली तृतीय विधि पूर्ण हुई ।।

इस तृतीय विधि में सोदाहरण सिद्ध किया गया कि :-

जिसे अर्थात् जिस द्रव्य अथवा भाव को साक्षात् नहीं दिया जा सकता अथवा साक्षात् भी दिया जा सकता है व स्व पुरुषार्थ से भी अर्जित किया जा सकता है, उसे स्व पुरुषार्थ से अर्जित करने के लिये, उसे प्राप्त करने की विधि दी जाती है अर्थात् बतलाई जाती है ।।

श्री मूलाचारजी में इसी तृतीय विधि के पूर्वार्द्ध के आश्रय से ही उत्तर दिया गया है कि

नहीं, क्षीण मोही जिनेन्द्र भगवान बोधि और समाधि को (साक्षात्) नहीं देते, (इस विषय में) जो कुछ भी दिया जा सकता था, वह सब, सभी जिनवरों ने दे दिया है और वह दर्शन, ज्ञान व चारित्र का उपदेश अर्थात् बोधि और समाधि की प्राप्ति के लिये उपादेय तत्त्व की प्ररूपणा सम्यक्त्व मार्गणा, ज्ञान मार्गणा व संयम मार्गणा में कर, उसे ही भव्यों को दे दिया है ।।

इस विषय में उपदेश ही क्यों दिया, साक्षात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही क्यों नहीं दे दिये, इस प्रश्न की मंदबुद्धियों में संभावना को देख एक बार पुनः उत्तर दिया जाता है कि सुभिक्ष की तरह दर्शन ज्ञान व चारित्र दिये नहीं जा सकते, उन्हें तो ज्ञान, श्रद्धान व तप से साधना होता है ।।

यदि सुभिक्ष की तरह दिया जा सकता, तो न ही समवशरण में मिथ्यादृष्टि/ मिथ्याज्ञानी उपलब्ध होते और न ही द्वादस कोठों में असंयमी ।।

यद्यपि यह सत्य है कि तीर्थंकर भगवान बोधि और समाधि को नहीं देते, किन्तु बोधि और समाधि के लिये अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, आदि अवश्य देते हैं ।।

यदि न दें, तो कौन बुद्धिमान पुरुष बोधि व समाधि के लिये भगवान के अभिमुख होगा ? अर्थात् कोई नहीं ।।

अतः कार्य में कारण का उपचार करके आचार्य भगवंतों ने भगवान के अभिमुख हो बोधि और समाधि के योग्य अनुकूलताओं की याचना की है ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जिस द्रव्य अथवा भाव को साक्षात् नहीं दिया जा सकता अथवा साक्षात् भी दिया जा सकता है व स्व पुरुषार्थ से भी अर्जित किया जा सकता है, उस द्रव्य अथवा भाव को स्व पुरुषार्थ से प्राप्त करने के लिये, उसे प्राप्त करने की विधि दी जाती है अर्थात् बतलाई जाती है ।।

इसीलिये संसार में लौकिक अथवा लोकोत्तर, दोनों ही प्रकार के विधिवेत्ताओं अर्थात् ज्ञानियों की महत्ता व बहुमान है ।।

इष्ट द्रव्यों की प्राप्ति के उपाय अर्थात् विधि के वे ज्ञाता हैं ।।

वे विधिवेत्ता हैं ।।

चूँकि वे इष्ट द्रव्य की प्राप्ति के उपाय के ज्ञाता हैं, इसीलिये न सिर्फ प्रत्येक कार्य में उन्हें आगे किया जाता है/अगुआ बनाया जाता है/उनका नेतृत्व ग्रहण किया जाता है, अपितु उनकी पूजा, उनकी अर्चना, उनका वंदन व उन्हें नमस्कार भी किया जाता है ॥

संक्षेप में कहें तो कार्य को सिद्ध करने की कुँजी उन्हीं के पास होती है ॥

चूँकि कार्य को सिद्ध करने की कुँजी उन्हीं के पास होती है, इसलिये सरलता से कहा जा सकता है कि सफलता के समस्त मार्ग उन्हीं के द्वार से होकर अपने गंतव्य की ओर जाते हैं ॥

निश्चित ही पाठकों को स्पष्ट हो ही गया होगा कि संसार में ज्ञानियों/विधिवेत्ताओं की महत्ता व बहुमान क्यों है !

चूँकि उपर्युक्त विधिवेत्ता गुण की निर्दोष प्राप्ति तीर्थंकर परमदेव में ही संभव है, इसीलिये वे संसार के समस्त उत्तमों में उत्तम अर्थात् सर्वोत्तम विधिवेत्ता हैं ॥

बोधि प्राप्त करने का मूल सूत्र :-

शंकाकार : ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करने की विधि क्या है ?

समाधान : इस प्रश्न का उत्तर श्री धवलाजी १२वीं पुस्तक से लेकर हम इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए उद्धृत कर रहे हैं, सुनिये :-

आचार्य पादमाचष्टे पादः शिष्य स्वमेधया ।
तद्विद्यसेवया पादः पादः कालेन पच्यते ॥ ४ ॥

आचार्य एक पाद को कहते हैं, एक पाद को शिष्य अपनी बुद्धि से ग्रहण करता है, एक पाद उसके जानकार पुरुषों की सेवा से प्राप्त होता है, तथा एक पाद समयानुसार परिपाक को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

यह बोधि प्राप्त करने का सूत्र है ॥

जहाँ-जहाँ भी आगम में बोधित किये जाने पर मार्ग का बोध प्राप्त करने का प्रसंग हो, वहाँ-वहाँ सर्वत्र इन चारों पादों को उस एक उपदेश में गर्भित कर लेना चाहिये ॥

जैसे कि देशना लब्धि ॥

देशना लब्धि इन चारों पादों की विवेचना पूर्वक व्याख्यायित की जानी चाहिये, इन चार पादों में से एक भी पाद का विस्मरण करके नहीं ॥

इस प्रकार यहाँ तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण को प्रगट करने वाली तीनों विधियों की प्ररूपणा पूर्ण हुई ॥

पाठक वर्ग से हमारा नम्र निवेदन है कि कृपया उपर्युक्त तीनों ही विधियों को देशामर्षक सूत्र समझें ॥ अर्थात् विधियाँ तीन ही हैं, ऐसा नहीं, अपितु विधियाँ और भी हैं, इसलिये उपर्युक्त तीनों ही विधियों से अन्य तीर्थंकर भगवान के दातृत्व गुण को प्रगट करने वाली,

जितनी भी विधियाँ जिनागम में दृष्टिगोचर हों, उन समस्त विधियों को, या तो उपर्युक्त तीनों ही विधियों में अंतर्भूत कर के पढें व गुणें अथवा इन तीनों को आदि ले, अवशेष समस्त विधियों/प्ररूपणाओं को क्रमशः ग्रहण करते चले जायें, अनेकान्तिक विवक्षा को रखते हुए ॥

॥ इत्यलम् ॥



ब्र. प्रदीपजी पीयूष शास्त्री एवं सम्यग्दर्शन के लक्षण

कृपया स्मरण रखें, उपर्युक्त (आगम विरोधी) प्रमाण पं. गुलाबचंदजी पुष्प, प. नाथुलालजी आदि की तरह जन्माभिषेक के विरोधी व प्रतिमाभिषेक का पक्ष रखने वाले आदरणीय ब्र. प्रदीप पीयूष शास्त्रीजी के सकलन से ही कहे जा रहे हैं, अन्यत्र से नहीं ॥

हमें तो लगता है कि ब्रह्मचारीजी सोचते अवश्य हैं, किन्तु पढ़ते नहीं है या पढे लिखे नहीं है, यदि पढते अथवा पढ़े-लिखे होते, तो निश्चित ही उनके चिंतन व आचार्य-कृत उपदेश के मध्य जो अन्तर अर्थात् फासला है, वह नहीं होता ॥

वह फासला है, यही इस सत्य की सिद्धि के लिये पर्याप्त है कि ब्रह्मचारीजी की धारणाएँ उनके अनुयायियों के लिये उपलनाववत् हैं, उपलनाव से अन्य कुछ नहीं ॥

किंतु नहीं, ब्रह्मचारीजी के विषय में ऐसा कहा ही नहीं जा सकता ॥

वे न सिर्फ पढ़े लिखे हैं, अपितु निरंतर स्वाध्यायशील रहते हुए पढ़ते-लिखते भी रहते हैं ॥ **इस विषय में प्रमाण उन्हींके संपादन दायित्व में प्रकाशित, जिसका कि यहाँ निरंतर संदर्भ है, जिनभारती संग्रह का ही है ॥**

२००१ तक के संस्करण जहाँ उपर्युक्त दूषण से दूषित थे, वहीं २००२ व उसके पश्चात् के संस्करण इन दूषणों से कथंचित् मुक्त ॥

ब्रह्मचारी जी के पक्ष में उत्तमोत्तम सत्य यह है कि वे आदरणीय डॉ. रतनचंद्रजी, बैनाड़ाजी, लुहाड़ियाजी आदि की तरह आगम प्रमाण मिलने पर भी अपने ही पक्ष को पुष्ट करने वाली बुद्धि के नहीं हैं, अपितु आगम प्रमाण मिलते ही अपनी बुद्धि को आगमानुसार करने में क्षण मात्र का भी विलंब नहीं करने वाली बुद्धि के हैं ॥

निश्चित ही सम्यग्दृष्टियों के आगम में कहे गये अनेकानेक लक्षणों में से एक लक्षण यह भी है ॥ **(पृष्ठ २३७ से)**

❑डॉ. साहब, श्रीद्रव्यसंग्रहजी की टीका व प्रकरणाभाष

शंकाकार : यह तो आपने सिद्ध कर दिया कि तीर्थंकर भगवान देते हैं, किन्तु चर्चा अभी भी निर्णायक स्थिति तक नहीं पहुँची है ॥ आपको यहाँ डॉ. साहब की प्ररूपणा पर भी विचार करना होगा ॥

समाधान : क्या अब भी इसकी आवश्यकता है ?

शंकाकार : जी हाँ, इस विषय में उनका पक्ष सबल है ॥ अबकी बार वे श्री द्रव्यसंग्रहजी से शब्दशः प्रकरण ले कर प्ररूपणा कर रहे हैं ॥

देखिये :- (जिनभाषित का शासन देवता वाला वही अंक व वही प्रकरण, जिसका कि यहाँ निरंतर संदर्भ है, पृष्ठ ११, कॉलम २)

"द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि ने साफ कहा है कि मंत्रसाधित देवता कुछ भी नहीं कर सकते, न विघ्न उत्पन्न कर सकते हैं, न विघ्नों का विनाश। जो कुछ भी भला बुरा होता है, स्वयं के साता-असाता कर्म के उदय से होता है। वे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित, अनन्तज्ञानादि गुणों से सहित जो वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, उनके स्वरूप को न जानने के कारण मनुष्य ख्याति, पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री और राज्यादि सम्पदा की प्राप्ति के लिए जो रागद्वेषयुक्त और आर्त्त-रौद्रपरिणाम के धारक क्षेत्रपाल, आदि मिथ्या देवी-देवताओं की आराधना करता है, उसे देवमूढ़ता कहते हैं। ये देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते। इसका प्रमाण यह है कि रावण ने रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को मारने के लिए बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की थी, कौरवों ने पाण्डवों के उन्मूलन के लिए कात्यायनी विद्या को साधा था और कंस ने श्रीकृष्ण के विनाश के लिए अनेक विद्याओं की आराधना की थी, किन्तु ये विद्याएँ उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकीं। इसके विपरीत राम, पाण्डव और कृष्ण ने किसी भी देवी-देवता की आराधना नहीं की थी, तथापि निर्मल सम्यग्दर्शन द्वारा उपार्जित पूर्वपुण्य से उनके सभी विघ्न दूर हो गये (द्रव्यसंग्रह - टीका गाथा ४१)।"

समाधान : आपने किंचित् शीघ्रता कर ली, अन्यथा इस प्रकरण को हम स्वयं ही विषय की पूर्णता के लिये कहने ही वाले थे ॥

शायद आपको अपने निर्बल सिद्ध हो रहे पक्ष की सबल सिद्धि में यह प्रमाण अनुल्लंघनीय प्रतीत हो रहा होगा ॥

किन्तु नहीं, यह प्ररूपणा भी आपके एकांत आग्रह के कारण पुनः सदोष ही सिद्ध हो रही है ॥

देखिये :-

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाव -१ :-

रावणादि की जो विद्याएँ प्रतिपक्ष की हानि न कर पाई, उन्हें तो डॉ. साहब ने टीका के आश्रय से कह दिया, किन्तु जिन विद्याओं के आश्रय से राम-लक्ष्मणादि ने प्रतिपक्ष की हानि की, उन्हें वे लुप्त अर्थात् गोल कर गये/उन्हें तो डॉ. साहब ने, जैसा कि पूर्व में भगवन् इंद्रनंद्याचार्य जी को मिथ्यादृष्टि सिद्ध करने में अन्य श्री हरिवंशपुराणादि ग्रंथों से प्रमाण लाकर कहा था, वैसे यहाँ कहा ही नहीं ॥

क्या मतलब ?

मतलब यह कि डॉ. साहब ने यहाँ रावण के द्वारा सिद्ध बहुरूपिणी विद्या को तो अकिंचित्कर सिद्ध कर दिया, किन्तु उसी रावण व उसके द्वारा प्रयुक्त विद्याओं का घात अथवा परास्त करने के लिए राम व लक्ष्मण ने किन-किन विद्याओं व अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया व उन्हीं-उन्हीं विद्याओं व अस्त्रों-शस्त्रों का प्रयोग क्यों किया, इसे कहा ही नहीं ?

क्या बगैर अस्त्र-शस्त्र व विद्याओं के प्रयोग के राम-लक्ष्मण द्वारा रावण को जीत लिया गया था ?

नहीं न ?

फिर ऐसा क्यों करते हैं डॉ. साहब ? उन्हें तो, जैसा कि उन्होंने इंद्रनंदि आचार्य भगवंत को हरिवंश पुराणादि के आश्रय से मिथ्यादृष्टि कहा था, वैसे ही श्री हरिवंशपुराणादि ग्रंथों के आश्रय से श्री द्रव्यसंग्रहजी के टीकाकारजी को मिथ्यादृष्टि कहने को उद्यत होना चाहिये था ॥

नहीं होना चाहिये था क्या ?

होना ही चाहिये था ॥

क्या डॉ. साहब को आगम वर्णित उन दिव्य अस्त्रों-शस्त्रों व विद्याओं का एवं उनकी दिव्य व महिमा मण्डित शक्तियों का ज्ञान नहीं था, जिनका कि प्रयोग युद्धभूमि में राम-लक्ष्मणादि ने किया था कि उनका ध्येय येन केन प्रकारेण (सदोष अथवा निर्दोष) स्वमत मण्डन व पर मत खण्डन मात्र था ?

इस विषय में तो जग हँसाई से बचने के लिये मुख्य विवेचन प्रथमानुयोग के जिन ग्रंथों में इन कथाओं का विस्तार है, वहाँ से किया जाना चाहिये था, न कि वहाँ से, जहाँ किसी विवक्षा विशेष से सारांश दिया गया है ॥

इस विषय में स्वयं टीकाकार महोदय का मंतव्य भी यही है ॥

वे स्वयं भी प्रकरणानुसार उदाहरण स्वरूप उद्धृत की गई कथा को कह कर, वह कथा कहाँ से ली गई है, इसकी सूचना देते हैं (श्री द्रव्यसंग्रहजी, गाथा ४१ की टीका में प्रभावना अंग, पृष्ठ १३९, १४०आदि):-

"इति रामायणमध्ये प्रसिद्धेयं वात्सल्यकथेति ॥(पृष्ठ १३९)

"इति रामायणे प्रसिद्धेयं कथा ॥"(पृष्ठ १४०)

अर्थात् डॉ. साहब को टीकाकार महोदय द्वारा सार रूप से उद्धृत उदाहरण पर अपने मंतव्यों पर होने वाली जग हंसाई से बचने के लिये, अपना मंतव्य प्रगट करने के पूर्व वह कथा प्रथमानुयोग के किस ग्रंथ के आश्रय से, किस प्रकरण में व किस आशय से कही गई है, इसे अन्वेषित अवश्य कर लेना चाहिये था ॥

जिसे कि उन्होने नहीं किया व न करने के कारण एक बार पुनः हास्यास्पद प्ररूपणा का कारण बन गये व अवर्णवाद किया श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका का ॥

देखिये श्री उत्तरपुराणजी, ६८ वाँ पर्व, श्लोक संख्या ६१८ (हिंदी अनुवाद : पं. (डॉ.) पन्नालालजी जैन साहित्याचार्य, सागर)

तं वीक्ष्य तद्रणे दक्षौ दुरीक्ष्यं रामलक्ष्मणौ ।
गजारिविनतासूनुवाहिनीभ्यां समुद्यतौ ॥

अर्थ : उस माया युद्ध में रावण को दुरीक्ष्य (जिसे देखा न जा सके) देख कर, अत्यंत चतुर राम और लक्ष्मण सिंहवाहिणी और गरुड़ वाहिणी विद्याओं के द्वारा युद्ध करने को उद्यत हुए ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि इन विद्याओं के ज्ञाता व उपयोग में निष्णात हुए बगैर, क्या सिर्फ पुण्य के आश्रय से यह युद्ध जीता जा सकता था ?

निश्चित ही नहीं ॥

उसकी तो कल्पना करना भी सिवाय मूर्खता के और कुछ भी नहीं होगा ॥

यदि जीता जा सकता, तब तो उन विद्याओं का ज्ञान, स्वामित्व व उपयोग तीनों की विफलता का प्रसंग आयेगा ॥

उपर्युक्त उपदेश कहता है कि रावण द्वारा प्रयुक्त उन विद्याओं को अकिंचित्कर अर्थात् व्यर्थ सम्यक्दर्शन से उपार्जित पुण्य द्वारा नहीं, अपितु राम ने युक्ति व उन विद्याओं से अधिक बलशाली विद्याओं का अत्यंत चतुराई से प्रयोग करके किया था ॥

इसी प्रकार कंस द्वारा भेजी गई विद्याओं के विषय में भी आगम से जान कर कहना चाहिए ॥

श्री उत्तरपुराणकारजी के अनुसार (पर्व : ७०, श्लोक संख्या : ४१६ से ४२५) :-

कंस द्वारा भेजी गई सात विद्याओं में से प्रथम पूतना को बालक कृष्ण की रक्षा

को नियुक्त अन्य देवता ने व शेष विद्याओं को बालक कृष्ण ने अपने स्वयं के बल द्वारा परास्त किया था, मात्र पुण्य के आश्रय से, हाथ पर हाथ धर कर बैठ कर नहीं ॥

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष - २ :-

यहाँ आप यह नहीं कह सकते हैं कि कृष्ण को प्राप्त बल व सहयोगी देवता, इसी प्रकार राम व लक्ष्मण को सिद्ध विद्याएँ अर्जित पुण्य का ही फल थीं, अतः पुण्य से ही कार्यों की सिद्धि सिद्ध होती है ॥

ऐसा क्यों नहीं कह सकते ?

क्योंकि ऐसा कहने पर कंस व रावण को सिद्ध विद्याएँ पुण्य के द्वारा नहीं, अपितु पाप के द्वारा अर्जित कहलायेंगी ॥

क्या ऐसा है ?

नहीं न ?

अतः दोनों में से एक, जिसकी हानि नहीं हुई, उसे पुण्य व जिसकी हानि हुई उसे पाप के उदय से विद्याओं की प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा ॥

क्या ऐसा विधान आप रच सकते हैं ?

नहीं न ?

इस विषय में कथा इस प्रकार है :-(श्री हरिवंशपुराणजी, पर्व ३५, श्लोक ३८-३९)

अर्थ मात्र : निमित्त ज्ञानी द्वारा कंस को उसके शत्रु के विषय में बतलाये जाने पर, कंस ने तीन दिन के उपवास शत्रु का नाश करने की भावना से किये, जिससे पूर्व भव में सिद्ध हुई विद्याएँ प्रगट हुईं और कहने लगी कि बतलाइये, बलभद्र और नारायण को छोड़ कर कंस का कौनसा शत्रु क्षण भर में नष्ट करने के योग्य है ॥

यह संवाद बतलाता है कि कंस भी पुण्यात्मा ही था, पापात्मा नहीं, किन्तु पुण्यार्जित विद्याओं की शक्ति जहाँ संसार के अवशेष जीवों व विद्याओं से कहीं अधिक बलशाली थी, वहीं नारायण-बलभद्र एवं उनकी विद्याओं के बल से हीन ॥ नारायण-बलभद्र व उनकी विद्याओं के बल से हीन बल व विद्याओं का स्वामित्व किसी भी विवक्षा से सिद्ध नहीं कर सकता कि उसके पाप का उदय था, क्योंकि पुण्य की तारतम्यता प्रत्यक्ष व आगम दोनों से ही सिद्ध है, असिद्ध नहीं ॥

देखिये (भट्टाकलंकदेव कृत श्री राजवार्तिकजी, अध्याय २, सूत्र ४९, वार्तिक ८ :) :-

औदारिक देह का सामर्थ्य बतलाते हुए आचार्य भगवंत कहते हैं कि :

तिर्यंचमनुष्याणांसिंहाष्टापदचक्रधरवासुदेवादिनांप्रकृष्टावकृष्टवीर्यदर्शनाद्भवप्रत्ययं..

भावार्थ : तिर्यंचों में शेर व केशरी और मनुष्यों में चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के

औदारिक शरीर में प्रकृष्ट व अप्रकृष्ट शक्ति का तारतम्य देखा जाता है, वह भव प्रत्यय है ।।

इस प्रकार यह पुण्य व पाप की तारतम्यताओं को दर्शानेवाला प्रमाण हुआ, किंतु इसी के साथ यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि पूर्व भव के चारित्रानुष्ठान के बल से प्राप्त विद्याएं इस भव में कंस को अनायास ही नहीं मिल गई, अपितु उसके लिये भी उसे तीन दिवसीय उपवास पूर्वक अनुष्ठान करना पड़ा ।।

इसीके साथ राम-रावण प्रकरण में भी स्मरण में रखना होगा कि रावण का पुण्य इतना भी हीन नहीं था कि नारायण लक्ष्मण व बलभद्र राम सिर्फ पुण्य के आश्रय से इस युद्ध में रावण को परास्त कर लेते, अपितु उसे परास्त करने के लिये उन्हें युद्ध की समस्त कलाओं में न सिर्फ निष्णात होना पड़ा, बल्कि युद्ध भूमि पर उनका अत्यंत चतुराई से प्रयोग भी करना पडा, जैसा कि ऊपर उदाहरण में हम कह आये हैं ।।

इस विवेचन को न सिर्फ रावण, अपितु इस विषय से संबंधित अन्य कथाओं को कहते समय सदैव स्मृति में रखना होगा ।।

यदि नही रखा, तो न सिर्फ बाधित होना पड़ेगा, अपितु ....खैर !!

इतना ही नहीं, अपितु स्मरण में इसे भी रखना होगा कि राम-लक्ष्मण अथवा कृष्ण-बलभद्रादि अस्त्र-शस्त्र व युद्ध कला के ज्ञान में तीर्थंकरों की तरह स्वयंबुद्ध नहीं थे, अपितु बोधितबुद्ध थे ।। इस विषय में उत्तम उदाहरण चक्रवर्ती भरत का है, जिसे कि समस्त लौकिक कलाओं में निष्णात् स्वयं स्वयंबुद्ध ऋषभदेव भगवान ने किया था ।।

अर्थात् पूर्व में दिये गये श्री राजवार्तिकजी के प्रमाण से सिद्ध बगैर वर्तमान पुरुषार्थ से प्राप्त प्रकृष्ट-अप्रकृष्ट शक्ति से युक्त औदारिक शरीर की प्राप्ति, जहाँ भवप्रत्यय अर्थात् पूर्व के पुण्य से प्राप्त शरीरादि का उदाहरण है, वहीं युद्धादि कलाओं में निष्णात् होना गुणप्रत्यय का उदाहरण है, न कि एकांत से पूर्व के पुण्य को कहने वाले भव प्रत्यय का, वर्ना वे बोधित बुद्ध कदापि नहीं होते, तीर्थंकर भगवान की तरह स्वयंबुद्ध ही होते ।।

इस विषय में औदारिक देह की भी भव व गुण प्रत्यय को विवेचित करती प्ररूपणा का भी आइये, निःशंक होने के लिये अवलोकन कर लें (**श्री राजवार्तिकजी, अध्याय २, सूत्र ४९ की भट्टाकलंकदेव कृत टीका, वार्तिक ८**)

औदारिक सामर्थ्यं द्वेधा भवगुणप्रत्ययत्वात् ।।

अर्थ : औदारिक देह की सामर्थ्य दो प्रकार की होती है, १) भव प्रत्यय (पूर्व पुण्य के उदय से प्राप्त सामर्थ्य),२) गुण प्रत्यय (पूर्व कृत हीन पुण्य अथवा पापोदय के कारण प्राप्त हीन सामर्थ्य में उपाय अथवा उद्यम विशेष से वृद्धि करना) ।।

लक्ष्मणादि के औदारिक देह संबंधी भव प्रत्यय(पूर्व कृत पुण्य के उदय से प्राप्त सामर्थ्य), किन्तु अन्य ऋद्धियों अथवा उपलब्धियों संबंधी गुण प्रत्यय (पूर्व कृत पुण्य के उदय से

नहीं, अपितु वर्तमान पुरुषार्थ से किये गये उपार्जन) के विषय में प्रमाण सहित निम्न विवेचना भी देखिये :- (श्री उत्तरपुराणजी, पर्व ६८, श्लोक सख्या ४६८,४६९)

लक्ष्मणश्च जगत्पादगिरौ निरशनस्तदा ।
सप्ताहं शिवघोषाख्यमोक्षस्थाने कृतार्चनः ॥
प्रज्ञप्तिं साधयामास भटाष्टशतरक्षितः ।

अर्थ : जहाँ से शिवघोष मुनि ने मोक्ष प्राप्त किया था ऐसे जगत्पाद नामक पर्वत पर जाकर लक्ष्मण ने सात दिन तक निराहार रहकर पूजा की और प्रज्ञप्ति नाम की विद्या सिद्ध की ॥ विद्या सिद्ध करते समय एक सौ आठ योद्धाओ ने उसकी रक्षा की थी ॥

पूण्य से कार्यों की सिद्धि का एकांत करने वालों के मत में क्या वर्तमान भव में विद्याओं की प्राप्ति के लिये लक्ष्मण द्वारा किया गया यह उद्यम मूढ़ता नहीं ठहरेगा ?

क्यों नहीं ठहरेगा ?

निश्चित ही ठहरेगा ॥

अथवा क्या यह उद्यम इस शंका की उत्पत्ति में कारण नहीं बनेगा कि लक्ष्मण, रावण का नाश करने के लिये आवश्यक पुण्य व पुण्य का फल विद्याएँ लेकर जन्मा ही नहीं, इसीलिये तो उसे कालांतर मे इन विद्याओं की सिद्धि का महान् उद्यम स्व-पुरुषार्थ से करना पड़ा ॥

न सिर्फ स्वयं करना पडा, अपितु कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये एक अथवा दो नहीं, अपितु १०८ योद्धाओं की नियुक्ति भी करनी पड़ी ॥

उपर्युक्त प्रकरण पुण्य मात्र से कार्य की सिद्धि का एकांत करने वालों की अपेक्षा हास्यास्पद नहीं लगता ?

लगता है न ?

अर्थात् यदि पूर्वकृत पुण्य से ही इन विद्याओं की उत्पत्ति मानोगे, जैसा कि टीका के आश्रय से प्रतिपक्ष का एकांत आग्रह हो गया है, तो वर्तमान भव में इन महापुरुषों द्वारा विद्याओं की प्राप्ति के लिये किया गया महान् उद्यम मूढ़ता ठहरता है ॥

अर्थात् कृष्ण द्वारा युद्ध में कंस को परास्त करना अथवा लक्ष्मणादि का युद्ध के लिये विद्या संपन्न होना, जिनेन्द्र भगवान के मत में कार्य की संपन्नता हेतु निर्देशित अनेकांत वाद को पुष्ट करता भवप्रत्यय व गुणप्रत्यय के सुंदर समीकरण का उदाहरण है, जिसमें युद्ध में विजय की प्राप्ति के लिये नियामक शक्ति संपन्न देह की प्राप्ति जहाँ भव प्रत्यय का उदाहरण है, तो विद्याओं की प्राप्ति के लिये किया गया उद्यम गुण प्रत्यय का ॥

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाव -३:-

यहाँ यह भी नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान में पाप के उदय के कारण कंस

व रावण, दोनों की विद्याएँ निष्फल हुई ॥

क्यों, क्यों नहीं कहा जा सकता ?

वह इसलिये कि ऐसा कहते ही पुनः प्रश्न को स्थान शेष रह जायेगा कि यदि पाप के उदय के कारण ही दोनों की विद्याएँ निष्फल हुई, तब तो कृष्ण व राम-लक्ष्मण द्वारा बल, देवता एव विद्याओं से उनका प्रतिकार करना व्यर्थ की क्रिया सिद्ध हुई, क्योंकि वे यदि कुछ भी नहीं करते, तब भी पाप के उदय से रावणादि का अनिष्ट होना ही होना था ॥

इतना ही नहीं, अपितु कृष्ण व राम लक्ष्मण तो इन व्यर्थ की क्रियाओ को करने वाले अज्ञानी ठहरेंगे ॥

नहीं ठहरेगे क्या ?

नही क्यों ठहरंगे ? नियम से ठहरेंगे ही ॥

क्योंकि टीकाकार महोदय सम्यक्त्व से उपार्जित पुण्य द्वारा ही कार्य की सिद्धि का विधान कर रहे है, जबकि उनके द्वारा उदाहरण रूप प्रस्तुत पात्रों द्वारा ही युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये न सिर्फ युद्ध कौशल्य की शिक्षा प्राप्त की गई, अपितु उसका निरंतर अभ्यास भी किया गया ॥

इतना ही नहीं अपितु विजय की कांक्षा सहित विद्यांओं की सिद्धि के उद्यम भी किये गये ॥

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष -४ :-

यहाँ आप यह भी नहीं कह सकते कि ऐसा ही उनका नियोग था ?

क्यो ?

वह इसलिये कि फिर कार्य का संपन्न होना नियोगानुसार कहलाया, न कि सम्यक्‌दर्शन से अर्जित पुण्य के कारण ॥

इतना ही नहीं, अपितु, चूँकि नियोगानुसार युद्धादि में विजयादि के कार्य मिथ्यादृष्टियों के भी संपन्न होते देखे जाते हैं, अतः इस विषय में सम्यक्‌दर्शन से अर्जित पुण्य का एकांत नहीं किया जा सकता ॥

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष -५ :-

और यदि सम्यक्‌दर्शन से अर्जित पुण्य को ही कार्य के निर्विघ्न संपादन का मूल कारण मानोगे, तो सम्यक्‌दृष्टियों के कार्यों में विघ्नों का सद्‌भाव पाया ही नहीं जाना चाहिये, क्योंकि वे तो सदैव सम्यक्‌दर्शन से अर्जित पूर्व पुण्य से युक्त ही पाये जाते हैं, रहित नहीं ॥

किन्तु ऐसा है नहीं, चूँकि रामलक्ष्मणादि सम्यक्‌दृष्टियों के कार्यों में विघ्नों का सद्‌भाव पाया जाता है, इसलिये इसीसे सिद्ध हो जाता है कि सम्यक्‌दर्शन से उपार्जित पूर्व पुण्य द्वारा

रामलक्ष्मणादि सम्यक्दृष्टियों के विघ्नों का निवारण व इष्ट का संपादन हुआ, ऐसा जिनागम के आश्रय से एकांतत: कहा ही नहीं जा सकता है ॥

जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित न्याय ग्रंथों का सूत्र कहता है कि :-

जिसके बिना जो कार्य नियम से नहीं पाया जाता है, वह उसका अर्थात् उस कारण का कार्य व दूसरा (संपन्न कार्य का) कारण होता है ऐसा समस्त नैयायिक जनों में प्रसिद्ध है। (श्री धवलाजी, पुस्तक १२, भाग ८, सूत्र १२ की टीका)

इस सूत्र के अनुसार यदि आप सम्यक्दर्शन से उपार्जित पुण्य को निर्विघ्न कार्य की समाप्ति का कारण एकांत से कहते हो, तब तो सम्यक्दृष्टियों के जीवन में विघ्नों का सद्भाव पाया ही नहीं जाना चाहिये, वह यदि है, तो सम्यक्दर्शन से उपार्जित पुण्य इस सम्यक्दृष्टि के पास है ही नही, इसकी सिद्धि हो जाती है ॥

नही हो जाती है क्या ?

हो क्यो नहीं जाती है, हो ही जाती है ॥

इस प्ररूपणा में बाधा एक और प्रकार से दी जा सकती है, सुनिये :-

चूँकि सम्यक्दर्शन से उपार्जित पुण्य सत्ता स्थित विघ्नकारक असाता व अन्य कर्मो का सातादि शुभ कर्मो में अपकर्षण-उत्कर्षणादि विधियों द्वारा संक्रमणादि कर देता है, ऐसी डॉ साहब व उनके सहयोगी सहपाठियों की ही एकांत प्ररूपणा है, जिस पर कि चर्चा पूर्व मे विस्तार से की जा चूकी है, अत सम्यक्दृष्टियों के कार्यों में विघ्नों का सद्भाव पाया जाना, यही दर्शाता है कि इस सम्यक्दृष्टि के पास सम्यक्दर्शन से उपार्जित पूर्व पुण्य है ही नही अथवा यदि है, तो वह निरतिशय सम्यक्दर्शन है, सातिशय नहीं ॥

क्या निरतिशय सम्यक्दर्शन की प्ररूपणा भी जिनागम में उपलब्ध है ?

नहीं न ?

कितु डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों की प्ररूपणानुसार सिद्ध तो यही हो रहा है ॥

अब तय पाठकों को करना है कि समीचीन प्ररूपक कौन, डॉ. साहब या जिनागम ?

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाव -६ :-

इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता है कि रामलक्ष्मणादि महापुरुषों के कार्य चूँकि इस विधि से निर्विघ्न संपन्न हुए, इसलिये सभी के हो जायेंगे ॥

क्यों, क्यों नही कहा जा सकता ?

क्योंकि बाधक युक्तियों व आगम का सद्भाव है ॥

अर्थात् जैसा कि अभी-अभी कहा गया कि यदि सत्य ऐसा ही है, फिर तो सम्यक्दृष्टियों

के जीवन में विघ्नों का सद्भाव व मिथ्यादृष्टियों के जीवन में इष्ट का संपादन पाया ही नहीं जाना चाहिए, किंतु ऐसा है नहीं ॥

चूँकि सम्यक्दृष्टियों के जीवन में विघ्नों का सद्भाव व मिथ्यादृष्टियों के जीवन में इष्ट का संपादन पाया जाता है, इसलिये यह कहा ही नहीं जा सकता कि रामलक्ष्मणादि महापुरुषों के कार्य इस विधि से निर्विघ्न संपन्न हुए, इसलिये सभी के हो जायेंगे ॥

दूसरे ऐसा आग्रह करने पर अनेकांत रहा ही नहीं, अपितु सम्यक्दर्शन से अर्जित पूर्व पुण्य का एकांत हो गया ॥

इसलिये सम्यक्दर्शन से उपार्जित पुण्य को निर्विघ्न कार्य की समाप्ति का कारण एकांत से नहीं कहा जा सकता ॥

व जो कहता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता, यही कहा जायेगा ॥

श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका व स्याद्वाद :-

इसलिये इस विषय में स्याद् पदांकित चिंतन परम आवश्यक है ॥

स्याद् पदांकित चिंतन कहता है कि वृहत् द्रव्य संग्रह जी की टीका करने वाले टीकाकार महोदय श्रीमद् ब्रह्मदेवसूरि के वचन असत्यमृषा हैं ॥

उनके वचनों को असत्यमृषा भाषा सिद्ध किये बगैर उन्हें समीचीन व निर्दोष सिद्ध किया ही नहीं जा सकता ॥

टीकाकार महोदय द्वारा प्रयुक्त उदाहरण में युद्ध पापोदयी रावण व पुण्योदयी रामलक्ष्मण के मध्य नहीं, अपितु पुण्योदयी रावण व पुण्योदयी रामलक्ष्मण के मध्य हुआ था ॥

उनमें से जिसके पास बल, विद्या व युक्ति का संचय व उन्हें उपयोग करने की बुद्धि विशेष/अधिक थी, विजय उसकी हुई ॥

यदि ऐसा स्वीकार नहीं करके पाप के उदय से ही पराजय की सिद्धि करोगे तो न सिर्फ युद्ध, अपितु उस युद्ध में सम्यक्दृष्टियों द्वारा प्रस्तुत किया गया युद्ध कौशल एवं विद्या, बल व बुद्धि का प्रयोग व्यर्थ की चेष्टाएँ ठहरेंगी ॥

इस प्रकार सम्यक्दृष्टि योद्धा व्यर्थ की चेष्टा करने वाले मूर्ख कहलायेंगे ॥

नहीं कहलायेंगे क्या ?

क्यों नहीं कहलायेंगे ? कहलायेंगे ही ॥

इसलिये सर्वत्र स्याद् पदांकित चिंतन परम आवश्यक है ॥

उसके अभाव में सिवाय संशय-अनध्यवसाय के अन्य किसी भी ज्ञान की उत्पत्ति की संभावना ही नहीं ॥

इस विषय में विषय के सरलीकरण के लिये प्रमाण स्वरूप देवागम स्तोत्र का

दैव-पुरुषार्थ का प्रकरण प्रस्तुत करना उपयुक्त रहेगा ।। (कारिका : ९१) :-

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टाऽनिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टाऽनिष्टं स्वपौरुषात् ।।

अर्थ : किसी को अबुद्धिपूर्वक इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, वह दैव अर्थात् पूर्वोपार्जित पुण्य-पाप कर्म के फल से होती है, किन्तु बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, वह अपने पौरुष से होती है ।।

यहाँ आचार्य भगवंत ने अबुद्धिपूर्वक जो इष्टानिष्ट की प्राप्ति को दैव शब्द से कहा हैं, उसे ही भव प्रत्यय कहते हैं, व बुद्धिपूर्वक इष्टानिष्ट की प्राप्ति को पौरुष शब्द से कहा है, उसे ही गुण प्रत्यय कहते हैं ।।

निश्चित ही श्रावकों को अत्यंत स्पष्ट हो गया होगा कि भव प्रत्यय व गुण प्रत्यय के आश्रय से हमारे द्वारा पूर्व में किया गया विवेचन भगवन् समंतभद्राचार्यजी द्वारा निर्देशित इसी कारिका का विस्तार है ।।

शंकाकार : किन्तु यह प्ररूपणा, जिसे कि आप बाधित कर रहे हैं, स्वयं श्रीमद् द्रव्यसंग्रह कारजी के टीकाकार महोदय की है ?

समाधान : निश्चित ही यह प्ररूपणा श्रीमद् द्रव्यसंग्रहकारजी के टीकाकार महोदय की ही है ।। इस विषय में कि वे निष्णात् मीमांसक/टीकाकार हैं, हमारा कोई विवाद नहीं है ।।

किन्तु इन टीका वचनों की टीका करने वाले आदरणीय डॉ. साहब की निष्णात् मीमांसकपने की सिद्धि अभी नही हुई है, वह अभी भी विचाराधीन ही है ।।

नहीं है क्या ?

नियम से है ।।

अथवा वे निष्णात् मीमांसक नहीं ही हैं, इसकी सिद्धि करीब-करीब हो चुकी है ।।

हम यहाँ उन्हीं के वचनों की मीमांसा के लिये उद्यत हैं, जिसके कि द्वारा वे जैनाभाषी मत की स्थापनार्थ उद्यमशील है, श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका की मीमांसा के लिये नहीं ।।

जैसे यहाँ प्रयुक्त श्रीमद् द्रव्यसंग्रहकारजी के वचन, श्री मूलाचारजी की ही तरह विवक्षाधीन कथन हैं, न कि स्याद् पद रहित एकांत आग्रह युक्त मिथ्या वचन ।।

कैसे ?

यहाँ प्रयुक्त वचन असत्यमृषा भाषा है ।।

कैसे ?

वह ऐसे कि यहाँ यह तो कहा गया है कि रावण, कंस व कौरवों द्वारा सिद्ध विद्याएँ राम, कृष्ण व पांडवों का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर पाईं, जो कि सत्य है, किन्तु क्यों बिगाड़

नहीं कर पाई, इस विषय में आचार्य भगवंत के वचन संशय-अनध्यवसाय की उत्पत्ति करने वाले हैं ॥

देव मूढ़ता प्रकरण के अंतर्गत अपनी मीमांसा में उन्होंने मुख्य कारण इस प्रकार कहा है (अर्थ मात्र) :- **देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते ॥ अपितु सम्यक्दर्शन द्वारा उपार्जित पूर्व पुण्य से उनके सभी विघ्न दूर हो गये।**

आचार्य भगवंत की यही मीमांसा संशय व अनध्यवसाय की उत्पत्ति करने वाली है ॥

क्योंकि यदि यह कहा जाए कि देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते, तब तो स्पष्ट रूप से आगम से विरोध आता है ॥

देखिये (श्री राजवार्तिक जी, अध्याय ४, सूत्र २०, वार्तिक २) :-

शापानुग्रहलक्षणः प्रभावः ॥ २ ॥ शापोऽनिष्टापादनम्, अनुग्रह इष्ट प्रतिपादनम्, तल्लक्षणः प्रवृद्धो भाव प्रभाव इत्याख्यायेत ॥

चूँकि आगम में सर्वत्र इन्हें श्राप व अनुग्रह की शक्ति से युक्त, महान ऋद्धियों के धारक कहा गया है, अत ये कुछ भी फल नहीं देते, ऐसा कहा ही नहीं जा सकता ॥

इतना ही नहीं अपितु ऋद्धिधारी मुनिराजों द्वारा विभूति संपन्न वैक्रियिक देहों को बाधित करने के उदाहरण भी परमागम में उपलब्ध हैं ॥

देखिये (श्री राजवार्तिक जी, अध्याय २, सूत्र ४९, वार्तिक ८ का ५ वाँ सामर्थ्य परिच्छेद):-

अनन्तवीर्य यतिना चेन्द्रवीर्यस्य प्रतिघात श्रुते ॥

इतना ही नहीं, अपितु इस प्रकार कथन करने पर तो जिनेन्द्र भगवान के पाँचों कल्याणकों का ही अभाव कहना होगा, क्योंकि तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतरण के ६ माह पूर्व की गई रत्न वृष्टि से लेकर अंतिम निर्वाण कल्याणक के समय दी गई दाहाग्नि तक संपन्न किये गये पाँचों ही कल्याणक महान् ऋद्धिधारी देवों द्वारा ही संभव है, देवों से अन्य और किसी के द्वारा नहीं ॥

वर्ना क्या मनुष्य इन कल्याणकों का अगुआ देवों को बनने देते ?

कदापि नहीं ॥

वे तो जैसे तप कल्याणक के काल में समान जाति का तर्क दे, पालकी उठाने को प्रथम उद्यत हुए, वैसे ही सर्वत्र होते ॥

नहीं होते क्या ?

होते ही ॥

किन्तु नहीं हुए ॥

इतना ही नहीं, अपितु तीर्थंकर भगवान के ३४ अतिशयों में से १४ अतिशय देवकृत कहे ही नहीं जा सकते थे ॥

किन्तु नहीं, वे तो अतिशय अर्थ की पुष्टि करने वाले अर्थ सहित परमागम में कहे गये हैं, यह बतलाता है कि जो कार्य ऋद्धियों के सद्भाव से देवी-देवताओं के वश का है, वह उन्हीं के वश का है, अन्य के वश का नहीं ।। अन्य सामान्य अथवा विद्याधर मनुष्य आदि में ऋद्धियों के अभाव अथवा सद्भाव में उनको करने की सामर्थ्य ही नहीं ।।

इसलिये ऋद्धि प्राप्त देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते, ऐसा कहा ही नहीं जा सकता ।। आराधना करने पर, पूर्वजन्म के संस्कारवश, नियोगानुसार अथवा प्रसन्न होने पर वे इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन रूप कार्य को संपन्न करने की सामर्थ्य से युक्त होते हैं ।। देवताओं द्वारा किये गये उपकार मुख्यता से इन्हीं चार भेदों में से किसी एक भेद के आश्रय से किये जाते हैं ।।

इसी प्रकार ये रुष्टादि होने पर विपरीत फल को करने वाले भी होते हैं ।।

अत श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका के वचन, श्री मूलाचारजी की ही तरह विवक्षाधीन असत्यमृषा भाषा के कथन हैं, न कि स्याद् पद रहित एकांत आग्रह युक्त मिथ्या वचन ।।

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष -७ :-

और यदि जैसा कि टीकाकार महोदय कह रहे हैं, वैसा ही स्वीकार कर लिया जाए कि "सम्यक् दर्शन द्वारा उपार्जित पूर्व पुण्य से विघ्न दूर हो गये", तब तो जिन बाधाओं से हम अभी-अभी डॉ. साहब को बाधित कर आये हैं, उन सभी बाधाओं से स्वयं टीकाकार महोदय भी बाधित हो जायेंगे, क्योंकि फिर महापुरुषों द्वारा की गई प्रतिकार की सभी चेष्टाएँ मूढ़ताएँ ही सिद्ध होंगी ।।

आप यहाँ यह भी नहीं कह सकते कि उपार्जित पुण्य बाह्य पुरुषार्थ व अन्य निमित्तों की अपेक्षा करता है ।।

क्यों, क्यों नही कह सकते ?

क्योंकि फिर पुण्य अकेला ही कार्य को सम्पादित करने वाला सिद्ध नहीं होगा ।।

पुरुषार्थ व बाह्य निमित्तों के आधीन उसकी क्रिया व उस क्रिया का फल रहेगा कि पुरुषार्थ व बाह्य निमित्त मिलेंगे तभी कार्य संपादित होगा, अन्यथा नहीं ।।

दूसरी बाधा यह आयेगी कि उस पुरुषार्थ व अन्य निमित्तों का संपादक कौन ?

आप यहाँ यह भी नहीं कह सकते कि पूर्व पुण्य स्वयं ही उन निमित्तों को संपादित कर लेगा ।।

क्यों, क्यों नही कह सकते ?

क्योंकि ऐसा कहते ही पुनः बाधा आयेगी ।।

कौनसी ?

इस विषय में प्रथमानुयोग के उदाहरण मंद बुद्धियों के लिये अश्रद्धा का कारण बन सकते हैं, अतः सिद्धान्त ग्रंथों (श्री तत्त्वार्थसूत्रजी आदि ग्रंथों) से प्ररूपणा करते हैं :-

यदि सत्य ऐसा ही है, तब तो मुनिराजों को प्राप्त होने वाला आहार, उन्हें उनके अपने पुण्य से प्राप्त हुआ है, ऐसा ही कहना होगा, दाता के दातृत्व गुण के कारण नहीं ।।

क्यो ?

क्योंकि आहार के लिये दाता आदि का सपादन आपके मतानुसार स्वयं मुनिराज का पुण्य ही करने वाला है, अन्य कोई नहीं ।।

इस प्रकार तो संसार के समस्त भिक्षु, अपने-अपने पुण्य का ही भक्षण करने वाले ठहरेंगे, क्योंकि फिर आजीविका का उद्यम भी उन दाताओं से, उन्हीं भिक्षुकों का पुण्य करवाने वाला ठहरेगा, क्योंकि उसी आजीविका के उद्यम द्वारा उपार्जित द्रव्य से ही दाता दान दे पायेंगे, अन्यथा नहीं व इस प्रकार संसार में सभी दान देने वाले दाता भिक्षुकों के लिये बेगार करने वाले पापी ठहरेंगे ।।

नहीं ठहरेंगे क्या ?

क्यों नहीं ठहरेंगे ? नियमत. ठहरेंगे ।।

इस प्रकार संसार के वे सभी मत जो कि दान दाताओं के यश/कीर्ति आदि का बखान करने वाले हैं, दाता के पाप को न जानने वाले सिद्ध होते हुए, अज्ञानी/मूढ़ सिद्ध हो जायेंगे ।।

स्वयं साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी ।।

क्योंकि इस सूत्रानुसार तो दाता, भिक्षुकों के पुण्योदय से, सेवक की तरह उनके इष्ट की पूर्ति करने वाला/उन्हे संतुष्ट व तृप्त करने वाला/उनके लिये बेगार करने वाला पापी सिद्ध हो रहा है ।।

अतः आप कह ही नहीं सकते कि पूर्व पुण्य स्वयं ही उन निमित्तों को संपादित कर लेगा ।।

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष -८ :-

मात्र इतना ही नहीं, अपितु आपकी इस प्ररूपणानुसार तो भिक्षुक का पुण्य दाता में दान देने योग्य परिणामों की उत्पत्ति करने वाला ठहरेगा ।।

इस प्रकार कर्मसिद्धांत का एकांत करने वाले डॉ. साहब के मत में अन्य का कर्म अन्य में परिणाम की उत्पत्ति करने वाला ठहरेगा ।।

नहीं ठहरेगा क्या ?

नहीं क्यों ठहरेगा ? नियम से ठहरेगा ।।

इस तरह तो कर्म ही ईश्वर सिद्ध हो जायगा ।।

नही हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा ।। हो क्यों नहीं जायेगा ?

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष -९ :-

इसी प्रकार आप यह भी नहीं कह सकते कि राम लक्ष्मण आदि पुण्यवानों का सम्यक्दर्शन से उपार्जित पुण्य, रावणादि पापियों के नाश के लिये नियामक निमित्तों का स्वयं ही संपादन कर लेगा ।।

वैसे ये बचन स्वयं ही संशय उत्पन्न करने वाले हैं, क्योंकि फिर उन रावणादि पापियों का पाप ही, उनका स्वयं का नाश करने के लिये, राम लक्ष्मणादि पुण्यात्माओं सहित, उन पुण्यात्माओं के लिये विद्या, मंत्र आदि निमित्तों का सपादक क्यों नहीं कहलायेगा ?

अर्थात् कहलायेगा ही ।।

अर्थात् स्वयं रावणादि के पाप ने ही रावणादि के स्वय के नाश के लिये लक्ष्मणादि निमित्तों का संपादन कर लिया, ऐसा कहना होगा ।।

नहीं कहना होगा क्या ?

कहना ही होगा ।।

इस प्रकार लक्ष्मणादिकों के पुण्य को ही विघ्नों को दूर करने वाला अर्थात् रावणादि का नाश करने वाला निरूपित करना एकांतवाद को पुष्ट करने वाला कहलायेगा ।।

नहीं कहलायेगा क्या ?

नही क्यों कहलायेगा, कहलायेगा ही ।।

अतः बाधित कारण का सद्भाव होने से आप एकांतत यह कह ही नहीं सकते कि रामलक्ष्मणादि पुण्य पुरुषों का सम्यक्दर्शन से उपार्जित पूर्व पुण्य ही रावणादि पापियों के नाश को नियामक निमित्तों का स्वयं ही संपादन कर लेगा ।।

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष -१० :-

इसी प्रकार आप यहाँ यह भी नहीं कह सकते कि इस काल में ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक संबंध था, अर्थात् इस काल में ऐसा ही होना था ।।

क्यों, क्यों नहीं कह सकते ?

चूँकि यह प्रकरण स्वतंत्र अध्याय की अपेक्षा रखता है, इसलिये इसे अगले शीर्षक के अंतर्गत पृथक शीर्षक से कहने का उद्यम करते हैं ।।

।। इत्यलम् ।।



□ केवलज्ञान, उसकी प्रचलित परिभाषा व नियतिवाद

डॉ. साहब व उनका प्रकरणाभाष -१० :-

पूर्व प्रकरण में शंकाकार ने "कार्य संपन्न कैसे हुआ ?" इस शंका के समाधानार्थ मुख्य कारण काल को बतलाते हुए कहा था कि इस काल में इस कार्य के संपादित होने के लिये ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक संबंध था अथवा इस काल में इस कार्य को ऐसे ही संपादित होना था, क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता ?

इस पर हमने कहा था कि नहीं, नहीं कहा जा सकता ।।

शंकाकार : क्यों नहीं कहा जा सकता ?

समाधान : इस विषय में वैसे सामान्य रूप से चर्चा पूर्व में की जा चुकी है, किंतु, चूँकि वह चर्चा पर्याप्त नहीं थी, इसलिये उसी विषय को विस्तार से कहने का उद्यम करते हैं ।।

श्री द्रव्य संग्रहजी के टीकाकार महोदय ने रामलक्ष्मणादि सम्यक्दृष्टियों के विघ्नों के निवारण का मुख्य कारण सम्यक्दर्शन से उपार्जित पूर्व पुण्य को कहा है, जिसकी कि अनुमोदना स्वयं डॉ. साहब कर रहे थे, बाधित होने पर अब वे कह रहे है कि इस काल में रामलक्ष्मणादि सम्यक्दृष्टियों के इस कार्य का संपादन ऐसे ही होना था, अन्य प्रकार से नहीं, सो, यदि इस काल में इस कार्य को ऐसे ही होना था, तो फिर पुण्य के उदय से कार्य के संपादित होने का नियम ही कहाँ रहा ?

वह तो रहा ही नहीं ।।

इस प्रकार प्ररूपणा करने पर तो कार्य के संपादन का आरोप काल पर आ गया ।।

नहीं आ गया क्या ?

आ ही गया न ?

कैसे ?

वह ऐसे कि प्रतिपक्ष द्वारा अभी-अभी प्ररूपणा की गई है कि इस कार्य को इस काल में, इसी प्रमाण में और इसी विधि से होना था ।।

यदि इस काल में ऐसा ही होना था, फिर तो नियतिवाद, जिसे कि आचार्य भगवंतो ने मिथ्यावाद कहा है, की सिद्धि हो जायेगी ।।

नहीं हो जायेगी क्या ?

हो ही जायेगी, हो कैसे नहीं जायेगी ?

○ काललब्धि की वर्तमान परिभाषा व आगम

शंकाकार : तो क्या नियतिवाद सर्वथा मिथ्या है ?

समाधान : जी नहीं, जैसा कि हमने श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी की कारिका निर्देशित करते हुए कहा था, उसी को यहाँ पुनः दोहराते हैं कि जिस स्थान पर कार्य के संपादित होने के अन्य समस्त हेतु गौण प्ररूपित कर दिये जाते हैं, व मुख्यता काल की होती है, उसी स्थान पर कार्य के संपादित होने का आरोप काललब्धि पर दिया जाता है, सर्वत्र नहीं ।।

जिस स्थान पर अन्य हेतु प्रबल होकर, काल का उल्लंघन कर, नियत काल के पूर्व अथवा पश्चात् कार्य के संपादन का उपक्रम करते हैं, उस स्थान पर कार्य के संपादन का आरोप उसी प्रबल हेतु पर आता है, काललब्धि पर नहीं ।।

इसी प्रकार यदि कार्य का संपादन पूर्वकृत् कर्मो के उदयानुसार हुआ, तब कार्य के नियत समय पर संपन्न होने पर भी, कार्य को संपादित करने का मुख्य आरोप कार्य को संपन्न कराने वाले उदयागत कर्मों पर ही आयेगा, न की काललब्धि पर, ग्रंथांतरो में कहीं-कहीं इसे काललब्धि इसके नियत काल पर संपन्न होने की अपेक्षा से कह दिया है, काललब्धि की परिभाषानुसार नहीं ।।

इस प्रकार काललब्धि की दो परिभाषायें ग्रंथों में उपलब्ध है :-

१. दैव अर्थों में : इसमें सत्ता स्थित जिन कर्मो के साथ जीव उपशमादि का पुरुषार्थ नहीं कर सकता है, वे जैसे बंधे हैं, वैसे ही, व उसी काल में भोगने को जीव बाध्य होता है, दैव कहलाता है ।। इसे उपचार से अर्थात् विवक्षा विशेष से काललब्धि कहते हैं ।।

२.निसर्गज अर्थों में : इसमें कार्य को सपादित करने का आरोप किसी भी अपेक्षा से, किन्हीं भी अन्य कारणों/निमित्तों पर नहीं दिया जा सकता है ।। मुख्यता से काललब्धि इसे ही कहते हैं ।।

इन दो के अलावा अन्य किसी भी कारण से कार्य के संपादित होने में काललब्धि पद का प्रयोग जिनागम में उपलब्ध नहीं है ।।

यदि समस्त कार्यों को संपादित करने में मुख्य हेतु काललब्धि ही होवे, तब तो न सिर्फ :-

१. कर्मों को संक्रमणादि पुरुषार्थों द्वारा शुभ अथवा अशुभ कर्मों में संक्रमित आदि करने की जिनमें सामर्थ्य है, ऐसे शुभोपयोगी व अशुभोपयोगी पुरुषार्थ,

२. व मोक्ष का साक्षात् हेतु जो कि अविपाक निर्जरा है, उन्हें करने की सामर्थ्य जिनमें है, ऐसे दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि के उपदेश ही निरर्थक हो जाएं,

३. अपितु संपादित-कार्य के विधान को कहने वाले काल नय व अकाल नय की

प्ररूपणायें भी जिनागम में न की जा सके ॥

किंतु नहीं, वे तो की गई हैं,

देखिये (श्री प्रवचनसारजी, ४७ नयों की प्ररूपणा में नय क्रमांक ३०-३१) :-

कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ॥३०॥

अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ॥३१॥

अर्थ :-

(१) आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति ॥ ३० ॥

(२) आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति ॥ ३१॥

उपर्युक्त प्ररूपणा द्वारा अत्यंत सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि जिनेन्द्र भगवान के मत में काल वाद, जिसे कि नियतवाद भी कहा जाता है, का एकांत नहीं है, इसी प्रकार अकालवाद का भी नहीं ॥

अतः काललब्धि भी, जिन पर कार्य को संपादित करने का आरोप आता है, ऐसे अनेकानेक निमित्तों में से एक निमित्त है, किन्तु सर्वथा इस एक को ही निमित्त अथवा कारण मानना या निरूपित करना, जिनागम में मिथ्यात्व रूप से निरूपित नियतिवाद को ही पुष्ट करना कहलायेगा ॥

काललब्धि, दिव्यध्वनि और भगवान महावीर :-

जैसे भगवान महावीर स्वामी की ६६ दिनों तक दिव्यध्वनि न खिरने के प्रसंग के अंतर्गत प्रश्नोत्तरी शैली में श्रीमद् धवलाकारजी, पुस्तक ९, पृष्ठ १२०-१२१ पर काललब्धि की प्ररूपणा करते हुए कहते हैं कि :-

सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो ?

काल लद्धीए विणा असहायस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो ॥

अर्थ :-

शंका : सौधर्म इन्द्र ने उसी क्षण में गणधर को उपस्थित क्यों नहीं किया ?

समाधान : नहीं किया, क्योंकि काललब्धि के बिना असहाय सौधर्म इन्द्र में उनको उपस्थित करने की शक्ति का अभाव था ॥

यहाँ काललब्धि पर आरोप इसलिये आया, क्योंकि अन्य प्रबल हेतुओं का अभाव था ॥

यदि काललब्धि को यहाँ स्वीकार नहीं करोगे, तो तीर्थंकर भगवान के अंतराय कर्म के सद्भाव का प्रसंग आ जायेगा, जिसे कि वे क्षय कर चुके हैं ॥

१. यहाँ औसत बुद्धि विद्वान् की तरह उत्तर देने को उद्यत नहीं होना चाहिये कि श्रोताओं के तो अंतराय कर्म का सद्भाव पाया जाता है ॥

क्यों ?

क्योंकि तीर्थंकर भगवान के वर्तने वाली क्षायिकदान नाम की लब्धि श्रोताओं के क्षयोपशम की अपेक्षा नहीं करती ॥

तब किसकी अपेक्षा करती है ?

देखिये (श्री धवलाजी, पुस्तक ९, पृष्ठ १२१) :-

सग पादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे ?

साहावियादो ॥ ण च सहावो परपज्जणियोगारुहो, अव्ववत्थादो ॥

अर्थ :

शंका : अपने पादमूल में महाव्रत को स्वीकार करने वाले को छोड़कर, अन्य को उद्देश्य कर दिव्यध्वनि क्यों नहीं प्रवृत्त होती ?

समाधान : नहीं होती, क्योंकि ऐसा स्वभाव है ॥ और स्वभाव दूसरों के प्रश्नों के योग्य नहीं होता ॥

२. यहाँ मंदबुद्धि विद्वान् पुनः बाधा देने को तत्पर होता है कि फिर गणधर के ही अंतराय कर्म का उदय स्वीकार करो ॥

किंतु नहीं कर सकते ॥

क्यों ?

क्योंकि फिर पूर्व कथित बाधा यहाँ पुनः दोहराई जायेगी कि अंतराय कर्म तो गणधर के उदय में आया है, उससे तीर्थंकर भगवान की ध्वनि कैसे कुंठित हो सकती है ? अर्थात् कदापि नही हो सकती ॥

३. इतना ही नहीं, अपितु इस मूर्ख को यह भी पता नहीं कि अंतराय कर्म का उदय कभी नहीं होता, जब भी होता है, क्षयोपशम ही होता है, क्योंकि जीव के कहे गये पाँच भावों में अंतराय कर्म के क्षयोपशम व क्षय से होने वाले दो ही भाव परमागम में कहे गये हैं, किन्तु उपशम, औदयिक व पारिणामिक नहीं ॥

शंकाकार : अंतराय कर्म के औदयिक भाव न होने में और क्षायोपशमिक भाव होने में मुख्य प्रमाण क्या है ?

ऐसे तो पाँच भावों का वर्णन करने वाले श्री तत्त्वार्थ सूत्रजी आदि कई ग्रंथ इस विषय में प्रमाण हैं, किंतु मुख्य प्रमाण देशघाति व सर्वघाति निषेकों/स्पर्धकों की प्ररूपणा है ॥

औदयिक भावों के लिये जहाँ सर्वघाति निषेक/स्पर्धक आवश्यक हैं, वहीं क्षायोपशमिक भावों के लिये देशघाति ॥

चूँकि अंतराय कर्मों के निषेक देशघाति ही होते हैं, सर्वघाति नहीं (श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड गाथा ४० एव श्री कर्णाटकवृत्तिजीवतत्त्वप्रदीपिकाजी, गाथा २०१ की टीका, प्रकरण देशघाति प्रकृतियो मे देशघाति व सर्वघाति स्पर्धको का बँटवारा), इसलिये अंतराय कर्मो के क्षायोपशमिक भाव ही होतें हैं, औदयिक नहीं ॥

अत अंतराय कर्म के, सर्वधाति स्पर्धकों के उदय की अपेक्षा रखने वाले औदयिक परिणाम स्याद्वादी किसी भी अपेक्षा से स्वीकार नहीं कर सकते ॥

शंकाकार : किंतु कहीं-कहीं अंतराय कर्म के उदय से ऐसा पद मिलता है ?

समाधान : ऐसे वचनो को असत्यमृषा भाषा समझना चाहिये व अर्थ विवक्षानुसार वेदनीय, नाम व गोत्र प्रकृति के आश्रय से ग्रहण करना चाहिये, सर्वथा एकांत आग्रही होकर नहीं ॥

इसे १० करणों में से उदय करण से भी समझा जा सकता है ॥ इस उदय करण में दो प्रकार के कर्मो के उदय की अपेक्षा रहती है, १. देशघाति व २. सर्वघाति ॥

देशघाति प्रकृति के उदय से क्षायोपशमिक भाव व सर्वघाति प्रकृति के उदय से औदयिक भाव होते हैं ॥

क्षायोपयमिक नाम का करण पृथक कहा ही नहीं गया है, उसका समावेश उदय करण में ही कर दिया गया है ॥

जैसे कि प्रमत्त संयत् गुणस्थान संज्वलन के उदय से कहा गया है ॥ यहाँ संज्वलन के देशघाति स्पर्धकों के उदय की विवक्षा व भाव क्षायोपशमिक है ॥[1]

ठीक ऐसे ही, जहाँ-जहाँ परमागम में अंतराय कर्म के उदय को कहा जाये, वहाँ-वहाँ देशघाति प्रकृति का उदय यह अर्थ ग्रहण कर तत् सबंधि क्षायोपशमिक भाव ग्रहण किये जाये ॥

अंतराय कर्म का क्षयोपशम ही होता है, उदय नहीं, इसे ऐसे भी समझा जा सकता है :-

---

१. संजलणणोकषायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥

अर्थ : सज्वलन और नोकषाय के उदय से सयम होता है, इस सयम के साथ मल का उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी है, अत प्रमत्तविरत है ॥

-श्री गोम्मट्टसार जीवकाण्ड जी, गाथा ३२

अंतराय कर्म अपने करने योग्य कार्य को वेदनीय, नाम व गोत्र कर्म के.आश्रय से करता है ॥

इनमें से जिसका उदय होगा, उसी के अनुसार विघ्न करण अथवा हरण रूप कार्य संपादित होगा ॥

जैसे साता का उदय होगा, तो विघ्न हरण रूप इष्ट का लाभ व असाता के उदय में विघ्नाकरण रूप अनिष्ट का लाभ ॥

लाभ दोनों ही स्थितियों में होगा ॥

दोनों में से लाभ साता के सद्भाव में होगा, असाता के सद्भाव में नहीं, ऐसा नहीं ॥

वर्ना लाभान्तराय कर्म इष्ट वस्तुओं का ही लाभ कराने वाला सिद्ध हो जायेगा, अनिष्ट वस्तुओं का नहीं ॥

'ऐसा सिद्ध होते ही अनिष्ट वस्तुओं का लाभ कैसे हुआ?' प्रश्न के उत्तर में बाधित हो जाओगे ॥

अत: जिनेन्द्र भगवान के मत को अबाधित/अनुलंघनीय बनाये रखने के लिये, अंतराय कर्म का सदैव लाभादि का अर्जन करवाने वाला क्षायोपशमिक भाव ही स्वीकार हो, औदयिक नहीं ॥

शंकाकार : किंतु सम्यक्मिथ्यात्व व प्रत्याख्यान प्रकृतियाँ भी तो सर्वघाति हैं, फिर उनके उदय में क्षायोपशमिक भाव कैसे स्वीकार किये गये हैं ?

समाधान : सर्वघाति होने पर भी उन्हें जात्यांतर प्रकृतियाँ कहा गया है, इसलिये (श्री धवलाजी, पुस्तक ५, पृष्ठ १९९ व २०२) ॥ अर्थात् उन्हें सर्वघाति कहा अवश्य गया है, किंतु विक्षाधीन होकर, सर्वथा अन्य सर्वघाति प्रकृतियों की विवक्षानुसार नहीं, अपितु उनसे कथंचित् पृथक होकर, अत: उनके उदय में क्षायोपशमिक भाव स्वीकार करने मे कोई बाधा नहीं आती ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अंतराय कर्म का उदय कभी नहीं होता, जब भी होता है, क्षयोपशम ही होता है ॥

निष्कर्ष :-

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि दिव्यध्वनि श्रोताओं के क्षयोपशम की नहीं, अपितु स्वभाव से ही, अपने पादमूल में महाव्रतों को ग्रहण करने वाले गणधर भगवान की अपेक्षा करती है, अन्य किसी की नहीं ॥

यहाँ कार्य के संपादन में उपदिष्ट अनेकानेक कारणों/निमित्तों में से एक कारण/निमित्त काललब्धि भी है, ऐसा कहा गया व काललब्धि को ही तर्क के अगोचर स्वभाव भी

कहा गया ॥

अर्थात् जहाँ कार्य को संपादित करने वाले अन्य प्रबल कारणों/निमित्तों का अभाव हो, वहीं काललब्धि को न सिर्फ काललब्धि कह कर, अपितु यह कह कर भी स्वीकार किया जाता है कि ऐसा ही स्वभाव है, किन्तु जहाँ कार्य को संपादित करने वाले अन्य कारण/निमित्त उपलब्ध हों, वहाँ काललब्धि अथवा ऐसा ही स्वभाव है, ऐसा न कह कर, अन्य कारणों/निमित्तों पर ही कार्य को संपादित करने का आरोप मुख्यता से दिया जाता है ॥

○ कर्ता आदि कारकों के व्याख्यान में नय विभाग

शंकाकार : तो क्या निमित्त भी कार्यों का संपादक/उत्पादक/कर्ता होता है ?

समाधान : जिनेन्द्र भगवान कथित व्याकरण शास्त्रों में कर्ता कारक विभक्ति से युक्त कारणों/निमित्तों का प्रयोग नैगमादि चार नयों की अपेक्षा इसी प्रकार होता है, अन्य प्रकार से नहीं, अन्य प्रकार से अर्थात् शब्दादि तीन नयो की अपेक्षा विवक्षानुसार होता है ॥

जैसे ?

जैसा कि कहा गया है (श्री जयधवलाजी पुस्तक १, भाग १, सूत्र१३-१४, पृष्ठ ३१९) :-

"ओदइएण भावेण कषाओ ॥ एदं णेगमादिचउण्हं णयाणं ॥ तिण्हं सद्दणयाणं पारिणामिएण भावेण कषाओ, कारणेण विणाकज्जुप्पत्तीदो ॥"

अर्थ : कषाय औदयिक भाव से होती है, ऐसा चार नयों की अपेक्षा से समझना चाहिये ॥ शब्दादि तीन नयों की अपेक्षा तो कषाय पारिणामिक भाव से होती है, क्योंकि इन नयों की दृष्टि में कारण के बिना कार्यो की उत्पत्ति होती है ॥

अर्थात्, चूँकि शब्दादि तीन नय कारणों को स्वीकार ही नहीं करते, इसलिये इन नयों की अपेक्षा कर्ता, कर्म, करणादि का आरोप उसी द्रव्य पर आता है, जिस द्रव्य में क्रिया का फल पड़ता है अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के कारण चाहे जो हो, किंतु इन नयों की अपेक्षा उन कारणों को कारण रूप से स्वीकार ही नहीं किया जाता, अपितु कार्य का फल जिस द्रव्य में पड़ता है, ऐसे कर्म कारक को ही कर्ता, करणादि स्वीकार किया जाता है ॥

निमित्त, शब्दादि तीन नय व दृष्टांत :-

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि यद्यपि कर्म के उदय से ही आत्मा कषाय रूप परिणमता है, किंतु शब्दादि तीनों नय इसे स्वीकार नहीं करते ॥

यहाँ प्रश्न पूछा जाता है कि यदि वे नय कर्म के उदय को स्वीकार नहीं करते हैं, तो कषाय की उत्पत्ति की विवेचना कैसे करते हैं ?

इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि ये तीनों ही नय आत्मा में पडने वाले कषाय रूप

फल को तो स्वीकार करते हैं, जिसे कि कर्म कारक कहते हैं, किंतु कषायोत्पादक कर्मों को, जिन्हें कि कर्ता कारक कहते हैं, स्वीकार नहीं करते हैं ॥

उन्हें स्वीकार नहीं करते हुए, कर्म कारक में कषायोत्पादक कर्मों का, जो कि कर्ता कारक हैं, उपचार करके इन नयों द्वारा कषायों की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है ॥

इसी न्यायानुसार इन नयों की अपेक्षा कषायें पारिणामिक भाव से होती हैं ॥

अत निमित्तों/कारणों को स्वीकार न करते हुए, ये तीनों नय कषायादि अर्थात् औदयिकादि परिणामो के कारण/निमित्त, जो कि कर्म है, उनके उदय, उपशम, क्षय व क्षयोपशम को स्वीकार नहीं करते ॥

इस प्रकार कर्मो के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम को स्वीकार नही करते हुए, करणानुयोग को ही स्वीकार नहीं करते ॥

यहाँ करणानुयोग उपलक्षण है, अत. इसे आदि लेकर कहना होगा कि इन तीनों ही नयों में प्रथमानुयोग, करणानुयोग व चरणानुयोग का व्याख्यान सभव ही नही ॥

द्रव्यानुयोग में भी सात तत्त्वों में से जीव और अजीव दो ही द्रव्यों का व्याख्यान सभव हो पायेगा, अवशेष आस्रव, बंधादि पॉच तत्त्वों का नहीं, क्यो कि वे भी दो द्रव्यों के मध्य पाये जाने वाले कार्य-कारण, कर्ता-कर्मादि सबंधो के सद्भाव से ही विवेचित किये जाते हैं, अन्य प्रकार से नही ॥

अर्थात् षट् कारकों में से तीनो शब्द नय निमित्त की कतृत्व शक्ति को गौण करके, कर्म कारक में ही कर्ता, करणादि कारकों का उपचार करके उसे ही कर्ता निरूपित करते हुए व्याख्यान करते हैं ॥

व्याख्यान करते हुए कहते है कि निमित्त कुछ नहीं करता, क्यों कि वह होता ही नहीं है ॥

इसका अर्थ यह नहीं होता, जैसा कि कानजी पंथी शब्दादि तीनों नयो के एकांत आग्रही होकर किया करते हैं कि निमित्त होते ही नहीं हैं या निमित्त कुछ करते ही नहीं है ॥

नहीं, इसका यह अर्थ है ही नहीं ॥

निमित्त होवे और कुछ न करे, ऐसा कभी हो नहीं सकता, क्यों कि जो होवे और कुछ न करे, उसकी निमित्त संज्ञा हो ही नहीं सकती ॥ नियमत यदि निमित्त है, तो उसका कोई न कोई कार्य अवश्य होना चाहिये, जो कि उसीसे संभव हो, अन्य से नहीं ॥

(अ) जैसे धर्म द्रव्य ॥

पुद्गल व जीव में पाई जाने वाली एक क्रिया गमन भी है ॥

देखने वाले को प्रतीत होता है कि गमन करने वाला स्वयं अपनी ही शक्ति से गमन रहा है, किंतु स्याद्वादवादियों को नहीं ॥

क्यों स्याद्वादवादियों को क्यों नहीं ?

क्यों कि स्याद्वादवादी जानता है कि गमन करने वाला स्वयं अपनी ही शक्ति से गमन नहीं कर रहा है, यदि करे, तो धर्म द्रव्य की प्ररूपणा मिथ्या हो जाये ॥

धर्म द्रव्य की प्ररूपणा बतलाती है कि छहों द्रव्यों में गमन करवाने की सामर्थ्य से युक्त धर्म द्रव्य ही है, धर्मद्रव्य से अन्य कोई नहीं ॥

अकेले एकांत से स्वयं से स्वयं को गमन करवाने वाली शक्ति जीव व पुद्गल द्रव्य में पाई ही नहीं जाती, यदि पाई जाये तो अनंत शक्ति के धारक सिद्ध भगवान लोक के अग्र भाग में न ठहर कर आगे बढ़ जायें, किंतु वे बढ़ते तो हैं नहीं, यह उदाहरण इस सत्य की स्थापनार्थ पर्याप्त है कि जीव व पुद्गल द्रव्यों में अकेले, एकांत से, स्वयं से स्वयं को गमन करवाने वाली शक्ति पाई ही नहीं जाती, उसका उनमें अत्यंताभाव है ॥

अर्थात् निमित्तों का कार्य निमित्त ही करते हैं, नैमित्तिक नहीं ॥

जहाँ निमित्त व नैमित्तिक एक ही द्रव्य होते हैं, वहाँ निमित्तों का कार्य भी वही द्रव्य करता है और नैमित्तिक रूप से क्रिया का फल भी वही द्रव्य प्राप्त करता है ॥

जैसे आकाश द्रव्य ॥

अवगाहन के लिये वह स्वय ही स्वय के लिये निमित्त है और स्वयं ही नैमित्तिक ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि निमित्त सदैव कार्य वाले ही पाये जाते हैं, कार्य रहित नहीं ॥

(आ) किंतु किन्हीं-किन्हीं निमित्तों को कार्य को संपन्न करने के लिये अन्य निमित्तों के सहयोग/सहकार की भी आवश्यकता रहती है ॥

सहयोगी/सहकारी निमित्तों के अभाव में वे कार्य को संपन्न करने में असामर्थ्यवान होते हैं ॥

जैसे कुम्हार ॥

कुम्हार अन्य सहयोगी/सहकारी निमित्तों के अभाव में घट रूप कार्य को संपन्न नहीं कर सकता ॥

अतः मुख्य निमित्तों के सद्भाव में यदि कार्य संपन्न नहीं होते हैं, तो उसके कारण अन्य अथवा अन्यत्र खोजने चाहिये, कार्यों के संपन्न नहीं होने से मुख्य निमित्त की क्रियावतिशक्ति का अभाव नहीं समझना चाहिये ॥

इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिक संबंधों की विवेचना में एक तथ्य सदैव स्मरण में रखने योग्य है कि निमित्त भी दो प्रकार के होते हैं, १. जिनके सद्भाव में कार्य संपन्न होता ही होता है, व २. जिनके सद्भाव में कार्य भजनीय होता है, हो भी अथवा न भी हो ॥

किंतु कार्य यदि संपन्न हुआ है अथवा हो रहा है, तो निमित्त की क्रियावती शक्ति के कारण ही, अन्य किसी कारण से नहीं ॥

इसी प्रकार निमित्तों के दो भेद और हैं :-

१.जिसमें निमित्त सदैव उपलब्ध रहता है, उसे कार्य को संपन्न करने के लिये उपलब्ध करने/करवाने की आवश्यकता नहीं रहती है ।। जैसे जीव को गमन करने के लिये निमित्त धर्म द्रव्य अथवा अवगाहन को आकाश द्रव्य ।।

२. इसमें निमित्त का जुगाड करना होता है, वो स्वतः उपलब्ध नहीं होता ।। जैसे कुम्हार को घट की निर्मिति के लिये अन्य निमित्तों का जुगाड़ करना पड़ता है, वैसे ही ।।

मोक्षमार्ग व मोक्ष, दोनों ही, मुख्यतया इसी द्वितीय विधि के आश्रय से सिद्ध होते हैं, प्रथम विधि के आश्रय से नहीं ।।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जिनकी अपनी निश्चित कार्य अथवा कार्यों को करने की स्वतंत्र शक्ति नहीं होती, उनकी निमित्त रूप से प्ररूपणायें नहीं की जा सकती, यदि निमित्त रूप से प्ररूपणा की गई है, तो नियमतः उन निमित्तों में अपनी स्वयं की निश्चित कार्य अथवा कार्यों को करने की स्वतंत्र शक्ति होनी ही होनी चाहिये, व जिस द्रव्य को क्रिया का फल मिला है, उसमें उस कार्य को स्वयं, स्वयं से ही संपन्न करने की शक्ति का अभाव होना चाहिये ।। वह शक्ति यदि उसीमें हो तो फिर अन्य निमितों की आवश्यकता ही क्यों ? उनकी आवश्यकता किसी भी अपेक्षा से सिद्ध ही नहीं हो सकती ।।

सरलता के लिये उपर्युक्त धर्म द्रव्य के व्याख्यान को एक बार पुन समझ लें कि शेष जीवादि पाँचों द्रव्यों को, जो कि गमन क्रिया के संपन्न होने वाले काल में वहाँ उपस्थित थे, उनके उस काल में वहाँ उपस्थित होने पर भी, उन्हे गमन क्रिया में निमित्त परमागम में नहीं कहा गया है ।।

क्यों ?

क्यों कि गमन क्रिया को करवाने की शक्ति, जिसे कि गमन क्रिया में निमित्त होना कहते हैं, शेष पाँचों द्रव्यों में पाई ही नहीं जाती, सिर्फ धर्म द्रव्य में पाई जाती है ।।

चूँकि शब्दादि तीनों नय निमित्तों को स्वीकार ही नहीं करते, इसलिये वे इस प्ररूपणा को स्वीकार नहीं करेंगे व नैमित्तिक जीव व पुद्गल में निमित्त धर्म द्रव्य का उपचार करके कहेंगे कि जीव व पुद्गल अपनी शक्ति से गमन करते हैं, उन्हें गमन करवाने वाला अन्य कोई द्रव्य नहीं है ।।

अतः शब्दादि तीन नयों का व्याख्यान करते समय '**निमित्त होते ही नहीं**", इस पद का अर्थ इस प्रकार समझना व समझाना चाहिये कि :-

इस पद का अर्थ यह नहीं है कि निमित्त के अभाव में कार्य हुआ, अपितु यह है कि यहाँ निमित्तों को व्याख्यान में गौण रख कर, कर्म कारक, जो कि नैमित्तिक

है, में कर्ता कारक, जो कि निमित्त है, का उपचार करके नैमित्तिक को ही निमित्त निरूपित कर व्याख्यान किया गया है, निमित्त का सर्वथा अभाव नहीं कहा है ॥

अतः जिनागमानुसार दो ही मार्ग हैं :-

१. या तो आप स्याद् पद सहित कह सकते हैं कि नैगमादि चार नयों की अपेक्षा कर्ता कारक विभक्ति से युक्त निमित्त होते हैं ॥

२. अथवा स्याद् पद सहित कह सकते हैं कि शब्दादि तीन नयों की अपेक्षा नहीं होते ॥

३. किंतु कानजी स्वामी की तरह किसी भी अपेक्षा से कह ही नहीं सकते कि निमित्त होते भी हैं, और कुछ नहीं करते ॥

(इ) इसे ही जीवद्रव्य के व्याख्यान में इस प्रकार समझना चाहिये :-

जहाँ शब्दादि तीन नय विभाव रूप से परिणमन करने वाली आत्मा की वैभाविक शक्ति की अपेक्षा से कथन करते हैं, वहीं नैगमादि चार नय उन वैभाविक शक्तियों की उस शक्ति के संबंध में सूचना देते हुए कहते हैं कि आत्मा का वैभाविक गुण एकांत से, अकेले, स्वयं से स्वयं ही विभाव रूप परिणमन नहीं कर सकता ॥

एकांत से, अकेले, स्वयं से स्वयं ही विभाव रूप परिणमन करने की शक्ति का उसमें अत्यंताभाव है ॥

यदि कर सके, तब तो सिद्धों को भी विभाव रूप परिणमन करना चाहिये, किंतु वे तो नहीं करते, इसीसे जाना जाता है कि आत्मा एकांत से अकेले स्वयं ही स्वयं से विभाव रूप परिणमण नहीं कर सकता ॥ उसे परिणमाने वाला कोई सशक्त निमित्त नियमतः चाहिये, जिसके सद्भाव में विभाव परिणमने को वह बाध्य हो जाये ॥

उन्हीं सशक्त निमित्तों की प्ररूपणा करणानुयोग करता है ॥

यहाँ इस सत्य को सदैव स्मृति में रखना चाहिये कि विभाव परिणमित आत्मा निमित्ति अर्थ में नैमित्तिक तो हो सकता है, किंतु निमित्त नहीं ॥

निमित्त कोई पर ही होना चाहिये ॥

क्यों कि स्वयं ही निमित्त व स्वयं ही नैमित्तिक हो जाये, तो विभाव परिणमन को अन्य निमित्त की आवश्यकता ही न रहे, इस प्रकार सिद्ध होने पर विभाव परिणमन को निमित्त का नित्य सद्भाव सिद्ध होते हुए वैभाविक परिणामों के नित्य कतृत्व का दूषण आ जाये अर्थात् जीव सदैव राग आदि विभाव परिणामों को करते हुए पाया जाये ॥

इस प्रकार, सिद्धों में भी नित्य विभाव परिणमन की स्वीकारोक्ति करनी पडे ॥

नित्य कतृत्व के दूषण से बचने के लिये निमित्त कोई पर ही होना चाहिये ॥

इतना ही नहीं अपितु स्वभाव की प्राप्ति के लिये, पुनः इस आत्मा में इन निमित्तों का

परिहार करने वाली शक्ति जिसके कि कार्य संवर व अविपाक निर्जरा है, भी पाई जानी चाहिये ॥

यह शक्ति भी विभाव शक्ति द्वारा कुंठित, किंतु स्वाभाविक होनी चाहिए, वैभाविक नहीं ॥

वह स्वाभाविक शक्ति होगी, तभी निमित्तों का परिहार करके स्वभाव को उपलब्ध हुआ जा सकेगा, अन्यथा नहीं ॥

शंकाकार : यदि कर्मों का क्षय करने वाली स्वाभाविक शक्ति कर्मों द्वारा कुंठित होगी, तो कर्म क्षय रूपी कार्य को संपन्न कैसे करेगी ॥

समाधान : परमागम में निर्देशित सूत्र है कि तीर्यंच, देव व नारकी कर्मों का क्षय कर सिद्ध नहीं बन सकते, इसी प्रकार भोग-भूमि के मनुष्य, कर्म-भूमि के वज्रनाराच संहननादि पाँच संहनन वाले मनुष्य कर्मों का क्षय कर सिद्ध नहीं बन सकते ॥

उपर्युक्त उदाहरण इस सत्य के ज्ञापणार्थ पर्याप्त है कि कर्मों को क्षय करने की स्वाभाविक शक्ति कर्मों द्वारा कुंठित है ॥

वह सामर्थ्य एक मात्र प्रथम संहननधारी कर्मभूमिज मनुष्य के ही कर्मों का क्षय करने के संकल्प के आश्रय से प्रगट होती है ॥

अनेक परिषहादि के आने पर भी जो अपने संकल्प से च्युत नहीं होता हुआ, आगम निर्देशित कर्म क्षय के अंतरंग व बहिरंग कारणों महाव्रतादिक का अवलंबन ले ध्यानारूढ़ होता है, तब यह शक्ति विवक्षाणुसार अपने करने योग्य कर्म क्षय के कार्य को संपन्न करती है, इससे अन्य प्रकार से नहीं ॥

यह शक्ति भी विक्षाणुसार तीन प्रकार की कही गई है:-

१. सम्यकदर्शन को उत्पन्न करने की शक्ति ॥

यह शक्ति चारों गति के संज्ञी पंचेंद्रिय मिथ्यादृष्टि प्राणियों के पाई जाती है ॥

२. चारित्रमोहनीय का क्षयोपशम कर एक देश अथवा सर्व देश संयम प्राप्त करने की शक्ति ॥

इनमें से एकदेश चारित्र को उत्पन्न करने की शक्ति कर्म-भूमिज समस्त संज्ञी पंचेंद्रिय सम्यक् व मिथ्यादृष्टि तीर्यंचों व मनुष्यों में पाई जाती है ॥ विशेषता इतनी है कि सम्यक्दर्शन के सद्भाव की इसे सदैव अपेक्षा रहती है ॥

सर्वदेश चारित्र को उत्पन्न करने की शक्ति उच्चगोत्री, संज्ञी पंचेंद्रिय, कर्मभूमिज, सम्यक् व मिथ्यादृष्टि मनुष्य व मात्र मनुष्यों में पाई जाती है ॥ स्त्रियों में उपचार से इसका सद्भाव परमागम में कहा है ॥ एक देश चारित्र की तरह यह शक्ति भी सम्यक्दर्शन के

सद्भाव की सदैव अपेक्षा करती है ॥

३. कर्मों का समूल क्षय करने की शक्ति ॥

इसे कहा जा चुका ॥

इस संदर्भ में मुख्य चिंतनीय विषय यह है कि कर्म-भूमिज संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, ८ वर्ष का सम्यक्दृष्टि मनुष्य, फिर वह चाहे जिस संहनन वाला हो, देश- सकल संयम को उत्पन्न करने की सामर्थ्य से युक्त होता है ॥

उसके चारित्रमोह का ऐसा तीव्रोदय कभी नहीं रहता कि वह देश अथवा सकल संयम प्राप्त न कर सके, यदि वो बद्धायुष्क नहीं है तो ॥

बद्धायुष्क देश या सकल संयम प्राप्त नहीं कर सकते ॥

अतः यदि कोई कर्म-भूमिज संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, ८ वर्ष का सम्यक्दृष्टि मनुष्य संयमग्रहण के भाव तो दर्शावे, किंतु उसी समय उसे न ग्रहण करने के कारण भी गिनवावे, तो समझना चाहिये कि या तो उसने नरकायु का बंध कर लिया है या फिर उसका आत्मबल कमजोर है, इन दो के अतिरिक्त तृतीय कोई कारण संयम ग्रहण करने में बाधक नहीं हो सकते ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आत्मा की वैभाविक शक्ति द्वारा कुंठित दो प्रकार की स्वाभाविक शक्तियों का वर्णन परमागम में किया गया है, १. कर्मों का परिहार करने की शक्ति, क्यों कि यह किसी कर्म का कार्य नहीं है, व २. कर्मों का परिहार करने के पश्चात् उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक गुणों की व्यक्ति शक्ति ॥

आत्मा की ये दोनों ही शक्तियाँ व्यक्ति की अपेक्षा जहाँ पराधीन हैं अर्थात् कर्मों के क्षय, उपशम, क्षयोपशम की अपेक्षा रखती है, वहीं व्यक्त हो जाने के पश्चात् स्वाधीन अर्थात् स्वयं अपने सिवाय किसी की अपेक्षा नहीं रखती ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि आत्मा का वैभाविक परिणमन निमित्ताधिन है ॥

किन्तु शब्दादि तीन नय इसे स्वीकार नहीं करते व कहते हैं कि वैभाविक परिणमन भी आत्मा का स्वभाव होने से पारिणामिक है, निमित्ताधिन नहीं ॥ आत्मा को विभावरूप परिणमाने वाले कर्म अथवा नोकर्म रूपी निमित्त नहीं होते, आत्मा स्वयं अपनी ही शक्ति से विभाव रूप परिणमित होती है ॥

अतः धर्म द्रव्य के व्याख्यान की तरह यहाँ भी शब्दादि तीनों नयों का व्याख्यान करते समय समझना व समझाना यह चाहिये कि कर्मादि निमित्त होते ही नहीं, इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि कर्मादि निमित्त के अभाव में कार्य हुआ, अपितु यह है कि यहाँ कर्मादि निमित्तों को व्याख्यान में गौण रख कर, कर्म कारक आत्मा में कर्ता कारक कर्मों का उपचार करके कर्म कारक आत्मा को ही रागादि भावों का कर्ता निरूपित कर व्याख्यान किया गया है ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि जिनागमानुसार दो ही मार्ग हैं, या तो नैगमादि चार नयों की अपेक्षा कर्ता कारक विभक्ति से युक्त कर्मादि निमित्त होते हैं, इसे स्याद् पद सहित स्वीकार करो अथवा शब्दादि तीन नयों की अपेक्षा निमित्त होते ही नहीं, इसे स्याद् पद सहित स्वीकार करो ॥

कानजी स्वामी की तरह कर्मादि निमित्त होते भी हैं, और कुछ नहीं करते, ऐसा सूत्र जिनागम के नाम पर किसी भी नय की अपेक्षा स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥

जिनेन्द्र भगवान कथित व्याकरण शास्त्रों में कर्ता कारक विभक्ति का प्रयोग कर्म कारक विभक्ति के आश्रय से अंत के तीन नयों की अपेक्षा इसी प्रकार होता है, अन्य प्रकार से नहीं, अन्य प्रकार से अर्थात् शेष चार नैगमादि नयों की अपेक्षा व्याकरण शास्त्र के मुख्य मार्ग अर्थात् कर्ता में कर्ता कारक, करण में करण करक विभक्ति आदि अनुसार होता है ॥

उपर्युक्त सातों ही नयों के कथनों को उपचार अर्थात् असत्यमृषा कथन कहते हैं, जिसे कि स्याद् पद सहित स्वीकार करना चाहिये, जो स्वीकार नहीं करता वह निरपेक्ष नयों का एकांत आग्रही हो मिथ्यामति हो जाता है ॥

जैसा कि पूर्व में कहा गया, उसे सर्वत्र स्मरण में रखना चाहिये कि यदि शब्दादि तीन नयों का एकांत कर निमित्त होते ही नहीं, ऐसा आपके द्वारा स्वीकार कर लिया गया, तो प्रथमानुयोग, करणानुयोग व चरणानुयोग का व्याख्यान आपके मत में संभव ही नहीं हो पायेगा ॥

द्रव्यानुयोग में भी सात तत्त्वों में से जीव और अजीव दो ही द्रव्यों का व्याख्यान संभव हो पायेगा, अवशेष आस्रव, बंधादि पाँच तत्त्वों का नहीं, क्यों कि वे भी दो द्रव्यों के मध्य पाये जाने वाले घट-कुम्हार न्याय की तरह कार्य-कारणादि संबंधों के सद्भाव से ही विवेचित किये जाते हैं, अन्य प्रकार से नहीं ॥

और यदि नैगमादि चार नयों का एकांत करते हो, तो आत्मा की विभावरूप परिनमने वाली वैभाविक शक्ति किस कर्म का कार्य है, इसे बतलाना असंभव हो जायेगा ॥

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा ॥ हो क्यों नहीं जायेगा ?

अतः दोनों में से किसी एक का एकांत नहीं किया जा सकता व जो करता है, वो जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता ॥

निष्कर्ष :-

हमारा प्रकृत विषय था कि रामलक्ष्मणादि के कार्य कैसे संपन्न हुए ?

चूँकि प्रस्तुत प्रकरण में प्रतिपक्षी ने श्री द्रव्य संग्रहजी की टीका के आश्रय से पुण्य को निमित्त रूप से स्वीकार किया था, अतः इस प्रकरण में सिर्फ और सिर्फ नैगमादि चार नयों से

ही स्याद्पद सहित चिंतन संभव है, शब्दादि तीन नयो म नहीं ॥

चूँकि प्रस्तुत प्रकरण में प्रतिपक्षी ने श्री द्रव्य संग्रह जी की टीका के आश्रय से स्वीकार किया था कि कार्य का संपादन सम्यक् दर्शन से उपार्जित पूर्व पुण्य के उदय से हुआ था, इसलिये इस प्रकरण में चिंतन स्याद्पद सहित नैगमादि चार नयों की अपेक्षा ही किया जायेगा, निमित्तों को स्वीकार नहीं करने वाले शब्दादि तीन नयों की अपेक्ष नहीं ॥

अत: नैगमादि चार नयों की अपेक्षा भी चिंतन करते हुए कि राम-लक्ष्मणादि के कार्य क्या काललब्धि से संपन्न हुए या दैव से या कि पुरूषार्थ से, इस प्रश्न के उत्तर में कहना होगा कि **चूँकि जहाँ कार्य को संपादित करने वाले अन्य प्रबल कारणों का अभाव हो, वहीं काललब्धि को न सिर्फ काललब्धि कह कर, अपितु यह कह कर भी स्वीकार किया जाता है कि ऐसा ही स्वभाव है, किन्तु जहाँ कार्य को संपादित करने वाले अन्य कारण उपलब्ध हों, वहाँ काललब्धि अथवा ऐसा ही स्वभाव है, ऐसा न कह कर, अन्य कारणों पर ही कार्य को संपादित करने का आरोप दिया जाता है, अत: काललब्धि से राम-लक्ष्मणादि के कार्य संपन्न नहीं हुए ॥**

इसी प्रकार पुरूषार्थ को भी राम-लक्ष्मणादि के कार्य को संपन्न करने वाला कारण नहीं कहा जा सकता।

क्यों?

क्योंकि पूर्वकृत कर्मों के उदयानुसार जहाँ कार्य का संपादन होता है, वहाँ पूर्वकृत कर्मों के उदयकाल अर्थात् दैव को कारण कहा जाता है, पुरूषार्थ को नहीं ॥

पुरूषार्थ जन्य कार्यों में पूर्वकृत कर्मों के यथारूप उदयानुसार कार्य के संपन्न होने का अभाव पाया जाता है ॥ इस कारण में तो पूर्व संचित कर्मों को अन्य प्रकृति रूप संक्रमित कर अथवा उनकी फलदान शक्ति व स्थिति का खण्डन कर उनमें उत्कर्षण या अपकर्षण कर अथव पूर्व संचित कर्मों को एक देश या सर्वदेश क्षयादि कर कार्य को संपन्न किया जाता है ॥

चूँकि रामलक्ष्मणादि का कार्य टीकाकार महोदय में अनुसार सम्यक् दर्शन से उपार्जित पूर्व पूण्य के कारण संपन्न हुआ, इसलिये इस कार्य के संपादन में निमित्त काललब्धि अथवा पुरूषार्थ को नहीं, अपितु दैव को कहना होगा ॥

शंकाकार : काललब्धि व दैव में सूत्रानुसार कहने योग्य अंतर क्या है?

समाधान : जहाँ काललब्धि निमित्ताधिन भाव नहीं है, वहीं दैव निमित्ताधिन भाव ॥ निमित्त में भी पुनः पूर्वोपार्जित साता अथवा असाता की मुख्यता व अंतराय कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा से उच्चारित किया जानेवाला भाव ॥ इन दोनों में मुख्य अंतर यही है ॥

डॉ. साहब की ओर से शंकाकार - १ :-

शंकाकार : यदि सत्य ऐसा ही है, तो फिर श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी की ३२१-३२२ वीं गाथाओं का क्या करोगे, जिसमें कहा गया है कि :-

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेंदु इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ : जिस जीव के जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जो नियत जन्म अथवा मरण जिन देव ने जाने हैं, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वे अवश्य होते हैं, उन्हें इंद्र या जिनेन्द्र कौन टाल सकने में समर्थ है ॥

समाधान : वैसे इन गाथाओं की स्वतंत्र मीमांसा आगे करने वाले हैं, किंतु जिस अर्थ को ग्रहण कर शंकाकार शंका कर रहा है, उसे इस प्रकार की गाथाओं के संबंध में प्रथम विचार यह करना चाहिये कि इन गाथाओं की प्रतिपक्षी गाथाएँ जिनागम में स्थापित आचार्यों द्वारा कहीं कही गई है या नहीं ?

यदि कही गई है, तब तो मूर्खों की तरह कहे गये उपदेश का एकांत नहीं करना चाहिये, अपितु स्यात् पद सहित उस उपदेश के पक्ष में आस्तिक्य बुद्धि रखनी चाहिये ॥

इस गाथा का खण्डन करती अथवा इस गाथा में निरूपित अर्थ को मिथ्यात्व घोषित करती प्ररूपणा श्री गोम्मट्टसारजी कर्मकाण्ड में मिथ्यादृष्टियों की प्ररूपणा करने वाले प्रकरण में है ॥

देखिये (श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड, गाथा ८८२) :-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥

अर्थ : जो, जब जिसके द्वारा जैसे जिसका नियम से होनेवाला है, वह उसी काल में, उसी के द्वारा, उसी रूप से नियम से उसका होता है, ऐसा मानना (मिथ्या) नियतिवाद है ॥

अब बतलाइये कि प्रिय पाठको, आप क्या करेंगे ?

उत्तर अत्यंत सरल है ॥

आपको श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यजी के आश्रय से कहना होगा कि उपर्युक्त दोनों गाथाएँ असत्यमृषा भाषा है, इन दोनों ही परस्पर विरोधी गाथाओं के आश्रय से ग्रहण किये गये अर्थ के पूर्व स्यात् पद लगा कर चिंतन करना होगा कि एक गाथा काल नय की विवक्षानुसार प्ररूपित की गई है, तो दूसरी अकाल नय की प्ररूपणानुसार ॥

जिनेन्द्र भगवान के मत में इन दोनों ही नयों में से किसी एक मत का एकांत नहीं ।।

स्यात्पद के परमागम में औचित्य को दर्शाने वाले पद का यहाँ स्मरण करना निश्चित ही प्रबुद्ध पाठकों के लिये बहुपयोगी होगा, अतः सुनिये :-

उक्तं च- **"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ।।"** (श्री समयसारजी, गाथा १२ पर आत्मख्यातिजी टीका से)

अर्थ : आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो !! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय-दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ का नाश हो जाएगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा ।।

अथवा इसे इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि यदि स्यात् पद का विस्मरण कर के काल नय अर्थात् नियतिवाद का एकांत करोगे, तो अविपाक निर्जरा, जिसे कि अकाम निर्जरा भी कहते हैं, का अभाव हो जायेगा व अकाल नय अर्थात् पुरुषार्थवाद का एकांत करोगे, तो सविपाक निर्जरा, जिसे कि सकाम निर्जरा भी कहते हैं, का अभाव हो जायेगा ।।

इसलिये जिनेन्द्र भगवान के मत में इस सूत्र को सदैव स्मरण में रखना चाहिये कि दिया गया उपदेश वचनों के कहे गये चार भेदों में से कौनसा है, सत्य, असत्य, उभय या कि अनुभय ?

यदि दिया गया उपदेश सत्य वचन का भेद है, तब तो उसे जैसा कहा गया है, ठीक वैसा ही ग्रहण करना होगा ।।

और यदि असत्य अथवा सत्यासत्य अर्थात् उभय है, तब तो दूर से ही त्यागने योग्य है, क्योंकि असत्य व उभय, इन दो भाषाओं में जिनेन्द्र भगवान ने उपदेश दिया ही नहीं है ।।

और यदि अनुभय अर्थात् असत्यमृषा है, तब तो वह उपदेश स्याद् पद सहित ही ग्रहणीय है, रहित नहीं ।। स्यात् पद के अभाव में वह उपदेश संशय-अनध्यवसायादि के उत्पादक से अन्य कुछ भी नहीं होगे ।।

इसमें भी पुनः विचार करना होगा कि नैगमादि चार नयों की अपेक्षा कथन किया गया है या शब्दादि तीन नयों की अपेक्षा ।। ग्रहण किये गये अर्थ में नय विभाग का अभाव नियम से मिथ्या धारणा का कारण कहलायेगा ।।

डॉ. साहब की ओर से शंकाकार -२ :-

शंकाकार : फिर इस लोक प्रसिद्धउक्ति के संदर्भ में आप क्या कहेंगे :-

जैसी देखी वीतराग ने तैसी होसी वीरा रे ।
अनहोनी कबहुँ न होसी काहे होत अधीरा रे ।।

समाधान : यह भी असत्यमृषा भाषा ही है ।।

क्योंकि इन वचनों को स्थूल रूप से सुनकर अथवा पढकर, जिनेन्द्र भगवान का मत नियतिवाद को पुष्ट करने वाला है, ऐसी एकान्त धारणा की निर्मिति होती है, जो कि अनध्यवसाय है, अनध्यवसाय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं ॥

डॉ. साहब की ओर से शंकाकार -३ :-

शंकाकार : फिर केवलज्ञान की व्याख्या का क्या होगा ?

समाधान : यदि केवलज्ञान की उपलब्ध परिभाषा नियतिवाद की एकान्ततः पुष्टि करती है, तब तो उसे असत्यमृषा भाषा कहना चाहिये ॥

यदि असत्यमृषा भाषा नहीं कहोगे, तो केवलज्ञान को नियतिवाद का कथन करने वाला व उसी नियतिवाद की, जिसे कि उसी केवलज्ञान द्वारा मिथ्या कहा गया है, पुष्टि करने वाला कहना होगा ॥

डॉ. साहब की ओर से शंकाकार -४ :-

शंकाकार : क्या इसे ऐसे नहीं कह सकते कि केवलज्ञान की अपेक्षा नियतिवाद व श्रुतज्ञानियों की अपेक्षा अनियतिवाद ?

समाधान : नहीं कह सकते, क्योंकि इस प्रकार के उपदेश का अभाव है ॥

दूसरा यह कि नियतिवादियों को स्वयं केवलज्ञानी ने ही श्रुतज्ञानियों के लिये द्वादशांग श्रुतज्ञान में मिथ्याज्ञानी कहा है ॥

न सिर्फ नियतिवादियों को, अपितु पुरुषार्थवादियों को भी ॥

देखिये (श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड, गाथा ८८२ व ८९०) :-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥

अर्थ : *जो, जब जिस द्वारा जैसे जिसका नियम से होनेवाला है, वह उसी काल में, उसी के द्वारा, उसी रूप से नियम से उसका होता है, ऐसा मानना (मिथ्या) नियतिवाद है ॥ ८८२ ॥*

आलस्सड्ढो णिरुत्थाहो फलं किंचिण्ण भुंजदे ।
थणं खीरादिपाणं वा पउरुसेण विणा ण हि ॥

अर्थ : *जो आलस्य से भरपूर है, जिसे कुछ भी करने का उत्साह नहीं है वह कुछ भी फल भोगने वाला नहीं है। बिना पौरुष के माता के स्तन से दूध नहीं पिया जा सकता है। अत. पौरुष से ही कार्यसिद्धि होती है, यह (मिथ्या) पौरुषवाद है ॥ ८९० ॥*

अतः हमें अपनी प्ररूपणा में इन दोनों ही मतों को स्यात् पद सहित प्ररूपित करना होगा, दोनों में से किसी एक मत का एकांत करके नहीं व जो एकांत करेंगे उनके विषय

में कहना ही कहना होगा कि वे जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानते ॥

डॉ. साहब की ओर से शंकाकार -५ :-

और यदि जैसा तर्क तुम दे रहे हो, सत्य जैसा वैसा ही होता, तब तो तीर्थकर भगवान को कहना चाहिये था कि मेरी अपेक्षा से नियतिवाद, किन्तु तुम्हारी अपेक्षा से पुरुषार्थवाद ॥

अथवा ऐसे कहना चाहिये था कि मेरी अपेक्षा से सर्वदेश नियतिवाद, मनःपर्यय व अवधिज्ञानियों की अपेक्षा से एक देश नियतिवाद, निमित्तादि ज्ञानियों की अपेक्षा से अनुमान प्रमाण से नियतिवाद और शेष समस्त श्रुतज्ञानियों की अपेक्षा से अनियतिवाद ॥

साथ ही यह भी कहना चाहिये था कि श्रुतज्ञानियों केलिये जो अनियतिवाद कहा गया है, वह उनकी अल्पज्ञता अर्थात् मंदबुद्धि को दृष्टि में रख कर किया गया है, वस्तुतः वह भी है तो नियतिवाद ही ॥

किन्तु ऐसा तो कुछ भी नहीं कहा गया ॥

जब ऐसा कुछ भी कहा ही नहीं गया है, तब केवलज्ञान की असत्यमृषा भाषा के आश्रय से निःवर्तमान परिभाषा का आधार ले नियतिवाद को पुष्ट करने वाली परिभाषाओं का आप एकांत कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं कर सकते ॥

डॉ. साहब की ओर से शंकाकार -६ :-

इस विषय में अर्थात् नियतिवादियों के पक्ष में युक्ति इस प्रकार है कि यदि केवलज्ञान की उपलब्ध परिभाषा का एकांत करते हो, तब तो स्पष्टतया नियतिवाद का दूषण आता है, जिससे कि किसी भी अपेक्षा से इनकार नहीं किया जा सकता ॥

और यदि कार्य की सिद्धि पुरुषार्थ से मानते हो, तो प्रश्न उठता है कि पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध कार्य को क्या केवलज्ञानी पहले से नहीं जानते थे ?

यदि नहीं जानते थे, तब सर्वज्ञ कैसे ?

और यदि जानते ही थे, तब तो वह भी नियत ही हुआ ॥

नहीं हुआ क्या ? हुआ ही न ?

इस प्रकार तो नियतिवाद की ही पुनः सिद्धि हो गई, जिसकी एकांत प्ररूपणा को स्वयं तीर्थंकर भगवान ने मिथ्यात्व कहा है ॥

○ ***कानजी मतावलंबी, केवलज्ञान की परिभाषा व अवर्णवाद -१***

विश्वास मानिये कि चाहे जिस सूत्र के आश्रय से, किंतु यदि किसी प्राणी की बुद्धि, एक बार भी नियतिवाद का अनुकरण करने लग जाय, तो उसके पश्चात् उसे सामान्य प्रज्ञा के आश्रय से समझाया नहीं जा सकता, सामान्य प्रज्ञा के आश्रय से

उसे समझाना निरी मूर्खता ही ठहरती है ।।

ऐसा ही एक पुरुषार्थ पं. टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार में पृष्ठ क्रमांक १९७ पर किया है, देखिये (पं. **जी साहब द्वारा धर्म पुरुषार्थ का उपदेश दिये जाने पर शंकाकार वहाँ प्रश्न करता है कि**):-

होनहार हो तो वहाँ (धर्म पुरुषार्थ में) उपयोग लगे, बिना होनहार कैसे लगे ?

वैसे इस प्रश्न को वर्तमान में करने वाले मुख्यता से कानजी पंथीं ही हैं, कानजी पंथियों से अन्य कोई नहीं, अन्य यदि करते हैं, तो वे द्रव्य मात्र से कानजी पंथी नहीं हैं, भावों से पुर्णतया हैं ।।

उनसे पूछो कि कानजी स्वामी अथवा आपने दीक्षा क्यों नहीं ली ?

तो वे टका सा उत्तर देते हैं कि कानजी स्वामी की काललब्धि पकी नहीं थी अथवा मेरी अभी पकी नहीं है ।।

यह उत्तर ठीक वैसा ही है, जैसा कि ऊपर पं. टोडरमलजी को नियतिवादी दे रहा है कि होनहार हो तो उपयोग लगे, बिना होनहार कैसे लगे ?

इस प्रश्न के उत्तर में जो उलाहना पं. टोडरमलजी ने दिया है, वही उलाहना प्रायः सभी विद्वान् कानजी पंथियों को समझाने जाते वक्त देते हैं कि :-

"यदि ऐसा है तो सर्वत्र किसी कार्य का उद्यम मत कर ।। तू खानपान व्यापार आदि का तो उद्यम करता है और यहाँ होनहार बतलाता है, इससे मालूम होता है कि तेरा अनुराग नहीं है, मानादि से ऐसी झूठी बातें बनाता है ।।"

इसी उत्तर के खण्डन में कानजी पंथी केवलज्ञान की निःवर्तमान अर्थात् प्रचलित परिभाषा के आश्रय से निर्मित नियतिवाद को पुष्ट करता उत्तर देते हैं कि :-

"इस काल में मेरी ऐसी ही होनहार है कि खानपान आदि का तो उद्यम होगा, किन्तु चारित्र संबंधि नहीं होगा ।।"

इसके पश्चात् वे प्रमाणस्वरूप यह काव्य पढ़ देते हैं कि :

जैसी देखी वीतराग ने तैसी होसी वीरा रे !!

यह उत्तर दे, जिन्हें कि कानजी पंथी ही सर्वाधिक पढ़ते व प्रमाण मानते हैं, उन्हें अर्थात् पं. टोडरमलजी को ही चारित्र का ग्रहण कैसे होता है, प्रश्न के उत्तर में अज्ञानी घोषित करते हुए प्ररूपणा करते हैं कि धर्म अर्थात् चारित्र का ग्रहण जब भी होगा, काललब्धि से होगा, अन्य प्रकार से नहीं, यदि अन्य प्रकार से मानोगे, तो केवलज्ञान की परिभाषा दूषित हो जायेगी।।

कौनसी परिभाषा ?

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ (श्री तत्त्वार्थसूत्रजी , अध्याय १, सूत्र २९)

अर्थ : केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यों व उनकी समस्त अर्थात् त्रैकालिक पर्यायों में होती है ॥

व चूँकि उन्हें समझाने गये विद्वानों की भी धारणा केवलज्ञान की परिभाषा के संदर्भ में कानजी पंथियों जैसी ही है, अत. समझाने की बजाय, वे स्वयं ही उनसे समझ कर लौट आते हैं ॥

इसलिये हमने कहा कि किसी भी प्राणी की बुद्धि यदि एक बार चाहे जिस सूत्र के आश्रय से नियतिवाद का अनुकरण करने लग जाय, तो उसके पश्चात् उसे सामान्य प्रज्ञा के आश्रय से समझाया ही नहीं जा सकता, सामान्य प्रज्ञा के आश्रय से उसे समझाना निरी मूर्खता ही ठहरती है, क्योंकि सामान्य प्रज्ञा के धनियों की धारणा, वे फिर चाहे जिस पक्ष के हों केवलज्ञान के विषय में नियतिवाद को पुष्ट करने वाली ही पाई जाती है, अन्य नहीं ॥

इसलिये यदि आपके पास केवलज्ञान की उपलब्ध परिभाषा नियतिवाद की एकान्ततः पुष्टि करने वाली है, तब तो स्वयं को सामान्य प्रज्ञा का धनी समझना चाहिये ॥

डॉ. हुकुमचंदजी भारिल्ल की पुस्तक क्रमबद्ध पर्याय केवलज्ञान की उपलब्ध परिभाषा के आधार से मूलतः पं. टोडरमलजी के पुरुषार्थवाद के खण्डनार्थ ही प्रकाशित हुई, अन्य किसी कारण से नहीं, क्योंकि इस प्रश्न से वे स्वयं भी परेशान थे कि कानजी स्वामी ने जो दीक्षा का उद्यम नहीं किया अथवा वे स्वयं भी जो दीक्षा का उद्यम नहीं करते हैं, तो क्यों नहीं करते हैं ?

○ *कानजी मतावलंबी, केवलज्ञान की परिभाषा, अकाल मरण व अवर्णवाद -२*

इतना ही नहीं, अपितु इसी परिभाषा के आश्रय से वे अकालमरण की मान्यता को भी मिथ्यादृष्टियों की मान्यता मानते हैं ॥

उनकी मंद बुद्धिता का उद्योत करने के लिये उनके द्वारा प्रतिपादित अकालमरण का निषेध करने वाली यह परिभाषा ही पर्याप्त है कि केवल ज्ञानी ने इस जीव का मरण इस काल में, इस देश में व ऐसे ही देखा था ॥

चूँकि उस जीव का मरण उस काल में, उसी देश में और वैसे ही हुआ, जैसा कि केवल ज्ञानी ने पूर्व में ही देख लिया था, अतः उसे अकाल मरण कैसे कहा जा सकता है, उसे अकाल मरण तो किसी भी विवक्षा से नहीं कहा जा सकता, अपितु केवलज्ञानी द्वारा देखे गये नियत काल में ही यह मरण होने से काल मरण ही हुआ, अकाल नहीं ॥

यह तर्क उनकी मंदबद्धि के उद्योत को पर्याप्त है ॥

(१) यदि वे तीक्ष्णबुद्धि होते, तो अकालमरण का नहीं, अपितु जिनेन्द्र भगवान के मत से अविपाक निर्जरा की सिद्धि करने वाले सूत्रों का ही मिथ्यादृष्टियों की प्ररूपणा कह कर निषेध करते ॥

किन्तु नहीं, अविपाक निर्जरा को तो वे स्वीकार करते हैं, किन्तु उसका कार्य जो कि अकालमरण है, का निषेध करते हैं, है न मूर्खता ?

नहीं है क्या ?

है ही ॥

(२) अरे भाई !! इनसे पूछना चाहिये कि अकाल मरण में जो आयु कर्म के निषेक खिरे, वे निर्जरा के किस विधानानुसार खिरे ? अविपाक निर्जरा विधानानुसार या कि फिर सविपाक निर्जरा के विधानानुसार ?

शंकाकार : यह सविपाक निर्जरा व अविपाक निर्जरा की परिभाषा क्या है ?

समाधान : चलिये, इसे **श्रीमद् सर्वार्थसिद्धिकारजी** के ही मुखारबिन्द से **श्री सर्वार्थसिद्धिजी, अध्याय ८, सूत्र २३** की टीका में सुनिये :-

सविपाक निर्जरा :- शुभाशुभस्य कर्मणः क्रमेण परिपाककाल प्राप्तस्यानुभवोदयावलिस्रोतोऽनुप्रविष्टस्यारब्धफलस्य या निवृत्तिः सा विपाकजा ॥

अविपाक निर्जरा :- यत्कर्माप्राप्तविपाककालमौपक्रमिक क्रियाविशेषसामर्थ्यादनुदीर्णंबलादुदीर्योदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्रपणसादिपाकवत् सा अविपाकजानिर्जरा ॥

अर्थ : क्रम से परिपाक काल को प्राप्त हुए और अनुभवोदयावलिरूपी स्रोते में प्रविष्ट हुए, ऐसे शुभाशुभ कर्म की फल देकर जो निवृत्ति सो (स) विपाकजा निर्जरा है ॥

आम और फनसादि फलों को औपक्रमिक क्रिया विशेष के बल से जैसे अकाल में ही पका लेते हैं, वैसे ही जिसका विपाक काल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, फिर भी औपक्रमिकक्रियाविशेष की सामर्थ्य से उदयावलि के बाहर स्थित जो कर्म बल पूर्वक उदीरणा द्वारा उदीयावलि में प्रविष्ट करा के अनुभवा जाता है, वह अविपाक निर्जरा है ॥

अतः श्री सर्वार्थसिद्धिजी की उपर्युक्त परिभाषानुसार इनसे पूछना चाहिये कि अकाल मरण में जो आयु कर्म के निषेक खिरे, वे निर्जरा के किस विधानानुसार खिरे, अविपाक निर्जरा विधानानुसार या कि फिर सविपाक निर्जरा विधानानुसार ?

यदि मानोगे कि सविपाक निर्जरा के विधानानुसार खिरे, तब तो वह जितने वर्ष की स्थिति वाले निषेक थे, उतने वर्ष पूर्ण करके ही खिरने चाहिये थे, जो कि नहीं खिरे ॥

इसलिये सविपाक निर्जरा के विधानानुसार तो नहीं ही खिरे ॥

तो क्या अविपाक निर्जरा के विधानानुसार खिरे ?

वो नहीं पता ?

क्यों ?

क्योंकि इसकी इतनी ही आयु केवली भगवान ने देखी थी, अधिक नहीं ॥

तो क्या इसने बाँधी भी इतनी ही आयु थी ?

नहीं, जितनी भोगी, बाँधी उससे अधिक ही थी ॥

अर्थात् क्या आप यह कहना चाह रहे हैं कि तीर्थंकर भगवान ने बाँधी गई आयु देखी तो अधिक थी, किंतु उसी समय यह भी देखा था कि पूर्ण नहीं भोगेगा, अपितु मध्य में ही कहीं खिरा कर मर जायेगा ?

जी हाँ !! बिल्कुल ठीक, यही हम कहना चाह रहे हैं ॥

यदि आप यही कहना चाह रहे हैं, तब तो आपका यह कहना स्पष्टतया मूर्खों का अपलाप सिद्ध हो जायेगा, मूर्खों से अन्य किसी का नहीं ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि इस उत्तर देने वाले आपसे स्याद्वाद कुशल द्वारा नियमतः पूछा जायेगा कि उपर्युक्त दोनों आयुओं में से सही आयु कौन सी ?

जो बाँधी गई थी वह या कि जो केवली ने भोगते हुए देखी थी वह ॥

या कि दोनों ?

और यदि उत्तर उपर्युक्त तीनों प्रश्नों की अपेक्षा से पृथक्-पृथक् दोगे, तब एकांत आग्रह से युक्त एक उत्तर कैसे दिया जा सकता है कि नहीं, अकालमरण होता ही नहीं है ॥

यह उत्तर तो दिया ही नहीं जा सकता, अपितु कहना यह चाहिये कि इस प्रश्न का उत्तर विवक्षाधीन है ॥

(३) इतना ही नहीं, अपितु आपको इस प्रश्न का भी उत्तर देना होगा कि वे आयु कर्म के निषेक, जो कि बंधे तो थे, किंतु अपने नियत समय पर भोगे नहीं गये, उनके विषय में परमागम में क्या उपदेश है ?

क्या वे अपने नियत समय पर भोग के योग्य नहीं थे ?

यदि नहीं थे तो क्या इस जाति का भी कोई कर्म होता है ?

यदि हाँ ! तब तो परमागम में इस जाति के कर्म का प्रतिष्ठित आचार्य कृत उपदेश बतलाना चाहिये, जो कि नहीं है और यदि नहीं, तब तो स्वीकार करना चाहिये कि वे आयु कर्म के निषेक अपने नियत समय पर भोग्य के योग्य थे, नहीं थे ऐसा एकांत से नहीं कहा जा

सकता ॥

आइये अब इसी प्रश्न को सरल कर इस प्रकार पूछें कि जिस समय आयु कर्म के ये निषेक बांधे गये, उस समय क्या उन कर्मों को केवली भगवान ने स्थिति व फल दान की शक्ति से रहित देखा था ?

यदि कहोगे कि हाँ, सो तो बन ही नहीं सकता ॥

क्यों ?

क्योंकि बाँधा गया प्रत्येक सत्ता स्थित कर्म, जब तक सत्ता में है, तब तक स्थिति व अनुभाग शक्ति से युक्त ही रहता है, रहित नहीं ॥

वह कर्म कब उदय में आयेगा, उसकी फलदान शक्ति क्या होगी व कब तक फल देगा, प्रत्येक कर्म इन तीनों प्रश्नों के उत्तर अपने में समाहित कर ही बंध को प्राप्त होता है, इनसे रहित नहीं, जिसका कि सूत्र बद्ध विवेचन जिनेन्द्र भगवान ने करणानुयोग मे विस्तार से किया है, जो कि बुधजनो के मध्य न सिर्फ सुव्यवस्थित रूप से प्रसिद्ध है, अपितु किसी प्रमाण का मोहताज भी नहीं ॥

अत: यदि कर्म बांधे गये हैं, तो वे सत्ता स्थित कर्म अविपाक निर्जरा द्वारा उदीरणा विधानानुसार जब तक उदयावली में ला खिरा नहीं दिये जाते, तब तक कब उदय में आयेगे, किस रूप से भोगे जायेंगे व उनका फलदान का काल कितना होगा, इसे केवल ज्ञानी ने नियम से देखना ही देखना चाहिये, नहीं देखने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥ यह विषय अलग है कि इसे देखते हुए ही वे, इस देखे हुए को यह जीव नहीं भोगेगा, इसे भी देखेंगे ॥

अर्थात् जिन पर्यायों को यह जीव नहीं भोगेगा, उन पर्यायों को भी केवलज्ञानी देखते हैं, नहीं देखते हैं ऐसा नहीं है,

क्योंकि वे पयायें जिस कर्म का कार्य हैं, वे अभी इस जीव की सत्ता में हैं, निर्जरित नहीं हुए हैं, अत. जिन पयायों को यह जीव नहीं भोगेगा, उन पर्यायों को भी केवलज्ञानी देखते हैं व जिन्हें भोगेगा, उन्हें तो उपर्युक्त विधानानुसार देखते ही देखते हैं ॥

कृपया स्मरण रखें कि स्थिति व अनुभाग रहित संसारियों के सत्ता स्थित व बाँधे जा रहे कर्म होते ही नहीं है, वे जब भी होते हैं स्थिति व अनुभाग शक्ति से युक्त ही होते हैं ॥

अत: यह कहा ही नहीं जा सकता कि जिस समय आयु कर्म के ये निषेक बांधे गये थे, उस समय उन कर्मों को केवली भगवान ने फल दान की शक्ति से रहित देखा था ?

अपितु कहना ही होगा कि :-

''केवली भगवान ने फलदान की शक्ति से युक्त उन कर्मों की भविष्य में उत्पन्न होने वाली जिन-जिन पर्यायों को भोगते हुए उस जीव को देखा था, उन्हीं पर्यायों

को यह जीव नहीं भोगेगा यह भी देखा था ॥"

इसलिये केवलज्ञान की परिभाषा करते हुए एकात से कहा ही नहीं जा सकता कि **जैसी देखी वीतराग ने तैसी होसी वीरा रे ! अपितु कहना यह होगा कि केवली भगवान कुछऐसा भी देखते है, जो कि नहीं होगा ॥**

यह तो प्रस्तुत विषय में प्रथम पक्ष हुआ ॥

(४) इसी विषय का विस्तार करता द्वितीय पक्ष इस विषय में इस प्रकार है कि :-

१. केवली भगवान ने सर्व प्रथम किसी जीव को आयु कर्म व उसके साथ अन्य कर्मों को बाँधते हुए देखा ॥

२. बाँधे गये कर्मों को भविष्यत् काल में फलदान की शक्ति से युक्त उसी जीव की सत्ता में स्थित होते हुए देखा ॥

३. फिर देखा कि भविष्यत् काल में बाँधे गये सत्ता स्थित कर्मों में से कुछ की उदीरणादि विधानो द्वारा अविपाक निर्जरा कर लेगा ॥

पाठक वर्ग कृपया स्मरण में रखें कि यह सब भविष्यत् काल का आयोजन यह जीव वर्तमान में सत्ता स्थित कर्मों में कर रहा है ॥

हमारा प्रश्न यहीं से प्रारंभ हो रहा है कि :-

सत्ता स्थित कर्मों में से कुछ का उदीरणादि विधानों द्वारा अविपाक निर्जरा करने का भविष्यत् कालीन आयोजन क्या एक बार ही हो सकता है, अनेक बार नहीं ?

जिन कारणों से अविपाक निर्जरा करने को यह प्राणी उद्यत था, उन कारणों को इसने टाल दिया ॥

क्या इस प्रकार दोबारा केवली भगवान द्वारा नहीं देखा जा सकता, वह भी तब जब कि कर्म जैसे बंधे थे, ठीक वैसे ही सत्ता में स्थित हैं ?

निश्चित ही नहीं देखे जाने को बाधित कारण का अभाव है ॥

नहीं देखा जा सकता, ऐसा तो वही कह सकता है, जो कि स्वय ही साक्षात् केवली हो, अन्य कोई नहीं ॥

क्योंकि जब बांधे गये आयु कर्म आदि देखे जा सकते हैं, वे बाँधे गये आयु आदि कर्म वर्तमान में नहीं, अपितु भविष्यत् काल में अविपाक निर्जरा द्वारा उदीरणा विधानानुसार समय पूर्व खिरा दिये जायेंगे, देखे जा सकते हैं, फिर वही उदीरणा, परिणाम विशेष के माध्यम से पुनः टाल दी जायेगी, इसे क्यों नहीं देखा जा सकता ?

अर्थात् देखा ही जा सकता है ॥

क्योंकि बाँधे गये सत्ता स्थित कर्मों का भविष्यत् काल में किया जाने वाला संक्रमण,

उदीरणादि द्वारा परिवर्तन सिर्फ और सिर्फ एक बार ही किया जा सकेगा, दोबारा नहीं, ऐसा सिद्धांत जिनेन्द्र भगवान का नही है, उनके मत में तो इस विधान का अत्यंताभाव है ॥

अत: उस देखे हुए में अनेक बार व अनेक प्रकार के आगम मान्य परिवर्तन देखे जाने से आगम व अनुमानादि प्रमाणों से कोई बाधा नहीं आती है, अपितु जो नहीं मानता है, उसीके वचन बाधित होते हैं ॥

अर्थात् केवलज्ञानी ने जो कुछ भी देखा वह सब होगा ही, ऐसा जिनमत नहीं है, इसी प्रकार वह परिवर्तनीय भी नहीं ही है, ऐसा भी जिनमत नहीं है ॥

चूँकि कर्मों के बंधने के काल में व उनकी उदीरणादि करने वाले परिणामों को करने के काल में काल भेद है, दोनों एक ही काल में घटी घटना नहीं है, इसलिये यदि वह परिवर्तनीय न हो, तो कर्म जैसा बांधा गया था, वैसा ही भोगा जाना चाहिये, उस बांधे गये कर्म की उदीरणादि द्वारा परिवर्तन की संभावना ही नहीं ॥

ऐसे ही जो कुछ हो चुका या हो रहा है या होगा, उतना ही जिनेन्द्र भगवान ने देखा था, ऐसा भी जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है ॥

अर्थात् जो होगा उसे ही केवलज्ञानी देखते हैं, ऐसा नियम नहीं है, अपितु जो नहीं होगा, उसे भी वे देखते हैं ॥

यदि न देखें, तो प्ररूपणा कैसे करेंगे कि किन कर्मों की कौनसी पर्यायों की उदीरणादि विधानों द्वारा निर्जरा कर दी ?

उसकी तो प्ररूपणा ही संभव नहीं ॥

किन्तु नहीं, चूँकि उसकी भी प्ररूपणा जिनेन्द्र भगवान करते हैं, इसलिये नि:शंक हो कहा जा सकता है कि किन पर्यायों की उदीरणादि विधानों द्वारा इस जीव ने असमय निर्जरा की भी केवली भगवान जानते हैं ॥

इस प्रकार केवलज्ञान के स्वरूपानुसार उसकी विषयभूत भोगी जाने वाली व नही भोगी जाने वाली पर्यायों की प्ररूपणा हुई ॥

इसे ही सूत्र में यदि कहा जाये तो कहना होगा कि :-

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ (श्री तत्वार्थसूत्रजी, अध्याय १, सूत्र २९)

अर्थ : सर्व द्रव्यों मे व सर्व पर्यायों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है ॥

अर्थात् सर्व द्रव्यों की जो हो चुकी हैं, जो हो रही है, जो होने वाली है व जो बाँधी तो गई है, किन्तु भोगी नहीं जायेंगी आदि सभी पर्यायों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति है ॥

यदि ऐसा न होवे, तो केवल ज्ञान को अपरिमित माहात्म्य का कौन कहेगा ?

अर्थात् कोई नहीं ॥

सूत्र मे केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है, इसी बात का ज्ञान कराने के लिये उपर्युक्त अर्थ से युक्त सर्वद्रव्यपर्यायेषु पद कहा गया है ॥ (श्री सर्वार्थसिद्धिजी, अध्याय १, सुत्र २९ कर टीका)

(५) इस प्रसंग मे इतनी विवेचना के पश्चात् स्याद्वाद कुशल द्वारा अकालमरण के विरोधियों से पूर्व में किये गये प्रश्न को यहाँ पुनः दोहराते हुए नियमतः पूछा जायेगा कि उपर्युक्त दोनों आयुओं में से सही आयु कौन सी ?

जो बंधी व स्थिति व अनुभागानुसार भोगते हुए केवली भगवान द्वारा देखी गई थी वह या कि जिसे उदीरणा विधानानुसार समय से पूर्व निर्जरित करते हुए देखा गया था वह ?

क्योंकि केवली भगवान ने दोनों ही पर्यायें देखी थी ॥

या फिर, चूंकि भोगते हुए दोनों ही पर्यायें देखी थी, इसलिये दोनों ही सत्य पर्यायें देखी गई थी, ऐसा उत्तर दोगे ?

और यदि उपर्युक्त तीनों प्रश्नों की अपेक्षा से उत्तर पृथक्-पृथक् दोगे, तब एकांत आग्रह से युक्त हो एक उत्तर आपके द्वारा कैसे दिया जा सकता है कि नहीं, अकालमरण होता ही नहीं है ॥

यह उत्तर तो दिया ही नहीं जा सकता, अपितु कहना यह चाहिये कि इस प्रश्न का उत्तर विवक्षाधीन है ॥

○ *अकाल मरण व उसकी स्याद्वादी परिभाषा*

अकाल मरण की परिभाषा : अनुत्पन्न पर्यायें दो प्रकार की होती हैं, १. जिन्हें कि बंधकर्ता द्वारा भोगा जायेगा व २. जिन्हें कि बगैर भोगे बंधकर्ता निर्जरित कर देगा ॥

इन दो प्रकार की अनुत्पन्न पर्यायों में से सत्ता स्थित उन कर्मों की अनुत्पन्न पर्यायों को, जिन्हें कि न सिर्फ केवली भगवान ने भोगते हुए देखा, अपितु यह भी देखा कि नहीं, इन पर्यायों को यह जीव यथार्थतः भोगेगा नहीं, उदीरणा विधानानुसार निर्जरित कर देगा, को उदीरणादि विधानों द्वारा निर्जरित कर देने को अकाल मरण कहते हैं ॥

अर्थात् सत्ता स्थित उन कर्मों की अनुत्पन्न पर्यायों को, जिनकी कि यह जीव उदीरणा विधानानुसार भोग्यकाल के पूर्व विषपानादि द्वारा निर्जरा कर देगा, को केवलि भगवान ने न सिर्फ भोगते हुए देखा, अपितु उसी समय यह भी देखा कि यथार्थतः इन्हें भोगेगा नहीं, को अकाल मरण कहते हैं ॥

इसे पढ़ने में करणानुयोग के अअभ्यासियों को कथंचित् अटपटा सा लगेगा, किंतु सत्य यही है कि अनुत्पन्न पर्यायों की असमय में अर्थात भोग्यकाल के पूर्व

विषपानादि द्वारा की गई निर्जरा अकाल मरण कहलाती है ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि अनुत्पन्न पर्यायें दो प्रकार की होती है, १. जिन्हें कि बंधकर्ता द्वारा भोगा जयेगा व २. जिन्हें कि बगैर भोगे बंधकर्ता निर्जरित कर देगा ॥

अर्थात् केवली भगवान द्वारा भोगते हुए देखी गई आयु व उसके आश्रय से अन्य कर्मों की अनेकानेक क्रमाक्रम प्राप्त अनुत्पन्न पर्यायों में से कुछ को भोग कर, शेष की विषपानादि द्वारा भोग्यकाल के पूर्व उदीरणा करने को अकाल मरण कहते हैं ॥

अतः अकाल मरण, काल मरण नहीं है, उसमें कुछ ऐसा है, जिसका कि काल मरण में अत्यंताभाव है, इसलिये अकाल मरण, काल मरण से पृथक ही विवक्षा है ॥

जो इसे नहीं जानता, वह न तो केवलज्ञान के स्वरूप को ही जानता है और न ही अकाल मरण को ॥

इस प्रकार केवल ज्ञान के स्वरूप व अकाल मरण को नहीं जानता हुआ जिनेन्द्र भगवान के मत को ही नहीं जानता ॥

(६) क्या केवलज्ञानियों की अपेक्षा अकाल मरण होता है ? :-

इसी प्रकार आप केवलज्ञानी की अपेक्षा से भी यदि प्ररूपणा करना चाहें, तब भी अकालमरण होता ही नहीं, ऐसी प्ररूपणा नहीं कर सकते ॥

क्यों ?

क्योंकि उपर्युक्त प्रश्नों के आश्रय से केवलज्ञानी को भी इस प्रकरण में यही कहना होगा कि इस जीव ने आयु तो इतनी ही बाँधी थी, उस बाँधी गई आयु के निषेकों के अनुसार मैंने उसकी व उसके साथ उसी प्रमाण अथवा प्रमाण से अधिक बंधी[1] अन्य कर्मों की भुक्त पर्यायें भी देखी थी, किन्तु उसी समय यह भी देखा कि इसने अकालमरण के कहे गये विषपानादि निमित्तों के आश्रय से बाँधी गई आयु के निषेकों व उनकी फलदान शक्ति के अनुसार भोगी जाने वाली पर्यायों को अकाल में अर्थात् अविपाक निर्जरा के विधानानुसार खिरा कर अकाल मरण को प्राप्त कर लिया ॥

अतः केवलज्ञानी द्वारा देखे जाने पर भी यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि अकालमरण नहीं होता, अपितु स्वयं केवलज्ञानी को भी यही कहना होगा कि नहीं, मैंने इस जीव को इस विधान के अनुसार इस प्रकार अकालमरण मरते हुए देखा ॥

---

१. केवलि समुद्घात आयु कर्म से अधिक प्रमाण वाले वेदनीय, नाम, गौत्र कर्म के निषेकों को आयु कर्म प्रमाण करने के लिए किया जाता है।

अत. केवलज्ञानी की अपेक्षा से भी यदि आप प्ररूपणा करना चाहें, तब भी अकालमरण होता ही नहीं, ऐसी प्ररूपणा नहीं कर सकते, अपितु कहना होगा कि होता है ॥

(७) कार्य का अभाव कारण के अभाव का सूचक है :-

इतना ही नहीं, अपितु कार्य का अभाव, चूँकि कारण के अभाव का भी सूचक होता है, इसलिये यदि एकांत आग्रह से युक्त हो कहोगे कि अकाल मरण होता ही नहीं, तो उसके पूर्व यह कहना होगा कि जिनेन्द्र भगवान के मत में निर्जरा सविपाक ही होती है, अविपाक नहीं ॥

क्यों ?

क्योंकि अविपाक निर्जरा कारण व अकालमरण उसका कार्य है, व चूँकि कार्य का अभाव कारण के अभाव का भी सूचक है, अत यह कहते ही कि अकालमरण नहीं होता, तत्काल यह भी सिद्ध हो जायेगा कि जिनागम में अविपाक निर्जरा भी नहीं होती ॥

यहाँ आप यह नहीं कह सकते कि कारण सदैव कार्य वाले ही हों ऐसा नियम नहीं है ॥

क्यों, क्यो नहीं कह सकते ?

क्योंकि अविपाक निर्जरा ऐसा कारण नहीं है जिसके कि सद्भाव में अकाल मरण रूप कार्य हो भी अथवा नहीं भी हो, अपितु ऐसा कारण है, जिसके कि सद्भाव में कार्य होता ही होता है ॥

इस प्रकार प्रतिपक्ष द्वारा किया गया अकाल मरण का निषेध अविपाक निर्जरा का निषेधक बन जायेगा व अविपाक निर्जरा का निषेध जिनागम निर्दिष्ट अविपाक निर्जरा के समस्त कार्यों का निषेध करते हुए, अविपाक निर्जरा के निर्देश को ही मिथ्या सिद्ध कर देगा ॥

मात्र अविपाक निर्जरा के निर्देश को ही नहीं, अपितु उदीरणा, संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण आदि अकाल में कार्यों को संपादित करने वाले सभी कारणों को भी मिथ्या सिद्ध कर देगा ॥

नहीं कर देगा क्या ?

कर ही देगा ॥ कर क्यों नहीं देगा ?

इस प्रकार अविपाक निर्जरा आदि केमिथ्या सिद्ध होते ही आपको अविपाक निर्जरा आदि के विवेचन में भी अकालमरण की तरह यही कहना होगा कि निर्जरा सविपाक हो या कि अविपाक, होती तो केवलज्ञान में देखे गये निर्धारित काल में ही है, चूँकि होती निर्धारित काल में ही है, उसका उल्लंघन करके नहीं, अतः अविपाक निर्जरा आदि भी अकाल मरण की तरह उपचार वचन मात्र है, उपचार वचन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं ॥

अर्थात् वह समय के पूर्व नियत कार्य को करने वाली नहीं, अपितु केवलज्ञानी द्वारा देखे गये नियत काल पर ही अपने कार्य को संपादित करने वाली है ॥

इस प्रकार जिनागम निर्दिष्ट अविपाक निर्जरा के हेतु एवं महान पुरुषार्थ के परिचायक संयम, तपादि ही नहीं, अपितु सम्यक्त्व की भी जो स्तुतियाँ उसे मुक्ति का कारण निरूपित करते हुए आचार्य भगवंतो ने गाई हैं, वे सभी मिथ्या सिद्ध हो जायेंगी, क्योंकि फिर वे भी जीव के पुरुषार्थ न होकर, अपने काल के अनुसार संपन्न हुए कार्य कहलायेंगी, उससे अन्य और कुछ भी नहीं ॥

नहीं कहलायेंगी क्या? नहीं क्यों कहलायेंगी ? कहलायेंगी ही ॥

(८) और यदि इतनी विस्तृत चर्चा के पश्चात् भी दुराग्रह करते हो कि नहीं अकाल मरण भी नहीं होता व जो पर्याये देखी गई, किंतु भोगी नहीं गई, वे भी नहीं होती, तब तो आपसे अवश्य ही पूछा जायेगा कि किस विधानानुसार ?

केवलज्ञानी ने ऐसा ही देखा था, क्या इस विधानानुसार ?

यदि सत्य ऐसा ही है, तो व्यर्थ का विस्तार क्यों करते हो, सीधे-सीधे कह क्यो नहीं देते कि सभी सारो का सार इतना ही है कि मात्र अकाल मरण ही नहीं, अपितु संसारस्थ सभी जीवो के सुख, दु:ख, जन्म, मरण, संसरणादि जब व जिस प्रकार केवलज्ञानी द्वारा देखे गये हैं, उन समस्त जीवों के सुख, दु:ख, जन्म मरण, ससरणादि तब-तब ही व उन्हीं- उन्ही प्रकार से होगी, अन्य किसी प्रकार से नहीं, जिसे कि प्रकारांतर से नियतिवाद भी कहा जाता है ॥

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान का मत एक मात्र नियतिवाद को पुष्ट करने वाला है, की सिद्धि हो जायेगी, जिसे कि स्वयं तीर्थंकर भगवान ने मिथ्यावाद अर्थात् मत कहा है ॥

कहाँ ?

श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड, गाथा ८८२ में जिसे कि पूर्व में कहा जा चुका है, किंतु विस्मृत चित्त शंकाकार के लिए पुनः कहते है :-

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥

भावार्थ : जो, जब जिस द्वारा जैसे जिसका नियम से होने वाला है, वह उसी काल में, उसी के द्वारा, उसी रूप से नियम से उसका होता है, (जिसे कि केवलज्ञानी ने नियतिवादियों का मिथ्यात्व अर्थात्) मिथ्या नियतिवाद कहा है ॥

निष्कर्ष :-

इस प्रकार बंधुवर ! जिस धारणा को आप हमें अंगीकार करने का आग्रह कर रहे हो,

जब उसे स्वयं केवलज्ञानी ने ही मिथ्यावाद कह दिया है, तब उस धारणा के अनुसार यदि हम अपनी बुद्धि बनाना भी चाहें, तो कैसे बनायें, यह तो बतलायें ?

निश्चित ही न तो आप बतला सकते हैं और न ही हम बना सकते हैं ॥

इसलिये सत्य यही स्वीकार हो कि केवलज्ञान की उपलब्ध परिभाषा से यदि नियतिवाद की एकान्तत पुष्टि होती है, तब तो उस परिभाषा को असत्यमृषा भाषा कहना चाहिये, असत्यमृषा भाषा से अन्य कुछ नहीं ॥

(९) शंकाकार : नियतिवाद के दूषण से उसे मुक्त करने के लिये क्या चिंतन इस अनुसार नहीं किया जा सकता कि **केवलज्ञान की अपेक्षा नियतिवाद व श्रुतज्ञानियों की अपेक्षा अनियतिवाद ?**

समाधान : इस प्रश्न पर चर्चा पूर्व में की जा चुकी है, किंतु फिर भी विस्मरण चित्त पाठकों के लिये पुन कहते हैं ॥

नियतिवाद के दूषण से उसे मुक्त करने के लिये चिंतन इस अनुसार नहीं किया जा सकता कि "**केवलज्ञान की अपेक्षा नियतिवाद व श्रुतज्ञानियों की अपेक्षा अनियतिवाद** ॥"

क्यो ?

क्योंकि यदि सत्य ऐसा ही होता, तब तो तीर्थंकर भगवान को कहना चाहिये था कि मेरी अपेक्षा से नियतिवाद, किन्तु तुम्हारी अपेक्षा से पुरुषार्थवाद ॥

अथवा ऐसे कहना चाहिये था कि मेरी अपेक्षा से सर्वदेश नियतिवाद, मनःपर्यय व अवधिज्ञानियों की अपेक्षा से एकदेश नियतिवाद, निमित्तादि ज्ञानियों की अपेक्षा से अनुमान प्रमाण से नियतिवाद और शेष समस्त श्रुतज्ञानियों की अपेक्षा से अनियतिवाद ॥

साथ ही यह भी कहना चाहिये था कि श्रुतज्ञानियों के लिये जो अनियतिवाद कहा गया है, वह उनकी अल्पज्ञता अर्थात् मंदबुद्धि को दृष्टि में रख कर किया गया है, वस्तुत. वह भी है तो नियतिवाद ही ॥

किन्तु ऐसा तो कुछ भी नहीं कहा गया ॥

जब ऐसा कुछ भी कहा ही नहीं गया है, तब केवलज्ञान की असत्यमृषा भाषा के आश्रय से निःवर्तमान परिभाषा का आधार ले अकाल मरणादि नहीं होते, ऐसी नियतिवाद को पुष्ट करने वाली परिभाषाओं का आप एकांत कैसे कर सकते हैं ?

अर्थात् कदापि नहीं कर सकते ॥

वैसे इस विषय में समीचीन बुद्धि की निर्मिति के लिये श्री देवागम स्तोत्रजी की ८८, ८९, ९०, ९१ आदि कारिकाओं का श्री अष्टसहस्रीजी के आश्रय से स्वाध्याय किया जाना चाहिये, जहाँ इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि जिनागमानुसार कार्य संपन्न कैसे होता है ?

सुनिये (श्रीमद् समंतभद्राचार्य विरचित देवागम स्तोत्र जी, कारिका ८८, ८९, ९०, ९१) :-

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

पौरुषदेवसिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।
पौरुषाच्चेदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९० ॥

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

अर्थ :- यदि दैव से ही अर्थ की सिद्धि होती है, तो पुरुषार्थ से दैव की सिद्धि कैसे होगी ॥ और दैव से ही दैव की सिद्धि मानने पर कभी भी मोक्ष नहीं होगा ॥ तब मोक्ष प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करना निष्फल ही होगा ॥

यदि पौरुष से ही अर्थ की सिद्धि होती है, तो दैव से पौरुष की सिद्धि कैसे होगी । और पौरुष से ही पौरुष की सिद्धि मानने पर सब प्राणियों के पुरुषार्थ को सफल होना चाहिए ॥

स्याद्वादन्याय से द्वेष रखने वालों के यहाँ विरोध आने के कारण उभयैकात्म्य नही बनता है ॥ और अवाच्यतैकान्त में भी 'अवाच्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता है ॥

(निष्कर्ष) किसी को अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है वह अपने दैव से होती है ॥ और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है वह अपने पौरुष से होती है ॥ (इन दोनों से काललब्धि पृथक ही है ॥)

इस प्रकार इन कारिकाओं के आश्रय से कार्य को संपन्न करने वाले कारणों के विषय में समीचीन बुद्धि की निर्मिति करनी चाहिये कि कार्य संपन्न कैसे हुआ ?

क्या दैव अर्थात् नियतिवाद से या कि पुरुषार्थ से या फिर कथंचित् दैव कथंचित् पुरुषार्थ से या कि फिर इस प्रश्न का उत्तर अवाच्य/अवक्तव्य है ?

इन चार भंगों के आश्रय से शेष तीन भंगों की कल्पना पाठकों को स्वयं ही कर, भंगों की संख्या सात कर लेनी चाहिये ॥

उपर्युक्त कारिकाओं के आश्रय से भंगों के समीचीन उत्तर जाने बिना डॉ. भारिल्ल आदि की तरह इन भंगों के चार अथवा सात प्रकार के जैनाभाषियों अथवा इनके उत्तर भंगों में से कोई एक मिथ्या भंगवादी बने बिना रहा ही नहीं जा सकता है ॥

अर्थात् यदि आपके पास कार्य के संपन्न होने का उपर्युक्त चार अथवा सात प्रकार के भंगों के आश्रय से विद्यमान उत्तर स्यात् पद सहित नहीं है, जैसे कि श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी

के पास हैं, तो निश्चित मानिये कि आप उपर्युक्त चार या सात में से किसी भी एक अथवा दो या तीन आदि भंगों का एकांत करने वाले समुदायों में से किसी न किसी एक समुदाय का अंग होओगे ही होओगे, वह हुए बिना आप रह ही नहीं सकते, जैसी कि बुद्धि का परिचय डॉ. हुकुमचंदजी भारिल्ल, जयपुर ने अपनी पुस्तक क्रमबद्ध पयार्य में दिया है ॥

हम क्षमा सहित यहाँ कहना चाहेंगे कि उस पुस्तक के आश्रय से निःशंक हो कहा जा सकता है कि वे मिथ्या नियतिवादी हैं ॥

वैसे इस विषय में विस्तार से श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यजी के आश्रय से अभी-अभी की गई काल नय व अकाल नय की प्ररूपणांतर्गत कहा ही गया है, किन्तु उपर्युक्त युक्ति व प्रमाणो से भी सिद्ध हो जाता है कि जिनेन्द्र भगवान का मत नियतिवाद व पुरुषार्थवाद, दोनों की ही एकांतत पुष्टि करने वाला नहीं है, यदि है भी तो स्यात्पद सहित ॥

जो इसे नही जानता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानता है ॥

इसलिये यदि केवलज्ञान की उपलब्ध परिभाषा नियतिवाद की एकान्तत पुष्टि करती है, तब तो उसे असत्यमृषा भाषा कहना चाहिये, वर्ना अविपाक निर्जरा व उनके कार्य अकाल मरण आदि उपचार कथन मात्र रह जायेंगे, उससे अधिक कुछ भी नहीं, जिस उपचार कथन को वैसे भी प्रतिपक्ष अभूतार्थ/असत्यार्थ मानता है ॥

अभूतार्थ असत्यार्थ मानने के कारण वैसे भी उसका अभाव ही ठहरता है ॥

तो क्या जिनेन्द्र भगवान के मत में अविपाक निर्जरा का सर्वथा अभाव ही है, सद्भाव नही ?

नहीं न ?

किंतु यदि भारिल्लजी की बुद्धि का अनुसरण करोगे, तो कहना यही होगा कि जिनेन्द्र भगवान के मत में अविपाक निर्जरा का सर्वथा अभाव ही है, सद्भाव नहीं ॥

○ *केवलज्ञान की प्रचलित परिभाषायें व असत्यमृषा भाषा*

शंकाकार : किंतु प्रियवर आपकी प्ररूपणा भी तो नियतवाद को ही पुष्ट करने वाली सिद्ध हो रही है ?

प्रतिशंका : कौनसी प्ररूपणा ?

शंकाकार : आपने केवलज्ञान की प्ररूपणा करते हुए कहा है कि :-

सर्व द्रव्यों की जो हो चुकी हैं, जो हो रही हैं, जो होने वाली हैं व जो बाँधी तो गई हैं, किन्तु भोगी नहीं जायेंगी आदि सभी पर्यायों में केवलज्ञान की प्रवृत्ति है ॥

यह परिभाषा भी तो नियतवाद को ही पुष्ट करने वाली है, क्योंकि इस परिभाषा से भी आभाष तो यही हो रहा है कि सभी कुछ तय है, यहाँ तक कि वे पयायें भी जो बाँधी तो गई

है, किंतु भोगी नहीं जायेगी ॥

समाधान : ठीक कह रहे हैं आप ॥ हमारे द्वारा प्ररूपित उपर्युक्त परिभाषा में निहित यही संशय व अनध्यवसाय हमारे कथन को असत्यमृषा सिद्ध करता है व कहता है कि इन वचनों को स्यात्पद सहित अंगीकार करना, रहित नहीं, वर्ना मिथ्यात्वरूपी पिशाच राह तकता हमको हमारे ही द्वार पर खडा मिलेगा ॥

शंकाकार : किंतु प्रियवर, केवल ज्ञान की आपके द्वारा प्ररूपित अथवा अन्यों के द्वारा प्ररूपित परिभाषाओं को नियतिवाद के आरोप से मुक्त करने के लिये असत्यमृषा भाषा का आश्रय कैसे लिया जाये ?

समाधान : उपर्युक्त, आपके द्वारा प्रस्तुत प्रमाण द्वारा ही ॥

कैसे ?

आपके द्वारा प्रस्तुत प्रमाण में कविवर ने कहा कि :-

जैसी देखी वीतराग ने, तैसी होसी वीरा रे ।

इसी अर्थ को और अधिक पुष्ट करते हुए द्वितीय पंक्ति के तृतीय पाद में वे कहते हैं कि

अनहोनी कबहूँ न होसी,

इस प्रकार काव्य की प्रथम पक्ति व द्वितीय पंक्ति का प्रथम पाद नियतिवाद को एकांततः पुष्ट करता है, एकांततः पुष्ट करते हुए कहता है कि सब कुछ तय अर्थात् पूर्व निर्धारित है, नया कुछ भी नहीं ॥

किन्तु तभी तक, जब तक कि द्वितीय पंक्ति के चतुर्थ पाद का समीचीन स्वाध्याय न कर लिया जाये ॥

कैसे ?

यदि काव्य के तीनों पाद एकान्ततः नियतिवाद की ही पुष्टि करने वाले होते, तब तो, कवि द्वारा काव्य की द्वितीय पंक्ति का चतुर्थ पाद कहा ही नहीं गया होता, जिसमें कि जिनेन्द्र भक्त भव्य आत्मा को उन्होने अधीर न होने का उपदेश दिया है, देखिये :-

काहे होत अधीरा रे !

यदि जैसा वीतरागी ने देखा है, वैसा ही होना तय है, उससे अन्य कुछ भी नही, तब तो जिसे उपदेश दिया जा रहा है, उसे तू अधीर न हो, ऐसा कहा ही नहीं जा सकता है ॥

कहा जा सकता है क्या ?

नहीं, कहा ही नहीं जा सकता ॥

क्योंकि फिर उसका अधीर होना भी वीतरागी ने देखा होगा ॥

और यदि वीतरागी ने उसे अधीर होते हुए देखा ही है, फिर कैसे कहा जा सकता है कि तू अधीर न हो ?

अर्थात् कहा ही नहीं जा सकता ॥

इस प्रकार अर्थ करने पर तो जिनेन्द्र भक्त भव्य आत्मा को तू अधीर न हो, ऐसा जो काव्य में कहा गया है, वह उपदेशक के ही वचनो को स्व वचन बाधित सिद्ध कर देगा ॥

अधीर न हो, यह कहा ही तभी जा सकता है, जबकि अधीर न होने की स्वतंत्रता इस जीव को हो ॥

अत काव्य का चतुर्थपाद नियतिवाद की एकांततः पुष्टि न करते हुए जीव को, पुरुषार्थ पर आस्था उत्पन्न कराते हुए, पुरुषार्थ द्वारा दैव को, संक्रमणादि द्वारा परिवर्तित करने के सामर्थ्यवाला सिद्ध करता है ॥

इस प्रकार इस काव्य में परस्पर विरुद्ध काल व अकाल नयो का अद्भुत व चतुराई पूर्ण प्रयोग हुआ है कि जो हो गया वह अशक्यानुष्ठान, अत उसे दैवादि स्वीकार कर लो, किन्तु जो अभी नहीं हुआ है, वह यदि निकाचित नहीं है, तो पुरुषार्थ द्वारा तू उसे अन्य प्रकृति रूप संक्रमणादि करने की सामर्थ्य से युक्त है, इसलिये अधीर मत हो ॥

यदि अधीर न होने की स्वतंत्रता इस जीव को न हो, अर्थात् इस प्रकार की स्वतंत्रता के विधान का जिनागम में सर्वथा अभाव हो, तो कवि द्वारा इस प्रकार का उपदेश, उसे अपलाप करने वाला, मूढ सिद्ध कर देगा ॥

नहीं कर देगा क्या ?

नहीं क्यों कर देगा ? कर ही देगा ॥

तो क्या आपके कविराज मूढ थे ?

यदि नहीं थे, तब तो आपको प्ररूपणा हमारे अनुसार करनी होगी, वर्ना आपकी प्ररूपणा तो उन्हें मूढ़ सिद्ध करके ही रहेगी ॥

इस विषय में आगमानुसार युक्तियाँ इस प्रकार है :-

प्रथम युक्ति करणानुयोग से :-

जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित करणानुयोग में जिनेन्द्र भगवान ने कर्मसिद्धान्त के अभ्यासी के लिये १० करणों का निर्देश किया है ॥

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित किसी भी सिद्धान्त को कर्मसिद्धान्त के आश्रय से प्रतिपादित करने के लिये १० करणों का अभ्यास आवश्यक है ॥

इन्ही १० करणों के कारण इस अनुयोग को करणानुयोग कहा जाता है, अन्य किसी

कारण से नहीं ।।

अर्थात् यदि कर्मसिद्धान्त में कुशलता लानी है, तो १० करणों में कुशल होना ही होना होगा, बगैर १० करणो मे कुशल हुए करणानुयोग में कुशलता आ ही नहीं सकती ।।

इन्हीं १० करणों में दो करण हैं निधत्त व निकाचित् ।।

कर्मों की स्थिति व अनुभाग शक्ति की अतिविशेष विशेषता के दिग्दर्शक ये दोनों ही करण हैं ।।

इनमें से निधत्त तो कर्मों की उस शक्ति को कहते हैं, जिसमें परिणाम विशेष के बल से उन कर्मों की स्थिति में तो उत्कर्षण-अपकर्षण किया जा सकता है, किन्तु उनकी उदीरणा अथवा संक्रमणादि नही किया जा सकता ।।

अर्थात् कर्म जैसे अर्थात् जिस प्रकृति के बाँधे गये हैं, वे ठीक वैसे ही न सिर्फ सत्ता में पड़े रहेंगे, अपितु उदय में भी उसी प्रकृति की फलदान शक्ति से युक्त हो आयेंगे ।। इस संदर्भ में हम कोई परिवर्तन नहीं कर सकते, किन्तु उस कर्म की स्थिति अर्थात् काल को हम कम-अधिक कर सकते हैं, जिसे कि अपकर्षण-उत्कर्षण कहते हैं ।।

इस विषय में उदाहरण श्रेणिक राजा का है ।।

उन्होने आयु नरक की बाँधी ।। नरक में भी पुनः सप्तम नरक की उत्कृष्ट ३३ सागर ।। किन्तु सम्यक्त्व के अतिशय से उनकी आयु घटी, घट कर प्रथम नरक के योग्य रह गई व वे प्रथम नरक में गये ।।

सम्यक्त्व के प्रभाव से नरकायु घटी अवश्य, किंतु छिद नहीं पाई, इसे ही निधत्त करण कहते हैं ।।

निकाचित् करण मे आप स्थिति अर्थात् काल का भी उत्कर्षण या अपकर्षण नहीं कर सकते ।।

उसे तो जैसा बाँधा है, ठीक वैसा ही भोगना पड़ेगा ।।

इसी निकाचित करण को ही अन्य अनुयोग नियोग कहते हैं, जैसे कि चक्रवर्ती बगैर ६ खण्डों को भोगे संसार, शरीर व भोगों की नश्वरता का चिंतन तो कर सकता है, किन्तु उनसे विरक्त नहीं हो सकता ।।

पाठक वर्ग कृपया स्मरण रखिये कि संसार-शरीर-भोगों की नश्वरता का चिंतन, वैराग्य का सहकारी कारण अवश्य है, किन्तु वैराग्य नहीं ।।

वैराग्य का लक्षण त्याग है, न कि चिंतन ।।

अर्थात् वैराग्य की सिद्धि संकल्प पूर्वक ग्रहण किये गये त्याग से होती है, अन्य प्रकार

से नहीं ॥

ठीक इसी प्रकार पाठक वर्ग यह भी स्मरण में रखें कि नियोग विवक्षानुसार अर्थात् देन अर्थों में काललब्धि होता है, सर्वथा नहीं, क्योंकि पूर्व भव के उपार्जित पाप-पुण्य के आश्रित वह होता है ॥

इस प्रकार यहाँ अर्थ ग्रहण करना है कि नियोग अर्थात् निकाचित् कर्म जैसा बंधा है, ठीक वैसा ही बना रहता है, पुरुषार्थ उसमें परिवर्तन करने में सामर्थ्यवान नहीं है ॥

केवलज्ञान द्वारा प्रथमानुयोग में प्ररूपित महापुरुषों के जीवन चारित्र के मुख्य विषय यही निकाचित् कर्मों की फलदान शक्ति से युक्त घटनाक्रम होते हैं ॥

अर्थात् तीर्थंकर भगवान महापुरुषों के जीवन के उन्हीं घटनाक्रमो को कहते हैं, जो कि या तो घट चुके हैं अथवा भविष्य काल की अपेक्षा निकाचित् हैं ॥

वे घटनाएँ जो कि निकाचित् कर्मों के आश्रित नहीं हैं, उन्हें वे नियत रूप से नहीं कहते ॥

उन्हे कहा ही नहीं जा सकता ॥

यदि कहा जा सके, तो नियतिवाद का दूषण आ जाये ॥

नहीं आ जायेगा क्या ?

आ ही जायेगा, आ क्यों नहीं जायेगा ?

अर्थात् वे घटनाएँ जो कि निकाचित् कर्मों के आश्रित होने से निर्धारित हैं, उन्हें नियत रूप से जानते व देखते हैं, किन्तु वे घटनाएँ जो कि निकाचित् कर्म के आश्रित नहीं हैं, उन्हें संभावित घटनाक्रम के रूप में देखते हैं ॥

शंकाकार : क्या इस विषय में कोई प्रमाण भी है, या कि फिर युक्ति ही युक्ति है ?

समाधान : प्रथम तो आपको अपना प्रश्न संशोधित करना होगा, क्योंकि ऊपर हमारे द्वारा जो कुछ भी कहा गया है, वह मात्र युक्ति नहीं है, अपितु आगम भी है ॥

आगम में भी पुन करणानुयोग, जिसे कि बाधित करने वाले सूत्रों का जिनागम में अभाव है अर्थात् उपर्युक्त अबाधित, अनुलंघनीय विवेचन ही जिनागम है ॥

शंकाकार : किंतु श्री धवलाकारजी कहते हैं कि मिथ्यात्व रूपी निकाचित् व निधत्त कर्म भी जिनबिंब दर्शन से टुटता है, और आप कह रहे हैं कि....

समाधान : यह अतिशय अनिवृत्तिकरण परिणामों का है ॥

निकाचित् व निधत्त कर्मों का अस्तित्व अपूर्वकरण परिणामों तक ही प्राप्त होता है, उससे आगे नहीं, उससे आगे विवक्षाणुसार प्राप्त होता है (श्री गोम्मटसारजी कर्मकाण्ड, गाथा ४५० का आशय) ॥ इनमें से मिथ्यात्व रूपी निकाचित् व निधत्त कर्म पिशाच को जिनबिंब दर्शनादि से

प्रथम गुणस्थान में अनिवृत्तिकरणलब्धि परिणामो के आश्रय से क्षय को प्राप्त करवा दिया जाता है, किंतु मिथ्यात्व के अलावा शेष निधत्त-निकाचित् कर्मों का क्षय विवक्षानुसार ९ वें गुणस्थान मे ही सभव है, उसके पूर्व नही, यह श्रीमद् धवलाकारजी का आशय है ।।

इस विवेचन को उपर्युक्त प्ररूपणा में सर्वत्र स्मृति में रखना है ।।

करणानुयोग के पश्चात् प्रमाण प्रथमानुयोग से ।।

द्वितीय युक्ति प्रथमानुयोग से :-

(भावार्थ मात्र : श्री उत्तरपुराणजी, सर्ग ७६, श्लोक संख्या १ से ३०)

भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जानेवाले राजा श्रेणिक ने मार्ग मे ध्यान निमग्न, परन्तु कुछ विकृत मुखवाले धर्मरुचि की वन्दना की ।। समवशरण मे पहुँचकर गणधर देव से प्रश्न करने पर उन्होने बताया कि अपने छोटे से पुत्र को ही राज्यभार सौंपकर यह दीक्षित हुए हैं ।। आज भोजनार्थ नगर में गये तो किन्हीं मनुष्यो की परस्पर बातचीत को सुनकर इन्हें यह भान हुआ कि मंत्रियों ने उसके पुत्र को बाँध रखा है और स्वयं राज्य बॉटने की तैयारी कर रहे हैं ।। वे निराहार ही लौट आये और अब ध्यान में बैठे हुए क्रोध के वशीभूत हो संरक्षणानन्द नामक रौद्रध्यान में स्थित है ।। यदि आगे अन्तर्मुहूर्त तक उनकी यही अवस्था रही तो अवश्य ही नरकायु का बन्ध करेंगे ।। अतः तू शीघ्र ही जाकर उन्हें सम्बोध ।। राजा श्रेणिक ने तुरंत जाकर मुनि को सावधान किया और वह चेत होकर रौद्रध्यान को छोड़ शुक्लध्यान में प्रविष्ट हुए ।। जिसके कारण उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया ।।

यह प्रमाण तो केवलज्ञान की अपेक्षा हुआ, किंतु इस विषय में मात्र केवलज्ञान ही नहीं, अपितु अवधिज्ञान के भी प्रमाण हैं, देखिये :-

(भावार्थ मात्र : श्री उत्तर पुराणजी, सर्ग ७४, श्लोक संख्या ३८६ से ४१४)

श्रेणिक के पूर्वभव के जीव खदिरसार ने समाधिगुप्त मुनि से कौवे का मांस न खाने का व्रत लिया ।। बीमार होने पर वैद्यों द्वारा कौवों का मांस खाने के लिए आग्रह किये जाने पर भी उसने वह स्वीकार न किया ।। तब उसके साले शूरवीर ने उसे बताया कि जब वह उसको देखने के लिए अपने गाँव से आ रहा था तो मार्ग में एक यक्षिणी रोती हुई मिली ।। पूछने पर उसने अपने रोने का कारण यह बताया कि खदिरसार जो कि अब उस व्रत के प्रभाव से मेरा पति होने वाला है, तेरी प्रेरणा से यदि कौवे का मांस खा लेगा तो नरक के दुःख भोगेगा ।। यह सुनकर खदिरसार ने तुरंत श्रावक के व्रत धारण कर लिये और प्राण त्याग दिये ।। मार्ग में शूरवीर को पुन. वही यक्षिणी मिली ।। जब उसने उससे पूछा कि क्या वह तेरा पति हुआ तो उसने उत्तर दिया कि **अब तो श्रावक व्रत के प्रभाव से** वह व्यन्तर होने की बजाय सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न **हो गया, अतः मेरा पति नहीं हो सका ।।**

निश्चित ही उपर्युक्त दोनों प्रमाण इस सत्य की सिद्धि के लिये पर्याप्त हैं कि वे घटनाएँ **जो कि निकाचित् कर्मों के आश्रित होने से निर्धारित हैं, उन्हें सर्वज्ञ नियत रूप से जानते व देखते हैं, किन्तु वे घटनाएँ जो कि निकाचित् कर्म के आश्रित नहीं हैं, उन्हें संभावित घटनाक्रम के रूप में जानते व देखते हैं ॥**

अर्थात् तीर्थंकर भगवान ने प्रथमानुयोग में जो कुछ भी कहा है, वह मुख्यतया निकाचित् करण के आश्रय से घटी घटनाओं को ही कहा है, उनसे अन्य घटनाओं को नहीं, अन्य घटनाओं को परमागम में कहीं-कहीं कहा तो गया है, किंतु अत्यंत गौण रूप से, जिनकी कि संख्या अत्यंत स्तोक अर्थात् अत्यल्प है, उन्हीं स्तोक उपदेशों में से ऊपर कहे गये दोनों कथानक हैं ॥

तृतीय युक्ति न्यायशास्त्र अर्थात् द्रव्यानुयोग से :-

यह तो प्रथमानुयोग से दिये गये प्रमाण हुए, किन्तु न्यायग्रंथों को भी कालानुसार मुक्ति अर्थात् मोक्ष का काल सभी प्राणियों का नियत ही है, ऐसा स्वीकार नहीं है, देखिये :-

श्री राजवार्तिकजी, अध्याय १, सूत्र ३ की टीका, वार्तिक १० :-

वार्तिक ७ में (जैसा कि कानजी स्वामी का व उनके आश्रय से डॉ. भारिल्लजी आदि का मत है, वैसे ही) **भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्त** अर्थात् भव्य जीवों की अपने-अपने नियत काल पर ही नि श्रेयस् की प्राप्ति होती है, कह कर **अन्यमति** ने अपना मत रखा था ॥

उसीका परिहार वार्तिक क्रमाक ८ से १० तक के वार्तिकों में आचार्य भगवंत द्वारा किया गया है ॥

वार्तिक १० में उपसहार है, उसे ही हम यहाँ दे रहे हैं ॥

ज्ञानात् क्रियाया द्वयात् त्रितयाच्च मोक्षमाचक्षाणस्य सर्वस्य नेदं युक्तम् - भव्यस्य कालेन मोक्षः इति ॥ यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यंतरकारण-नियमस्यदृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात् ॥

अर्थ : जो व्यक्ति मात्र ज्ञान से या चारित्र से या दो से या तीन कारणों से मोक्ष मानते हैं, उनके यहाँ कालानुसार मोक्ष होगा यह प्रश्न ही नहीं होता ॥ यदि सभी भव्यजीवों को काल ही हेतु रूप में इष्ट हो, तो बाह्य और आभ्यंतर कारण के नियम का अथवा दृष्ट और इष्ट का विरोध होने लगेगा ॥

अर्थात् श्रीमद् राजवार्तिककारजी कह रहे हैं कि वे लोग कि जो काल से अन्य दर्शन ज्ञान चारित्रादि को मोक्ष का कारण मानते हैं, उनके मत में कालानुसार मोक्ष बन ही नहीं सकता, और जो लोग कालानुसार मोक्ष मानते हैं, उनके मत में काल के अलावा अन्य किसी भी कारण को मोक्ष का कारण निरूपित ही नहीं कर सकते

क्यों कि वह अकेला ही कारण अन्य समस्त कारणों का परिहार करने वाला हो जायेगा ॥

अर्थात् यदि सब कुछ नियत काल में ही होना है, तब तो मुक्ति के बाह्य व अंतरंग कारण दर्शन, ज्ञान व चारित्र आदि के उपदेश को निष्फल ही कहना होगा अर्थात् उनका अपना कोई औचित्य नहीं रहेगा ॥

और यदि दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि को मोक्ष का कारण कहते हो, तो सब कुछ नियत काल में ही होना है, इस मत का त्याग करना होगा ॥

निश्चित ही सभी कुछ नियत है, मत के खण्डनार्थ श्री राजवार्तिकजी का यह प्रमाण प्रबुद्ध पाठकों के लिये पर्याप्त है ॥

चतुर्थ युक्ति कार्तिकेयाणुप्रेक्षाजी से :-

किंतु जिनके लिये नहीं है, उनके लिये श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षा जी की प्रमाण रूप से प्रस्तुत उन्हीं की गाथा से कुछ कहते हैं ॥ गाथा इस प्रकार है :-

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा तह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ : जिस जीव के जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिन देव ने नियत जाना है, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इंद्र या जिनेन्द्र कौन टाल सकने में समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ॥

इस गाथा में विवेचना के योग्य दो पद हैं, एक णियदं, जिसका कि संस्कृत रूप है नियतं व दूसरा पद है जस्स, जिसका कि संस्कृत रूप है यस्य ॥

इन दोनों पदों में से प्रथम नियतं पद के आश्रय से विवेचना का प्रयास करते हैं, सुनिये :-

नियतं यह विशेषण है ॥

प्रश्न यह है कि उपर्युक्त गाथा मे इस विशेषण का विशेष्य कौनसा पद है ?

इस प्रश्न का उत्तर श्री कार्तिकेयाणुप्रेक्षाजी के सुप्रसिद्ध व सुस्थापित वैयाकरण टीकाकार श्रीमद् शुभचंद्राचार्यजी अपनी सुप्रसिद्ध टीका में देते हैं, सुनिये :-

...नियतं निश्चितं यत् जन्मं अवतरणम् उत्पत्तिर्वा अथवा मरणं वा शब्दः समुच्चयार्थः सुखं दुःखं लाभालाभमिष्टानिष्टादिकं गृह्यते, तत् सर्वं

दशविधानकालादिक जिनेन ज्ञातं केवल ज्ञानिनावगतम् ॥

अर्थ : यद् अर्थात् जो ॥

जन्म अर्थात् अवतरण अर्थात् उत्पत्ति, इसी प्रकार मरण भी ॥ मात्र यही दोनों नहीं, अपितु और भी, जिसकी सूचना के लिये गाथा में वा शब्द दिया है, इस वा शब्द के आश्रय से सुख, दुःख, लाभ, हानि, इष्ट, अनिष्ट आदि का भी सम्मुच्चय कर लिया गया है ॥

इनका समुच्चय कर के कहा गया है कि जिसके जन्म, मरण, लाभ, हानि, इष्ट, अनिष्टादि को केवली भगवान ने नियत अर्थात् निश्चित् जाना है....

इस प्रकार इस गाथा में नियत को गाथा में प्रयुक्त क्रिया का विशेषण कहा गया है ॥

वह क्रिया कौनसी है ?

जानना, यह गाथा में प्रयुक्त क्रिया है ॥

पाठक वर्ग कृपया स्मरण रखें कि केवलि भगवान के ज्ञान को यहाँ जानने वाला कर्ता निरूपित किया गया है, चूँकि वह अपने ज्ञान में ही जानेगा, इसलिये कर्म भी निरूपित किया गया है, व ज्ञान की ज्ञातृ शक्ति द्वारा जानेगा, अतः क्रिया भी निरूपित किया गया है..

इस प्रकार इस गाथा में एक ज्ञान को ही कर्ता, कर्म व क्रिया, तीनों, भेद नय से निरूपित किया गया है ॥

यहाँ प्रश्न यह है कि यह ज्ञान अपनी ज्ञातृ शक्ति द्वारा किसे जानता है ?

इस प्रश्न का उत्तर प्रसिद्ध है कि स्व और पर दोनों को जानता है ॥

इन स्व और पर द्रव्यों में से इस गाथा में प्रकरण पर द्रव्यों का है कि पर द्रव्यों को जानता है ॥

समस्त जीवाजीव पर द्रव्यों में से भी यहाँ प्रकरण सिर्फ और सिर्फ जीव द्रव्य का है क्यों कि जन्म, मरण, हानि, लाभ, इष्ट, अनिष्टादि पर्यायों में रूढ़ि से जीव द्रव्य को ही कहा जाता है, अन्य किसी द्रव्य को नहीं ॥

अतः कहा जायेगा कि जीवों की जन्म, मरणादिक पर्यायों को जानता है ॥

यहाँ पुनः प्रश्न को अवकाश है कि इन पर्यायों की कोई विशेषता भी है क्या ?

इस पर आचार्य भगवंत ने गाथा में ही उत्तर दिया है कि इन पर्यायों को भोगने से टालने में इंद्रादिकों को तो पृथक करो, स्वयं साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी सामर्थ्यवान नहीं हैं ॥

यहाँ प्रश्नकर्ता बहुमूल्य प्रश्न करता है कि भगवान, क्या सभी जीवों की सभी पर्यायों को ?

इस प्रश्न का उत्तर गाथा में प्रयुक्त नियंत विशेषण में है ॥ यहाँ इस गाथा में नियत अव्यय को ज्ञातृ क्रिया के क्रिया विशेषण के रूप में प्रयुक्त करके कहा गया है कि अनंत

जीवों में से जिस जीव के जन्म, मरणादिकों को केवली भगवान ने नियत अर्थात् निश्चित जाना है, उसके जन्म, मरणादिक को इंद्र या जिनेन्द्र कौन टाल सकने में सामर्थ्यवान है ? अर्थात् कोई नहीं ॥

पारिशेष न्याय से अथवा व्यतिरेक विधा द्वारा इसीको पुनः इस प्रकार कहा जायेगा कि केवली भगवान ने अनन्त जीवों में से जिसके जन्म, मरणादिक को, नियत अर्थात् निकाचित् नहींजाना है....

तो क्या जाना है ?

अनियत/अनिकाचित् जाना है, उन्हें इंद्र, जिनेन्द्रादि को तो पृथक करो, किंतु वह जीव स्वयं ही अपने पुरुषार्थ से टाल सकता है, इसमें शंका को कोई स्थान नहीं है, व जो करते हैं, उनका अपना सम्यक्त्व शंकित है ॥

नहीं है क्या ?

नहीं क्यों है ? है ही ॥

शंकाकार : पारिशेष न्याय से आपने अनियत/अनिकाचित् जाना है, अर्थ कैसे ग्रहण कर लिया ?

समाधान : प्रिय पाठको, इसे सदैव स्मृति में रखें कि विशेषणों का बहुधा प्रयोग प्रतिपक्ष के अस्तित्व की स्वीकारोक्ति पूर्वक परिहार के लिये होता है, प्रतिपक्ष के अस्तित्व के सर्वथा अभाव को दिग्दर्शित करने के लिये नहीं ॥

जैसे यह कहा जाये कि मैं सत्य बोलता हूँ, इसका अर्थ है कि मैं असत्य नहीं बोलता हूँ ॥

मेरे द्वारा बोले गये इस वाक्य में कि मैं सत्य बोलता हूँ, में संसार में जहाँ एक ओर असत्य के अस्तित्व की सिद्धि होती है, वहीं दूसरी ओर मेरे कथन में उसके परिहार की ॥

असत्य के अभाव में सत्य का विशेषण अर्थ में प्रयोग ही नहीं हो सकता ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि विशेषणों का प्रयोग प्रकरण नहीं होने से अथवा विपरित होने से, प्रतिपक्षी के परिहार के लिये होता है, उसके अभाव की सूचनार्थ नहीं ॥

ठीक ऐसे ही, जैसा कि यहाँ कहा गया है कि जिनदेव ने जिसके जन्म अथवा मरणादिक को नियत जाना है, इस वाक्य में नियत कहना ही तय करता है कि उसी जीव के, जिसके कि जन्म अथवा मरण नियत हैं, जिसके अनियत हैं, उसके नहीं, उसके संबंध में व्याख्यान यहाँ गौण रखा गया है, किया ही नहीं गया है ॥

अर्थात् इस गाथागत व्याख्यान की सीमा उस जीव की है, जिसकी कि पर्यायें नियत हैं, अनियत नहीं ॥ अनियत पर्यायों वाले जीवों की सूचना पारिशेष न्याय से अथवा अन्वय-व्यतिरेक विधा से ग्रहण करनी पडती है, जिसे कि ऊपर ग्रहण कर कहा जा चुका है ॥

यह कहना भी ठीक ऐसे ही है, जैसे कि यह कहा जाय कि जिनेन्द्र भगवान ने जिस कथन को सत्य जाना है, उस कथन की सत्यता को इंद्रदिकादि कोई बाधित नहीं कर सकते ॥ इसका अर्थ यह नहीं होता कि जगत में असत्य कथन होता ही नहीं है, सत्य कथन ही होते हैं, अपितु इसका अर्थ होता है कि सत्य व असत्य दोनों ही प्रकार के कथन जगत में हैं, किंतु उनमें से जिस कथन को सत्य जाना है, उस कथन की सत्यता को विशिष्ट प्रज्ञा के धनी इंद्रादिकादि कोई बाधित नहीं कर सकते ॥

पारिशेष न्याय अथवा व्यतिरेक विधा द्वारा इसे ही इस प्रकार कहा जायेगा कि केवलज्ञानी ने जिस कथन को सत्य नहीं जाना है...

तो क्या जाना है ?

असत्य जाना है, उसकी प्रमाणिकता को विशिष्ट प्रज्ञा के धनी इंद्रादिक को तो पृथक करो, सामान्य श्रुतज्ञानियों द्वारा ही बाधित किया जा सकता है ॥

ठीक ऐसे ही, सत्य-असत्य दो प्रकार के कथनों की ही तरह यहाँ भी ग्रहण करना होगा कि पर्यायों को धारण करने वाले जीव भी दो प्रकार के होतें हैं, १. नियत पर्यायों को धारण करने वाले नियत पर्यायधारी व २. अनियत पर्याय धारण करने वाले अनियत पर्यायधारी ॥

इन दो प्रकार की पर्यायों को धारण करने वालों में से जिसकी जन्म, मरणादिक पर्यायों को केवली भगवान ने नियत जाना है, उसकी उन जन्म, मरणादिक पर्यायों को टालने की सामर्थ्य इंद्रादिकों को तो पृथक करें, स्वयं जिनेन्द्र भगवान में भी नहीं है ॥

इन्हीं नियत, जिन्हें कि टाला नही जा सकता, पर्यायधारियों का कथन मुख्यता से मात्र यहीं नहीं,अपितु परमागम में सर्वत्र किया गया है, अनियत पर्यायधारियों का नहीं ॥

किंतु ऐसा भी नहीं है कि अनियत पर्यायधारियों को कहा ही नहीं गया है, नहीं, कहीं-कहीं उनके जीवन चक्र को भी कहा गया है, किंतु संभावित घटनाओं के रूप में, तय रूप में नहीं, जैसे कि धर्मरुचि मुनिराज व खदिरसार भील की कथाएं, किंतु इन कथाओं की संख्या अत्यंत स्तोक अर्थात् थोड़ी है ॥

इसे ही सूत्र में एक बार पुनः स्मृति में उतार लें कि वे घटनाएँ जो कि निकाचित् अथवा निधत्त कर्मों के आश्रित होने से निर्धारित हैं, वे नियत हैं, किन्तु वे घटनाएँ जो कि निकाचित् अथवा निधत्त कर्मों के आश्रित नहीं हैं, वे संभावित हैं, निर्धारित नहीं ॥

तीर्थंकर भगवान ने प्रथमानुयोग में जो कुछ भी कहा है, वह मुख्यतया निकाचित्

करण के आश्रय से घटी घटनाओं को ही कहा है, उनसे अन्य घटनाओ को नहीं, अन्य घटनाओं को कहा भी गया है, तो अत्यंत गौण रूप से, जिनकी कि सख्या स्तोक है ।।

इस प्रकार नियतम् पद की सामान्य से व्याख्या हुई, अब उसीकी सूत्र बद्ध व्याख्या विशेषता सहित करने का पुरुषार्थ करते हैं, सुनिये :-

जैसा कि पूर्व में कहा गया :-

गाथा में कहा गया पद नियतम् विशेषण है, जिसका कि विशेष्य ज्ञातृ क्रिया है ।।

यहाँ विषय के समीचीन बोध के लिये विशेषण-विशेष्य की परिभाषायें स्मरण करने योग्य हैं ।।

१. **विशेषण** : जो विशेष्य की विशेषता को दर्शाते हैं, विशेषण कहलाते हैं ।।

२. **विशेष्य** : जो किसी विशेषता के कारण पृथक किये जाये, विशेष्य कहलाते हैं ।।

जैसे कहा जाये कि सफेद घोड़ा ।।

इस वाक्य में सफेद यह घोड़े की विशेषता दर्शाने वाला संज्ञा विशेषण है, जो कि उसे अन्य घोडों से पृथक करता है ।।

इसी प्रकार तेज धावक पद भी है ।।

इस पद में तेज यह धावक की विशेषता बतलाने वाला क्रिया विशेषण है, जो कि उसे अन्य धावकों से पृथक करता है ।।

ठीक ऐसे ही गाथा मे कहा गया पद नियतम् यह ज्ञातृ क्रिया की विशेषता दर्शाने वाला क्रिया विशेषण है, जो कि उसे, एक ही ज्ञातृ क्रिया द्वारा नियत जानने से अन्य, जो अनियत जानना है, से पृथक करता है ।।

उनसे पृथक करते हुए कहता है कि केवली भगवान सिर्फ नियत जन्म, मरणादिक पर्यायवानों को ही जानते हैं, अनियत पर्यावानों को नहीं, ऐसा नहीं, अपितु जिसे इंद्र, जिनेन्द्रादि टालने में सामर्थ्यवान नहीं हैं, ऐसे नियत जन्म, मरणादिक पर्यायधारियों को व जिन्हें इंद्र, जिनेन्द्रादि टालने में सामर्थ्यवान ऐसे अनियत जन्म, मरणादिक पर्यायधारियों को भी जानते हैं ।।

इस प्रकार भाषाशास्त्रानुसार यह प्ररूपणा हुई कि सभी जीवों की जन्म, मरणादिक पर्यायें नियत ही होती हैं, अनियत नहीं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है और जो इसे जानता या मानता नहीं है, वो जिनेन्द्र भगवान के मत को ही नहीं जानता है ।।

प्रिय पाठको, क्या आपको इस गाथा के अर्थ में किसी भी अपेक्षा से नियतवाद के पक्षपात की बू आ रही है कि सभी कुछ नियत ही है ?

नहीं न ?

आ भी नहीं सकती ॥ आनी भी नहीं चाहिये ॥ क्यों कि जो अर्थ कहा ही नहीं जा रहा है, उसका प्रतिभाष बुधजनों को कैसे हो सकता है ? अर्थात् हो ही नहीं सकता ॥

यहाँ न्याय शास्त्रों के आश्रय से एक सूत्र और स्मरण में ले लेना चाहिये कि ज्ञेय की विशेषता से ज्ञान को विशेष कहा गया है ॥

यदि ज्ञेय में विशेषता न हो, तो ज्ञान में कोई विशेषता नहीं होती, क्योंकि ज्ञातृ ज्ञान की विशेषता रहित सामान्य क्रिया है, जो कि विशेषता रहित व विशेषता सहित दोनों ही पदार्थों मे समान रूप से प्रवृत्ति करती है ॥

अत: ज्ञान की ज्ञातृ शक्ति को ज्ञेय की विशेषता का उपचार करके विशेष कहा गया है, ज्ञान की ज्ञातृ शक्ति स्वयं ही विशेष है, इस कारण से नहीं ॥ ॥

वस्तुत: नियत व अनियत तो ज्ञेय ही होते हैं ॥ और जो ज्ञेय होते हैं, वे नियमतः गुणवान व पर्यायवान होते हैं ॥ इन ज्ञेयों में भी विशेषता गुणों से आती है व गुणों में विशेषता पर्यायों से, अत: परंपरा से विशेष पर्यायें ही हुई, पर्यायी अर्थात् ज्ञेय अथवा गुण नहीं ॥

चूँकि परंपरया विशेषतायें पर्यायों में ही होती हैं, ज्ञेयों अथवा गुणों में नहीं, इसलिये सिद्ध हुआ कि नियत व अनियत विशेषण अभेद नय से जन्म, मरणादिक पर्यायों के ही हैं, जन्म, मरणादिक पर्यायों से अन्य किसी के नहीं ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि गाथा में नियतम् विशेषण को ज्ञातृ क्रिया का विशेषण ज्ञेय का उपचार करके कहा गया है, ज्ञेय में गुणों का उपचार करके व गुणों में पर्यायों का उपचार करके ज्ञातृ क्रिया को विशेष कहा है ॥

इस प्रकार नियतम् पद की मीमांसा पूर्ण हुई, अब द्वितीय पद यस्य की विवेचना करते हैं ॥

आचार्य भगवंत ने इस गाथा में संबंध बोधक सर्वनाम प्रयुक्त किया है "यद्" ॥

इसका अर्थ होता है, जो ॥

इसी यत् सर्वनाम का षष्ठी एक वचन रूप है यस्य ॥ इसका अर्थ होता है जिसका ॥

यस्य का प्रयोग बहुधा तस्य के साथ ही किया जाता है ॥

यह सर्वनाम प्रत्येक जीव का इस अर्थ में रूढ़ नहीं है, अपितु कइयों में से किसीका, इस अर्थ को इंगित करने वाला है ॥

जैसे कहा जाय कि जिनेन्द्र ॥

इसका अर्थ है यस्य जिनः इन्द्रः, तस्य संज्ञा जिनेन्द्रः ॥

अर्थात् जिसका इंद्र जिन अर्थात् अरिहंत है, उसकी संज्ञा जिनेन्द्र है, सभी की अर्थात् प्रत्येक की नहीं, अपितु सभी में से सिर्फ उन्हीं की जिनका कि इंद्र जिन है, और कोई नहीं ॥

अर्थात् यत् सर्वनाम प्रत्येक जीव का इस अर्थ में रूढ़ नहीं है, अपितु कइयों में से

किसी-किसीका, इस अर्थ को इगित करने वाला है ॥

यदि आचार्य भगवंत को इस गाथा में प्रत्येक जीव ऐसा अर्थ इष्ट होता, तो यस्य के स्थान पर प्रत्येक जीव का, ऐसी सूचना देने वाले सर्व सर्वनाम का प्रयोग किया गया होता, जिसे कि नहीं किया गया है ॥

चूँकि वैसा कुछ भी नहीं किया गया है, अत. कहा जा सकता है कि इस गाथा में जिनका जन्म, मरणादि नियत अर्थात् निकाचित् कर्म के आश्रित है, उनका ही कथन किया गया है, शेष का नहीं ॥

शेष सभी को इस गाथा में व्याख्यायित करना निश्चित ही जिनेन्द्र भगवान के मत को व्याख्याता नहीं जानता, ऐसा सिद्ध करने वाला कहलायेगा ॥

यदि इस प्रकार अर्थ ग्रहण नहीं करोगे, तो संबंध बोधक सर्वनाम यद् का समीचीन अर्थ न करते हुए शब्दार्थ से चूकोगे व शब्दार्थ से चूकोगे तो.....

निश्चित ही यहाँ यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि जो शब्दार्थ से चूका हुआ है, वो सर्वत्र व सर्व प्रकार से चूका हुआ है, क्योंकि इस पर पूर्व में सोदाहरण चर्चा विस्तार से की जा चुकी है ॥

इस प्रकार गाथा में प्रयुक्त नियतं व यस्य पदों द्वारा सिद्ध हुआ कि श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी की इस गाथा में काल नय का व्याख्यान अनर्पित नय से अकाल नय के व्याख्यान को अपने गर्भ में समाहित करते हुए किया गया है ॥

इस प्रकार प्रतिपक्ष द्वारा अपने पक्ष में प्रमाण रूप से प्रस्तुत की गई गाथा भी हमारे ही मत को कहने वाली सिद्ध हुई, न कि प्रतिपक्षी के ॥

जो गाथा स्थित इस रहस्य को नही जानता है, वो मूढ़बुद्धि हो एकांतवाद का आश्रय ग्रहण कर नियतवादियों के साथ खड़ा हो जायेगा, जैन नहीं रह पायेगा ॥

अत· जैनियों को नियतवाद भी स्यात् पद सहित ही स्वीकार हो, रहित नहीं ॥

निश्चित ही उपर्युक्त प्रमाणों के पश्चात् शंका को स्थान ही शेष नहीं रहना चाहिये कि केवलज्ञान की परिभाषा के आश्रय से नियतिवाद का मण्डन होता है ॥

नहीं, नहीं होता है ॥

किंतु पाठकों को इस गाथा के आश्रय से पसरी मिथ्या नियतिवाद का समर्थन करने वाली देशना किस (कु) तीर्थंकर की है , यह भी हम बतलाना चाहते हैं, सो सुनिये :-

और कोई नहीं, अपितु वे हैं १३पंथीय विद्वान् पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्री ॥

इस ग्रंथ पर आगास, श्रीमद् राजचंद्र आश्रम से छपा व इनके द्वारा किया गया हिंदी भावानुवाद मंदबुद्धि श्रावकाओं द्वारा न सिर्फ बहुलता से पढ़ा जाता है, अपितु तीर्थंकर

देशनावत् हृदयंगम भी किया जाता है ॥

वर्तमान की अनेकानेक १३ पंथीय शुद्धाम्नाय आदि कुधारणाओं की निर्मिति में जिनका हाथ है, उन्हीं में से एक नाम पं.कैलाशचंद्रजी शास्त्री का भी है ॥

यदि पं.कैलाशचंद्रजी शास्त्री द्वारा किये गये उपर्युक्त भावानुवाद का एकात किया जाये, तो तय मानिये, उसके पश्चात् जिनेन्द्र भगवान के मत को मिथ्या नियतवाद से मुक्त करना किसी भी अपेक्षा से संभव ही नहीं ॥

चूँकि जिनेन्द्र भगवान का मत लंघनीय अर्थात् अन्यमतियों अथवा जैनाभाषियों की युक्तियों से बाधित सूत्रों वाला नहीं होता, इसलिये जिनेन्द्र भगवान के मत को मिथ्या नियतिवाद के दूषण से मुक्त रखने वाली प्ररूपणाओं को ही समीचीन कहना चाहिये, बाधित करने वाली प्ररूपणाओं को नहीं ॥

इस प्रकार प्रतिपक्षियों द्वारा अपने मत की सिद्धि हेतु प्रमाण रूप से प्रस्तुत की गई श्री कार्तिकेयानुप्रेक्षाजी की गाथा हमारे ही मत की सिद्धि करने वाली सिद्ध हुई, प्रतिपक्षियों के मत की नहीं, उनके लिये तो उनके अपने ही मत का घात करने वाली ॥

पंचम युक्ति श्री प्रवचनसारजी से :-

शंकाकार : फिर श्री प्रवचनसारजी की गाथा ३९ वीं का अर्थ कैसे करोगे, जिसमें कहा गया है कि अनुत्पन्न व नष्ट पर्यायों को जानता है ?

समाधान : नष्ट पर्यायों को लेकर तो कोई बाधा ही नहीं है, चिंतन तो अनुत्पन्न पर्यायों की अपेक्षा से है ॥ यदि इस परिभाषा में निकाचित् व निधत्त करण को गम्य मानकर विवेचना नहीं करोगे, तो आपका सूत्र नियमतः नियतिवाद के दूषण से बाधित कर दिया जायेगा ॥

दूसरा अर्थ यह करना होगा कि संक्रमणादि के जो पुरुषार्थ जीव ने किये ही नहीं हैं, उन्हें खरविषाणवत् अर्थात् गधे के सींग की तरह जिनेन्द्र भगवान नहीं जानते हैं, क्योंकि उनका अस्तित्व नहीं है ॥

यदि ऐसा नहीं मानोगे तो पुरुषार्थ की परिभाषा व पुरुषार्थ से कार्य की सिद्धि का कोई नियम ही जैनियों के यहाँ नहीं बनेगा, वह भी तब जबकि जैनी सम्पूर्ण न्यायविदों के मध्य पुरुषार्थवादियों के रूप में भी प्रसिद्ध हैं ॥

उपसंहार :-

वैसे पूर्व में इसे सिद्ध किया जा चुका है कि :-

केवलज्ञानी ने जो कुछ भी देखा है, वह सब होगा ही, ऐसा जिनमत नहीं है, व ऐसे ही जो कुछ हो चुका या हो रहा है या होगा, उतना ही जिनेन्द्र भगवान ने देखा था, ऐसा भी जिनेन्द्र भगवान का मत नहीं है ॥

वे घटनाये जो कि निकाचित् कर्मो के आश्रित होने से निर्धारित हैं, उन्हे नियत रूप से जानते हैं, किंतु वे घटनायें जो कि निकाचित् व निधत्त कर्मों के आश्रित नहीं है, उन्हे संभावित घटनाक्रम के रूप मे देखते हैं ॥

उस देखे हुए में भी पुन: संक्रमणादि के आश्रय से अतिम क्षण तक परिवर्तन करने की स्वतंत्रता इस जीव को है, अंतिम क्षण मे संक्रमणादि के आश्रय से कोई परिवर्तन ही नही कर सकता, ऐसा विधान जिनेन्द्र भगवान का नही है ॥

षष्ठम् बहुमूल्य व बहुपयोगी युक्ति श्री देवागम स्तोत्रजी से :-

जैसा कि हमने पूर्व में भी कहा था कि इस विषय में हमारा पक्ष भगवन् समंतभद्राचार्यजी के क... मशक्त ठहरता है ॥

... कैसे ?

वह ऐसे कि श्री देवागम स्तोत्रजी की कारिका ९१में दैव व पुरुषार्थवाद के विवाद का उपसहार करते हुए वे कहते हैं कि :-

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

अर्थ : किसी को अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, वह अपने दैव से होती है ॥ और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है वह अपने पौरुष से होती है ॥

कितने स्पष्ट शब्दों में आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि :-

१) किसी को अबुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, वह अपने दैव से होती है ॥

यही निकाचित् व निधत्त करण है ॥

अथवा पुरुषार्थ द्वारा न छेड़ा गया निकाचित् व निधत्त से अन्य अनिकाचित् व अनिधत्त कर्म भी, जिसे कि जैसा बाँधा था, वैसा ही भोगा गया ॥

२) और बुद्धिपूर्वक जो इष्ट और अनिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है, वह अपने पौरुष से होती है ॥

इसे ही हम भी कहना चाहते हैं ॥

इन्हें अर्थात् बुद्धिपूर्वक किये गये इन संक्रमणादि पौरुषो को कर्म के उदयावली में प्रविष्ट होने के पूर्व अंतिम क्षण तक करने को यह जीव स्वतंत्र है, वे तीर्थंकर भगवान द्वारा पूर्व में ही देख लिये गये हों, ऐसा विधान जिनेन्द्र भगवान का नहीं है ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि गधे के सींग के समान यह अभी ९ कोटि में से किसी भी कोटि से अस्तित्त्व में आया ही नहीं है ॥

यह तो उस जीव का तत्काल किया गया कार्य है, पूर्व निर्धारित नहीं ॥

तत्काल किया गया कार्य है, इसीलिये इसे पुरुषार्थ कहा गया है ॥

चूँकि यह तत्काल किया गया कार्य है व इसी कारण इसे पुरुषार्थ भी कहा गया है, अतः निःशंक हो कहा जा सकता है कि इसका पूर्व में अस्तित्त्व ही नहीं था, गधे के सींग के समान यह अभी ९ कोटि में से किसी भी कोटि से अस्तित्त्व में आया ही नहीं ॥

चूँकि अस्तित्त्व में आया ही नहीं है, अतः कहा जा सकता है कि अस्तित्त्वहीन है ॥

यदि आ जाये, तो इसे बुद्धिपूर्वक संपन्न किया गया पौरुष कैसे कहा जा सकता है ?

अर्थात् कहा ही नहीं जा सकता ॥

अर्थात् यह तत्काल घटा व तत्काल ही तीर्थंकर प्रभु के केवलज्ञान में झलका, उसके पूर्व में नहीं ॥

अर्थात् इसका घटना व झलकना दोनों क्रियाएँ एक कालवर्ती हैं ॥

अबुद्धिपूर्वक अर्थात् दैव के अनुसार घटने वाली घटनाओं की तरह झलकना पूर्व मे व घटना बाद में, ऐसा नहीं ॥

यही विवेचना केवलज्ञान की परिभाषा को अनेकांत का स्पर्श करवा सकती है, अन्य कोई नहीं ॥

यह कथन पौरुष की अपेक्षा हुआ ॥

इसे और सरल कर के कहें, तो बंधे हुए कर्म व तदनुसार फल कई जन्मों के देखे जा सकते हैं, किंतु उनके परस्पर में करवाये गये संक्रमण, उनकी स्थिति में किया गया अपकर्षण अथवा उत्कर्षण उनकी की गई उदीरणा आदि तत्काल किये गये पुरुषार्थ होने के कारण, पूर्व निर्धारित नहीं हैं अथवा हैं भी ॥

इन दोनों में से जो पूर्व निर्धारित नहीं हैं, वे पूर्व निर्धारित नहीं होने के कारण, संभावित तो हो सकते हैं, किंतु तय नहीं ॥

अतः इस संदर्भ में संभावना का सूत्र भी स्मरण में रखने योग्य है ॥

श्री आदिपुराणजी व श्री उत्तरपुराणजी में निर्देशित दोनों उदाहरण, जिन्हें कि हमने अपने पक्ष में प्रमाण रूप से दिये हैं, का यहाँ स्मरण करना चाहिये ॥

वह कैसे ?

वह ऐसे कि धर्मरुचि मुनिराज की अगामी होने वाली पर्यायों में केवलज्ञानी ने नरक व सिद्ध दोनों ही पर्यायें देखी, निर्धारित एक पर्याय नही ॥

इन दोनों पर्यायों में से सिद्ध पर्याय से परिणमने के लिये उन्हें प्रबल बाह्य निमित्त राजा श्रेणिक के उपदेशों की अपेक्षा थी ॥

वह उपदेश यदि प्राप्त हो जाता है, तब तो वे स्थितिकरण को प्राप्त होकर मोक्षलक्ष्मी के स्वामी हो जायेंगे और यदि नहीं प्राप्त होता है, तो नरक ॥

अर्थात् वे घटनाएँ जो संभावना रूप हैं, उन्हें संभावना रूप भी देखते हैं ॥

सिर्फ निर्धारित घटनाएँ ही वे देखेंगे, ऐसा एकांत जिनेन्द्र भगवान के मत में नहीं है ॥

सूत्र सिर्फ इतना है कि जो जैसा है, उसको वैसा ही देखते हैं अर्थात् जो निर्धारित है, उसे नियत देखते हैं, जो संभावना रूप है, उसे संभावना रूप से देखते हैं और वे पर्याएँ जो कि पुरुषार्थाधीन हैं, उन्हें तत्काल भी देखते हैं ॥

संभावना व पुरुषार्थाधीन पर्यायों में सचित्त, अचित्त व मिश्र निमित्ताधीन पर्यायों को भी युक्त कर कथन कर लेना चाहिये ॥

यहाँ विशेष निर्देश यह ग्रहण करना चाहिये कि जब केवलज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है, तब अवधि व मनःपर्यय ज्ञान का स्वरूप इससे भिन्न कैसे हो सकता है ॥

अर्थात् नहीं हो सकता ॥

इसकी सिद्धि के लिये श्री उत्तरपुराणजी के आश्रय से कही गई खदिरसार भील की कथा दोहरानी चाहिये ॥

निश्चित ही इस निर्देश की विवेचना सरल है ॥

यहाँ पाठक वृंद से मेरा यही निवेदन है कि भगवान ने भंग कहे ही इसलिये हैं कि केवलज्ञान के विषय का हम भी अनुमान कर सकें, अन्य किसी कारण से नही ॥

इसी कारण अनुमान प्रमाण को भी सम्यक् प्रमाणों में स्थान दिया गया है, क्योंकि वह भी ठीक वही कहता है, जिसे कि केवलज्ञानी ने देखा है ॥

सप्तम भामण्डल व सप्त भव विधान :-

शंकाकार : क्या नहीं बाँधी गई, आयु का बंध भी निर्धारित अर्थात् नियत होता है ?

समाधान : होता है ॥ इसमे बाधा ही क्या है ?

यदि न होवे तो धर्मरुचिमुनिराज की नहीं बंधी हुई चारों आयुओं में से सिर्फ नरक ही क्यों देखी गई, अन्य क्यों नहीं ?

इससे अनुमान किया जाता है कि वर्तमान नय की अपेक्षा से जो आयु बाँधी नहीं गई हैं, वे भी निर्धारित हो सकती हैं ॥

यदि ऐसा न हो तो भामण्डल में ७ भव कैसे देखे जा सकते हैं ?

अर्थात् कदापि नहीं देखे जा सकते ॥

किन्तु इस व्याख्यान से यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि सभी की सभी आयु अर्थात् भव निर्धारित हो चुके हैं ॥ जिसके जिस रूप ७ भव हैं, वे उस रूप देखे जायेंगे ॥

यदि धर्मरुचि मुनिराज वहाँ होंगे, तो वर्तमान भव ही दो भेद रूप दिखलाई देगा, पहला नरक आयु के बंध के सम्मुख व दूसरा कर्मों के क्षय को तत्पर अयोगीजिन रूप ॥

उसमे भी पुनः अयोगी जिन के आगे की एक अर्थात् सिद्ध पर्याय और देखी गई होगी, जबकि नरकायु के आगे की संभावित कई जन्मों की कई पर्यायें भगवान द्वारा देख ली गई होंगी ॥

इस प्रकार यदि सत्य ऐसा नहीं होता, जैसा कि सिद्ध किया जा रहा है, अपितु सभी कुछ तय है, ऐसा होता, तब तो समंतभद्राचार्यजी को अपने उपसंहार व्याख्यान में एक कारिका और युक्त करके कहना चाहिये था कि यह बुद्धि पूर्वक पौरुष का विवेचन छद्मस्थों की अपेक्षा से किया गया है, न कि केवलज्ञानियों की अपेक्षा से, क्योंकि जो पुरुषार्थ तुम कर रहे हो, उसे तो केवलज्ञानी द्वारा पूर्व में ही देखा जा चुका है और जिसे किये जाते हुए पूर्व में ही देखा जा चुका है, उसे करने को तो तुम बाध्य हो, वह बुद्धिपूर्वक किया गया पौरुष मंदबुद्धि छद्मस्थों की अपेक्षा से तो हो सकता है, किन्तु ज्ञानियों की अपेक्षा से नहीं, ज्ञानियों की अपेक्षा से तो वह दैव ही है ॥

किन्तु आचार्य भगवंत ने ऐसा तो कुछ भी नहीं कहा व न ही अन्य किन्हीं उपायों से इस अर्थ की निष्पत्ति ही होती है, अपितु यह अर्थ तीर्थंकर भगवान के मत को एकांतत· नियतिवादी सिद्ध करता है, जिसके कि एकांत आग्रह को स्वयं तीर्थंकर भगवान ने मिथ्या कहा है, अत· जिसके द्वारा मिथ्या मत का प्रतिपादन हो, ऐसा अर्थ कैसे ग्रहण किया जा सकता है?

अर्थात् किसी भी विधि से ग्रहण नहीं किया जा सकता है ॥

उपसंहार :-

वैसे इस विषय को अब यहाँ यह कहते हुए इति करना ही उत्तम होगा कि :-

कवि द्वारा यह कहना, जिसे कि समस्त पूर्वाचार्यों ने अपने-अपने दिये गये उपदेशों में किसी न किसी विवक्षा से कहा है, कि :-

काहे होत अधीरा रे !!

को केवलज्ञान की निःवर्तमान परिभाषानुसार कहा ही नहीं जा सकता है ॥ इसे कहा ही तभी जा सकता है, जबकि इस जीव को अधीर न होने की भी स्वतंत्रता हो ॥

यदि अधीर होना अथवा न होना देखा ही जा चुका है, तब तो यही कहना सत्य

कहलायेगा कि तेरे वश में कुछ नहीं है, यदि केवली भगवान ने तुझे अधीर होते हुए देखा होगा, तो तू अधीर हो जायेगा और यदि नहीं देखा होगा तो धैर्यवान, इससे अन्य समस्त वचन असत्य वचनों की कोटि में रखे जायेंगे ॥

नहीं रखे जायेंगे क्या ?

रखे ही जायेंगे, रखे क्यों नहीं जायेंगे ?

इसे ही किंचित् भिन्न प्रकार से कहते हैं :-

यदि सब कुछ काल की प्रेरणा से ही होना है, तब तो, जैसा कि श्री राजवार्तिककारजी ने कहा, उस अनुसार वे लोग जो कि काल से अन्य दर्शन ज्ञान चारित्रादि को मोक्ष का कारण मानते हैं, उनके मत में कालानुसार मोक्ष बन ही नहीं सकता, और जो लोग कालानुसार मोक्ष मानते हैं, उनके मत में काल के अलावा अन्य किसी भी कारण को मोक्ष का कारण निरूपित ही नहीं कर सकते, क्यों कि वह अकेला ही कारण अन्य समस्त कारणों का परिहार करने वाला हो जायेगा ॥

नहीं हो जायेगा क्या ?

हो ही जायेगा ॥ हो क्यों नहीं जायेगा ?

इस प्रकार तो काललब्धि की अनुमोदना करने वाले डॉ. साहब आदि को, श्री तत्त्वार्थ सूत्रजी आदि ग्रंथों में प्रतिपादित मोक्ष मार्ग का सूत्र :-

सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः

को भी, अन्य शासन-देवता आदि सूत्रों की ही तरह, संशोधित/परिमार्जित कर नये सिरे से लिखने को उद्यत् होना होगा कि :-

"मोक्ष जब भी सिद्ध होगा, काललब्धि से होगा, काललब्धि से अन्य किसी भी प्रकार व उपाय से नहीं ॥ जब काललब्धि पकेगी तब स्वयमेव ही दर्शन, ज्ञान व चारित्र का धारण करना हो जायेगा, अन्यथा नहीं ॥"

इतना ही नहीं, अपितु यह भी कहना होगा कि :-

मात्र सम्यक्दर्शन ही नहीं, अपितु मिथ्यात्व की भी प्राप्ति व स्थिति काललब्धि के आश्रय से होगी, अन्य किसी प्रकार से नहीं ॥

इस प्रकार न सिर्फ सम्यक्त्व आदि की ही, अपितु मिथ्यात्व आदि की भी प्राप्ति व स्थिति काललब्धि के ही आधीन है, की भी सिद्धि करनी होगी ॥

॥ इत्यलम् ॥

☐ निष्कर्ष

हम श्री द्रव्यसंग्रहजी के वचनों की मीमांसा कर रहे थे ॥

मीमांसा करते हुए हमने कहा था कि अनेक प्रकार से निरुत्तरित होने के पश्चात् स्वमत मण्डनार्थ आप श्री द्रव्यसंग्रहजी के टीकाकार महोदय के वचनों का उल्लंघन करने वाली प्ररूपणा, अन्यत्र से लाकर यहाँ नहीं कर सकते कि इस काल में रावणादि का ऐसा ही होना था अथवा राम-लक्ष्मणादि को ऐसा ही करना था, क्योंकि फिर जैसा कि स्वयं ही टीकाकार महोदय कह रहे हैं, उस अनुसार कार्य न ही पुण्य के उदय से हुआ और न ही पाप के, अपितु काल के अर्थात् केवलज्ञानी द्वारा संपन्न होते हुए देखे गये काल के आधीन हुआ ॥

इस प्रकार तो सिद्ध यह हो जायेगा कि रावणादि ने जा कुछ भी अशुभ किया, वह सब काल के द्वारा प्रेरित होकर किया, इसी प्रकार रामादि ने जो कुछ भी शुभ किया, वह सब भी काल के द्वारा प्रेरित होकर किया, स्वय नहीं, क्योंकि इस काल में यह कार्य इस ही प्रकार होना था, उसमें परिवर्तन की सामर्थ्य महापुरुषो मे भी नहीं ॥

अत आप श्री द्रव्यसंग्रहजी के टीकाकार महोदय के वचनो का उल्लंघन करने वाली प्ररूपणा, अन्यत्र से लाकर यहाँ नहीं कर सकते कि इस काल मे रावणादि का ऐसा ही होना था अथवा राम-लक्ष्मणादि को ऐसा ही करना था, क्योंकि फिर कार्य न ही पुण्य के उदय से हुआ और न ही पाप के उदय से, अपितु काल के आधीन हुआ ॥

दूसरा यह कि स्व-मत की सिद्धि हेतु द्रव्य सग्रहजी की टीका को प्रमाण रूप प्रस्तुत आप ही कर रहे है ॥ यदि आप ही उसका उल्लंघन करने वाली प्ररूपणा करेंगे, तो उनका मत तो बाद में लंघन होगा, प्रथम तो आपका ही हो जायेगा, नहीं हो जायेगा क्या ? हो ही जायेगा ॥ हो क्यों नहीं जायेगा ॥

शंकाकार : क्या नारायण प्रतिनारायण का वध टाल सकता था ?

समाधान : नहीं, क्योंकि वह नियोग रूप निकाचित करण है ॥

इस नियोग को पूर्व भव में किये गये पुरुषार्थ के फलस्वरूप निदान द्वारा प्राप्त किया गया है ॥

पूर्व में नारायण द्वारा किया गया पुरुषार्थ युक्त निदान, उसके फल प्रतिनारायण के वध का कारण है, अर्थात् निदान कारण व नियोग इस कारण का कार्य है, इस नियोग को काललब्धि नहीं भी कहा जा सकता ॥ यदि कहना भी होगा, तो विवक्षा सहित ॥

विवक्षा सहित कहते हुए शब्दादि तीन नयों की अपेक्षा कारण का कार्य में उपचार कर, कार्य को ही कारण व कार्य निरूपित करते हुए कहना होगा, अन्य किसी भी प्रकार से नहीं, जिसे कि श्रीमद्राजवार्तिककारजी भव प्रत्यय कहते हैं ।।

वैसे नारायणादि पुण्य पुरुषों के जीवन चरित्र को गौर से देखा जाए, तो उनके जीवन में भव प्रत्यय व गुण प्रत्यय का अद्भुत समीकरण प्राप्त होता है, जैसे वध करने के लिये प्राप्त किया गया युद्ध कौशल्य, जहाँ उनके जीवन में दिखलाई देने वाले गुण प्रत्यय का उदाहरण है, वहीं वध का न टाल पाने योग्य नियोग भव प्रत्यय का ।।

चूँकि इसका विवेचन पूर्व में विस्तार सहित किया जा चुका है, अतः उसे स्थगित करते हैं ।।

अत: काललब्धि पर कार्य को संपन्न करने का आरोप देने से पूर्व स्मरण रखना चाहिये कि काललब्धि को हम कारण तभी कह सकते हैं, जबकि कार्य को संपन्न कराने वाले अन्य हेतुओं का अत्यंताभाव हो, अन्य हेतुओं के सद्भाव में काललब्धि पर कार्य को संपन्न कराने का आरोप नहीं दे सकते ।।

इस प्रकार यहाँ प्रकरणानुसार नियतवाद का खण्डन करते हुए सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि आप पं. फूलचंदजी सिद्धाँशास्त्री आदि की तरह श्री द्रव्यसंग्रहजी के टीकाकार महोदय के वचनों को बाधित करने वाली प्ररूपणा, अन्यत्र से लाकर नहीं कर सकते कि इस काल में रावणादि का ऐसा ही होना था अथवा राम-लक्ष्मणादि को ऐसा ही करना था अथवा ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक संबंध था ।।

अर्थात् आप यहाँ कार्य को संपन्न कराने वाले प्रबल कारण सम्यक्दर्शन से उपार्जित पुण्य के सद्भाव में, केवलज्ञान की असत्यमृषाभाषा के आश्रय से कही गई परिभाषा का अवलंबन ले नियतवाद को पुष्ट करने की नियत से काललब्धि को कार्य को संपन्न कराने वाला कारण प्ररूपित नहीं कर सकते ।।

यदि करते है, तब तो आप जिनेन्द्र भगवान के मत को नहीं जानते ।।

इतना ही नहीं, अपितु उपर्युक्त समस्त दूषणों से बचने के लिये श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका में उद्धृत वचन असत्यमृषा है, की सिद्धि करते हुए आपको विवेचना करनी होगी ।।

विवेचना मे कहना होगा कि टीकाकार महोदय के वचन किसी विवक्षा विशेष से उच्चारित वचन हैं, निरपेक्ष नहीं ।।

उस विवक्षा का रहस्य उद्घाटित किये बगैर आप उसकी निर्बाध प्ररूपणा तो दूर, उस प्ररूपणा का स्पर्श तक नहीं कर सकते ॥

॥ इत्यलम् ॥



तेरहपंथियों के आदि तीर्थंकर व तेरह पंथ का पूर्व नाम

इस (पूजन परंपरा में) परिवर्तन के कारण पू. बनारसीदासजी का चलाया पंथ पहले वाणारसीमत, और बाद में १३ पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ (जैनधर्म, पृष्ठ ३०४, पं. कैलाशचंदजी शास्त्री एवं जिनभाषित, अंक मई २००२, लेख : दोनों पूजा पद्धतियाँ आगम सम्मत, लेखक : डॉ. रतनचंदजी जैन, भोपाल)

अर्थात् दोनों ही आदरणीय विद्वान् महोदय स्वीकार करते हैं कि न तो पूर्व में कोई १३ पंथीय मान्य पूजा पद्धति ही थी और न ही आगम मे इसका कोई उल्लेख, अपितु इसका उद्भव शहंशाह शाहजहाँ के काल में आगरा में लगभग ४०० वर्ष पूर्व पं. बनारसीदास जी की मेधा से हुआ ॥ अर्थात् १३ पंथी आम्नाय के आद्य तीर्थंकर (पू.) बनारसीदास जी हैं, उनके पूर्व के तीर्थंकरों की यह प्ररूपणा नहीं, इसे दोनों ही १३ पंथी लेखक स्वीकार करते हैं, उन्हें इस विषय में कोई संशय नहीं है ॥

- इसी पुस्तक से, पृ. ४८

❐ डॉ. साहब की प्ररूपणा स्वयं टीकाकार के वचनों को स्व-वचन बाधित करने वाली-१

(१) डॉ. साहब, श्री द्रव्यसंग्रह जी की टीका व अवर्णवाद :-

इतना ही नहीं, अपितु डॉ. साहब का असत्यमृषा भाषा के अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ आपका एकांत आग्रह स्वयं टीकाकार महोदय के ही वचनों को कि देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते, अपितु सम्यक्दर्शन द्वारा उपार्जित पूर्व पुण्य से उनके सभी विघ्न दूर हो गये को बाधित अर्थात् पूर्वापर दूषणों सहित सिद्ध कर देगा ॥

कैसे ?

देखिये श्री द्रव्यसंग्रहजी, गाथा १० की टीका (इस टीका में टीकाकार महोदय ने शुभ और अशुभ तैजस पुतले का स्वरूप दर्शाया है) :-

मूल टीका से : **स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किंचित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमपरित्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यंगुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनमुनिवत् । असावशुभतेजःसमुद्घातः ।**

भावार्थमात्र : अपने मन को अनिष्ट उत्पन्न करनेवाले किसी कारण को देखकर क्रोधी संयम के निधान महामुनिके बायें कन्धे से सिन्दूर के ढेर जैसी कान्तिवाला, बारह योजन लम्बा सूच्यंगुल के संख्यात भाग प्रमाण मूल विस्तार और नौ योजन के अग्र विस्तार वाला, काहल (बिलाव) के आकार का धारक पुरुष निकल करके बायी प्रदक्षिणा देकर, मुनि जिसपर क्रोधी हो उस विरुद्ध पदार्थ को भस्म करके और उसी मुनि के साथ आप भी भस्म हो जावे। जैसे द्वीपायन मुनि। सो अशुभ तैजस समुद्घात है।

(इस प्रकार यहाँ अशुभ तैजस पुतले का स्वरूप कहा गया, अब शुभ तैजस पुतले का

स्वरूप सुनिये ॥)

मूल टीका से : लोकं व्याधिदुर्भिक्षादिपीडितमवलोक्य समुत्पन्नकृपस्य परमसंयमनिधानस्य महर्षेर्मूलशरीरमपरित्यज्य शुभ्राकृतिः प्रागुक्तदेहप्रमाणः पुरुषो दक्षिणप्रदक्षिणेन व्याधिदुर्भिक्षादिकं स्फोटयित्वा पुनरपि स्वस्थाने प्रविशति, असौ शुभरूपस्तेजः समुद्घातः ।

भावार्थ मात्र : जगत को रोग दुर्भिक्ष आदि से दुखी देखकर जिसकी दया उत्पन्न हुई ऐसे परम संयमनिधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्यागकर पूर्वोक्त देह के प्रमाण, सौम्य आकृति का धारक पुरुष दायें कन्धे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा देकर रोग, दुर्भिक्षादि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश करे वह शुभ तैजस समुद्घात है।

उपर्युक्त, टीकाकार महोदय के स्वयं के वचन, यदि उनके पूर्व के वचनों को असत्यमृषा सिद्ध न किया गया, तो स्व वचन बाधित करने वाले सिद्ध हो जायेंगे ॥

देखिये :- उनका कहना है कि देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते, सम्यक् दर्शन से उपार्जित पूर्व पुण्य से सभी विघ्न दूर हो जाते हैं ॥

और यहाँ वे कह रहे हैं कि :-

जगत को रोग दुर्भिक्ष आदि से दुखी देखकर जिसको दया उत्पन्न हुई, ऐसे रम संयमनिधान महाऋषि के मूल शरीर को न त्यागकर, पूर्वोक्त देह के प्रमाण, ौम्य आकृति का धारक पुरुष दायें कन्धे से निकलकर दक्षिण प्रदक्षिणा देकर रोग, ुर्भिक्षादि को दूर कर फिर अपने स्थान में आकर प्रवेश करे, वह शुभ तैजस ामुद्घात है ॥

अर्थात् टीकाकार महोदय यहाँ स्वीकार कर रहे हैं कि ऋद्धिधारी मुनि के ाहिने कंधे से निकले पुतले ने रोग, दुर्भिक्षादि का अभाव कर विघ्न विनाशक व ार्थ संपादक की भूमिका का निर्वाह किया ॥

अब पाठक वर्ग ही कृपया कर हमें बतलाएँ कि जिनका मत सम्यक्दर्शन से उपार्जित र्व पुण्य से ही विघ्नों के दूर होने का है, उनके मत में उपर्युक्त प्ररूपणा संभव है ?

नहीं न ?

यहाँ तो उन्हें यह कहना चाहिये कि ऋद्धिधारी मुनिराज की ऋद्धि ने कुछ नहीं किया, : अकिंचित्कर है ॥

जो कुछ भी हुआ, उस देश में स्थित दुर्भिक्ष आदि से दुःखी प्राणियो के पूर्वोपार्जित य से हुआ ॥

इस प्रकार प्ररूपणा कर, फिर (पृष्ठ २६१-२६२) पर दिये गये दान प्रकरण को पुन. स्मरण में ला, वहाँ दी गई बाधाओं को यहाँ भी दोहराना चाहिये, जो कि इस प्रकार है :-

यदि पूर्वोपार्जित पुण्य से ही कार्य की सिद्धि हुई, तब तो न सिर्फ अपने कार्य को संपन्न करने को उद्यत, उन दु.खियों के अंतरंग सत्ता में स्थित पुण्य कर्म ने, उदय में आने के पूर्व ही, अपना कार्य प्रारंभ करते हुए तैजस ऋद्धि से संपन्न मुनि का संपादन कर लिया, अपितु वे मुनिराज उनके वर्तमान दुःख से भ्रमित चित्त हो करुणा परिणाम से परिणमे, इसका भी आयोजन कर लिया, क्योंकि पुतले का निकलना उसी करुणा परिणाम के आधीन था ॥

ऐसा इसलिये भी कि उन समस्त दु खी प्राणियों मे से एक भी प्राणी ऐसा कोई कृत्य करते हुए वर्तमान में दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है, जिसका कि फल अनायास ही दुर्भिक्ष का अभाव व सुभिक्ष का सद्भाव हो ॥

इसी प्रकार यह भी कहना होगा कि ये सभी दुःखी प्राणी सम्यक्दृष्टि ही थे, इनमें से एक भी मिथ्यादृष्टि नहीं था ॥

क्योंकि सामान्य नहीं, अपितु सुभिक्ष रूपी महान् कार्य का संपादन होना है, वह भी सामान्य मुनि द्वारा नहीं, अपितु संयम के निधान महामुनिराज द्वारा ॥

वर्ना आपके मुनिराज मिथ्यादृष्टियों के पुण्य के कारण उनके लिये सुभिक्ष रूपी बेगार को करने वाले ठहर जायेंगे ॥

नहीं ठहरेंगे क्या ?

नहीं क्यों ठहरेंगे ? ठहरेंगे ही ॥

अतः कहना होगा कि उन दुर्भिक्ष से दुःखी प्राणियों के सम्यग्दर्शनादि से उपार्जित पूर्व पुण्य ने ही इस अतिशय व इस अतिशय के नोकर्म ऋद्धिधारी मुनिराज का संकलन किया ॥

इतना ही नहीं, अपितु कहा तो यहाँ तक जायेगा कि उन मुनिराज को ऋद्धि की प्राप्ति भी इन्हीं दुःखी प्राणियों के सत्ता स्थित पुण्य कर्म के कारण हुई, क्योंकि उससे कार्य तो इन्हीं दुःखी प्राणियों का सिद्ध होने वाला था, महामुनिराज का नहीं ॥

उनके लिये तो वह ऋद्धि न सिर्फ अनुपयोगी, अपितु स्व-हित में किसी भी अपेक्षा से सहकार अथवा उपकार करने वाली नहीं थी ॥

इतना ही नहीं, अपितु कहा तो यह भी जायेगा कि इस ऋद्धि की प्राप्ति के लिये उग्रातिउग्र तप भी इन्हीं पुण्यशाली दुःखी प्राणियों के सत्ता स्थित पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म ने ही करवाया, क्योंकि उसका अभाव कर पुण्य कर्म अपने नियोजित कार्य को करने में असमर्थ हो जाता ॥

नहीं हो जाता क्या ?

हो ही जाता ।। हो क्यों नहीं जाता ?

इस प्रकार तो वे मुनिराज उन दुःखी प्राणियों के लिये उग्रातिउग्र तप रूपी बेगार को करने वाले सिद्ध हो जायेंगे ।।

नहीं हो जायेंगे क्या ?

हो क्यों नहीं जायेंगे ? हो ही जायेंगे ।।

ऐसा इसलिये भी कि स्वयं टीकाकारजी का ही अभिमत है कि देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते ।।

जब महान् ऋद्धियों से संपन्न तथा श्राप व अनुग्रह शक्ति से युक्त देवी-देवता ही कोई फल नहीं दे सकते, फिर ऋद्धिधारी मुनिराज अथवा तैजस पुतला सुभिक्ष रूपी फल को कैसे दे सकते हैं ?

वे तो किसी भी अपेक्षा से नहीं दे सकते ।।

क्योंकि अनुग्रह व श्राप देने के नियम सर्वत्र एक समान हैं, असमान नहीं ।।

अत: मुनिराज अथवा उनके कंधे से निकले शुभ या अशुभ पुतले भी देवी-देवताओं की तरह फल दे ही नहीं सकते ।।

इसलिये टीकाकार महोदय को यहाँ बलात् कहना ही होगा कि नहीं, ऋद्धि संपन्न देवी वताओं की तरह ऋद्धिधारी संयमी व उनके दाहिने कंधे से निकला शुभ पुतला भी कोई ल देनेवाला नहीं है ।।

और यदि कहेंगे कि नहीं, देते हैं, तब तो स्व-वचन बाधित हो जायेंगे ।।

नहीं हो जायेंगे क्या ?

हो ही जायेंगे ।। हो क्यों नहीं जायेंगे ?

उन्हें तो येन केन प्रकारेण स्व-वचन बाधा दूषण से बचने के लिये सिद्ध यही करना गा कि ऋद्धिसंपन्न देवी-देवताओं की तरह, ऋद्धि संपन्न मुनिराज भी कोई फल नहीं देते, न तो फल प्राप्त कर्ता को उसके अपने सम्यक्दर्शनादि से उपार्जित पूर्व पुण्य से ही मिलता अन्य किसी भी प्रकार से नहीं ।।

इस प्रकार सिद्ध करने के पश्चात् उन्हें पाठक वर्ग से भी निवेदन करना होगा कि :-

उन्होने जो यहाँ शुभ तैजस समुद्घात के व्याख्यान में उस शुभ तैजस समुद्घात में कले पुतले व शुभ तैजस समुद्घात ऋद्धिसंपन्न मुनिराज को शुभ फल देने वाला कहा है,

वह ठीक नहीं है, उसे तो भावावेश में लिख दिया गया है, कृपया उन दोनों को ही कि पाठक वर्ग अकिंचित्कर हैं, ऐसी बुद्धि रखते हुए पढ़ें ॥

यह निवेदन टीकाकार महोदय को नहीं करना होगा क्या ?

करना ही होगा ॥ नहीं करेंगे तो व्यर्थ में ही डॉ. साहब की तरह अकुशल व विवादास्पद व्याख्याता/प्ररूपक सिद्ध हो जायेंगे ॥

इसी प्रकार अशुभ तैजस पुतले के संदर्भ में भी कहना होगा कि ऋद्धि संपन्न देवताओं की तरह, अशुभ ऋद्धि संपन्न महामुनिराज व निकला हुआ अशुभ तैजस पुतला भी अकिंचित्कर ही हैं, किसी फल को देने वाले नहीं ॥

उनके द्वारा किया गया अशुभ कृत्य, स्वयं उनके द्वारा नहीं , अपितु अशुभ फल प्राप्त करने वालों के मिथ्यादर्शनादि द्वारा पूर्व में उपार्जित किसी पाप कर्म के उदय से हुआ ॥

इतना ही नहीं, अपितु उन ऋद्धिसंपन्न मुनिराज को उस अशुभ तैजसऋद्धि की प्राप्ति भी इन्हीं अशुभ फल प्राप्त करने वालों के पूर्वोपार्जित पाप कर्म के उदय से हुई थी, क्योंकि इसके विघ्न रूप कार्य की सिद्धि तो इन्हीं पापियों की हुई थी, न कि स्वयं महामुनिराज की, अतः मुनिराज तो उन पापियों के पाप-कर्म द्वारा संकलित किये गये निमित्त थे, निमित्त के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं ॥

इस प्रकार उन्हें यहाँ भी शुभ तैजस समुद्घात के उपसंहार व्याख्यान को पुन दोहराते हुए पाठक वर्ग से निवेदन करना होगा कि उन्होने जो यहाँ अशुभ तैजस समुद्घात के व्याख्यान में उस अशुभ तैजस समुद्घात में निकले पुतले व अशुभ तैजस समुद्घात ऋद्धिसंपन्न मुनिराज को अशुभ फल देने वाला कहा है, वह ठीक नहीं है, कृपया उन दोनों को ही पाठक वर्ग अकिंचित्कर है, ऐसी बुद्धि रखते हुए पढ़े ॥

यह निवेदन टीकाककार महोदय को नहीं करना होगा क्या ?

करना ही होगा ॥

नहीं करेंगे तो व्यर्थ में ही डॉ. साहब की तरह अकुशल व विवादास्पद व्याख्याता/प्ररूपक सिद्ध हो जायेंगे, क्योंकि पूर्व में अमूढदृष्टि अंग की विवेचना में वे राम रावणादि के उदाहरण पूर्वक जो कुछ भी कह आये हैं, उससे तैज़स समुद्घात की विवेचना सर्वथा विपरीत व स्वयं टीकाकार महोदय के वचनों को संदिग्ध करार देने वाली है ॥

चूँकि उपर्युक्त हास्यास्पद शैली में की गई विवेचनाओं द्वारा बाधित टीकाकार महोदय के वचनों में संशोधन/संपादन कर पुनर्लेखन किये बगैर उनके दोनों उपदेशों में साम्य स्थापित किया ही नहीं जा सकता, इसलिये डॉ. साहब को शासन-देवता प्रकरण को तो सर्वथा

पृथक करो, किन्तु श्री धवलाजी ग्रंथों का संशोधन/संपादन कार्य भी स्थगित कर प्रथम अपने मत की पुष्टि के लिये प्रस्तुत किये गये श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका के परस्पर दूषित हुए वचनों को ही संशोधित-संपादित करना होगा, बगैर उन्हें संशोधित-संपादित किये वे अपने पक्ष को पुष्ट अर्थात् निर्दोष सिद्ध कर ही नहीं सकते, क्योंकि उनका स्वयं का मत भी बगैर टीकाकार के वचनों के अवलंबन के गति करने में पंगु है॥

अर्थात् यदि डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठीगण श्री द्रव्यसंग्रहजी कीं टीका के इस अंश का, जिसके कि द्वारा वे स्व-मत-मंडन व पर-मत-खण्डन करने को उद्यत हुए हैं, एकांत आग्रह करते हैं, तो स्वयं टीकाकार के ही वचन संदिग्ध ठहरते हैं॥

मात्र संदिग्ध ही नहीं, अपितु उन्मत्तवत् भी॥

परस्पर विरुद्ध वचन हैं ये व परीक्षा करने पर बाधित भी॥

आइये, निष्कर्ष के लिये अगला शीर्षक देखें॥

॥ इत्यलम् ॥



□ निष्कर्ष

जैसाकि हमने अभी-अभी कहा यदि डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठीगण यदि श्री द्रव्य संग्रह जी की टीका के इस अंश का, जिसके कि द्वारा वे स्व-मत मण्डन व पर-मत खण्ड़न करने को उद्यत हुए हैं, एकांत आग्रह करते हैं, तब तो स्वयं टीकाकार महोदय के ही वचन संदिग्ध ठहरते हैं ।।

मात्र संदिग्ध ही नहीं, अपितु उन्मत्तवत भी ।।

परस्पर विरुद्ध वचन हैं उनके व परिक्षा करने पर बाधित भी ।।

किन्तु हाँ, टीकाकार महोदय के वचन मात्र उन्हीं के लिये संदिग्ध व उन्मत्तवत् हैं, जिन्हें कि वचन योग के चारों भेदों में से असत्यमृषा भाषा का न तो ज्ञान ही है और न ही अभ्यास ।।

चूँकि इस भाषा का अभ्यास व ज्ञान, दोनों ही, डॉ साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियो को किंचित् भी नहीं है, इसलिये.... . .खैर!

हम पूर्व में कह चुके हैं कि जिस भाषा में जिनेन्द्र भगवान का उपदेश संग्रहीत किया गया है, वे दो भाषाएँ है, पहली सत्य व दूसरी असत्यमृषा ।।

इन दोनों के अलावा शेष असत्य व सत्यासत्य भाषा मे नही ।।

चूँकि जिस भाषा मे उपदेश दिया गया है, वह भाषा इन तथाकथित विद्वानों की है ही नहीं, इसलिये इन विद्वानो की प्ररूपणाएँ, स्वयं ही उन्मत्तवत् हैं, कभी आचार्य भगवतों को समीचीन कहने वाली, तो कभी उन्ही आचार्य भगवतो को असमीचीन कहने वाली ।।

श्री द्रव्य-सग्रहजी की टीका मे उन्हे एक वाक्य मिला कि मत्रसाधित देवता कुछ भी फल नही देते ।।

इस असत्यमृषा भाषा मे किये गये व्याख्यान से अनभिज्ञ बुद्धि डॉ. साहब समझ बैठे कि उन्हें अलाउद्दीन का चिराग ही मिल गया है ।।

उन्हें प्रतीति सी हुई कि इस प्रमाण ने उनके स्वोपार्जित सूत्र को न सिर्फ प्राण-दान देने का कार्य किया है, अपितु अमर भी बना दिया ।।

टीकाकार महोदय की टीका का आद्योपात, वह भी नय सापेक्ष स्वाध्याय न कर पाने का ही दुष्परिणाम था यह ।।

इसी दुष्पिरिणाम के तहत टीकाकार महोदय की श्री द्रव्यसग्रहजी पर की गई टीका का वे समीचीन व आद्योपांत स्वाध्याय नहीं कर पाए ।।

स्वाध्याय न कर पाने के कारण स्वयं के द्वारा ग्रहण किये गये अर्थ की समीचीन मीमांसा नहीं कर पाये ॥

मीमांसा न कर पाने की स्थिति में उन्मत्तवत् हो गये ॥

मात्र स्वोपार्जित सूत्र को ही नहीं, अपितु स्वयं टीकाकार महोदय के वचनों को भी नय सापेक्ष नहीं, अपितु नय निरपेक्ष प्ररूपित कर दिया ॥

डॉ. साहब टीकाकार महोदय के वचनों का आश्रय लेकर कह रहे है कि इष्टार्थ संपादन व विघ्न विनाशन की प्ररूपणा जैनेतरों व जैनाभाषियों की प्ररूपणा है, जैनियो की नहीं ॥

जिनेन्द्र भगवान के मत में, न तो कोई इष्टार्थ संपादक ही होता है, और न ही कोई इष्टार्थ विनाशक, अपितु मंत्र साधित देवता भी कोई फल नहीं देते ॥

वे यहाँ टीकाकार महोदय के आश्रय से यह कह रहे हैं, वहीं टीकाकार महोदय तैजस ऋद्धि-संपन्न संयम के निधान महामुनिराजों के विषय में कह रहे हैं कि :-

तैजस ऋद्धि संपन्न संयम निधान महामुनि की अशुभ तैजस ऋद्धि से बायें कंधें से निकला अशुभ तैजस पुतला महामुनि के चित्त में अनिष्ट उत्पन्न करने वाले जीव, अजीव अथवा मिश्र पदार्थों की इष्ट पर्याय का विनाशक और अनिष्ट पर्याय का संपादक है ॥ मात्र उन्हीं की नहीं, अपितु स्वयं संयम के निधान महामुनिराज की भी ॥

ऐसे ही शुभ तैजस ऋद्धि के संबंध में भी टीकाकार महोदय कह रहे हैं कि :-

ऋद्धिधारी मुनि के दाहिने कंधे से निकले पुतले ने रोग, दुर्भिक्षादि का अभाव कर विघ्न विनाशक व इष्टार्थ संपादक की भूमिका का निर्वाह किया ॥

अब आप ही बतलाइये पाठको ! कि यह शुभ तैजस पुतला इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक है या नहीं ?

है न ?

है ही ॥ और डॉ. साहब कह रहे हैं कि नहीं है ॥

क्या उनका ऐसा कहना किसी भी दृष्टि से उचित है ?

नहीं न ?

इसलिये अब बतलाइये कि डॉ. साहब क्या करेंगे ?

निश्चित ही हमारी तरह आपको भी ज्ञात नहीं ही होगा कि अब वे क्या करेंगे ?

क्यों ?

क्योंकि उन्मत्त बुद्धि की गति उन्मत्त बुद्धि ही जाने, और न जाने कोय......

इसलिये डॉ. साहब क्या करेंगे निश्चित ही हमें नहीं पता,

हमें तो मात्र इतना ही पता है कि जिनेन्द्र भगवान के मत में मंत्र अथवा ऋद्धिसाधित देवता अथवा पुतला ही नहीं, अपितु मंत्र/ऋद्धि-संपन्न महाऋषि भी न सिर्फ विघ्न विनाशक व इष्ट संपादक शक्ति से संपन्न होते हैं, अपितु प्रयोगधर्मा भी होते हैं अर्थात् उत्पन्न ऋद्धि अथवा मंत्रशक्ति के प्रयोग से युक्त भी होते हैं, इसे पूर्व में कह चुके हैं, किन्तु पाठकों की सुविधा हेतु प्रकरणानुसार श्री धवलाजी से प्रकरण लेकर दोहरा भर रहे हैं ॥

श्री धवलाजी, पुस्तक ९, पृष्ठ ९५, सूत्र २९ :-

णवरि असुहलद्धीणं पउत्ती लद्धिमंताणमिच्छावसवट्टणी ॥ सुहाणं लद्धीणं पउत्ती पुण दोहि वि पयारेहि, संभवदि तदिच्छाए विणा वि पउत्तिदंसणादो ॥

अर्थ :- विशेष इतना है कि अशुभ लब्धियों की प्रवृत्ति लब्धियुक्तजीवों की इच्छा के वश होती है ॥ किन्तु शुभ लब्धियों की प्रवृत्ति दोनों ही प्रकार से (स्वतः व इच्छा से) संभव है, क्योंकि इच्छा के बिना भी उक्त लब्धियों की प्रवृत्ति देखी जाती है ॥

निश्चित ही डॉ. साहब इस प्रकरण को स्मरण कर चकरा ही गये होंगे ॥

पाठक वर्ग कृपया यहाँ स्मरण में रखें कि महामुनिराज इन ऋद्धियों का उपयोग करते भी हैं या नहीं अथवा करते हैं तो उनका गुणस्थान कौनसा हो जाता है आदि प्रश्नों को यहाँ स्थगित करते हैं, क्योंकि इन प्रश्नो अथवा विषयों का यहाँ प्रकरण नहीं है ॥

हमारा प्रकृत विषय है कि जिनेन्द्र भगवान के मत मे इष्टार्थ-संपादक व विघ्न-विनाशक की प्ररूपणा है भी या नहीं, इसकी विवेचना है व उसीका पुरुषार्थ यहाँ हम कर रहे हैं ॥

उसी क्रम में हमें आगम से उत्तर प्राप्त हो रहा है कि इष्टार्थ संपादक व विघ्न-विनाशक की प्ररूपणा जिनागम में है, है और है ॥

यह उत्तर भी उसी आगम से अर्थात् श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका से ही आया है, जिसे कि डॉ. साहब अपने पक्ष में प्रस्तुत कर रहे थे ॥

अर्थात् वे आचार्य भगवत, जो कि डॉ. साहब को सर्वांग इष्ट थे, ऐसे श्री द्रव्यसंग्रहजी की जिनेन्द्र भगवान के ही वचनों का उच्चारण करती टीका के रचयिता श्रीमद् ब्रह्मदेव सूरिजी ही तैजस ऋद्धि संपन्न महामुनिराजों की प्ररूपणा करते हुए कह रहे हैं कि इष्टार्थ संपादक व विघ्न-विनाशक की प्ररूपणा जिनागम में है, है और है ॥

किसके अनुसार कह रहे है वे ?

श्रीमद् धवलाकारजी की टीका का अनुसरण करते हुए लिख रहे है ॥

वैसे तैजस ऋद्धि का उपर्युक्त विषय श्री धवलाजी पुस्तक ४,७,१४, श्री राजवार्तिकजी अध्याय २, सूत्र ४९ आदि ग्रथों मे उपलब्ध है, वहाँ इसे इसी अर्थ में देखा जा सकता है. अतः उत्साहित पाठक गण कृपया वहाँ से विषय और अधिक स्पष्ट कर लें, किन्तु .. ..

हम यहाँ इतना ही कहना चाह रहे हैं कि यदि द्रव्यसंग्रहजी की टीका तीर्थंकर भगवान

की ही देशना है, तो इसे अब पृथकतया सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं कि स्वयं डॉ. साहब का अभिमत, स्वयं उन्हीं को मान्य आगम ग्रंथ से खण्डित हो गया ॥

न सिर्फ खण्डित हो गया, अपितु यह भी सिद्ध हो गया कि वे अपनी धारणा के अनुसार ही आगम ग्रंथों को पढ़ते हैं व धारणानुसार ही उपदिष्ट सूत्र को बगैर पूर्वापरादि का विचार किये हृदयंगम करते हैं, ग्रंथ व सूत्रानुसार अपनी धारणा की निर्मिति नहीं करते हैं ॥

इस प्रकार यदि डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठीगण श्री द्रव्य संग्रहजी की टीका के इस अंश को (कि मंत्र-साधित देवता कुछ भी फल नहीं देते), जिसके कि द्वारा वे स्व-मत-मंडन व पर-मत-खण्डन करने को उद्यत हुए हैं, का एकांत आग्रह करते हैं, तो स्वयं टीकाकार के ही वचन संदिग्ध ठहरते हैं ॥

मात्र संदिग्ध ही नहीं, अपितु उन्मत्तवत् भी ॥

परस्पर विरुद्ध वचन हैं ये व परीक्षा करने पर बाधित भी ॥

किन्तु हाँ, टीकाकार महोदय के वचन मात्र उन्हीं के लिये संदिग्ध व उन्मत्तवत् हैं, जिन्हें कि वचन योग के चारों भेदों में से असत्यमृषा भाषा का न तो ज्ञान ही है और न ही अभ्यास ॥

चूँकि इस भाषा का अभ्यास व ज्ञान, दोनों ही, डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठियों को किंचित् भी नहीं है, इसलिये........खैर !

निश्चित ही यदि हम यहाँ इतने विस्तार से इस विषय का विवेचन न करें, व सिर्फ उदाहरण-उदाहरण चर्चा कर टीका में स्व-वचन बाधा का जो मिथ्याभाष निहित है, को उजागर करते, तो डॉ. साहब को घोषणा करने में क्षण मात्र भी न लगे कि ''श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका के वचन उन्मार्ग की ओर ले जाने वाले हैं, क्योंकि वे विरोधाभाष सहित होने से उन्मत्तवत् हैं ॥ उस टीका को पुनः नये सिरे से लिखने की आवश्यकता है, जैसे कि मंतव्य उन्होंने श्रीमद् इंद्रनंदिनीतिसारसंग्रहजी एवं पद्मपुराणकारजी के प्रति व्यक्त किये थे ॥''

पाठको, कृपया यहाँ राहत की साँस न लें, विषय अभी यहाँ पूरा नहीं हुआ है, इसी प्रकरण में अभी इस टीका में विषय और भी हैं, जिसे कि अगले शीर्षक के तहत सुनिये ॥

॥ इत्यलम् ॥

❐ डॉ. साहब की प्ररूपणा स्वयं टीकाकार के वचनों को स्व-वचन बाधित करने वाली-२

(२) डॉ. साहब, श्री द्रव्यसंग्रह जी की टीका व अवर्णवाद :-

जिस प्रकार डॉ. साहब के एकान्त आग्रह व अनुभय वचनों की अज्ञानता टीकाकार महोदय के उपर्युक्त वचनों को मिथ्या सिद्ध कर रहे हैं, उसी प्रकार निम्न वचनों को भी मिथ्या सिद्ध कर देंगे ॥

देखिये, श्री द्रव्यसंग्रहजी, गाथा ३५ की टीका (विषय : अशुचि भावना)

टीकाकार महोदय ने यहाँ नारायण श्रीकृष्ण व युधिष्ठिर के मध्य हुए संवाद को शुचिता प्रकरण में उद्धृत किया है :-

" तथा चोक्तं नारायणेन युधिष्ठिरं प्रति विशुद्धात्मनदीस्नानमेव परमशुचित्व कारणं न च लौकिकगङ्गादितीर्थे स्नानादिकम् ॥ "

अर्थ :- नारायण (श्रीकृष्ण) ने युधिष्ठिर (पाण्डुपुत्र) से कहा कि शुद्ध जो आत्मा रूपी नदी है, उसमें स्नान करना ही, परम शुचिता (पवित्रता) का कारण है, न कि गंगादि लौकिक तीर्थों में स्नानादि ॥

शंकाकार : ठीक तो है, इन वचनों में बाधा क्या है व इसी के साथ हमारी शंका विशेष यह भी है कि इन वचनों का क्षेत्रपाल आदि शासन देवताओं से क्या संबंध है ?

समाधान : दोनों ही प्रश्नों के उत्तर व संबंध आपकी स्मृति में है ॥ हुआ मात्र इतना है कि अभ्यास के अभाव में तात्कालिक विस्मृति उत्पन्न हो गई है, अतः उत्तर क्रमश देंगे ॥

देखिये :-

जो मान्यता लोकमूढ़ों की गंगादि तीर्थों के विषय में है, वही मान्यता हमारी गंधोदक के विषय में है ॥

वे गंगा स्नान इसलिये करते हैं कि गंगा स्वयं निर्मल है और अन्यो को निर्मल करती है ॥

हम भी गधोदक के विषय में यही कहते हैं :-

" निर्मलं निर्मलीकरणं "

इसी प्रकार वे कहते हैं कि गंगा स्वयं पवित्र है और अन्यों के पापों का नाश करती है ॥

हम भी गंधोदक के विषय में यही कहते हैं :-

"पवित्रं पाप नाशनं"

इसी प्रकार वे पुनः कहते हैं कि गंगा संसार समुद्र से पार उतारने वाली है ॥

हम भी कहते हैं कि गंधोदक :-

" अष्टकर्मनिवर्हणम् "

अर्थात् गंधोदक भी आठ कर्मों का नाश करके संसार समुद्र से पार उतारने वाला है ॥

इसी बुद्धि से प्रेरित होकर वे गंगा नदी की वंदना व उसमें स्नान करते हैं ॥

व इसी बुद्धि से हम भी गंधोदक की वदना करते हैं व उसे पूज्य मानते हुए उत्तम अंगों पर उसका क्षेपण करते हैं ॥

अब पाठको, कृपया आप ही बतलाइये कि यदि :-

"शुद्ध जो आत्मा रूपी नदी है, उसमें स्नान करना ही परम पवित्रता का कारण है, न कि लौकिक गंगादि में शुचिता/पवित्रता की भावना से स्नान करना,

तो क्या शुचिता/पवित्रता की भावना से गंधोदक का उत्तम अंगों पर क्षेपण करना शुचिता/पवित्रता का कारण हो सकता है ?"

नहीं न ?

इतना ही नहीं, अपितु गंधोदक के माहात्म्य को दर्शानेवाली मैनासुंदरी आदि की कथाएँ भी क्या लोकमूढ़ों की कथाएँ नहीं हो जायेंगी ?

हो ही जायेंगी ॥ हो क्यों नहीं जायेंगी ?

(३) डॉ. साहब, श्री द्रव्यसंग्रह जी की टीका व अवर्णवाद :-

आप यहाँ यह नहीं कह सकते कि :-

"जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाभिषेक का जल है यह ॥"

क्यो, क्यो नहीं कह सकते ?

वह इसलिये कि जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाओं के स्नपन का जल होने से ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है, जिस कारण कि उसे पवित्र कहा जाय ॥

क्यो ?

क्योंकि न तो वह अरिहंत हो गया और न ही रत्नत्रय युक्त ॥

वह तो जिनेन्द्र भगवान का अत्यंत निकट सान्निध्य मिलने पर भी रहा परिणाम-शून्य

अचित्त का अचित्त ही ॥

इसके अलावा द्रव्यनिक्षेप से उसका गुणस्थान भी प्रथम अर्थात् मिथ्यात्व ही रहा ॥

इस प्रकार यहाँ डॉ. साहब के एकान्त आग्रह व अनुभय वचनों में वर्तती उनकी अज्ञानता प्ररूपणा करेगी कि **जब जिनेन्द्र भगवान का अत्यंत सामीप्य होने के पश्चात् भी यह गंधोदक का जल स्वयं पवित्र नहीं हुआ, तब अन्यों को पवित्र कैसे करेगा ?**

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के मत से गंगा नदी स्नान का सूत्र जिनाभिषेक व जिनाभिषेक के माहात्म्य की प्ररूपणा करने वाले उपदेशों को स्पष्टतः मिथ्या व अन्यमतियों से प्रभावित क्षण मात्र में सिद्ध कर देगा ॥

नहीं कर देगा क्या ?

क्यों नहीं कर देगा ? कर ही देगा ॥

इस प्रकार डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी अब शासन देवता की तरह परमागम से सिद्ध नो कर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम लोकोत्तर अचित्त मंगल (पृष्ठ १८७) जिनाभिषेक व जिनाभिषेक के जल का ग्रहण, दोनों को ही मिथ्या सिद्ध करने में लग जायेंगे ॥

क्योंकि अब उनके पास सूत्र है कि प्रतिमाजी के स्नान अथवा स्नानीय जल से शुचिता नहीं होने वाली है, वह तो जब भी होगी, शुद्ध आत्मा रूपी नदी के जल में स्नान करने से होगी ॥

(४) डॉ. साहब, श्री द्रव्यसंग्रह जी की टीका व अवर्णवाद :-

शंकाकार : यह तो आपने उन्हीं की शैली में एक नया विषय परोस दिया ॥ खैर ! आप तो यह बतलाइये कि यदि यहाँ यह समाधान दिया जाय कि प्रतिमा स्नान के काल में उच्चारित मंत्रों से वह स्नानीय जल पवित्र हो गया, तो ?

समाधान : तो क्या, यह उत्तर तो स्वयं डॉ. साहब को ही स्वीकार नहीं होगा ॥

क्यों ?

वह इसलिये कि इस प्रकार उत्तर देने पर तीन सामान्य दूषण आयेंगे (विशेष दूषणों की यहाँ गणना ही नहीं की), देखिये :-

१) यदि मंत्रों से जल का पवित्र होना मानोगे, तो प्रतिमा निरतिशय हो जायेगी ॥

२) यदि दोनों से मानोगे तो एक दूसरे के अभाव में दोनो निरतिशय हो जायेंगे ॥

३) इस प्ररूपणा से डॉ. साहब के स्वय के आविष्कारित सिद्धान्त में बाधा आयेगी ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि इस प्रकार स्वीकार करने पर तो जल को पवित्र करने वाला मंत्र ही ईश्वर सिद्ध हो जायेगा ॥

इस प्रकार ईश्वर सिद्ध होते ही जैनेतरों के ईश्वरवाद से जिनागम दूषित हो जायेगा ॥

अतः उच्चारित मंत्रों से स्नानीय जल का पवित्र होना स्वीकार नहीं किया जा सकता ॥

(५) निष्कर्ष :-

शंकाकार : तो क्या आप भी गंधोदक की पवित्रता के पक्षधर नहीं हैं ?

समाधान : क्यों, ऐसा क्यों पूछ रहे हैं आप ?

शंकाकार : इसलिये कि आपने इतनी सशक्त प्ररूपणा की है कि विशुद्ध से विशुद्ध श्रद्धावान भी इस विषय में सशंक हो जायेगा ॥

समाधान : यथार्थ कह रहे हैं आप ॥ जिनागम में उन्हें, जिन्हें कि असत्यमृषा भाषा संबंधी अज्ञान वर्त रहा है, वे सभी, जिनागम में वर्णित मात्र शासन-देवता अथवा जिनाभिषेक के ही संदर्भ में नहीं, अपितु प्रत्येक क्रिया अथवा सिद्धांत के विषय में शंकाओं की निर्मिति कर, उन्हें जिनागम बाह्य अथवा अन्यमतियों की प्ररूपणा निरूपित कर रहे हैं ॥

इसी असत्यमृषा भाषा संबंधी अज्ञान ने :-

१) पूजा पाठ के विषय में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

२) आरती के विषय में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

३) धूप खेने, रात्रि में प्रदक्षिणा देने, रात्रि में मंदिरजी में घण्टा बजाने आदि विषयों में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

४) पंचामृत अभिषेक के विषय में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

५) स्त्री अभिषेक के संदर्भ में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

६) आर्यिका माताओं की परम पावन पवित्रता के संदर्भ में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

७) फल, फूल और नैवेद्य से पूजा करने के विषय में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

८) यज्ञोपवीत के विषय में शंकाएँ उत्पन्न की ॥

ये सभी दुष्परिणाम श्री इंद्रनंदी नीतिसार संग्रहजी में स्वाध्याय के लिये अयोग्य घोषित अल्पबुद्धियों द्वारा किये गये स्वाध्याय का प्रतिफल हैं ॥

इसे ही मुहावरे में बंदर के हाथ में ....कहते हैं ॥

शायद पाठक वर्ग समझें कि मंदबुद्धियों के लिये सिद्धांत व आचारग्रंथों के स्वाध्याय का निषेध क्यों किया गया है ॥

जितनी दृढ़ता व आगम प्रमाण पूर्वक हमने गंधोदक का निषेध किया है, जैसा कि डॉ. साहब अथवा बैनाडाजी का पुरुषार्थ शासन-देवताओं के निषेध के संदर्भ में था, वह निषेध

कइयों को अभिषेक विमुख करने में पर्याप्त है ॥

वह भी मुख्यता से औसत बुद्धि के विद्वान् महानुभावों को ॥

इसके पश्चात् हमारे पक्ष में जनाधार की निर्मिति वे स्वयं कर लेंगे ॥

डॉ. साहब द्वारा अपने ही पैरों पर कुल्हाडी..... :-

इस विषय में उत्तम उदाहरण देखिये :-

जिस हेतु अर्थात् निमित्त का आश्रय लेकर १३ पंथी विद्वानों ने पूजा के द्रव्यों में से फल और फूल के व्यवहार को मिथ्यात्व निरूपित किया था, उसी तर्क का आश्रय लेकर, उन्हीं के पक्ष के अन्य विद्वानों ने आरती करने व धूप खेने का निषेध कर दिया ॥

अब आरती करने व धूप खेने के पक्षधर, किन्तु फल और फूल चढ़ाने के निषेधक १३ पंथी पुरातन विद्वान् अपना संपूर्ण पुरुषार्थ लगाने के पश्चात् भी आरती करने व धूप खेने की आगम आज्ञा को यथावत् बनाये रखने में असामर्थ्यवान सिद्ध हो रहे हैं ॥

क्यों ?

क्योंकि तर्क इन्हीं का कार्य कर रहा है ॥

जिस तर्क के आश्रय से इन्होने फल और फूल का निषेध किया था, उसी तर्क ने, औसत बुद्धि के विद्वानों को एक कदम और आगे का मार्ग सुझाया ॥

एक कदम और आगे का मार्ग सुझवाते हुए न सिर्फ दीप-धूप का, अपितु हवन का भी उनसे त्याग करवा दिया ॥

आपने हमसे पूछा है कि गंधोदक की पवित्रता के हम पक्षधर हैं या नहीं ॥

हैं और सौ प्रतिशत हैं ॥ इसकी पवित्रता की सिद्धि स्वयं धवलाजी पुस्तक १ के आश्रय से नो कर्म तद्व्यतिरिक्त नो आगम लोकोत्तर अचरित्र मंगल के रूप मे हो जाती है ॥

किन्तु यहाँ तो हमारा प्रश्न डॉ. साहब से था कि यदि द्रव्य संग्रहजी के टीकाकार महोदय के वचनों को आप असत्यमृषा नहीं मानोगे, तो गंधोदक का भी आपको निषेध करना ही करना होगा, गंधोदक के पक्ष मे फिर आप अपना हाथ नहीं उठा सकते ॥

डॉ. साहब के पक्षधर औसत बुद्धि के विद्वान व स्याद्वादी विद्वान :-

शंकाकार : असत्यमृषा भाषा तो शंका अथवा अनध्यवसाय की उत्पत्ति की कारण होती है न ?

समाधान : जी हां !! जैसे यहाँ टीकाकार महोदय ने कहा कि शुद्ध आत्मारूपी नदी के प्रवाह में स्नान ही शुचिता/पवित्रता को देने वाली है, गंगा आदि नदियों किया गया जल स्नान नहीं ॥

इतना सुनते ही, तुरंत शंका गंधोदक के जल व भगवान के स्नपन के विषय में उत्पन्न हुई कि तो क्या भगवान की प्रतिमा को स्नान करने, करवाने अथवा अनुमोदना करने व उस स्नान के जल को शुचिता/पवित्रता के उद्देश्य से उत्तमांगों पर क्षेपण करने से शुचिता/पवित्रता की संभावना है ?

यह शंका अनध्यवसाय की उत्पत्ति कर औसत बुद्धि के विद्वानों को जिनाभिषेक विमुख करने को पर्याप्त है ॥

इस पर स्याद्वाद-कुशल इस औसत बुद्धि के विद्वान से कहेगा कि लोक मूढ़ता प्रकरण में गंगादि की तरह गंधोदक विचारणीय नहीं है ॥

औसत बुद्धि के विद्वान् को स्याद्वाद कुशल विद्वान् का उपर्युक्त सूत्र-बुद्धि में नहीं बैठता, व उसे ही मंदबुद्धि मान, उसकी उपेक्षा करता है, जैसे समंतभद्राचार्यजी की उपेक्षा उसने की, वैसे ही ॥

कैसे ?

श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी ने पूजा के द्रव्यों पर हिंसा का आरोप लगाने वालों से कहा कि इन आठ द्रव्यो म अहिंसा के सूत्र मत खोजो ॥

इन आठ द्रव्यों की उत्पत्ति में, प्राप्ति में, संरक्षित करने में, चढ़ाने में और चढ़ा कर यूँ ही छोड़ देने में, इन पांच स्थानों पर हिंसा है, इन पांच स्थानों पर होने वाली हिंसा तेरे चिंतन का विषय नहीं ॥

क्यों ?

क्योंकि इन आठ द्रव्यों से तेरे द्वारा की गई भगवान की पूजा से अर्जित पुण्यास्रव के सम्मुख इन आठ द्रव्यों के लिये होने वाली पंच स्थान-गत हिंसा व उससे होने वाला पापास्रव, विशाल समुद्र में गिरे हुए विष-कणिका के तुल्य है ॥

उस हिंसा के विषय में तू चिंतित मत हो और चिंतन बहुलाभअल्पविघात सूत्रानुसार कर, न कि अल्पलाभबहुविघात सूत्रानुसार, इस प्रकार चिंतन करते हुए तू तो बस अपना चित्त इन द्रव्यों के सद्भाव सहित भगवान की पूजा में लगा ॥

मंदबुद्धि अथवा औसतबुद्धि के विद्वान् की बुद्धि में आचार्य भगवंत का यह सूत्र उतर न पाया और उसने अपना समूचा पुरुषार्थ इन द्रव्यों में बहुलाभअल्पविघात के स्थान पर अल्पफलबहुविघात सूत्र की सिद्धि में लगा दिया ॥

इस प्रकार न सिर्फ उसने स्वयं ने पूजा के द्रव्यों में न्यूनता की, अपितु अन्य मंदबुद्धियों को भी इस न्यूनता का मार्ग अंगीकार करवाया ॥

यहाँ प्रकरण होने से इस औसत बुद्धि के विद्वान् की धारणागत मंदबुद्धिता के दो उदाहरण देना हम उपयुक्त समझते हैं :-

१) बहुलाभअल्पविघात सूत्रानुसार पूजा में प्रयुक्त होने वाले हरे फलों के उपयोग में अल्पफलबहुविघात सूत्र की सिद्धि कर, उसके स्थान पर यह औसत-बुद्धि का विद्वान् सूखी बादाम चढ़ाता है व चढाने को कहता है ॥

अब इस मूढ़ को यह पता ही नहीं कि बादाम यह फल नहीं, अपितु बीज है ॥

उससे जब हम पूछते हैं, तो दायें बायें झांकता है ॥

२) दूसरा निर्देश चावल का है ॥

वह कहता है कि हमें प्रासुक चढाने का निर्देश है ॥

हमने उनसे पूछा कि अप्रासुक कितने प्रकार के हैं ?

उसने बतलाया ५ प्रकार के :-

१) त्रस घात, २) अल्पफल बहु विघात, ३) अनुपसेव्य, ४) अनिष्ट कारक, ५) प्रमादकारक ॥

हमने पुन. कहा कि आपके द्वारा चढाया गया चावल इन पाँच में आता है या नहीं ?

उसने सहज ही कह दिया कि नहीं, नहीं आता है ॥

हमने पुनः पूछा कि इस चावल को ऐसे ही आहार काल में आचार्य भगवंत की अंजुलि में प्रासुक कह कर रख दोगे, तो वे ले लेंगे क्या ?

वे थोडा चौंके व सावधान से हो उत्तर दिया कि नहीं, नहीं लेंगे ?

हमने पूछा कि क्यों, क्यों नहीं लेंगे ?

तब वे बोले कि नही मालूम ॥

हमने कहा ५ अप्रासुकों मे खोजो ॥

खोजने पर उन्हें मिला कि जो चावल हम चढा रहे हैं, वह अनिष्ट कारक नाम का अप्रासुक/अभक्ष्य द्रव्य है ॥

भक्ष्य अर्थात् प्रासुक तो वह भात होने पर ही कहलाता है ॥

उसके पूर्व अचित्त होने से प्रासुक होने पर भी अप्रासुकवत् त्याज्य है ॥

यह सुन पुन· वह औसत बुद्धि का विद्वान् बगले झांकने लगता है ॥

"इस औसत बुद्धि विद्वान् के पास जो कुछ भी है, वह सब उलझा हुआ और अन्यों के द्वारा पुनः उलझा दिये जाने के योग्य ॥"

उपर्युक्त प्ररूपणा को सुन यह तथाकथित विद्वान् कहता है कि पूजा करने का निर्देश तो प्रासुक द्रव्य से है, अभक्ष्य का यहाँ प्रकरण ही नहीं है, अत· आप अभक्ष्य का उलाहना देकर प्रासुक द्रव्य का खण्डन नहीं कर सकते ?

अप्रासुक दो प्रकार के होते हैं :

१) जिसमें जीवों का वास होता है, जिसे कि आप सचित्त कहते हैं, अप्रासुक है ॥

२) जिससे जीवों का घात होता है, जैसे जहर, यह अप्रासुकवत् है ॥

ये दोनों ही अप्रासुक हैं ॥

चावल भी जहर की तरह अनिष्टकारक अप्रासुक द्रव्य है ॥ प्रासुक तो वह भात बनने पर ही होता है ॥

इसमें भी पुन ध्यान देने योग्य विषय यह हैं कि वे भात भी दुःपक्व नहीं होने चाहिये ॥ दु पक्व अर्थात् न तो अधपके होने चाहिये और न ही अधिकपके ॥ भात की ये दोनों अवस्थाये भी अनिष्टकारक कही गई है ॥ अनिष्टकारक कही गई हैं, इसलिये प्रासुक होने पर भी अप्रासुकवत् त्याज्य है ॥

कथंचित् बहुलाभअल्पविघात सूत्रानुसार अप्रासुक/सचित्त द्रव्य को भी उपादेय कहा गया है, क्योंकि हेय तो अल्पफलबहुविघात को कहा गया है, किंतु अनिष्टकारक को तो औषधोपचार के अलावा अन्य किसी भी अपेक्षा से उपादेय कहा ही नहीं है ॥

चावल भी अनिष्टकारक नाम का अप्रासुक द्रव्य है ॥

अचित्त होने से प्रासुक होने पर भी अप्रासुकवत् सर्वथा-सर्वदेश त्याज्य है, यदि भात आदि बनाने की बुद्धि पूर्वक ग्रहण अथवा संग्रह नहीं किया गया है तो ॥ इस विवक्षानुसार भी चावल द्रव्य निक्षेप से उपादेय कहलायेगा, भाव निक्षेप के अनुसार नहीं, भाव निक्षेप के अनुसार तो उसकी भात पर्याय ही उपादेय है, अन्य नहीं ॥

चूँकि पूजा में चावल भातादि बनाने की बुद्धि पूर्वक ग्रहण व स्वाहा कहते हुए चढ़ाये नहीं जाते, अतः कहना होगा कि आपकी पूजा अनिष्टकारक अभक्ष्य द्रव्य से की गई पूजा है ॥

नहीं है क्या ?

है ही, है क्यों नहीं ?

हमारी उपर्युक्त प्ररूपणा इस औसत बुद्धि के विद्वान की पूजा की थाली से बादाम व चावलों का लोप करने को पर्याप्त है ॥

निश्चित ही पाठकों को सुस्पष्ट हो ही गया होगा कि हमने किसलिये कहा था

कि ''इस औसत बुद्धि विद्वान् के पास जो कुछ भी है, वह सब उलझा हुआ और अन्यों के द्वारा पुनः उलझा दिये जाने के योग्य ॥''

इसी उलझी हुई मंदबुद्धि के आश्रय से १३ पंथ की स्थापना हुई है ॥

१३ पंथीय संस्थापक विद्वान् की सूचना देने वाले अर्थात् ''इस मत के प्ररूपक कौन थे ?'' इस रहस्य को उद्घाटित करने वाले डॉ. साहब के वचनों को, चलिये पं.कैलाशचंद्रजी शास्त्री, जो कि स्वयं भी विख्यात १३ पंथी विद्वान् रहे हैं, के वचनों सहित एक बार पुन: सुनिये :-

(आगम मान्य पूजा पद्धति से विपरीत किये गये)इस परिवर्तन के कारण पु. बनारसीदासजी का चलाया पंथ पहले वाणारसीमत, और बाद में १३ पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥ (जैनधर्म, पृष्ठ ३०४, पं. कैलाशचंदजी शास्त्री एवं **जिनभाषित, अंक मई २००२, लेख : दोनों पूजा पद्धतियाँ आगम सम्मत, लेखक : डॉ. रतनचंद जी जैन, भोपाल)**

अर्थात् दोनों ही आदरणीय विद्वान् महोदय स्वीकार करते हैं कि न तो पूर्व में कोई १३ पंथीय मान्य पूजा पद्धति ही थी और न ही आगम में इसका कोई उल्लेख, अपितु इसका उद्‌भव शहंशाह शाहजहाँ के काल में आगरा में लगभग ४०० वर्ष पूर्व पं बनारसीदास जी की मेधा से हुआ ॥

अर्थात् १३ पंथी आम्नाय के आद्य तीर्थंकर (पु) बनारसी दासजी हैं, उनके पूर्व के तीर्थंकरों की यह प्ररूपणा नहीं, इसे दोनों ही १३ पंथी विद्वान् लेखक स्वीकार करते हैं, उन्हे इस विषय में कोई संशय नहीं है ॥

जब यह विद्वान् श्रीमद् समंतभद्राचार्यजी की उपेक्षा/अवहेलना कर सकता है, उनकी उपेक्षा/अवहेलना करते हुए पूजा के द्रव्यों दीप, धूप, हवनादि में बहुलाभअल्पविघात सूत्र का प्रयोग करने के स्थान पर, इन द्रव्यों के आश्रय से की गई पूजा को अल्पफलबहुविघात निरूपित करता हुआ हिंसक यज्ञ घोषित करता है, तब अन्य स्याद्‌वाद कुशल विद्वानो को कहाँ से पूछेगा ?

स्याद्‌वाद कुशल विद्वान् ने गंधोदक के संदर्भ में कहा कि लोक मूढता प्रकरण में गंगा नदी की तरह गंधोदक विचारणीय नही है, गंधोदक का प्रकरण गंगा नदी के प्रकरण से कथंचित् साम्यता लिये होने पर भी, समान नही है, भिन्न है ॥

भिन्न है, अत विचारणीय नहीं है ॥

औसत बुद्धि विद्वान् कहता है कि नहीं, विचारणीय है ॥ जिस प्रकार हमने पूर्व में

जिनागम में अनेकों संशोधन किये हैं, यहाँ पुनः करेंगे व जिनाभिषेक को अन्यमतियों की प्ररूपणा सिद्ध करके रहेंगे ॥अब तक तो हम सिर्फ स्त्रियों को जिनाभिषेक करने का निषेध करते थे, किन्तु अब तो जिनाभिषेक का ही निषेध कर देंगे, ताकि न रहे बांस व न बजे बांसुरी, जब जिनाभिषेक ही नहीं होगा, तो प्रश्न ही नहीं रहेगा कि स्त्री अभिषेक कर सकती है या नहीं ॥

इस प्रकार जिद पर उतरे औसत बुद्धि के विद्वान् से स्याद्वाद कुशल कहता है कि :-

(१) फिर अकेले गंधोदक को त्यागने से कुछ नहीं होगा, अपितु प्रातः जिन-दर्शन व पूजा से पूर्व भी जो तुम्हारा स्नान का आग्रह है, उसे भी त्यागना होगा ॥

त्यागोगे ?

नहीं न ?

किन्तु त्यागना तो होगा ही, क्योंकि देह पर लिपटा मल अथवा स्त्री सेवनादि से आई देहगत अशुद्धि आत्मा पर लिपटा मल नहीं है ॥ हमें अपना समय आत्मा पर लिपटे मल के परिहार में लगाना है, न कि देह पर लिपटे मल के परिहार में ॥ इसलिये प्रातः जिन-दर्शन व पूजा से पूर्व जो तुम्हारा स्नान का आग्रह है, उसे आपको त्यागना होगा ॥

अब यह औसत बुद्धि का विद्वान् थोडा चौकस हुआ ॥

उसकी धारणा पर चोट लगी ॥

(२) स्याद्वाद कुशल ने पुनः कहा कि इतना ही नहीं, अपितु प्रायश्चित्त विधान में कहे गए शुद्धि विधान को भी आपको त्यागना होगा ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि प्रायश्चित्त विधान में तीन प्रकार की शुद्धियाँ निरूपित की गई हैं · मंत्र-शुद्धि, व्रत-शुद्धि व जल-शुद्धि ॥

आपके अनुसार फिर दो ही शुद्धियाँ शेष रह जायेंगी- व्रत और मत्र ॥

जल शुद्धि के विधान को पुनः अन्यमतियों का कहना होगा ?

नहीं कहना होगा क्या ?

कहना ही होगा ॥ कहना क्यों नहीं होगा ?

किंतु कहोगे क्या ?

इस प्रश्न के उत्तर मे वह पुन. सर खुजलाने लगा ॥

(३) स्याद्वाद कुशल ने पुनः बाधा उपस्थित की कि इसी प्रकार स्त्रियों के तीन दिवसीय अशौच के पश्चात् जो स्नान पूर्वक शुद्धि कही है, उसका क्या करोगे ?

(४) इतना ही नहीं, अपितु रज:स्राव के उन तीन दिनों में, वे अशुद्ध हैं, ऐसा भी आप नहीं कह सकते ॥

क्यों, क्यों नहीं कह सकते ?

वह इसलिये कि जिस रज:स्राव के कारण आप उन स्त्रियों को अशुद्ध कह रहे हो, वह रज:स्राव आत्मा में अशुचि उत्पन्न करने वाले क्रोधादि भाव मलों का भेद ही नहीं है ॥

और न ही इस रज:स्राव को आत्मा में क्रोधादि भाव मलों की उत्पत्ति में निमित्तभूत जीव विपाकी कर्म प्रकृतियो मे गिनाया है ॥

वह तो पुद्गल विपाकी औदयिक शरीर नामकर्म का पुद्गल विपाकी उत्तर भेद है ॥

और पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का नियम है कि उनका फल पुद्गल में ही पड़ता है, आत्मा में नहीं ॥

इसलिये रज:स्राव आत्म अशुचिता को कारण नहीं है ॥

इसलिये रज:स्राव से स्त्रियो में अशुचिता मानना जैनियो का नही, अपितु जैनभाषियों का मत है ॥

शंकाकार : तो क्या स्त्रियों की त्रि-दिवसीय अशुचिता अशुचिता नहीं है ?

समाधान : किसने कह दिया नहीं है ? है और सौ प्रतिशत है ॥ किंतु स्याद्वाद कौशल्य का जिनके अभाव पाया जाता है, उनसे मोक्षमार्ग मे हेतुभूत लौकिक और लोकोत्तर दोनों ही अवलंबनों को सरलता से छुडवाया जा सकता है ॥ उनको छुड़वाने में किसी विशेष कुशलता की आवश्यकता ही नहीं ॥ जैसे पूर्व के १३ पंथीय विद्वानों ने कुछ अवलबन छुड़वाये, फिर कानजी पंथी विद्वानों ने व अब आगे आने वाले इन्हीं की सी बुद्धिवाले अन्य विद्वान द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावो की अपेक्षा अन्य और कितने विषयो पर बरगला सकते हैं, इसका अनुमान करने के लिये हम कुछ इशारे भर दे रहे हैं, इशारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं ॥ हमारे द्वारा इंगित विषयों को आदि लेकर अपने श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार अन्य विषयों को उपलक्षण न्यायानुसार ग्रहण कर चिंतन करना चाहिये ॥

यदि स्याद्वाद कौशल्य होगा, तो अवलबन बना रहेगा, और यदि नहीं होगा, तो छूट जायेगा ॥

जैसे त्रि-दिवसीय अशौच को उपर्युक्त हमारे ही द्वारा बाधित कारणों के कारण अशुचि नहीं मानोगे, तो मल-मूत्र, मल-मूत्र का विसर्जन, मल-मूत्र विसर्जन के अंग, मल-मूत्र विसर्जन के स्थान आदि को अशौच किस विधि से कहोगे ? अर्थात् कह ही नहीं सकते ॥

कह सकते हैं क्या ?

नहीं न ?

इतना ही नहीं, अपितु भावनाये भी १२ नहीं, ११ ही शेष रह जायेंगी ॥ ११ शेष रहते हुए अशुचि भावना अन्यमतियों की परिकल्पना है, ऐसा कह विशुद्धि के लिये नियामक उसके अवलंबन का त्याग करना होगा ॥ मात्र अवलंबन का ही त्याग करना होगा, ऐसा नहीं, अपितु १२ भावनाओं के प्ररूपक श्रीमद् उमास्वमी, पूज्यपाद स्वामी आदि समस्त आचार्य भगवंतों को अन्य मतियों की प्ररूपणाओं से प्रभावित मिथ्यामति कहना होगा ॥

नहीं कहना होगा क्या ?

कहना क्यों नहीं होगा ? कहना ही होगा ॥

अतः उपर्युक्त दूषण से बचने के लिये स्त्रियों की त्रि-दिवसीय अशुचिता के संबंध में लोकोत्तर कार्य को साधने वाली लौकिक जुगुप्सा विधानानुसार चिंतन करना होगा ॥ लौकिक जुगुप्सा पर चिंतन करते हुए इस पर मनन द्रव्य निक्षेप के उत्तर भेद नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नोआगम लोकोत्तर अचित्त द्रव्य अमंगल सैद्धाँतिक सूत्रानुसार करना होगा ॥

जिनका तत्त्व की समझ हेतु नियामक निक्षेपों में प्रवेश नहीं होता, वे असत्यमृषा भाषा में लिखे गये श्री द्रव्य संग्रह जी आदि ग्रंथों व उन पर की गई टीकाओं के आश्रय से डॉ. साहब आदि की तरह एकांत बुद्धि का अवलंबन ग्रहण कर विशुद्धि व अशुद्धि में कारणभूत उपादेय व हेय अवलंबनों मे अंतर ही नहीं कर पाएंगे ॥

अतर नहीं करते हुए कानजी मतावलंबियों की तरह उपादेय पूजा के प्रति हेय बुद्धि व हेय स्त्रियों की त्रि-दिवसीय अशुचि में उपादेय बुद्धि की निर्मिति कर लेंगे ॥

अतर नही करते हुए उन्मत्त बुद्धि का परिचय देंगे ॥

सुनिये, स्याद्वाद कौशल्य का जो अवलंबन है, ऐसे नय-निक्षेपादि का जिनमें अभाव पाया जाता है, उनके विषय में श्री धवलाकार जी क्या कहते हैं (अर्थ मात्र - श्री धवलाजी, पुस्तक १, पृष्ठ १७) :- जो पदार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा, नैगमादि नयों के द्वारा और नामादि निक्षेपों के द्वारा सूक्ष्मदृष्टि से विचार नही करता है, उसे पदार्थ का समीक्षण कभी युक्त होते हुए भी अयुक्त सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी युक्त की तरह प्रतीत होता है ॥

इस प्रकार डॉ साहब जैसे उपदेशकों के आश्रय से जिनकी बुद्धि अयुक्त के प्रति युक्त व युक्त के प्रति अयुक्त वर्त रही है ऐसे औसत बुद्धि विद्वानों को गंगादि नदियों को उपलक्षण मान कर त्रि-दिवसीय अशुचि से अशुद्ध स्त्रियों की अशुचि में शुचि की बुद्धि निर्मित कर नारायण श्री कृष्ण के वचनों को इस प्रकार कहना होगा कि :-

"हे युधिष्ठिर !! जैसे गंगादि नदियों में स्नान करने से आत्मा शुचिता को

प्राप्त नहीं होती, उसी प्रकार रजःस्राव आदि मलों से मलिन द्रोपदी आदि महा सतियों को ३ दिन तक अशुद्ध मत कहो ॥ वह रजःस्राव आँख आदि से बहने वाले अन्य मलों की तरह है, जो कि उन सतियों की देह को तो मलिन कर सकता है किन्तु आत्माओं को नहीं ॥''

प्रिय पाठको, क्या नारायण श्रीकृष्ण के वचनो को संशोधित कर इसी प्रकार नहीं कहना होगा ?

कहना ही होगा ॥

क्या डॉ. साहब व उनके सहयोगी/सहपाठी स्त्रियो के त्रिदिवसीय अशौच के संदर्भ मे उपर्युक्त विवेचना करने को तत्पर हैं ?

नहीं न ?

(५) इसमें भी पुनः जल-शुद्धि से ही शुद्धि का एकांत करने वालों के लिये उपयोगी श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं, इसे भी सुनो :-

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपि वा ।
य. स्मरेत् परमात्मानं स बाह्याभ्यंतरे शुचिः ॥

यह श्लोक कहता है कि स्नानादि से बाह्य शुचिता मानना भी मिथ्यात्व ही है ॥

क्यों ?

क्योंकि परमात्मा का स्मरण करने से मात्र अंतरंग शुचिता ही प्राप्त होती है, बाह्य नहीं ऐसा जिनागम का सिद्धंत नहीं है, अपितु जिनागमानुसार तो परमात्मा का स्मरण अतरग व बाह्य, दोनों प्रकार की शुचिता-पवित्रता का कारण है ॥

अर्थात् भगवान के स्मरण से बाह्य अर्थात् देह की अशुचिता/अपवित्रता भी गलन को प्राप्त हो, शुद्धता को प्राप्त हो जाती है ॥

अत· बाह्य मलों के निरसन के लिये भी स्नान की नहीं, परमात्मा के स्मरण की आवश्यकता है ॥ परमात्मा का स्मरण ही अंतरंग मलों के साथ-साथ बाह्य मलों के गलन का कार्यकारी है ॥

ऐसा सिर्फ इसी श्लोक मे कहा गया है, ऐसा भी नहीं है, अपितु मंगल प्ररूपणा करने वाले श्री धवलाजी आदि सभी ग्रंथों में कहा गया है ॥

यह लो, इस विषय मे अन्य प्रमाणो की क्या आवश्यकता, जबकि स्वय द्रव्यसग्रहजी की आध्यात्मिक टीका करने वाले टीकाकार महोदय के वचनों से ही सिद्ध हो रहा है ॥

(६) यह तो श्रावकों की अपेक्षा से कथन हुआ, किन्तु परमागम में तो मुनिराजों

को भी चाण्डाल अथवा रजस्वला स्त्री आदि के स्पर्श के पश्चात् शुद्धि हेतु दण्ड स्नान कहा है, उसका क्या करोगे ....

औसतबुद्धि के विद्वानों की असमंजसता व स्याद्वादी :-

अभी स्याद्‌वाद कुशल विद्वान् श्री द्रव्यसंग्रहजी के वचनों से एकान्त आग्रह लिये औसत बुद्धि के विद्वानों को और भी बाधाएँ देने को तत्पर था कि वे औसत बुद्धि के विद्वान् सर पकड कर बैठ गये ।।

इतनी प्ररूपणा उसके लिये पर्याप्त रूप से अतिभारारोपण सदृश अवहनीय हो गई ।।

उसकी दयनीय स्थिति को देख विषय को स्थगित करते हुए स्याद्‌वाद कुशल ने पुनः कहा, "इसलिये लोक-मूढ़ता प्रकरण में गंगादि नदी कहने से गंधोदक विचारणीय नहीं है, उसे पृथक कर फिर इस मूढ़ता पर विचारणा करनी होगी, यदि वह कर लोगे तब तो जिनानुगामी कहलाओगे, अन्यथा जैनाभाषी ।।

अर्थात् गंगादि नदियों में स्नान, गंधोदक स्नान, सामान्य स्नान व प्रायश्चित स्नान, इन चारों में कथंचित् साम्यता होने पर भी साम्यता नहीं है, इन चारों में हेय व उपादेय बुद्धि विवक्षाधीन है, यदि इसकी सिद्धि कर लोगे, तब तो जिनानुगामी कहलाओगे, अन्यथा जैनाभाषी ।।

शंकाकार : किन्तु इन चारों में हेय व उपादेय बुद्धि का अंतर करें भी तो कैसे, यह तो बतलाइये ?

समाधान : उसे आगे बतलायेंगे ही, किन्तु अभी तो इसी प्रकरण के आश्रय से हमारा प्रश्न शासन-देवता प्रकरण में श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका के एकांत आग्रही डॉ. साहब से यह है कि :-

यदि डॉ. साहब टीकाकार महोदय द्वारा प्रयुक्त क्षेत्रपाल आदि संबोधनों द्वारा जिन शासन-देवताओं को भी उनमें सम्मिलित कर लेंगे, तब तो उन्हें गंगादि कहने से गंधोदक को भी ग्रहण करना होगा, क्योंकि जैसे मिथ्यादृष्टि क्षेत्रपालादिकों में व जिनशासन देवों में वे अंतर नहीं कर रहे हैं व दोनों को समान लक्षण वाला कह रहे हैं, वैसे ही गंगादि नदियों में व गंधोदक में भी वे अंतर नहीं कर सकते, दोनों ही समान लक्षण वाले हैं, ऐसा ही उन्हें कहना होगा ।।

यहाँ वे यह नहीं कह सकते कि गंगा आदि जल से स्नान किया जाता है, गंधोदक से नही ।।

क्यो, क्यों नहीं कह सकते ?

क्योंकि गंगादि नदियों के जितने उपयोग अन्यमति करते हैं, उतने ही उपयोग जैनी भी करते हैं ॥

गंधोदक के अपमान का सूत्र गढ़ कर गंधोदक से स्नान व उसका पान मंदबुद्धि विद्वानों द्वारा वर्जित करवाया गया है ॥

इस वर्जन में भी गंगादि की तरह गंधोदक के प्रति भाव पवित्रता का ही है कि गंधोदक पवित्र व मंगल है, उसका पान अथवा उससे स्नान कैसे किया जा सकता है ?

इसमें भी पुन जिस कार्य की सिद्धि अन्य मति गंगाजी में डुबकी लगाकर मानते हैं, उसी कार्य की सिद्धि हमारे तथाकथित विद्वान् उत्तमांगों पर उसे क्षेपित कर लेने मात्र से मान रहे हैं ॥

इनमें भी पुन कुछ विद्वान् हैं जो कि गंधोदक को इतना पवित्र, इतना पवित्र आँकते हैं कि मलद्वार होने के कारण उत्तमांग होने पर भी आँखों में गंधोदक का स्पर्श तक वर्जित करते हैं व आँखों में गंधोदक लगाने वालों को मिथ्यादृष्टि कहते हैं ॥

चूँकि पवित्रता की दृष्टि दोनों की अर्थात् जैनी व अजैनी की समान ही है, उसकी पवित्र बुद्धि गंगाजल के प्रति है, तो इसकी गंधोदक के प्रति, जिस कार्य की सिद्धि अन्य मति गंगाजी में डुबकी लगाकर मानते है, उसी कार्य की सिद्धि हमारे तथाकथित विद्वान् उत्तमांगो पर उसे क्षेपित कर लेने मात्र से मान रहे हैं, अत· दोनों में अंतर नहीं है, अपितु दोनों एक ही हैं ॥

अतः टीकाकार महोदय द्वारा क्षेत्रपालादि संज्ञाओं का प्रयोग करने पर, यदि डॉ. साहब जिन-शासन देवताओं को भी उनमें सम्मिलित करने को आतुर हैं, तब तो उन्हें गंगादि कहने से गंधोदक को भी ग्रहण करना होगा ॥

ग्रहण करने के सिवाय अन्य कोई उपाय ही नहीं, जिसे कि वे नहीं कर सकते ॥

अतः उन्हें शासन देवताओं का विरोध करने के पूर्व उपर्युक्त प्ररूपणानुसार गंधोदक को मंगल कहने वाली प्ररूपणाओं का विरोध करना होगा, गंधोदक को मंगल कहने वाली प्ररूपणाओं का विरोध करने के पश्चात ही वे शासन देवताओं के विरोध में अपने स्वर मुखर कर सकते हैं, उसके पूर्व नहीं, अन्यथा कहना ही कहना होगा कि जैसे गंगादि नदी कहने से, समान लक्षण होने पर भी गंधोदक गंगादि में ग्राह्य नहीं है, वैसे ही क्षेत्रपालचण्डिकादि कहने से, समान लक्षण वाले होने पर भी जिन शासन देवता भी क्षेत्रपालचण्डिकादि मिथ्या देवताओं में ग्राह्य नहीं है ॥

गंधोदक की तरह मोक्ष मार्ग में वे भी किसी न किसी अपेक्षा से उपादेय हैं ॥

अतः उपर्युक्त मीमांसानुसार टीकाकार महोदय के वचन शासन देवताओं की

मान्यता के बिपरित हैं की सिद्धि नहीं होती, वर्ना उन्हें गंगादि नदी कहने से जिनाभिषेक व जिन गंधोदक की पवित्रता का भी विरोधी स्वीकार करना होगा, जिसे कि हम किसी भी विवक्षा से स्वीकार नहीं कर सकते ॥

शंकाकार : तो क्या देवों के भी दो भेद होते हैं ?

समाधान : हॉं ! होते हैं, १) सुशासन रक्षक व २) कुशासन रक्षक ॥

आइये, इस प्ररूपणा को सीधे-सीधे स्वयं टीकाकार महोदय के वचनों की पदविभागी शैली में प्ररूपणा कर अर्थ अगले शीर्षक में ग्रहण करें ॥

॥ इत्यलम् ॥



असत्यमृषा भाषा व तेरह पंथीय विद्वान

इस विषय में क्या तीर्थंकर भगवान इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक नहीं होते हैं ? शंका के निवारणार्थ, सर्व प्रथम आइये, असत्यमृषा भाषा को ही समझ लें ॥

पाठक वर्ग से मेरा नम्र निवेदन है कि क्लिष्ट लगने पर भी इस विषय पर जहाँ तक बन सके वहाँ तक तीनों योगों से एकाग्र हो हृदयंगम करें, क्योंकि इसी असत्यमृषा भाषा का अकौशल्य वाचक को क्षण मात्र में जिनमत के बाह्य कर देता है ॥

आदरणीय बैनाडाजी अथवा लुहाड़ियाजी या डॉ. साहब, इन सभी ने जिनेन्द्र भगवान के वचनों को उतनी ही श्रद्धा से हृदयंगम किया है, जितनी कि श्रद्धा से हम करते हैं, किन्तु चूक यदि कहीं हुई है, तो वह असत्यमृषा भाषा के अभ्यास में हुई है ॥ असत्यमृषा भाषा के अज्ञान के ही कारण अनजाने में पूर्वाचार्यों को वे मिथ्यादृष्टि, जिनागम-बाह्य व न जाने क्या-क्या कह बैठे, जो कि वे थे ही नहीं ॥ मजे की बात यह है कि इसी असत्यमृषा भाषा, जिसे कि अनुभय भाषा भी कहते हैं, के अनाभ्यास के कारण वे स्वयं ही, मिथ्यावाद/मत के पोषक सिद्ध हो गये ॥

अत· प्रिय पाठको, यदि आप भी नहीं चाहते कि मृषा अर्थात् मिथ्यावाद अनायास ही आपकी भी सोच व समझ को उद्वेलित कर जाये, तो कृपया हमारे इस प्रकरण को त्रियोग से हृदयंगम करें ॥

❑ जिन शासन देवता, असत्यमृषा भाषा व डॉ. साहब

वैसे डॉ. साहब को यदि टीकाकार महोदय के वचनों को जैसा उन्होंने लिखा है, ठीक वैसा ही पढ़ने का अभ्यास होता, तो वे इस प्रकार हमारे द्वारा बाधित अर्थात् भ्रम-बुद्धि सिद्ध नहीं होते ॥

किन्तु नहीं, उन्हें तो इसका अभ्यास ही नहीं है ॥

उन्हें तो अभ्यास ....

नहीं-नहीं, इसे तो हम पूर्व में कह आये हैं, वहीं से सुनें:- (पृष्ठ १०२)

वे (डॉ. साहब) अपनी धारणा के अनुसार ही आगम ग्रंथों को पढ़ते हैं व धारणानुसार ही उपदिष्ट सूत्र को बगैर पूर्वापरादि का विचार किये हृदयंगम करते हैं, ग्रंथ व सूत्रानुसार अपनी धारणा की निर्मिति नहीं करते हैं ॥

यही यहाँ एक बार पुन हुआ ॥

देखिये, टीकाकार महोदय ने लिखा है कि :-

........रागद्वेषोपहतार्त्तरौद्रपरिणत क्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां.........

भावार्थ : .... यहाँ कहा गया है कि रागद्वेष से अभिभूत और आर्त्त-रौद्र परिणामो से परिणमित क्षेत्रपाल चण्डिका आदि मिथ्यादेवानां अर्थात् मिथ्या देवताओं का.... .

अपनी प्ररूपणा में वे देवाना पद के पूर्व टीकाकार महोदय ने जो मिथ्या अव्यय का प्रयोग किया है, उसे परिभाषित करने से चूक गये ॥

क्यों ?

कारण पूर्व में कई बार कह चुके है, इसलिये आइये, सीधे-सीधे विषय पर ही लौटें ॥

देवताओं के भेद व जिनागम :-

परमागम मे दो प्रकार के देवों का स्वरूप कहा गया है -

१) वीतराग और २) सराग

शासन संस्थापक वीतराग देवताओं के स्वरूप को लेकर चूँकि विवाद विशेष नहीं है, अत· उसे स्थगित करके शासन रक्षक सराग देवताओं के संदर्भ में कुछ

कहते हैं ॥

सराग देवताओं के दो भेद हैं :-

१) मिथ्या और २) सम्यक् ॥

जो मिथ्या आयतनों की सेवा में रत रहते हैं, वे मिथ्या सराग देवता व जो सम्यक् आयतनों की सेवा में रत रहते हैं, वे सम्यक् सराग देवता कहलाते हैं ॥

इन दो प्रकार के सराग देवों में से यहाँ मिथ्यादृष्टि सराग देवों की आराधना का त्याग करवाया गया है, न कि सम्यग्दृष्टि सराग देवों का।

कैसे ?

देखिये, टीकाकार महोदय ने स्पष्ट शब्द का प्रयोग किया है :-

रागद्वेषोपहतार्त्तरौद्रपरिणत क्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां.....

अर्थात् मात्र राग-द्वेष से अभिभूत व आर्त्त-रौद्र परिणत क्षेत्रपाल, चण्डिकादि नहीं, अपितु जो मिथ्या भी हैं, ऐसे क्षेत्रपाल, चण्डिकादि देवों का ....

यहाँ डॉ. साहब को संज्ञा भ्रम हो गया है ॥

चूँकि क्षेत्रपाल, चण्डिकादि संज्ञाएँ मात्र जैनियों के यहाँ ही प्रयुक्त की जाती हैं, ऐसा नहीं है, अन्यमतियों के यहाँ भी प्रयुक्त की जाती हैं, जैसे लक्ष्मी व सरस्वती संज्ञाओं का प्रयोग हमारे यहाँ भी होता है व अन्यमतियो के यहाँ भी, ठीक वैसे ही, इसलिये डॉ. साहब को इन संज्ञाओ को पढकर भ्रम हो गया कि इस टीका में क्षेत्रपालादि कहने से जिनेन्द्र भक्त क्षेत्रपालादि शासन-देवताओं का निषेध किया गया है ॥

आदरणीय बैनाडाजी यदि किसी कारण विशेष से भ्रमबुद्धि हो जायें, तो क्षमा के पात्र है, किन्तु डॉ. साहब तो तो जिनेन्द्र भगवान के मत में प्रसिद्ध शासन देवताओं व अन्यमतियों के यहॉ के कुशासन देवताओं के भेद से अनभिज्ञ थे, ऐसा नही है, फिर उन्हें यह मतिभ्रम कैसे हो गया, यह आश्चर्य का ही विषय है ॥

देखिये, वे स्वय ही लिख रहे है कि (जिनभाषित, जनवरी २००२, सम्पादकीय : शासन देवता सम्मान्य, पंचपरमेष्ठी उपास्य, पृष्ठ २, कॉलम २) :-

" इस प्रकार आचार्य जिनसेन ने पूर्व स्थापित मिथ्यादेवताओं की जगह जिनशासन देवताओं की स्थापना कर पूजा करने का उपदेश दिया है ॥"

प्रिय पाठको, डॉ. साहब के स्वयं केउपर्युक्त वचनों के पश्चात् भी क्या संशय को स्थान शेष रहता है कि वे जिनेन्द्र भगवान के मत में प्ररूपित सुशासन देवताओं व अन्य मतियों में मान्य कुशासन देवताओं के अंतर से अनभिज्ञ थे ?

नहीं न ?

फिर भी वे भ्रमबुद्धि हो गये, कैसे ? सोचते हुए आश्चर्य हो रहा है न ?

हमें भी हो रहा है ॥

ब्र. श्री प्रदीपजी पीयूष शास्त्री एवं डॉ. साहब में अंतर यही है कि ब्रह्मचारी जी ने सत्य को जाना व ग्रहण करने में क्षण मात्र का भी विलंब नहीं किया, जबकि डॉ. साहब सत्य को जानते हैं, किंतु अपना नहीं पाते हैं ॥

पूर्व की धारणा चित्त पर इस कदर हावी रहती है कि सत्य समझ में अवश्य आता है, किंतु पूर्व का (दुर्)आग्रह मिथ्या नहीं हो पाता है ॥

खैर ! उनकी बुद्धि वे ही जाने, हम तो द्रव्यसंग्रहजी के आश्रय से अपनी बात कहने को उद्यत हैं, अतः आइये, वहीं चले व उसी के आश्रय से डॉ. साहब से चर्चा करें ॥

उपर्युक्त पद में टीकाकार महोदय ने वाक्य प्रयोग किया :-

क्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां...

इस वाक्य में भी मिथ्या यह अव्यय है, जो कि विशेषण का बल रखता है व इसका जिनागम में अर्थ होता है मिथ्यात्व से अनुरंजित ॥

इसका अर्थ हुआ कि मिथ्यात्व से अनुरंजित क्षेत्रपालादि ॥

विशेषण का बल लिये अव्ययों का प्रयोग भाषा शास्त्र में प्रतिपक्ष के सद्भाव में, किंतु प्रकरण अर्थात् विशेष्य में उसका निषेध, अभाव, विपरितादि भावों के दिग्दर्शनार्थ प्रयोग होता है, प्रतिपक्ष के सर्वथा अभाव में इस विशेषण का प्रयोग ही नहीं होता ॥

जैसा कि सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः, ऐसा आचार्य भगवंतों ने कहा, इस पद में भी सम्यक् यह विशेषण का बल लिये अव्यय है, जिसका कि प्रयोग प्रतिपक्षी मिथ्या दर्शनादि के सद्भाव में, किंतु उसके निषेधार्थ कि वह मोक्ष मार्ग नहीं है, इस अर्थ की पुष्टि के लिये हुआ है ॥

इस अव्यय के पास एवकार अर्थात् 'ही' ऐसे अर्थ का भी बल रहता है ॥

इसी प्रकार टीकाकार महोदय द्वारा प्रयुक्त मिथ्यादेवानां पद द्वारा मिथ्यात्व से अनुरंजित क्षेत्रपाल, चण्डिका आदि, न कि सम्यक्त्व से विभूषित क्षेत्रपाल चण्डिका आदि, ऐसा अर्थ ग्रहण करना होगा ॥

यह अर्थ इसलिये भी ग्रहण करना आवश्यक है, क्योंकि यदि यह अर्थ ग्रहण नहीं करोगे, तो वे, जो कि व्यंतर देवों के भेद हैं, ऐसे समस्त क्षेत्रपालादि आजीवन मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं, की सिद्धि हो जायेगी, जिसका कि आगम से विरोध है ॥

आगम में अभव्यों को छोडकर देवों के ऐसे किसी भी भेद को स्वीकार ही

नहीं किया गया है, जो कि उपपाद जन्म के पश्चात् सम्यक्त्व धारण के अयोग्य रहते हों, ॥

इसलिये क्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां... इस पद के आश्रय से सम्यक्दृष्टि नहीं, अपितु मिथ्यात्व से अनुरंजित क्षेत्रपाल, चण्डिकादि की यही अर्थ ग्रहण करना होगा, अन्य नहीं ॥

यह अर्थ ग्रहण करते हुए अर्थ करना होगा कि राम, पाण्डव और कृष्ण ने किसी भी मिथ्या देवी-देवता की आराधना नहीं की थी.......

चूंकि यह अध्यात्म ग्रंथ है, इसलिये पांडवों व रामलक्ष्मणादि सम्यग्दृष्टियों द्वारा विद्याओं की सिद्धि के लिये किन सराग देवों की आराधना की गई थी, उसका निरूपण नहीं किया गया है, उसे गौण रखा गया है ॥

उन्हें गौण रखा गया है, इसकी सूचना देने के लिये ही क्षेत्रपालचण्डिका आदि देवों के साथ मिथ्या विशेषण लगाया गया है व कहा गया है कि उन्होने किसी भी मिथ्या देवी-देवता की आराधना नहीं की थी ॥

यह मिथ्या विशेषण उन्हें मिथ्या आराधना से मुक्त बतलाने के लिये किया गया है, न कि सम्यक् विद्याराधनाओं के निषेधार्थ, वर्ना परमागम से विरोध आ जायेगा ॥

इसीलिये हमें डॉ. साहब के सम्मुख यह प्रश्न रखना पड़ा कि यदि आप टीकाकार महोदय द्वारा मिथ्या क्षेत्रपालादि कहने से जैन दर्शन में कहे गये सम्यक् क्षेत्रपालादि का भी निषेध करोगे, तो गगादि नदी कहने से गंगा नदी की ही तरह गधोदक के प्रति जो परमागम के आश्रय से सम्पूर्ण लोक में मंगल धारणाएँ नि:वर्तमान हैं, उन्हे भी जैनियों की नहीं, अपितु अन्यमतियों की ही प्ररूपणा कहना होगा ॥

नहीं कहना होगा क्या ?

नहीं क्यो कहना होगा ? कहना ही होगा ॥

जिसे कि डॉ. साहब किसी भी विवक्षा से नहीं कह सकते ॥

उपर्युक्त व्याकरण व आगमाश्रित प्ररूपणा के पश्चात् तो कदापि नहीं ॥

मंगल के भेद व शासन देवता :-

इस विषय पर किसी भी धारणा की निर्मिति के पूर्व, आइये, इस विषय में परमागम का उपदेश क्या है, इसे देखें :-

श्री धवलाजी, पहली पुस्तक में भी जैनियों अर्थात् जैनमतावलम्बियों द्वारा मान्य दो प्रकार के मंगलों की प्ररूपणा की गई है -

१) लौकिक मंगल

२) लोकोत्तर मगल

इनमें भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद कहे गये हैं :-

सचित्त, अचित्त और मिश्र ॥

श्रावक, चूँकि गृहस्थ होता है, इसलिये उसे दोनों ही मगल इष्ट हैं, एक नहीं ॥

साधु हो जाने पर, लोकोत्तर मंगल ही इष्ट रह जाता है, लौकिक मंगल कथंचित् ॥

इनमें भी पुन शासन-देवता, धर्म के योग्य अनुकूलताओं के प्रदाता हैं, इसलिये लोकोत्तर मंगल हैं व षट् आयतन के भेद ॥

शंकाकार : क्या कहा ? षट् आयतन के भेद ?

समाधान : जी हाँ ! ठीक सुना आपने कि षट् आयतनो के भेद ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि यदि जिनागम में इनका सद्भाव नहीं, अपितु अभाव ही होता, तब तो ३ अमूढताओं के पश्चात् ६ आयतनो का स्वरूप बतलाया ही जाना नहीं चाहिये था, किंतु नही, वह तो बतलाया गया है, उनका बतलाया जाना ही अपने आप मे पूर्ण प्रमाण है कि *इनका समावेश ६ आयतनों मे है, वर्ना ३ अमूढताओं के पश्चात् आयतनों का स्वरूप* बतलाने की आवश्यकता ही नही थी ॥

विषय को उलझाने की दृष्टि से आप यहाँ कह सकते हैं कि आयतन शब्द से शासन देवताओ को नहीं, अपितु पंचपरमेषिठयो के रहने का स्थान अर्थात् चैत्यालय को कहा गया है ॥

यदि आपका कथन ऐसा है, तब तो हमें यह भी स्वीकार है, क्यों कि शासन देवताओं को परमागम में चैत्यालय नामक देव का भी भेद कहा गया है ॥

शंकाकार : क्या कहा आपने ? चैत्यालय का भेद ?

समाधान : जी हाँ ! चैत्यालयों का भेद ॥

कैसे ?

जैसे शिखर, कलश, ध्वजा, वेदी आदि चैत्यालय के भेद हैं, वैसे ही ये भी ॥

जैसे ध्वज, कलश आदि की पृथक् पूजाएँ जिनागम में कही गई हैं, उसी प्रकार इनकी भी कही गई है ॥

शासन देवताओं के पक्ष में शासन देवताओं के विरोधी :-

किंतु, इस विषय में यदि हम हमारी ओर से आगम प्रमाण देंगे, तो निशिचत ही आप स्वीकार नहीं करेंगे, अत हमारे लिये उनके प्रमाण देना अधिक उपयुक्त रहेगा, जो कि

शासन देवताओं के महान् विरोधी थे, किन्तु उन्होने भी इन्हें चैत्यालय का भेद स्वीकार किया है :-

देखिये .-

१) पं. टोडरमलजी :

आचार्य भगवंत नेमिचंद्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा लिखित एक ग्रंथ है त्रिलोक सार ॥

इस ग्रंथ पर श्रीमद् आचार्य त्रैविध्यदेव की अनुवाद रूप संस्कृत टीका है ॥

इस ग्रंथ पर पं. टोडरमलजी कृत अपनी स्वतंत्र टिप्पणियों सहित ढुंढारी भाषा में किया गया अनुवाद है ॥

आचार्य भगवंत ने इस ग्रंथ में चैत्यालय का स्वरूप निर्देशित किया है व इसी चैत्यालय के स्वरूप पर आचार्य भगवंत का अनुगमन करती ढुंढारी भाषा में प्रश्नोत्तरी टीका पडितजी ने की है, आइये बगैर किसी टिप्पणी के उसे ही सुने :- (गाथा ९८८)

सिरिदेवी सुददेवी सव्वण्हसणक्कुमारजक्खाणं ।
रूवाणि य जिणपासे मंगलमट्ठविहमवि होदि ॥

अर्थ : तिन जिन प्रतिमानिके पार्श्व विषै श्रीदेवी अर सरस्वती देवी अर सर्वाह्न यक्ष अर सनत्कुमार यक्ष इनके रूप जे आकार ते तिष्ठै हैं ॥

(अब यहाँ से पंडितजी की प्रश्नोत्तरी टीका प्रारंभ होती है)

जिनप्रतिमा के निकट इन च्यारणिका प्रतिबिंब हो है ॥

इहां प्रश्न : जो श्री तौ धनादिक रूप है अर सरस्वती जिनवानी है ॥ इनका प्रतिबिंब कैसै हो है ?

ताका समाधान : श्री अर सरस्वती दोऊ लोक विषै उत्कृष्ट हैं ॥ तातैं इनका देवांगनाका आकार रूप प्रतिबिब हो हैं ॥ बहुरि दोऊ यक्ष विशेष भक्त हैं ॥ तातैं तिनके आकार हो हैं ॥ बहुरि आठ प्रकार मंगल द्रव्य जिनप्रतिमाकै निकटि सोभै है ॥

निश्चित ही ढुंढारी भाषा की यह टीका स्वयं ही बोल रही है कि श्री देवी अर्थात् धनादिक की देवी लक्ष्मी, श्रुतदेवी अर्थात् सरस्वती व जिनेन्द्र भगवान के विशेष भक्त अर्थात् सेवक, जिसे की प्रकारान्तर से आयतन कहा जाता है, दोनों यक्ष चैत्यालय के ही भेद है, चैत्यालय का गर्भ गृह इनसे युक्त ही परमागम में कहा गया है, रहित नही ॥ निश्चित ही इन वचनों पर पृथक् से किसी भी टिप्पणी की आवश्यकता ही नहीं, अतः अब पं सदासुखदासजी का उदाहरण देखिये ॥

२) पं. सदासुखदासजी :

इन्होने श्री रत्नकरण्डश्रावकाचारजी पर एक विस्तृत टीका लिखी है ॥

इस टीका का हिन्दी अनुवाद कानजीमतानुयायी पं. मन्नूलाल जैन सागर वालों ने किया है और प्रस्तावना लिखी है डॉ. हुकुमचंदजी भारिल्ल ने ॥ ये भी कानजीमतानुयायी विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध हैं ॥ इस टीका का प्रकाशन श्रीवीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, अजमेर (राज.) से किया गया है ॥ प्रकाशन वर्ष सन् १९९६/९७ है ॥

इस टीका के पृष्ठ २०८ पर श्लोक संख्या ११० की टीका करते हुए पंडितजी चैत्यालय का स्वरूप बतलाते हुए कैसी हो जिन प्रतिमा ? इस शीर्षक से १२/१३ पंक्ति में कहते हैं कि :-

"उन जिन प्रतिमाओं के दोनों बाजु में श्रीदेवी और सरस्वती देवी सर्वाह्न यक्ष, सनत्कुमार यक्ष तथा इनके रूप बने हैं ॥"

क्या इसके बाद भी पाठको ! कहने को कुछ भी शेष रहता है ?

नहीं न ?

किंतु, यदि यही विषय हम श्री तिलोयपण्णत्ति जी से अथवा श्री हरिवश पुराण जी से देते, तो निश्चित ही आप आँख-मुँह सिकोड रहे होते ॥

नहीं सिकोड रहे होते क्या ?

सिकोड ही रहे होते ॥

किंतु अब नहीं सिकोड़ पाओगे ॥

चूँकि अब नही सिकोढ़ पाओगे, इसलिये अब परमागम से प्रमाण दिये जा सकते हैं, अत ध्यान लगा कर सुनिये :-

श्री तिलोयपण्णत्ति जी के अधिकार तीन की गाथा ४८ मे व श्री हरिवंश पुराणजी के सर्ग ५ के श्लोक संख्या ३६३ में इन्ही अर्थों व शब्दो में जिन प्रतिमा का प्रतिपादन किया गया है ॥ चूँकि शब्द व अर्थ दानों ही ठीक उपर्युक्त विवेचनानुसार ही है, अत उन्हें यहाँ स्थगित करते हैं, कृपया उत्साही श्रोतागण दोनों ग्रंथराजों की शरण ग्रहण कर निःशंक होने का पुरुषार्थ करें ॥

प्रिय पाठको ! सर्वाह्न यक्ष, सनत्कुमार यक्ष को यहाँ उपलक्षण न्यायानुसार कहा गया है, अतः सर्वाह्न यक्ष, सनत्कुमार यक्ष को यहाँ उपलक्षण न्याय के अनुसार ग्रहण करके यक्ष-यक्षिणी आदि समस्त शासन देवताओं का ग्रहण कर लेना चाहिये और विचार करना चाहिये कि सुंदर आकार व नाक नक्श एवं आभूषण युक्त स्त्री प्रतिमा जब गर्भगृह विषै तीर्थंकर कै समीप ही विराजै हैं, तौ....

अरे ! यह हम कुछ-कुछ ढुंढारी भाषा में कैसे बतियाने लग गये ॥

खैर ! आशय तो आप समझ ही गये होंगे ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि शासन-देवता षट्आयतन के तो भेद हैं ही हैं, किन्तु जिनालय नामक देवता के भी भेद हैं ॥ इतना ही नहीं अपितु इनकी स्थापना गर्भ गृह में ही,

और वह भी तीर्थंकर प्रतिमा के समीप स्थापित की जाती है, अन्यत्र नहीं ॥

इनका अभाव करके चैत्यालय का स्वरूप जिनागम में कहा ही नहीं है ॥

शासन देवताओं में देवत्व व श्री धवलाजी :-

देवत्व के विषय में भी श्री धवलाजी के पूर्व में उल्लेखित निम्न सूत्र विचारणीय हैं कि **देवता के एकदेश में यदि देवत्व स्वीकार नहीं करोगे, तो सर्वदेश में भी देवत्व स्वीकार नहीं कर सकते ॥**

क्यों ?

क्योंकि देवता सर्वदेश देवता तभी कहलायेगा, जबकि उसके प्रत्येक देश अर्थात् भेद मे देवत्व होगा, अन्यथा नहीं ॥

इसलिये यदि चैत्यालय में स्थित चैत्यालयों के भेद शासन देवताओं में देवत्व स्वीकार नहीं करोगे, तो चैत्यालय में भी देवत्व का अभाव होगा, वह देवता रहेगा ही नहीं, क्योंकि शासन-देवताओं के सद्भाव पूर्वक ही चैत्यालय का स्वरूप जिनागम में निरूपित किया गया है, अभाव करके नहीं ॥

शासन-देवताओं के सद्भाव पूर्वक ही चैत्यालयों का निरूपण प्रतिपक्ष अर्थात् शासन देवताओं के विरोधियों को भी स्वीकार है, जब उन्हीं को स्वीकार है, फिर कैसे कहा जा सकता है कि शासन-देवता चैत्यालय का भेद नहीं है ?

अर्थात् कहा ही नहीं जा सकता ॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि श्री द्रव्यसंग्रहजी के टीकाकार भी शासन-देवताओं के विरोधी नहीं, समर्थक ही हैं ॥

यदि विरोधी माने जायेंगे, तो स्व-वचन बाधित हो जायेंगे ॥

तो पाठको, शायद आपको सुस्पष्ट हो ही गया होगा कि यदि हम डॉ. साहब की एकान्तवाद को पुष्ट करने वाली धारणाओं के आश्रय से अपनी धारणाओं की निर्मिति करते हैं, तो निश्चित ही श्री द्रव्यसंग्रहजी के टीकाकार महोदय के वचन अनर्गल, अपलाप करने वाले सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि फिर उनके वचनों में पूर्वापर दोष स्पष्ट रूप से सिद्ध किया जा सकता है ॥

इन पूर्वापर दोषों का सम्यक् निग्रह किये बगैर आप जो भी धारणा बनायेंगे वह सदोष ही होगी ॥

निश्चित ही इसे अब यहाँ विस्तार से कहने की आवश्यकता ही नहीं कि सदोष धारणाओं के निग्रह के लिये प्रत्येक प्रबुद्ध पाठक व व्याख्याता को असत्यमृषा भाषा की समझ व अर्थ प्ररूपणा में उसके उपयोग में निपुणता लानी होगी ॥

असत्यमृषा भाषा की समझ व प्ररूपणा में अनिष्णात/असमर्थ विद्वान् के लिये सम्यक् तत्त्वोपदेश का अभाव है ॥

स्याद्वादकुशल का कौशल्य व श्री द्रव्यसंग्रहजी की टीका :-

शंकाकार : प्रियवर, पाठकों के लिये टीकाकार महोदय के वचनों को निर्दोष सिद्ध करने में असत्यमृषा भाषा का उपयोग कैसे किया जाये, कृपया इसे ही कहने की कृपा करे, अन्यथा हमारा तो अब सर ही पीट लेने को मन कर रहा है ?

समाधान : अरे !! ऐसे व्यग्र चित्त होने से कार्य कैसे सधेगा ? वह तो और अधिक दुरूह हो जायेगा ? अतः सुनिये :-

टीकाकार महोदय ने जो यह कहा है कि देवी-देवता कोई फल नहीं देते, विवक्षाधीन कथन है ॥ इस वाक्य में देवी-देवता के पूर्व टीकाकार महोदय द्वारा प्रयुक्त मिथ्या विशेषण युक्त करके अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि सम्यक्दृष्टि नही, अपितु मिथ्यादृष्टि देवी-देवता कोई फल नहीं देते, सम्यक्दृष्टि तो देते हैं ॥

किन्तु नहीं, इस वाक्य को भी आप सर्वदेश नहीं कह सकते, विवक्षा सहित कह सकते हैं ॥

क्यों ?

क्यों कि यह वाक्य भी विवक्षाधीन है ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि यदि मिथ्यादृष्टि देवी-देवता फल देने के सामर्थ्य से रहित कहे जायेगे, तब तो उन्हे श्राप व अनुग्रह शक्ति से रहित कहना होगा, जो कि हम नहीं कह सकते, इसलिये विवक्षाधीन ॥

यहाँ विवक्षा क्या है ?

(१) इस विवक्षा के संदर्भ में प्रथम उत्तर लोक प्रसिद्ध न्याय के आश्रय से देते हैं, उसे ही ध्यान से सुनिये :

जैसी फलदान शक्ति सम्यक्दृष्टि देवों की पाई जाती है, उसकी तुलना में मिथ्यादृष्टि देवों की शक्ति नगण्य अर्थात् नहीं के बराबर है, तुलनात्मक दृष्टि से उस नगण्य शक्ति को विवक्षित करते हुए यहाँ कह दिया गया है कि मिथ्या देवता कुछ भी फल नहीं देते अर्थात् अत्यंत अल्प फल देने वाले होते है, जैसे कि लोक में हीन बली को निर्बल कहते हैं, वैसे ही ॥

इसे हीनबली न्याय कहते हैं ॥ इसी न्यायानुसार मद कषायी के निर्लोभी आदि विशेषण वर्तते हैं ॥

यह प्रथम विवक्षा हुई ॥

(२) द्वितीय विवक्षा का प्रतिपादन यदि द्रव्यसंग्रहजी की टीका के आश्रय से

ही यदि किया जाये तो उपयुक्त रहेगा, इस मंतव्य को चित्तमें रख सर्व प्रथम टीका में निहित विवादास्पद वाक्य को कहते हैं :-

टीकाकार महोदय कह रहे हैं कि :

न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति ॥

वे (विद्यादि के लिये रावणादि द्वारा आराधित) देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते हैं ॥

यहाँ कहा गया है कि आराधित....

आराधित अर्थात् जिनकी आराधना की गई है, वे....

इस आराधित पद के साथ स्वयं टीकाकार महोदय द्वारा प्रयुक्त किया गया **मिथ्या** पद को युक्त करके वाक्य की निर्मिति करनी होगी कि मिथ्या आराधना/अनुष्ठान के बल से जिन्हें सिद्ध करने का प्रयास किया गया, वे मिथ्या देवता कोई भी फल नहीं देते ॥

क्यों, क्यों फल नहीं देते ?

क्योंकि फल किये गये अनुष्ठानों में प्रयुक्त मंत्रों के अधिष्ठाता देव देते हैं ॥

चूँकि मिथ्या आराधना वा अनुष्ठानों में प्रयुक्त मिथ्यामंत्रों के अधिष्ठाता देव ही नहीं होते, अत कारण में कार्य का उपचार करके कहा जा सकता है कि मिथ्या देवी-देवता कोई फल नहीं देते ॥

चूँकि उन मंत्रादिकों की उत्पत्ति छद्मस्थों की कल्पना से हुई है, इसलिये गधे के सींग के समान उनका काल्पनिक अस्तित्व ही है, वास्तविक नहीं ॥

इसे आगे श्री मूलाचारजी की टीका से सिद्ध करेंगे ॥

इस प्रकार जब मिथ्या आराधना अर्थात् मिथ्या अनुष्ठानों व उन अनुष्ठानों के मंत्रों के अधिष्ठाता देव ही नहीं होते, तो वे फल कहाँ से देंगे ?

अर्थात् नहीं ही देंगे ॥

(३) किन्तु नहीं, हम ऐसा भी नहीं कह सकते ॥

क्यों ?

वह इसलिये कि अतिशय मात्र जैनियों के यहाँ ही देखे जाते हैं, अजैनों के यहाँ नहीं, ऐसा नहीं है, इस प्रकार का विवेचन तो प्रत्यक्ष व आगम दोनों से ही बाधित है ॥ इसलिये अजैनों के यहाँ अतिशय देखे ही नहीं जाते हैं, ऐसा टीकाकार महोदय के वचनों के आश्रय से अर्थ ग्रहण कर एकांत से कहा ही नहीं जा सकता है, अपितु कहना यही होगा कि अजैनों के यहाँ भी अतिशय देखे जाते हैं ॥

अर्थात् मिथ्यादृष्टियों के देवता फल नहीं देते, ऐसा एकांतत. नहीं कहा जा सकता ॥

किन्तु नहीं, ऐसा भी नहीं है ॥

विषय के सरलीकरण हेतु, आइये, इस विषय को हम श्री राजवार्तिकजी से सुनें :-

अध्याय ८, सूत्र १, वार्तिक १७ :-

अन्यत्राप्यतिशयज्ञानदर्शनादिति चेत्, न, अत एव तेषां संभवात् ॥

भावार्थ मात्र : प्रश्नकर्ता यहाँ प्रश्न कर रहा है कि कल्प, व्याकरण, ज्योतिषादि अतिशय ज्ञान अन्यत्र भी देखे जाते हैं, अत आर्हत् आगम को ही (अतिशय) ज्ञान का आकर कहना उपयुक्त नहीं है॥

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि अन्यत्र देखे जाने वाले अतिशय ज्ञानों का मूल उद्भवस्थान आर्हत प्रवचन ही हैं, जैसे कि रत्नों का मूल उद्भवस्थान समुद्र है ॥ कहा भी है :-

यह अच्छी तरह निश्चित है कि अन्य मतों में जो युक्तिवाद आदि अच्छी बातें चमकती हैं, वे तुम्हारी ही हैं ॥ वे सब चतुर्दशपूर्व रूपी महासागर से निकली हुई जिन वाक्य रूपी बिंदुएँ हैं ॥

ठीक ऐसा ही विवेचन श्री आप्तमीमांसाजी में भी है ॥

आचार्य भगवंत ने यहाँ कल्प, व्याकरण, ज्योतिष के पश्चात् आदि शब्द का प्रयोग किया है, इस आदि शब्द से तंत्र, मंत्र, यंत्र, विद्या आदि सभी अतिशयकारी विद्यादिको को लेना है ॥

अर्थात् मिथ्यावादियों के यहाँ देखे जाने वाले अतिशय, अतिशय ही नहीं है, ऐसा नहीं, अपितु वे भी अतिशय ही हैं, उनकी अतिशयता पर संदेह किया ही नहीं जा सकता, यदि करोगे तो प्रत्यक्ष व आगम दोनों से बाधा आयेगी ॥

किंतु यह अतिशय उनका स्वयं का नहीं, अपितु जिनेन्द्र भगवान के परमागम से ही वहाँ गया हुआ है ॥

अर्थात् मिथ्यामतियों के यहाँ पाया जाने वाला अतिशय मिथ्यामतियों का नहीं, अपितु जिनेन्द्र भगवान का ही दिग्दर्शित अतिशय है ॥

इसी कारण टीकाकार महोदय को कहना पड़ा कि मिथ्यावादियों के मंत्र साधित देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते ?

क्यों ?

क्योंकि उनके यहाँ अतिशयकारी मंत्रों का अभाव है, उनके यहाँ स्व कल्पना से हिंसक यज्ञादि की प्ररूपणार्थ निर्मित किये गये अनुष्ठान व मंत्र व्यर्थ व अकार्यकारी हैं, उसका एक सम्यक्दृष्टि अनुष्ठान कैसे कर सकता है ?

अर्थात् नहीं कर सकता ॥

व जो अतिशयकारी मंत्र व अनुष्ठान तस्करी के आश्रय से वे अपने यहाँ लेकर गये हैं, वे तो जिनागम मे ही उपलब्ध है, उन मंत्रों व अनुष्ठानों के लिये एक सम्यक्दृष्टि मिथ्यावादियों की शरण कैसे ग्रहण कर सकता है ?

अर्थात् कदापि ग्रहण नहीं कर सकता है ।।

इसीलिये राम-लक्ष्मणादि ने मिथ्या मंत्रों से मोहित हो, उनकी सिद्धि के लिये कोई मिथ्या अनुष्ठान आदि नहीं किया, यह टीकाकार महोदय का भाव था ।।

(४) चूंकि यह आध्यात्म ग्रंथ है, इसलिये पांडवों व रामलक्ष्मणादि सम्यग्दृष्टियों द्वारा सराग देवों की आराधना से सिद्ध की गई विद्याओं का निरूपण इस ग्रंथ में नहीं किया गया है, उसे गौण रखा गया है ।।

उसे गौण रखते हुए कहा है कि सम्यग्दर्शन से उपार्जित पूर्व भव के पुण्य के द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये ।।

यहाँ जो यह कहा गया है कि पूर्वभव के, इसे भी असत्यमृषा समझते हुए देशामर्षक विधानानुसार वर्तमान भव का भी पुण्य, ऐसा अर्थ भी ग्रहण करना, क्योंकि भूतकाल के पापों से उपार्जित उपस्थित हुए विघ्नों को वर्तमान के पुण्य कृत्यों से दूर किया जाता है, ऐसा नि शंक विधान जिनेन्द्र भगवान का है ।।

अर्थात् भूतकाल में किये गये पाप, जब वर्तमान में उदय में आते हैं, तब उनके कारण उपस्थित हुए विघ्नों का निवारण वर्तमान के पुण्य कृत्यों से अर्जित पुण्य कर्मों द्वारा किया जा सकता है, इसमें शका कोई स्थान नहीं है ।।

जो इस विषय मे शंका करता है, वह जिनेन्द्र भगवान के मत को जानता ही नहीं है ।।

इसलिये टीकाकार महोदय के वचनों से डॉ. साहब की तरह पूर्वकृत पुण्यों का एकांत मत कर बैठना, अपितु उपलक्षण न्यायानुसार वर्तमान के पुण्यादि भी विघ्न निवारण में कार्यकारी हैं, यह अर्थ भी संयुक्त रूप से ग्रहण करना ।।

अर्थ ग्रहण करके पुनः पुण्य का एकांत मत कर बैठना, अपितु तीर्थंकरादि की पूर्व में की गई सातिशयता की प्ररूपणा का भी यहाँ निरंतर स्मरण रखना ।।

(५) यहाँ पूर्व कृत पुण्य, यह पद तो कहा गया, किंतु वे पुण्य कृत्य अर्थात् कार्य कौन-कौन से हैं, इसे नहीं कहा गया है, अतः उनका भी अन्वेषण करना होगा ।।

इस विषय में टीकाकार द्वारा प्रयुक्त एक पद हमारे लिये उपयोगी है ।।

उन्होने पापी जीव के स्वरूप को बतलाते हुए **वीतरागसर्वज्ञदेवस्वरूपमजानत्** अर्थात् **वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूप को न जानता हुआ,** ऐसा कहा है ।।

अर्थात् जो देव के वीतराग व सर्वज्ञ, इन दो लक्षणों का ज्ञाता है व इन्हीं दो लक्षणों वाले देव की शरण में है, मूल में पुण्यात्मा अर्थात् सम्यक्दृष्टि वही है, उससे अन्य कोई नहीं, किंतु जो देव के इन दोनों ही लक्षणों से अनभिज्ञ है, दोनों लक्षणों को जानता ही नहीं व इन दोनों लक्षणों से रहित देवताओं की शरण में हैं, वो दुर्भागी है, उससे बडा दुर्भागी ससार में कोई नहीं ।।

किंतु यहाँ पुण्यात्माओं अर्थात् सम्यक्दृष्टियों के लक्षण प्रगट करने के लिये टीकाकार

किंतु यहाँ पुण्यात्माओं अर्थात् सम्यक्दृष्टियों के लक्षण प्रगट करने के लिये टीकाकार महोदय ने जो पद प्रयुक्त किया है, वह है **वीतरागसर्वज्ञदेवस्वरूपमजानत्** अर्थात् **वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूप को न जानता हुआ, इस लक्षण को भी एकांततः ग्रहण नहीं करना है, अपितु देशामर्षक लक्षण के रूप में ग्रहण करना है ॥**

क्यों, देशामर्षक क्यों ?

वह इसलिये कि देवताओं का यह लक्षण ९ देवताओं में से एक मात्र अरिहंत व सिद्ध भगवान का ही है, शेष ७ का नहीं ॥

किंतु शेष ७ भी देवता अर्थ में ही प्रसिद्ध है, कुदेवता अर्थ में नहीं ॥

इसलिये देवता का जो लक्षण यहाँ कहा गया है, इसे देशामर्षक न्यायानुसार ग्रहण करना होगा, अन्य प्रकार से नहीं ॥

इस पद को भी देशामर्षक स्वीकार करते हुए उपलक्षण न्यायानुसार अर्थ करना कि मात्र अरिहंत व सिद्धों के ही स्वरूप को नहीं, अपितु ९ की ९ देवताओ के स्वरूप को न जानते हुए, क्योंकि ९ देवताओं में से एक देवता के भी स्वरूप को जो नहीं जानता है, वो नियम से मिथ्यादृष्टि है, इसे पृथकतया सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं, वर्ना चैत्य में देवत्व स्वीकार न करने वाले तारणपंथियो को सम्यग्दृष्टि कहना होगा ॥

पाठकों को निश्चित ही यहाँ यह स्मरण दिलवाने की आवश्यकता ही नहीं कि ९ देवताओं का एक भेद देवता चैत्यालय है ॥

इसी के साथ पाठक वर्ग को यह भी स्मरण में होगा ही होगा कि शासन-देवता भी इसी कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय नामक देवता के ही भेद हैं ॥

चूँकि वे कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालय के ही भेद हैं, इसलिये जिनागम में प्रसिद्ध ९ देवताओं में चैत्यालय नामक देवता का भेद होते हुए सम्यक् सराग देवता ही हैं, सम्यक् सराग देवता से अन्य कुछ भी नहीं ॥

प्रतिपक्षी अर्थात् शासन-देवताओं के विरोधियों को भी इस विषय में कोई विवाद नहीं है, इसे पूर्व में ही सिद्ध किया जा चुका है, अत पुन कहने की आवश्यकता ही नहीं ॥

जो चैत्यालय के इस स्वरूप को नहीं जानता वह श्री द्रव्यसंग्रहजी के टीकाकार महोदय ब्रह्मदेव सूरि की विवक्षानुसार मिथ्यादृष्टि है, सम्यक्दृष्टि नहीं ॥

निष्कर्ष :-

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि टीकाकार महोदय द्वारा **वीतरागसर्वज्ञदेवस्वरूपमजानत्** अर्थात् **वीतराग सर्वज्ञदेव के स्वरूप को न जानता हुआ,** ऐसा जो कहा गया है, इसमे वीतराग सर्वज्ञ देव पद देशामर्षक अर्थात् तालप्रलम्ब न्यायानुसार, जिसे कि ग्रंथांतरों में

उपलक्षण न्याय भी कहा गया है, के अनुसार प्ररूपित किया गया है, इसे आदि लेकर परमागम में कहे गये शेष सात (७) देवताओं के स्वरूप को भी न सिर्फ जानना है, अपितु श्रद्धान भी करना है, जो इन नौ देवताओं के स्वरूप में से एक स्वरूप का भी ज्ञाता नहीं है, वह वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को न जानता हुआ साक्षात् मिथ्यादृष्टि ही है ॥

निश्चित ही पाठकवर्ग को सुस्पष्ट हो ही गया होगा कि देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते आदि पदों के जैसे अर्थ डॉ. साहब समझाना चाह रहे हैं, वैसे किंचित् भी नहीं हैं ॥

वे अर्थ तो स्वयं टीकाकार महोदय के ही वचनों को संदिग्ध व मंदबुद्धि के वचन ठहराने वाले हैं ॥

टीकाकार महोदय के वचनो के निर्दोष होने की सिद्धि उपर्युक्त पद विभागी विधि व असत्यमृषा भाषा कौशल्य, जिसे कि ग्रंथांतरों में स्याद्वाद कौशल्य भी कहा गया है, द्वारा ही संभव है, अन्य प्रकार से नहीं ॥

इस प्रकार शासन देवताओं की समीचीन सिद्धि के पश्चात प्रिय पाठको, अब हम यहाँ किंचित् विषयान्तर करना चाह रहे हैं, कृपया आज्ञा दें ॥

प्रिय पाठको, डॉ. साहब द्वारा प्ररूपित कारिका **सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता,** जिसके कि आश्रय से उन्होने शासन देवताओं व उनके किये जा रहे अनुष्ठानादि को मिथ्यात्व कहने का दु.साहस किया था, उसी कारिका की, जो कि द्रव्यानुयोग की कारिका थी, हम द्रव्यानुयोग के ही आश्रय से मीमांसा करना चाह रहे हैं, डॉ. साहब की न्यायज्ञ/दर्शनज्ञ बुद्धि को प्रश्न चिह्नित करने के लिये, कृपया आज्ञा दें ॥

पाठक वर्ग कृपया स्मरण में रखें कि डॉ. साहब हमारी इस सम्पूर्ण मीमांसा में उपलक्षण न्याय के आश्रय से ही कहे गये हैं, व्यक्ति विशेष के रूप में नहीं ॥

जो धारणा उनके पास है, प्रायः करके वही धारणा सम्पूर्ण तेरहपंथी विद्वत् वर्ग के पास है, अतः उन्हें आदि लेकर सम्पूर्ण तेरहपंथी विद्वत् वर्ग के साथ किया गया हमारा यह वार्तालाप है, व्यक्ति विशेष के साथ की गई चर्चा मात्र नहीं ॥

अतः आइये, डॉ. साहब की न्यायज्ञ/दर्शनज्ञ बुद्धि को प्रश्न चिह्नित करने व जिनागम निर्दिष्ट स्याद्वाद का उद्योत करने के लिये अगले शीर्षक की ओर चले ॥

॥ इत्यलम् ॥



❑ डॉ. साहब कौन, आगममार्गी या कानजी पंथी ?

डॉ. साहब ने अपने पक्ष की सिद्धि अर्थात् शासन-देवताओं की मान्यताओं के खण्डनार्थ जो प्रमाण प्रस्तुत किया था, वो यह था :

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता,
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

इस पद को जिसे कि डॉ. साहब अमितगति आचार्य का बतला रहे हैं, हमें पता नहीं कि यह अमितगति आचार्य भगवंत का है भी या नहीं ॥

किंतु, चूँकि इस आशय की गाथाओं की द्रव्यानुयोग व वैराग्यपरक ग्रंथों में कोई कमी नहीं है, जिनमें से एक कलश डॉ. साहब ने श्री आत्मख्याति जी का लेकर कहा भी है, इसलिये इस श्लोक के जिनागम आश्रित नय सापेक्ष व डॉ. साहब द्वारा ग्रहण किये गये नय निरपेक्ष भावों को हृदयंगम करते हुए, उनमें निहित सम्यक् व मिथ्या प्ररूपणागत् अंतर के उद्योत का उद्यम करते हैं ॥

इस पद को यदि डॉ. साहब अमितगति आचार्य भगवंत का स्वीकार करते हैं, तब भी हम पूर्ण विश्वास के साथ कह सकते हैं कि ये वचन आचार्य भगवंत ने वचन योग के चार भेदों में से किस वचन के आश्रय से कहे हैं , इसे डॉ. साहब निश्चित ही बतला नहीं सकते ॥

यदि वे बतला पाते अर्थात् यदि उन्हें पता होता, तो वे इस प्रमाण को स्याद् पद सहित कहते, इस प्रमाण का एकांत तो किसी भी विवक्षा से नहीं करते ॥

किंतु नहीं, उन्होने अपनी प्ररूपणा मे इस प्रमाण का एकांत किया है, अत निःशंक होकर कहा जा सकता है कि ये वचन आचार्य भगवंत ने वचन योग के चार भेदों मे से किस वचन के आश्रय से कहे हैं , इसे वे निश्चित ही बतला नहीं सकते ॥

प्रिय पाठको, इस विषय में डॉ. साहब की मति के विषय मे जैसी प्रतीती हमें हो रही है, क्या ठीक वैसी ही प्रतीति आपको भी नहीं हो रही है ?

हो रही है न ?

अत. चलिये, उन्हें गौण करके, हम ही बतला देते हैं कि ये वचन भी असत्यमृषा भाषा के ही वचन हैं ॥ असत्यमृषा भाषा अर्थात् विवक्षा विशेष से उच्चारित वचन, जिसका कि अर्थ अन्य प्रतिपक्षी वचनों के सापेक्ष ग्रहण करना चाहिये, निरपेक्ष नहीं ॥

कैसे ?

यदि इन्हें असत्यमृषा भाषा नहीं कहा गया, तो इन्हें ही पुनः जिनागम को दूषित करने वाले वचन कहना होगा ॥

कैसे ?

यदि इन्हें असत्यमृषा वचन नहीं कहोगे, तो इस एक सूत्र के आश्रय से सम्पूर्ण जिनोपदिष्ट व्यवहार धर्म का लोप हो जायेगा ॥

कैसे ?

क्योंकि फिर न तो यह कहा जा सकेगा कि किसीकी हिंसा हुई और न ही यह कि कोई हिंसा कर रहा है और न ही किसी हिंसा नामक पाप कर्म की सिद्धि हो सकती है ॥

डॉ. साहब की ही तरह असत्यमृषा भाषा प्ररूपणा में अकुशल/अनिष्णात कानजी स्वामी ने भी इसी मंतव्य को कहने वाली समयसारजी आदि द्रव्यानुयोग की गाथाओं के आश्रय से कसाई को निर्दोष व शुद्ध निरूपित कर दिया था व जैनाभाषी कहलाये ॥

इस प्रकार उपर्युक्त श्लोक अथवा कारिका से डॉ. साहब जिस अर्थ की पुष्टि करना चाहते हैं, यदि उस अर्थ का जिनेन्द्र भगवान के मत में एकान्त है, तब तो कानजी स्वामी ने जो कसाई व कसाई कर्म, दोनों को निर्दोष कहा है, वह युक्तियुक्त ही था, यही कहना होगा ॥

क्यों ?

क्योंकि फिर कसाई को ही नहीं, अपितु कसाईघर में जो हिंस्य, हिंसक, हिंसा का भेद देख रहा है, वह कुबुद्धि है, ऐसा सिद्ध हो जायेगा ॥

क्योंकि डॉ. साहब द्वारा प्रस्तुत .-

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपिदाता,
परोददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

इस कारिकानुसार तो तीनों मिथ्यादृष्टि हैं :-

१) जो यह कह रहा है कि मुझे मारा जा रहा है ॥

२) जो यह कह रहा है कि मैं मारे जाते हुए को और मारते हुए को देख रहा हूँ ॥

३) जो यह कह रहा है कि मैं मार रहा हूँ ॥

इसी प्रकार ३ और मिथ्यादृष्टि कहलायेंगे :-

१) जो यह कह रहा है कि मुझे बचा लिया गया ॥

२) जो यह कहा रहा है कि मैंने बचाया ॥

३) जो यह कह रहा है कि मैंने बचाये जा रहे व बचाने वाले दोनों को देखा।

अतः इस कारिका के अनुसार तो जैनियों के मत में जिनकी कि सर्वत्र व सर्व प्रकार से निंदा की गई है, ऐसे हिंसा के आयतनों अर्थात् कसाइयों व कसाइयों द्वारा किये जा रहे

कसाई-कर्मों का अभाव सिद्ध हो जायेगा व उनका अभाव सिद्ध होते ही कसाई व कसाई कर्म का निंदा-विधान अन्य मतियों की परिकल्पना है, जैनियों की नहीं, इसकी सिद्धि हो जायेगी ॥

इस एक कारिका के द्वारा मात्र अहिंसा ही नहीं, अपितु पाँचों महाव्रतों व पाँचों समितियों का निर्देश भी मिथ्यात्व को प्राप्त हो जायेगा ॥

कैसे ?

वह ऐसे कि ये पाँचों के पाँचों ही महाव्रत पराश्रित हैं, पराश्रित होने से पर की हिंसा नहीं करूँगा, पर के द्रव्य का हरण नहीं करूँगा, पर से झूठ अथवा उसे जो अनिष्टकारी है, ऐसे सत्य भी नहीं बोलूँगा, पर के साथ मैथुन सेवन नहीं करूँगा और न ही स्वयं के स्वयं में दो रूप कर अनंग क्रीडा ही करूँगा, सचित्त, अचित्त व मिश्र ऐसे पर पदार्थों का संचय नहीं करूँगा, इस रूप है ॥

जिनके मत में :

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता, परोददातीति कुबुद्धिरेषा ॥

सूत्रानुसार सम्पूर्ण पराश्रित व्यवहारो के ग्रहण व त्याग को कुबुद्धि कहा जाता है, उनके मत में उपर्युक्त पराश्रित पर की हिंसा नहीं करँगा आदि रूप पंच महाव्रत कैसे समीचीन कहे जा सकते हैं ?

अर्थात् नहीं कहे जा सकते ॥

इसी प्रकार पाँचों समितियो को भी जिनोपदिष्ट नहीं कहा जा सकता ॥

कहा जा सकता है क्या ?

नहीं, नहीं कहा जा सकता ॥

इस प्रकार निर्देश होने पर सम्यक्दृष्टि की परिभाषा बनेगी कि -

१) स्वयं की हिंसा होते हुए भी जो मेरी हिंसा हो रही है, ऐसा नहीं मानता, वह सम्यक्दृष्टि है ॥

२) स्वयं के द्वारा अन्य की हिंसा किये जाने पर भी जो ऐसा नहीं मानता, कि मैं हिंसा कर रहा हूँ, वह सम्यक्दृष्टि है ॥

३) हिंसा होते देख जो यह नहीं मानता कि किसी की हिंसा हो रही है और कोई हिंसा कर रहा है, वह सम्यक्दृष्टि है ॥

अर्थात् इस प्ररूपणानुसार तो स्याद्वादवादियों को प्ररूपणा इस प्रकार करनी होगी कि शब्द कोशों में उपलब्ध हिंसा शब्द अन्य मतियों की परिकल्पना है, जैनियों की नहीं, जैनियों के मत में तो न हिंसा है, न हिंसक और न ही कोई हिंस्य ॥ जो जैनी होकर भी हिंसा,

हिंसक, हिंस्यादि प्ररूपणाओं में सम्यक् बुद्धि रखता है, वो नाम मात्र को जैनी है, यथार्थतः नहीं ॥

क्या इसी प्रकार की प्ररूपणा स्याद्वादवादियों को नहीं करनी होगी ?

करनी ही होगी, करनी क्यों नहीं होगी ?

अर्थात् उपर्युक्त कारिका व कारिका के आश्रय से ग्रहण किया गया एकांत, दोनों ही, व्यवहार धर्म/व्यवहार मोक्ष मार्ग का लोप करने वाला है ॥

इस कारिका द्वारा व्यवहार धर्म अर्थात् मोक्ष मार्ग की अभूतार्थता की सर्वदेश सिद्धि होती है व समस्त व्यवहार धर्म/नय सर्वदेश मिथ्या है, ऐसी बुद्धि जागृत होती है, जैसी कि कानजी स्वामी की थी ॥

उपर्युक्त कारिका के द्वारा, व्यवहार नय के प्रति जिनकी बुद्धि सर्वदेश अभूतार्थ हो गई है, उन्हें भ्रमित करने के लिये द्रव्यानुयोग में गाथाओं की कमी नहीं, अपितु बाहुल्य ही है, देखिये -

श्री समयसारजी (आत्मख्याति) में कहा है कि .-

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे ।
णिच्छयणदुओदु ण इच्छदि मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

अर्थ: व्यवहारनय दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग में कहता है (अर्थात् व्यवहारनय मुनिलिंग और गृहीलिंग को मोक्षमार्ग कहता है), निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में नहीं मानता ।

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥ ४११ ॥

अर्थ- इसलिये सागारों द्वारा (गृहस्थों द्वारा) अथवा अनगारों के द्वारा (मुनियों के द्वारा) ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर, दर्शनज्ञानचारित्र में जो कि (निश्चय) मोक्षमार्ग है, उसमें तू आत्मा को लगा ॥

कितने स्पष्ट शब्दों में आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि सागारों अथवा अनगारों द्वारा ग्रहण किये गये लिंगों को छोड़कर, (निश्चय)दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जो कि मोक्षमार्ग है, उसमें तू आत्मा को लगा ॥

स्मरण रखिये कि सागार लिंग एकदेश संयम/रत्नत्रय का प्रतिपादक है और अनगार लिंग सर्वदेश संयमियों/रत्नत्रयधारियों का व आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि एकदेश व सर्वदेश संयम अर्थात् रत्नत्रय को छोड करके अर्थात् उनका त्याग करके अर्थात् असंयमी हो करके (निश्चय)दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जो कि मोक्षमार्ग है, उसमें तू आत्मा को लगा ॥

निश्चित ही पाठकों को सुस्पष्ट हो गया होगा कि जीवन के अंतिम क्षण तक कानजी स्वामी की संयम के प्रति अंतरंग से कोई श्रद्धा उत्पन्न क्यों नहीं हो पाई थी ॥ मात्र संयम के प्रति ही नहीं, अपितु संयमियों के प्रति भी ॥ मात्र कानजी स्वामी की ही यह स्थिति थी, अन्य की नहीं, ऐसा भी नहीं है, अपितु उनके समस्त अनुयायियों की भी यही स्थिति है ॥

किंतु आइये इसे गौण करके, इसी गाथा को इसी गाथा से मिथ्यावादियों द्वारा ग्रहण किये गये भयावह अर्थ के परिप्रेक्ष में अब देखें :-

आचार्य भगवंत कह रहे हैं कि निश्चय मोक्षमार्ग में गृहस्थ अथवा मुनिलिंग का पक्षपात नहीं है ॥

चूंकि इस नय में गृहस्थ व मुनि, इन दोनों ही लिंगों का पक्षपात नहीं है, इसलिये पारिशेष न्यायानुसार कहा जा सकता है कि निश्चय नय दोनों लिंगियों की मुक्ति स्वीकार करता है ॥

चूँकि निश्चय नय दोनों लिंगियों की मुक्ति स्वीकार करता है, अतः कहा जा सकता है कि संहनन आदि व स्त्रीलिंग आदि भी मुक्ति में बाधक नही ठहरते, क्योंकि वे भी व्यवहार नय (धर्म) के निर्देश हैं, जो कि अभूतार्थ है ॥

नहीं है क्या ?

है ही न ?

इस प्रकार इस गाथा व इस गाथा में प्ररूपित नय का एकांत करने पर श्वेताम्बर मत का प्रसंग प्राप्त हो जाता है, जो कि स्त्री, पुरुष व नपुंसक, तीनों ही द्रव्य व भाव वेद से मुक्ति मानता है ॥

उनके मत में मोक्ष प्राप्ति के लिये संयमी-असंयमियों का एकांत नहीं है ॥ दोनों ही निश्चय नय के आश्रय से मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं ॥

अतः यदि समयसार निर्दिष्ट निश्चय नय के कथन को असत्यमृषा नहीं कहोगे व उसके आश्रय से संपूर्ण व्यवहार धर्म/नय के उपदेश को सर्वथा मिथ्या कहोगे, तो जिनागम से न सिर्फ संपूर्ण व्यवहार धर्म/नय का लोप करना होगा, अपितु आपको श्वेतांबर मत को सत्यार्थ/भूतार्थ कहना होगा, जिसकी कि सिद्धि कानजी स्वामी ने प्रत्यक्ष रूप से नहीं, अपितु परोक्ष रूप से की ॥

और यही चूक डॉ. साहब आपने की ॥

निश्चय नय के आश्रय से कही गई इस कारिका अथवा श्लोक का अवलंबन ले आपने व्यवहार नय/धर्म को उजागर करने वाले, जिनेन्द्र भगवान के मत में कहे गये "इष्टार्थ संपादक व विघ्न विनाशक" सूत्र को ही मिथ्या कह दिया ॥

इस सूत्र को मिथ्या कहते वक्त आपको इस सत्य का बोध ही नहीं रहा कि इस कारिका का एकांत शासन देवताओं को तो पृथक करो, किंतु सम्पूर्ण महाव्रतों के विधान को ही मिथ्या सिद्ध करने वाला सिद्ध हो जायेगा ॥

इसलिये, प्रथम असत्यमृषा भाषा में दिये गये उपदेशों के पठन-पाठन में निपुणता लाइये, उसके पश्चात् ही कलम उठाने अथवा कुछ कहने-सोचने का दुःसाहस कीजिये, उसके पूर्व नहीं ॥

और यही सत्य आदरणीय बैनाडाजी, आदरणीय लुहाड़ियाजी आदि को भी समझाइये ॥

उनकी समझाइश के लिये हम श्रीमद् अमृतचंद्राचार्यजी के वचन, जो कि संभवतः आपको भी याद होंगे, किंतु मताग्रह के कारण विस्मृतवत स्मृति में होंगे, उन्हें ही यहाँ उद्धृत कर रहे हैं, सुनिये - (श्री समयसारजी की गाथा १२ पर आत्मख्याति टीका से)

उक्तं च- "जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥"

अर्थ : आचार्य कहते हैं कि हे भव्यजीवो !! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय-दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तो तीर्थ का नाश हो जाएगा और निश्चयनय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा ॥

इसी गाथा के मर्म को श्री आप्तमीमांसा जी के शब्दों में सुनिये :-(कारिका १०३)

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥

अर्थ : हे भगवन् !! आपके मत में स्यात् शब्द अर्थ के साथ सम्बद्ध होने के कारण वाक्यों में अनेकांत का द्योतक होता है और गम्य अर्थ का विशेषण ॥ स्यात् पद निपात है तथा केवलियों व श्रुतकेवलियों को अभिमत भी ॥

इसे ही और सरल करके अब भगवन समन्तभद्राचार्यजी के ही वचनों को श्री युक्त्यानुशासनजी की कारिका ४ से भगवन नरेन्द्रसेनजी के श्री प्रमाणप्रमेयकालिका जी के अंतिम उपसंहार व्याख्यान के आश्रय से कहते हैं, सुनिये :-

५९. ननु यद्येवं कथमेकाधिपत्यं न भवतीति चेत्,

इत्यत्राप्युक्तं समन्तभद्राचार्यैः :-

कालः कलिर्वा कलुषाशयो वा, श्रोतुः प्रवक्तु र्वचनाऽनयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी, प्रभुत्वशक्तेरपवाद हेतुः ॥

अर्थ : शंका : (अनेकांत का माहात्म्य) यदि ऐसा ही है, तो (जिनशासन सम्पूर्ण वादियों के मध्य) एकाधिपत्य को प्राप्त क्यों नहीं होता ?

समाधान : ऐसा कहते हो अर्थात् ऐसी शंका करते हो, तो(प्रत्युत्तर में हम नहीं, अपितु) समन्तभद्राचार्यजी कहते हैं कि :-

कलिकाल है, कलुषित आशय वाले श्रोता हैं व प्रवक्ताओं के वचन नय निरपेक्ष हैं, (जो कि) हे वीर पभु ! आपके शासन की एकाधिपतित्व रूपी लक्ष्मी की जो शक्ति है अर्थात् आपकेअनेकांत से समृद्ध शासन में समस्त मिथ्या मतों का निरसन करके एकाधिपत्य स्थापित करने की सामर्थ्य होने पर भी, (ये तीन कारण) उसमें अपवाद कारण हैं अर्थात् उसके एकाधिपत्य का नाश कर अन्य मतियों का मार्ग प्रशस्त करने वाले हैं ॥

निश्चित ही आपकी संस्कृत व हिन्दी, दोनों ही इतनी कमजोर तो नहीं ही होगी कि इस कारिका व इस कारिका में किये गये अर्थ को हृदयंगम न कर सकें ॥

उपर्युक्त तीन कारणों में से जो सर्वाधिक घातक कारण है, वो है प्रवक्ताओं अर्थात् वक्ताओं के नय निरपेक्ष वचन ॥

इसलिये कृपाकर जिनशासन की समीचीन स्थापनार्थ न्यायदिवाकर समन्तभद्राचार्यजी के वचनों को हृदयंगम करें व व्यवहार सापेक्ष निश्चय व निश्चय सापेक्ष व्यवहार नयों के आश्रय से अपनी बुद्धि को संस्कारित करें, संस्कारित कर मात्र शासन देवताओं के विषय में ही नहीं, अपितु आगम मान्य फल-फूलादि के विषय में भी निःशंक बुद्धि के बनें, वर्ना आप तो डूबेंगे ही डूबेंगे, किंतु पता नहीं अन्य कितनों को ले डूबोगे ॥

॥ इति प्रथमोध्यायः ॥



विनम्र निवेदन

प्रिय पाठकों,

मैंने यहाँ जो कुछ भी लिखा है वह लिखने वाला मै छद्मस्थ हूँ, अतः विद्वत्गण मेरी क्षायोपशमिक सीमाओ का स्मरण रखते हुए मेरे लिखे विषय मे नय - निक्षेपानुसार सुधार कर पढ़े ।। भूलो के लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ।।

यहाँ विशेष यह है कि डॉ रतनचदजी आदि विद्वान, स्वय के लिये घोषणा कर रहे है कि वे सत्य के पक्षधर है ।।

काश उन्होने जैसी घोषणा की है, सत्य वैसा ही होता ।।किन्तु सत्य वैसा है नहीं ।। आगम अनुसारी बुद्धि, जिसकी कि वे सभी स्वय के लिए घोषणा कर रहे हैं, वह तो उनमे है ही नहीं ।।

उपर्युक्त सभी विद्वान अपने द्वारा उच्चारित प्रत्येक उक्ति मे अत मे घोषणा करते हुए कहते हैं कि:-आशा है विद्वत्गण व सम्पूर्ण समाज हमारी उक्तियो को, जैसा हमने कहा है, ठीक वैसा ही पढेगे व सुनेगे एव उसके आश्रय से जैसा हम समझा रहे है, ठीक वैसा ही समझने का प्रयास करेगे ।।

निश्चित ही, स्वयं को सम्यग्दृष्टि मानने व समझाने वाले एव मुझको आगम ही शरण है की घोषणा करने वाले विद्वानो की उपर्युक्त पक्ति मे दृष्टव्य अहम् समझ से परे है ।।

ज्ञानी तो कहता है कि छद्मस्थ होने के कारण यदि मैं अपने लिखे मे कहीं चूक जाऊ तो छल ग्रहण मत करना, मेरे लिखे को छोड़ आगम के पृष्ठो से सम्यक् अर्थ ग्रहण कर लेना ।।

किन्तु नहीं, यहाँ तो उन्हे मानो स्वय के श्रुत केवली होने में कहीं शका ही शेष नहीं है, यह प्रकट हो रहा है ।।

यहाँ तो उनका यही आशय प्रकट हो रहा है कि उनसे चूक की सभावना ही नहीं है, जो निर्णय उन्होंने ले लिये हैं वे ही सम्यक् हैं, अतः सभी को उन्हीं की अनुसारिणी बुद्धि का होना चाहिये ।। धन्य हैं ये विद्वत्गण, धन्य है ।।

प्रिय पाठको, मै स्वीकार करता हूँ कि कहीं-कहीं मैं इन विद्वानों के प्रति अति कटु हो गया हूँ, वह मात्र इसलिये कि उन्होने हमारे प्राचीन आचार्यों व विद्वानो के प्रति धृष्टता की है ।।मात्र प्राचीन आचार्यों के प्रति ही नहीं, अपितु वर्तमान के पिच्छी धारियों के प्रति भी ।।

उनके प्रति मेरे मन मे व्यक्तिगत अथवा अनत ससार का हेतु भूत ऐसा कोई द्वेष नहीं है ।।

फिर भी उनकी धृष्टता को क्षमा करते हुए, उनके प्रति जो मै कटु हो गया हूँ उसकी हृदय से क्षमा मागता हूँ ।।आशा है, मुझे लघु जान वे अवश्य ही क्षमा कर देंगे ।।

शेष समस्त आदरणीय पाठक वर्ग से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि मेरे कहे मे से सार-सार को ग्रहण कर लेना व थोथा उड़ा देना ।।

यदि सभव हो तो त्रुटियो से मुझे अवगत भी करा देना ।।

आपका स्नेहिल

हेमंत काला, इंदौर (म.प्र.)

१३ फरवरी २००५, माघ शुक्ला पंचमी (बसत पचमी)

डॉ. रतनचंद जैन का जिनेन्द्र भगवान के मत का अवर्णवाद करता लेख

शासन देवता सम्मान्य, पंचपरमेष्ठी उपास्य

(अपर नाम–पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध दो भागों में)

पूर्वार्द्ध (१)

शासनदेवता तीर्थंकर प्रभु की ही प्ररूपणा है

उत्तरार्द्ध (२)

शासन देवता और (मिथ्या) तीर्थंकर डॉ. साहब की प्ररूपणा

डॉ. रतनचन्द्र जैन, भोपाल (म.प्र.)

(जिनभाषित, जनवरी २००२ के सम्पादकीय से साभार)

शासनदेवता सम्मानय, पंचपरमेष्ठी उपास्य

अपर नाम - १

शासनदेवता तीर्थंकर प्रभु की ही प्ररूपणा है

(पूर्वार्द्ध)

आजकल एक और प्रश्न काफी चर्चा मे है कि क्या क्षेत्रपाल पद्मावती आदि शासन देवता पूज्य हैं? इसका निर्णय करने के पहले यह जान लेना जरूरी है कि पूज्य का अर्थ क्या है? पूज्य का अर्थ है पूजा के योग्य होना। पूजा का मतलब है जयजिनेन्द्र, इच्छामि, वन्दे, नमोऽस्तु आदि शब्दो के उच्चारण द्वारा विनय प्रदर्शित करना तथा पुष्पहार, श्रीफल, वस्त्राभूषण, अष्टद्रव्य, आदि कोई उपहार प्रदान करना।(देवतां कुसुमोपहारेण पूजयति- रघुवश, सजीवनी टीका ४/८४)। जब ये उपहार वन्दना- स्तुति पूर्वक अर्थात् भक्तिभाव से प्रदान किये जाते है, तब यह भक्तिपूजा कहलाती है और वन्दनास्तुति के बिना सामान्य अभिवादन पूर्वक भेट किये जाते हैं, तब इसे सम्मानपूजा कहते है। सम्मानपूजा किसी भी सम्मानीय व्यक्ति की, की जा सकती है, किन्तु भक्तिपूजा के पात्र केवल आराध्यदेव (पञ्चपरमेष्ठी) ही है, जैसा कि निम्न उक्ति से सूचित होता है-

'अन्यथा शरणं नास्ति, त्वमेव शरणं मम।' (देखये संपादकीय, जिनभाषत नवम्बर २००१)

पूजा की आवश्यकता तब होती है जब कोई सम्मानय या आराध्य व्यक्ति हमारे घर आता है या हम उसके घर या वसतिका मे जाते है अथवा उसके अन्यत्र दर्शन होते है। इसके अतिरिक्त अपने आराध्यदेव की प्रतिष्ठित प्रतिमा की पूजा भी प्रतिदिन तथा जहाँ भी उसके दर्शन होते है, आवश्यक होती है। हमारे घर सामान्य अतिथि तो आते ही है , साधु आर्यिका, एलक और क्षुल्लक भी आहारचर्या के समय आते है।उस समय हम यथायोग्य अभिवादन आदि के द्वारा उनकी पूजा करते है। अन्यत्र दर्शन होने पर भी 'नमोऽस्तु', 'इच्छामि', आदि वचनो द्वारा पूजते है। जब हम अपने सम्बन्धियो के घर जाते है, तब फल-मिष्ठान्न आदि उपहार ले जाते है और साधुओ की वसतिका मे जाते है, तब श्रीफल, अक्षत, अष्टद्रव्य आदि उपहार ले जाना नहीं भूलते। किन्तु शासनदेवता न तो हमारे घर आते हैं, न हम उनके आवासो मे जाते है, न उनके अन्यत्र दर्शन होते है और वे हमारे आराध्य भी नहीं है, इसलिये उनकी प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित नहीं की जातीं। इस तरह शासनदेवताओ की पूजा का कोई अवसर ही नहीं होता।

विघ्नविनाशनार्थ सम्मान का विधान

किन्तु पुराणो और प्रतिष्ठाग्रन्थो में शासनदेवताओ तथा अन्य देवो में विघ्ननिवारण और इष्टसम्पादन की शक्ति मानी गई है और इन कार्यों की कामना से उन्हे अर्घसमर्पण द्वारा सम्मानित करने का विधान किया गया है। हरिवशपुराण (६६/४५) में कहा गया है-

ग्रहोरगा भूतपिशाचराक्षसा हितप्रवृत्तौ जनविघ्नकारिणः।
जिनेशिनां शासनदेवतागणप्रभावशक्त्याथ शमं श्रयन्ति ते॥

अर्थ- लोगो के हितकार्यो मे विघ्न उत्पन्न करने वाले जो ग्रह (सूर्य, चन्द्र आदि देव), नाग,

भूत, पिशाच और राक्षस आदि (व्यन्तर देव) है, वे जिनशासन के भक्त देवो की प्रभावशक्ति से शान्त हो जाते हैं।

प्रतिष्ठासारोद्धार (२/२४) मे प आशाधर जी कहते है-

प्रारब्धा: फणियक्षभूतक्रतुभिर्देहार्तिवित्तक्षति:
स्थानभ्रंशरसाद्यसाम्यविपदस्तत्कल्पनाकल्पत:।
येऽर्चिष्वेषु च तापसादिषु समं यान्त्याशयित्वार्पितै-
ध्यातन्वन्तु गुरुप्रसादवरदास्तेऽर्कादयो व: शिवम्॥

अर्थ- नागकुमार देव शरीर पीड़ा करते हैं, यक्ष देव धन हरते हैं, भूतदेव स्थान भ्रष्ट करते हैं, राक्षस देव धातुवैषम्य करते हैं, इसलिये नागकुमारादि की स्थापना करके पूजने से पूर्वोक्त सब विघ्न दूर हो जाते है तथा सूर्यादिग्रहो की पूजा करने से कापालिक आदि द्वारा किये गये उपद्रव शान्त हो जाते है। गुरू के प्रसाद से वर देने वाले ऐसे सूर्यादिग्रह तुम भव्यो का कल्याण करें।

जिनसेनाचार्य (८वीं शती ई) ने आदिपुराण मे कहा है कि दिव्य अस्त्रो के अधिष्ठाता देव भी विधिपूर्वक आराधना करने योग्य है, क्योकि उनके प्रसन्न होने पर युद्ध मे विजय अवश्य ही होती है-

दिव्यास्त्रदेवताश्चामूराराध्या: स्युर्विधानत:।
ताभिस्तु सुप्रसन्नाभिरवश्यं भावुको जय:॥३८/२६०

इसी आदिपुराण मे द्विजो के लिए दीक्षान्वय क्रिया के अतर्गत गणग्रह नामक क्रिया का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि स्थानलाभ क्रिया के अनन्तर भव्य पुरूष जब मिथ्या-देवताओं कों घर से बाहर निकालता है तब बसके गणग्रह नाम की क्रिया होती है। उस समय वह उन देवताओं से कहता है कि 'मैने अज्ञानवश इतने दिनो तक आदर के साथ आपकी पूजा की, परन्तु अब अपने मत के देवताओ की पूजा करूँगा, इसलिए क्रोध मत कीजिएगा। आप अपनी इच्छानुसार अन्यत्र जाकर रहे।' ऐसा कहकर उन्हे ले जाकर किसी अन्य स्थान पर छोड़ दे। इस प्रकार पूर्व स्थापित देवताओ का विसर्जन कर जैनमत के शान्त देवताओं की पूजा करने वाले उस भव्य के गणग्रह नाम की चौथी क्रिया होती है। (३६/४५-४८)

इस प्रकार आचार्य जिनसेन ने पूर्व स्थापित मिथ्या देवताओ की जगह जिनशासन-देवताओ की स्थापना कर पूजा करने का उपदेश दिया है। आदिपुराणकार ने व्यवहारनय से गार्हपत्य आदि त्रिविध अग्नियो की भी पूजा करने के लिए कहा है। (४०/६०)

आदिपुराण मे गर्भाधानादि क्रियाएँ अग्नि और देवता को साक्षी बनाकर सम्पन्न करने का विधान किया गया है-' कार्यो मन्त्रविधानज्ञै साक्षीकृत्याग्निदेवता ' (३८/८१), तथा कुबेर, इन्द्र आदि को हवि समर्पित करने की बात कही है-

' सौधर्माय स्वाहा। अहमिन्द्राय स्वाहा।' (४०/५५ चूर्णि)

रविषेणाचार्य (७वीं शती ई) ने पद्मपुराण मे कहा है कि सुग्रीव ने कुपित पूर्णभद्र और मणिभद्र यक्षो को अर्घ समर्पित कर शान्त किया था। घटना इस प्रकार है- रावण राम का वध करने के लिये शान्ति जिनालय मे बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करता है। रामचन्द्र जी का अनुयायी विद्याधर राजा उसमे विघ्न डालने के लिये अपने कुमारो को भेजता है। वे लका मे उत्पाद

मचाते है। तब लोग भयभीत होकर शान्तिजिनालय में आते है । जिनालय के रक्षक शासनदेव पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक यक्षेन्द्र उत्पाद मचानेवाले कुमारों को अपनी विक्रिया शक्ति से रोक देते हैं। तब रामचन्द्र जी के शिविरस्थ जिनालय के शासनदेव रावण के शान्ति जिनालय के शासनदेव उन्हे परास्त कर देते हैं और वे क्रोध में तमतमाये हुए रामचन्द्र जी के पास जाकर कुमारों की शिकायत करते हैं। वहाँ लक्ष्मण पूर्णभद्र नामक यक्षेन्द्र को समझाते हैं और सुग्रीव स्वर्णपात्र मे अर्घ देकर उसे शान्त करते है।

अर्घं काञ्चनपात्रेण तस्य दत्त्वातिसाध्वस: ।
कपिध्वजाधिपोऽवोचत् कोपो यक्षेन्द्र !मुच्यताम् ॥(७०/६०)

सोमदेव सूरि (१०वीं शती ई) ने उपासकाध्ययन (श्लोक ५३८) मे कहा है कि जिनाभिषेक के अवसर पर अष्ट दिक्पालों और नवग्रहो का आह्वान कर एवं उन्हें अर्घ (बलि) समर्पित कर अभिषेककर्त्ताओ के विघ्नो को शान्त करने की प्रार्थना करनी चाहिए-

योगेऽस्मिन्नाकनाथ, ज्वलन, पितृपते, नैगमेय, प्रचेतो
वायो, रैदेश, शेषोडुपसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्रा: ।
मन्त्रैर्भू: स्व: सुधाद्यैरधिगतबलय: स्वासु दिक्षूपविष्टा:
क्षेपीय क्षेमदक्षा: कुरुत जिनसवोत्साहिनां विघ्नशान्तिम् ॥

अर्थ- इस जिनाभिषेक महोत्सव मे हे क्षेमदक्ष इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईश तथा शेष चन्द्रमा आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवार के साथ आकर और 'भू स्व ' आदि मन्त्रो के द्वारा बलि ग्रहण करके अपनी-अपनी दिशाओ मे स्थित हो, जिनाभिषेक के लिए उत्साही पुरुषो के विघ्नो को शान्त करे।

आचार्य वसुनन्दी (१२वीं शती ई) ने अपने 'प्रतिष्ठासारसग्रह' मे २४ मत्रों द्वारा यक्षो की आहुतियों का वर्णन किया है। षोडश विद्यादेवियो की स्थापना के अनन्तर उनकी पूजा के मत्र दिये है। चौबीस जिनमाताओ, बत्तीस इन्द्रो के स्थापनामत्र एव पूजनमत्र दिये गये हैं। द्वारपाल और दिक्पाल की स्थापनाविधि भी वर्णित की गई है। (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ३/२३२)

प आशाधर जी (१३वीं शती ई) ने भी अपने 'प्रतिष्ठासारोद्धार' मे वसुनन्दी का अनुसरण किया है।

प्रतिष्ठासारोद्धार के निम्नलिखित श्लोक मे नवग्रहो के आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण और पूजन, इन चार उपचारो का वर्णन है-

ग्रहा: संशब्दाये युष्मानायात सपरिच्छदा: ।
अत्रोपविशतैतान् वो यजे प्रत्येकमादरात् ॥२/२६

अर्थ- हे सूर्यादि ग्रहो ! हम आपको बुलाते है। आप सपरिवार आइये। यहाँ बैठिए, समीप आये हुए (एतान्) आप सबकी हम आदर से पूजा करते है।

इसके बाद सूर्यपूजा की विधि इस प्रकार बतलाई गई है-

'हे आदित्य आगच्छ, आदित्याय स्वाहा आदित्यानुचराय स्वाहा, आदित्य महत्तराय स्वाहा, ओं आदित्याय स्वगणपरिवृताय इदमर्घ्यं पाद्य गन्ध पुष्प धूपं दीपं चरु बलि स्वस्तिक यज्ञभागं च यजामहे, प्रतिगृह्यता प्रतिगृह्यता प्रतिगृह्यतामिति स्वाहा। यस्यार्थे क्रियते कर्म स

प्रीतो नित्यमस्तु मे।' (प्रतिष्ठासारोद्धार २/२८)

अर्थ- हे सूर्य! आइये, सूर्य के लिये हम यह हवि अर्पित करते हैं, सूर्य के अनुचर के लिए अर्पित करते है, सूर्य के महत्तर के लिए अर्पित करते हैं। 'ओं 'अपने गण-सहित सूर्य के लिए यह अर्घ्य पाद्य(पैर धोने के लए जल), गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, चरु, बलि, स्वस्तिक और यज्ञ समर्पित कर पूजा करते है। स्वीकार कीजिए, स्वीकार कीजिए, स्वीकार कीजिए। जिसके लिये यह पूजा कर्म किया जा रहा है, वह हम पर सदा प्रसन्न रहे।'

इसी विधि से सोम, मगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु की पूजा का वर्णन किया गया है।

निम्नलिखित उदाहरणो मे जिस विधि से अरहन्त को अष्टद्रव्य अर्पित किये गये हैं, उसी विधि से 'श्री' आदि देवियो, क्षेत्रपाल, वास्तुदेव, शासनदेवता आदि को भी किये गये है-

'ओ ह्री अर्हं श्रीपरमब्रह्मणेऽनन्तान्तज्ञानशक्तये इद जल गन्धमक्षतान् पुष्पाणि चरु दीप धूप फल पुष्पाञ्जलि च निर्वपामीति स्वाहा।' (प्रतिष्ठासारोद्धार २/४१)

'ओ ह्रीं श्रीप्रभृतिदेवताभ्य इद जल गन्धमक्षतान् पुष्पाणि चरु दीपं धूप फल पुष्पाञ्जलिं च निर्वपामीति स्वाहा।' (वही, २/२४)

'ओ ह्रीं क्रौंअत्रस्थक्षेत्रपालाय इद जल, गन्धमक्षतान् पुष्पाणि निर्वपामीति स्वाहा।' (२/१२८)

'ओं ह्रीं क्रो वास्तुदेवाय इद जलं निर्वपामीति।' (२/१२८)

'ओं ह्रीं पद्मावतीदेवि इद जल गन्धमक्षातान् पुष्पाणि निर्वपामीति स्वाहा। (३/१७७)

निम्नलिखित मन्त्र मे साठ हजार नागकुमारदेवो का आह्वान कर सर्व विघ्नो के विनाश का अनुरोध करते हुए हवि (पूजाद्रव्य) समर्पित की गई है, जो स्वाहाकार द्वारा सूचित है-

'ओ ह्रीं क्रौ षष्टिसहस्रनागा सर्वविघ्नविनाशन कुरुत करुत अर्हं नम स्वाहा।' ('प्रतिष्ठाप्रदीप' प नाथूलाल जी शास्त्री, पृष्ठ १०४)

मिथ्याधारणा एवं असंगत अनुवाद

कुछ आधुनिक विद्वानो की धारणा हैकि अष्टद्रव्य या अर्घ केवल पचपरमेष्ठियो की पूजा की सामग्री है, देवी-देवताओ के सम्मान की नहीं। यह धारणा उपर्युक्त उदाहरणो से मिथ्या सिद्ध हो जाती है, क्योकि उपर्युक्त उदाहरणो मे अष्टद्रव्य अरहन्त भगवान् एव देवी-देवता दोनो को समर्पित किये गये है । निम्नलिखित श्लोक मे भी कहा गया है कि मैं 'श्री' आदि देवियो को जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प आदि अष्ट द्रव्यो से पूजता हूँ-

पद्मादिदिव्यह्रदवारिविभूतिभोक्त्री
श्रीपूर्वदिव्ययुवतीर्विधिपूर्वमेता:।
अगन्धतन्दुललसान्तचरुप्रदीप-
धूपप्रसूनकुसुमाञ्जलिभिर्यजेऽस्मिन्॥

उक्त विद्वानों की यह धारणा भी हैकि 'निर्वपामीति स्वाहा' शब्दों का प्रयोग केवल जिनपूजा में किया जाता है, देवदेवियो की पूजा में नहीं। यह धारणा भी उपर्युक्त उदाहरणों से भ्रान्त सिद्ध हो जाती है। उक्त उदाहरणों में 'निर्वपामीति स्वाहा' शब्दो का प्रयोग 'श्री' आदि

दीवियो की सम्मानपूजा मे भी किया गया है तथा निम्न उद्धरणो मे लौकान्तिक देवो एव अहमिन्द्रो के लिए भी-

'ओं ह्रीं लौकान्तिकदेवेभ्य: पुष्पाञ्जलिं निर्वपामीति स्वाहा।
ओं ह्रीं अहमिन्द्रदेवेभ्य: पुष्पाञ्जलिं निर्वपामीति स्वाहा।'
(प्रतिष्ठासारोद्धार ३/२०२-२०३)

. वस्तुत 'नि- र्वप्' धातु का अर्थ विकीर्ण करना (बिखेरना) मात्र है। यह क्षिप् (क्षिपेत्) का पर्यायवाची है, अत जिसके भी सामने पुष्पाजलि विकीर्ण की जायेगी, उसके लिए 'निर्वपामि' का प्रयोग हो सकता है।

उक्त विद्वानो ने एक नया विचार भी रखा है कि अभिषेक आदि मे जो दिक्पालादि देवो को आमन्त्रित कर अर्घ प्रदान किया जाता है व उनके सम्मान के लिए नहीं, अपितु वे उससे भगवान् की पूजा करे, इसलिए दिया जाता है। 'ओम् इन्द्र आगच्छ। इदम् अर्घ्य यज्ञभाग च यजामहे प्रतिगृह्यताम्' इस गुणभद्रकृत अभिषेकपाठ के मत्र का उन्होने यह अर्थ किया है- 'हे इन्द्र(आओ, यह अर्घ्य यज्ञभाग तुम्हे देता हूँ । इसे स्वीकार करो और हमारे साथ तुम भी जिनेन्द्र देव को अर्घ-समर्पण करो।' वे कहते हैं - यहाँ 'गृह्यताम्' शब्द से ही काम चल सकता था, फिर भी जो 'प्रति' उपसर्ग लगाया है वह 'जिनेन्द्र के प्रति (जिनेन्द्र के लिए) ग्रहण करो ' इस बात को बताने के लिये लगाया गया है।

यह अर्थ न ते उपर्युक्त मत्र के शब्दो से निकलता है, न व्याकरण से। ' यजामहे' में जो 'यज् 'धातु है उसका अर्थ 'देना' नहीं है, अपितु 'पूजा करना' है। अत उपर्युक्त मंत्रवाक्य का अर्थ यह है- 'हे इन्द्र ! आइये! इस अर्घरूप यज्ञभाग से हम आपकी पूजा करते हैं,इसे स्वीकार कीजिए।' तथा 'ग्रह्' धातु में 'प्रति' उपसर्ग लगाने से 'जो दिया जा रहा है उसे ग्रहण करो' यह विशिष्ट अर्थ प्रतिपादित होता है। (ददाति- प्रतिगृह्णाति, आप्टेकोश 'ग्रह्')।

ध्यान देने योग्य है कि यहाँ 'प्रति' उपसर्ग है, सम्बन्ध-बोधक अव्यय नहीं। सम्बन्धबोधक अव्यय के रूप मे वह जिससे सम्बन्ध बतलाना होता है, उसके कर्मकारक रूप के.ही साथ प्रयुक्त होता है, जैसे 'स मा प्रति स्निग्ध ' (वह मुझसे स्नेह करता है)। यदि उपर्युक्त मत्र में 'जिनेन्द्र के प्रति (के लिए) ग्रहण करो' यह अर्थ अभिप्रेरित होता तो 'जिनेन्द्र प्रति गृह्यताम् 'ऐसा प्रयोग होता और तब वह 'गृह्यताम्' का उपसर्ग न होकर 'जिनेन्द्र' के साथ सम्बन्ध बनलाने वाला अव्यय होता है, जैसा कि 'अभित परित समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि' इस वार्तिक मे बतलाया गया है। किन्तु यहाँ 'प्रति' सम्बन्धबोधक अव्यय नहीं है, अपितु 'ग्रह् 'धातु का उपसर्ग है, इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त वाक्य से जो 'जिनेन्द्र के प्रति यह अर्घ ग्रहण करो' यह अर्थ निकाला गया है वह धात्वर्थ एवं व्याकरण के विरूद्ध है। इसके अतिरिक्त प्रति उपसर्ग के बिना भी 'ग्रह् 'धातु का प्रयोग मिलता है, यथा-

आयात भो मेघकुमारदेवा: प्रभोर्विहारावसरप्राप्तसेवा:।
गृह्णीत यज्ञांशमुदीर्णशम्पा गन्धोदकै: प्रोक्षत यज्ञभूमिम्॥
(प्रतिष्ठासारोद्धार २/१३२, 'प्रतिष्ठाप्रदीपे' पं नाथूलाल जी शास्त्री पृष्ठ १०४)

यहाँ मेघकुमार देवों को आमत्रित कर उनसे यज्ञाश ग्रहण करने तथा सुगन्धित जल से यज्ञभूमि को अभिषिञ्चित करने की प्रार्थना की गई है। यहाँ तो 'गृह्णीत' क्रिया में 'प्रति'

उपसर्ग नहीं है। इसलिये 'प्रति' उपसर्ग के द्वारा जो 'जिनेन्द्र के प्रति' यह अर्थ कल्पित किया गया है, वह यहाँ कल्पित नहीं किया जा सकता। इससे सिद्ध है कि उपर्युक्त मन्त्रवाक्य मे इन्द्र को उसके ही सम्मानार्थ अर्घ प्रदान किया गया है, न कि जिनेन्द्र की पूजा के लिए। और पूर्व मे जो पद्मपुराण का उदाहरण दिया गया है कि सुग्रीव कुपित यक्षेन्द्र को अर्घ प्रदानकर शान्त करते हैं, उससे तो इस बात मे सन्देह की कोई गुजाइश ही नहीं रहती कि देवताओं को जो अर्घ प्रदान किया जाता है वह उनके ही सम्मान के लिये प्रदान किया जाता है, न कि उनके द्वारा जिनेन्द्र को अर्पित किये जाने के लिए।

जिनेन्द्र की पूजा के लिए देवो को या किसी को भी दूसरो से द्रव्य लेने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा अपने ही घर से लायी गयी पूजासामग्री से पूजा करने का विधान किया गया है, किसी से दान में ली गयी सामग्री से नहीं। जब भेंट मे प्राप्त भोजन मुनि को देना वर्जित है, तब भेंट मे प्राप्त पूजनसामग्री जिनेन्द्र को अर्पित कैसे की जा सकती है? (यशस्तिलकचम्पू, १७४६) फिर देवों के पास पूजासामग्री की क्या कमी? उनके पास तो दिव्य पुष्प, दिव्य गन्ध, दिव्य अक्षत आदि दिव्य सामग्री होती है। वे नन्दीश्वर द्वीप में हमसे उधार माँगकर नहीं ले जाते आजकल जो सभी के लिए मन्दिर में ही पुजारी के द्वारा पूजनसामग्री तैयार की जाती है और पूजार्थियो को वितरित की जाती है, वह आधुनिक सुविधाभोगियो के द्वारा की गई शास्त्रविरुद्ध व्यवस्था है। उसके आधार पर उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ निकालना शास्त्रानुकूल नहीं है। आज भी दक्षिण भारत के मूलनिवासी जैन पर्युषणपर्व आदि मे अपने ही घर से पूजनसामग्री ले जाते हैं। अत यदि देवगण भगवान् की पूजा के लिए बुलाये जायेगे, तो वे पूजन सामग्री के लिए हमारे मुँहताज नहीं रहेगे। वे स्वर्गादि से ही दिव्य सामग्री लेकर आयेगे। अत यह कल्पना करना कि उन्हें जो अर्घ दिया जाता है, वह जिनेन्द्र की पूजा के लिए दिया जाता है, पूजा की भावना और देवों की हैसियत के विरूद्ध है। इसके अतिरिक्त जिसके नाम के साथ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग कर स्वाहाकार किया जाता है, आहुति उसी के लिए सकल्पित होती है, यह सस्कृत व्याकरण का नियम है- 'नम. स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च।' अत 'आदित्याय स्वाहा' 'सौधर्माय स्वाहा' आदि मत्रों में सूर्य, सौधर्मेन्द्र आदि को ही आहुति सकल्पित की गयी है। अन्य के लिये वह निर्माल्य है।

निष्कर्ष यह कि 'प्रतिगृह्यताम्' आदि शब्दों का जो अर्थ नहीं है, वह अर्थ करके यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि पुराणों और प्रतिष्ठाग्रन्थो मे शासनदेवताओं की अष्टद्रव्यात्मक पूजा के उल्लेख नहीं हैं। वे स्पष्टत हैं, यह उपर्युक्त उदाहरणों से सिद्ध है।

जिनतुल्य पूज्यता का निषेध

किन्तु पुराणकारो और प्रतिष्ठाग्रथकारों का यह अभिप्राय नहीं था कि जिनेन्द्रदेव और शासनदेवों को तुल्य रूप से पूज्य माना जाए। उनका अभिप्राय था कि जिनेन्द्रदेव की वदना, दर्शन, गुणस्तवन, पूजन और ध्यान लौकिक सुख और मोक्ष के साधक है अत उन्हे उपास्यरूप से पूज्य माना जाए और शासनदेवता लौकिक कार्यों में सहायक होते है, अत उन्हे सहयोगी रूप से पूज्य माना जाए। अर्थात् भगवान वन्दना-स्तुतिपूर्वक भक्तिभाव से पूज्य है और शासनदेवता सम्मानभाव से। किन्तु वह देख रहे थे कि मिथ्यादृष्टि जैनों का एक वर्ग शासनदेवता को जिनेन्द्रदेव के ही समकक्ष मान्यता दे रहा है, उनकी मूर्तियाँ मन्दिरों एव घरो में स्थापित

कर भगवान् के समान ही वन्दना-स्तुतिपूर्वक भक्तिभाव से पूज रहा है। इसलिए ये पुराणकारो एव प्रतिष्ठाग्रथकारों ने इसे मिथ्यात्व कहकर और नरक का कारण बताकर इसका निषेध किया। सोमदेव सूरि ने उपास्काध्ययन में कहा है -

देवं जगत्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवता:।
समं पूजाविधानेषु पश्यन्दूरं व्रजेदध: ॥६९७
ता: शासनाधिरक्षार्थं कल्पिता: परमागमे।
अतो यज्ञांशदानेन माननीया: सुदृष्टिभि: ॥६९८

अर्थ- तीनों लोको के दृष्टा जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादि देवताओं को जो सामान्य रूप से पूज्य मानता है वह नरक मे जाता है। परमागम मे जिनशासन की रक्षा के लिए उनकी कल्पना की गई है। अत सम्यग्दृष्टियों को चाहिए कि वे उन्हे पूजा द्रव्य समर्पित कर सम्मानित करे।

॥ इति पूर्वार्द्ध: ॥

शासन देवता सम्मान्य, पंचपरमेष्ठी उपास्य

अपर नाम – २

शासन देवता और (मिथ्या) तीर्थंकर डॉ. साहब की प्ररूपणा

(उत्तरार्द्ध)

इसका तात्पर्य यह है कि शासनदेवताओं को आदरभाव से मात्र पूजा द्रव्य ही समर्पित किया जाय, वन्दना-स्तुति न की जाय। वन्दना-स्तुति के अधिकारी केवल पचपरमेष्ठी है। (प कैलाशचन्द्र शास्त्री, उपासकाध्ययन-प्रस्तावना पृष्ठ ५८)। वन्दना-स्तुति का किया जाना और न किया जाना ही जिनपूजा और शासनदेव पूजा में अन्तर का कारण है। वन्दना और स्तुति उन्हीं गुणो से उक्त व्यक्ति की की जा सकती है, जिन्हे प्राप्त करना हमारे जीवन का परम लक्ष्य होता है। हमारे जीवन का परमलक्ष्य है वीतरागता और मोक्ष तथा इनसे युक्त केवल पचपरमेष्ठी है। अत वे वन्दनीय है, जैसा कि कहा गया है- वन्दे तद्गुणलब्धये। अत यदि हम शासनदेवताओ की वन्दना नहीं करते, केवल आदरपूर्वक अर्घ समर्पित कर देते है, तो उनकी पूजा जिनपूजा तुल्य नहीं होती। अर्घ तो एक उपहार है। उपहार तो हम लोक मे अनेक अवसरो पर अनेक लोगो को भेट करते रहते है। अत उपहार देने से कोई हमारे जिनदेव तुल्य नहीं होता, पर वन्दना करने से हो जाता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने असयमियो को कोई उपहार देने का निषेध नहीं किया, किन्तु वन्दना करने का निषेध किया है - असजद ण वन्दे (दसणपाहुड, गाथा २६)।

इसीलिए श्रावको को मत्रसिद्ध करना भी उचित नही है, क्योकि इसके लिए मत्र के अधिष्ठाता देव को नमस्कार करना पड़ता है। आचार्य शान्तिसागर जी के एक उत्तर से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आचार्य श्री का विहार पहली बार उत्तरभारत मे हो रहा था। एक बुजुर्ग पडित जी ने आचार्य श्री से निवेदन किया कि उत्तर की जनता वक्र प्रकृति की है, हो सकता

है वहाँ विद्वेषियो के द्वारा विघ्न उपस्थित किये जाए। अत आप विघ्न निवारण हेतु किसी देवता को सिद्ध कर लें तो अच्छा होगा। इस पर आचार्य श्री बोले- पडित जी, मालूम होता है कि अब तक आपका मिथ्यात्व नहीं गया, जो हमें आगम की आज्ञा के विरूद्ध सलाह दे रहे है। विद्या या देवता को सिद्ध करने के लिए नमस्कार करना आवश्यक है। देवता अव्रती होते है, तब अव्रती को प्रणाम करना महाव्रती को दोषप्रद नहीं होगा ? (चारित्र चक्रवर्ती, पृष्ठ १३४)

पुराणकारों और प्रतिष्ठाग्रथकारो ने भी शासन देवता को अर्घ समर्पित करने के लिए तो कहा है, किन्तु वन्दना करने का निषेध किया है।

प आशाधरजी ने भी कहा है कि दर्शनिक श्रावक विपत्तियों से पीड़ित होने पर भी उनकी निवृत्ति के लिए शासनदेवता आदि की भक्ति (वन्दना-स्तुति) नहीं करता - आपदाकुलितोऽपि दर्शनिक स्तन्निवृत्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते (सागारधर्मामृत टीका ३/७)

मत्रतत्र की सिद्धि के लिए देवी-देवताओं की नमस्कारपूर्वक आराधना कुन्दकुन्द के युग मे भी प्रचलित थी, इसीलिए उन्होने कहा है कि जो मुनि दीक्षित होकर ज्योतिष, वैधक, मत्र, तत्र आदि लौकिक कार्य करता है, वह लौकिक पुरूषवत् ही होता है (प्रवचनसार ३/६९ तथा तात्पर्यवृत्ति)। कार्तिकेयानुप्रेक्षाकार के समय भी यह प्रवृत्ति विद्यमान थी। यह उनके निम्न कथन से मात होती है- यदि देव, मत्र, तंत्र और क्षेत्रपाल मनुष्य को मृत्यु से बचा सकते, तो मनुष्य अमर हो जाते, किन्तु नहीं बचा सकते, यह जानते हुए भी मूढ जीव प्रबल मिथ्यात्व के प्रभाव से ग्रह, भूत, पिशाच, योगिनी और यक्ष को शरण मानता है (का अ , गाथा २५,२७)

विपरीत शिक्षा का ग्रहण

यद्यपि पुराणकारो और प्रतिष्ठाग्रंथकारो ने जिनेन्द्र देव और शासन देवो को समानरूप से पूज्य मानने का निषेध किया है, तथापि मिथ्यादृष्टियो पर इसका असर नहीं पड़ता। उनका ध्यान तो इस बात पर जाता है कि इन ग्रंथो मे शासनदेवताओ मे विघ्ननिवारण और इष्टसम्पादान की शक्ति बतलायी गयी है और कहा गया है कि उन्हे अर्घ चढाने से वे प्रसन्न होते है और विघ्न दूर कर देते है तथा सुखसामग्री उपलब्ध करा देते हैं। इससे उन्हे शासन देवताओ कि पूजाभक्ति करने की प्रेरणा मिलती है और लोक मे जो क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि की पूजा होते हुए दिखाई देती है, वह युक्ति सगत प्रतीत होती है। फलस्वरूप वे भी उसी पक्ति मे शामिल हो जाते है। दुखो से तत्काल छुटकारा पाने के लिए शासन देवताओ की पूजाभक्ति उनके जीवन मे प्रमुख स्थान ग्रहण कर लेती है और जिनेन्द्र भक्ति दूसरे नम्बर पर पहुँच जाती है, क्योकि जिनेन्द्र भक्ति के बारे में यह धारणा बन जाती है कि यदि उससे विघ्नो का विनाश होता, तो स्वय उसके पंचकल्याणक मे देवताओ को विघ्नविनाशार्थ आमन्त्रित क्यो किया जाता ? विघ्नविनाशक शक्ति के कारण शासन देवताओ की पूजा का विधान करने वाले ये पुराण और प्रतिष्ठाग्रथ उनकी भक्ति पूजा को आगमसम्मत सिद्ध करने के काम आते है। आज अनेक साधु और पडित शासनदेवताओ की पूजा के समर्थन मे इन्हीं ग्रथो को प्रमाणरूप से

प्रस्तुत करते है और इन्द्री ग्रथो को प्रमाण मानते हुए श्रुतसागर सूरि ने दर्शनप्राभृत गाथा २ की टीका मे कहा है कि जो यह मानते है कि शासनदेवता पूज्यनीय नहीं है, उनके मुँह पर मललिप्त जूता मारना चाहिए।

कर्मसिद्धान्त पर अविश्वास

शासन देवताओ को विघ्नविनाशक और इष्टार्थसम्पादक मानना जैन धर्म के प्राणभूत कर्म सिद्धांत पर अविश्वास करना और ईश्वरवाद को स्वीकार करना है। यद्यपि देवदेवियो में विक्रियाशक्ति होने से वे विघ्ननिवारण में सहायक भी हो सकते है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब जीव के शुभकर्म का उदय हो। आचार्य अमृतचन्द्र समयसार कलश (१६८) मे कहते है-

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय
कर्मोदयान्मरणजीवितदु:खसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परस्य कुर्यात्
पुमान् मरणजीवितदु:खसौख्यम्॥

अर्थ- जीव का जीवन, मरण, सुख और दुख सब कुछ सदैव अपने कर्मोदय से ही नियत होता है। कोई दूसरा, दूसरे के जीवन-मरण और सुख-दुख का कर्ता हो सकता है, यह मानना अज्ञान है। आचार्य अमितगति ने भी यही बात निम्न शब्दों मे कही है -

सुखस्य दु:खस्य न कोऽपि दाता
परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।
अहं करोमीति वृथाभिमान:
स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोक:॥

द्रव्यसग्रह के टीकाकार ब्रह्मदेव सूरि ने साफ कहा है कि मत्रसाधित देवता कुछ भी नहीं कर सकते, न विघ्न उत्पन्न कर सकते है, न विघ्नो का विनाश। जो कुछ भी भला बुरा होता है, स्वय के साता - असाता कर्म के उदय से होता है। वे दृष्टात द्वारा स्पष्ट करते है कि क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित, अनन्त ज्ञानादि गुणो से सहित जो वीतराग सर्वज्ञ देव है, उनके स्वरूप को न जानने के कारण मनुष्य ख्याति, पूजा, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री और राज्यादि सम्पदा की प्राप्ति के लिए जो रागद्वेषयुक्त और आर्त्तरौद्रपरिणाम के धारक क्षेत्रपाल, आदि मिथ्या देवी-देवताओ की आराधना करता है, उसे देवमूढता कहते है। ये देवी-देवता कुछ भी फल नहीं देते। इसका प्रमाण यह है कि रावण ने रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी को मारने के लिए बहुरूपिणी विद्या सिद्ध की थी, कौरवो ने पाण्डवो के उन्मूलन के लिए कात्यायनी विद्या को साधा था और कस ने श्रीकृष्ण के विनाश के लिए अनेक विद्याओ की आराधना की थी, किन्तु ये विद्याएँ उनका कुछ भी न बिगाड सकी। इसके विपरीत राम, पाण्डव और कृष्ण ने किसी भी देवी-देवता की आराधना नहीं की थी, तथापि निर्मल सम्यग्दर्शन द्वारा उपार्जित पूर्वपुण्य से उनके सभी विघ्न दूर हो गए (द्रव्यसग्रह टीका गाथा ४१)।

इससे यही सिद्ध होता है कि जीव के स्वकीय शुभाशुभ कर्मो के उदय में ही देवी-देवता विघ्ननिवारण या विघ्नोत्पत्ति में निमित्त बन सकते है कर्मोदय के अभाव मे नहीं। यह सन १९९८ में सम्मेदशिखर जी मे घटी घटना से सिद्ध है। वहाँ पंचकल्याणक महोत्सव के अवसर पर पाण्डाल में आग लग गई, किन्तु कोई भी शासनदेवता उसे रोकने मे समर्थ नहीं हुआ,

क्योकि वहाँ जो लोग उससे आहत हुए और जो यजमान थे उनके असातासवेदनीय कर्म का उदय था। इसी कारण दिसम्बर २००१ मे मगलगिरि (सागर, म.प्र) मे जो पंचकल्याणक हुआ उसमें प्रतिष्ठाचार्यो, इन्द्र-इन्द्राणियो और यजमानों ने शासन देवताओं की विघ्न-विनाशक क्षमता में भरोसा नहीं किया और विघ्नविनाशार्थ प्रशासनिक देवताओ (सशस्त्र पुलिस बल) का आह्वान किया और अर्घ चढ़ाया।

पंचपरमेष्ठी की भक्ति से ही शुभकर्मो का बन्ध

विघ्नविनाशक शुभकर्मो का बध शासनदेवताओ की भक्ति से नहीं होता, अपितु पचपरमेष्ठी की भक्ति से होता है। णमोकारमत्र के जप का महात्म्य बताते हुए कहा गया है कि यह अपराजित मंत्र है, इससे समस्त विघ्नो का विनाश हो जाता है। समस्त मगलकारी हेतुओं मे यह प्रथम हेतु है-

अपराजितमन्त्रोऽयं सर्वविघ्नविनाशन: ।
मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथमं मङ्गलं मत: ॥

जिनेन्द्रदेव का स्तवन करने से शाकिनी, भूत, नाग आदि द्वारा उत्पन्न विघ्न टल जाते है, विष उतर जाता है -

विघ्नौघा: प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगा : ।
विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥

भक्तामरस्तोत्र मे भी बतलाया गया है कि भगवान आदिनाथ के नाम का स्मरण करने से जीव मदमत्त हाथी, सिह, दावानल, विषधर नाग आदि के उपसर्गो से बच जाता है, युद्ध मे विजय प्राप्त हो जाती है, बन्धन ग्रस्त पुरूष की बेड़ियाँ टूट जाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि भगवान के गुणस्तवन से भाव शुभ होते है जिनसे पुण्यकर्म का बन्ध होता है, पूर्वबद्ध अशुभकर्म शूभ मे संक्रमित हो जाते है तथा अशुभकर्मो का उत्कर्षण और शुभ कर्मो का अपकर्षण होकर शुभकर्म उदय में आ जाते है, जिनके निमित्त से जिनभक्त देव-देवियाँ साधर्मी वात्सल्यभाव से अथवा अन्य कोई स्त्री या पुरूष अनुकम्पाभाव से उपर्युक्त विघ्ननिवारण मे सहायक बन जाते है। प टोडरमल जी ने इस तथ्य पर निम्नलिखित शब्दों मे प्रकाश डाला है।

जो अरहतादि विषै स्तवनादि विशुद्ध परिणाम हो है, ताकरि अघातिया कर्मनि की साता आदि पुण्य प्रकृतिनि का बध हो है। बहुरि जो वह परिणाम तीव्र होय तो पूर्वे असाता आदि पाप प्रकृति बंदी थी तिनको भी मद करै है अथवा नष्ट करि पुण्यप्रकृतिरूप परिणामावै है। बहुरि तिस पुण्य का उदय होते स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री मिलै है अर पाप का उदय दूर होतै स्वयमेव दु ख कौ कारणभूत सामग्री दूर हो है। ऐसे इस प्रयोजन की भी सिद्धी तिनकरी ही है। अथवा जिनशासन के भक्त देवादिक है ते तिस भक्त पुरूष कै अनेक इन्द्रियसुखकौ कारण भूत सामग्रीनि का संयोग करावै है, दु:ख की कारणभूत सामग्रीनिको दूरि करैं है। ऐसे भी इस प्रयोजन की सिद्धी तिन अरहतादिकनि करि हो है। (मोक्षमार्गप्रकाaक १/७)

रामचन्द्र मुमुक्षुकृत पुण्यास्त्रवकथाकोष मे बताया गया है कि पुण्य के प्रभाव से प्राणियो को क्या-क्या प्राप्त नहीं हो जाता ? पुरोहितपुत्री प्रभावती के तप को नष्ट करने के लिए उसके पिता ने विद्याओं (सिद्ध की गई देवियों) को भेजा था, किन्तु उसके पुष्पांजलीव्रत के प्रभाव

से धरणेन्द्र और पद्मावती आये जिन्हे देखकर विद्याएँ भाग गई- पुण्यप्रभावत, प्राणिनां कि कि न सम्पद्यते ? व्रतप्रभावेण धरणेन्द्र पद्मावती समेत । तमवलोक्य नष्टा विद्या। (पूजाफलकथा ४)

इस तरह पंचपरमेष्ठी की भक्ति से ही विघ्नों का निवारण और इष्टार्थ का सम्पादन होता है, शासनदेवताओं की भक्ति से नहीं। जिनभक्त देवता भी जिनभक्ति से ही प्रसन्न होते है, स्वभक्ति से नहीं, क्योंकि जो जिनभक्ति न कर शासनदेवताओं की भक्ति करता है वह जिनभक्त देवताओ को प्रिय कैसे हो सकता है ? फलस्वरूप जिनभक्त देव उसके विघ्न निवारण में उत्साहित नहीं हो सकते। अत विघ्ननिवारण और इष्टार्थसम्पादन के लिए एक मात्र जिनभक्ति ही करणीय है। शासनदेवता जिनभक्ति से ही प्रसन्न होकर विघ्ननिवारण में स्वथ प्रवृत्त होते है। यह बात सोमदेव सूरि ने उपासकाध्ययन के निम्न लिखत श्लोक (६९६) मे स्पष्ट कर दी है-

तच्छासनैक भक्तानां सुदृशां सुव्रतात्मनाम्।
स्वयमेव प्रसीदन्ति ताः पुं सां सपुरन्दराः ॥

प्रतिष्ठाग्रंथों में सुधार की आवश्यक्ता

इस प्रकार हम देखते है कि पुराणो और प्रतिष्ठाग्रंथों मे जो दिक्पाल, शासनदेवता को आदि विघ्नविनाशक मानकर उनके आह्वान और पूजन का विधान किया गया है, वह उन्हे ईश्वरवत् सुखदु ख का कर्ता मान लेने की मिथ्यातबुद्धि का प्रेरक है। अत उनमे सुधार करने की आवश्यक्ता है। हम पूर्वरचित ग्रन्थो मे तो सुधार नहीं कर सकते, न ऐसा करना उचित है, किन्तु नये प्रतिष्ठा ग्रन्थ लिखकर इस भूल का परिमार्जन कर सकते है। नयें प्रतिष्ठाग्रथों मे दिक्पालादि देवताओ को विघ्न निवारणार्थ आमत्रित करने की बजाय साधर्मी के नाते जिनपूजा मे सहभागी बनने के लिए आमत्रित करने की और अर्घ प्रदान कर सम्मानित करने का विधान किया जाए। ऐसा करने पर पचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि मे उनके आह्वान और सम्मान की औपचारिकता भी अखडित रहेगी और उपर्युक्त मिथ्याबुद्धि प्रेरित करने के अवसर भी निरस्त हो जायेगे। तथा पुराणों मे जहाँ देवदेवियों को विघ्नोत्पादक और विघ्ननिवारक रूप मे वर्णित किया गया है वहाँ अनुवाद या व्याख्यान के अंतर्गत यह स्पष्टीकरण दिया जाए कि वस्तुत देवदेवियो मे स्वत विघ्नोत्पादन और विघ्ननिवारण का शक्ति नहीं होती, अपितु जीवो के स्वकीय शुभाशुभ कर्मो के उदय से वे उनके प्रति विघ्नोत्पत्ति एव विघ्ननिवारण मे निमित्त या सहायक बन जाते है। अत मनुष्यो को एकमात्र प नपरमेष्ठी की ही भक्ति करणीय है। इससे ही अशुभकर्मो का सवर और शुभ कर्मो का बन्ध होगा, जिनके अनूदय और उदय से देव-देवियों अपने आप विघ्न निवारण और इष्टसम्पादन में सहायक बनेगे। ऐसा स्पष्टीकरण प पन्नालालजी साहित्याचार्य ने अष्टपाहुड की श्रुतसागरीय टीका के अनुवाद मे किया है (देखिए दर्शनप्राभृत गाथा२)।

पुराणो तथा कुछ परवर्ती ग्रन्थो मे जो कुछ भी लिखा है उस सबको जिनाज्ञा मानना उचित नहीं है। इन ग्रन्थकारों ने कुछ बातें चरणानुयोग के विरुद्ध कल्पित कर ली है। जैसे 'मूलाचार '(गाथा १९५) मे कहा गया है कि आर्यिका को आचार्य, उपाध्याय और साधु की वन्दना कमश सात, छह और पाँच हाथ की दूरी से करनी चाहिए। यहाँ आर्यिका से स्त्रीमात्र

उपलक्षित है, क्योंकि आर्यिका के मुनिचरणस्पर्श से जिस दोष की सभावना है, उसकी सभावना क्षुल्लिका और श्राविका के मुनिचरणस्पर्श से भी है। यह अवश्य है कि आहारदान के समय श्राविका मुनि से इतनी दूर नहीं रह सकती, पर यहाँ प्रधानता स्पर्श की है, जिसका परिहार आहारदान के समय भी सभव है। किन्तु पद्मपुराण (पर्व ३६, श्लोक ४४)में उल्लेख है कि सीता ने वन में ध्यानारूढ दो मुनियो के पैर धोये तथा गन्ध से लिप्त किये। इसी प्रकार उक्त पुराण के ८०वे पर्व (श्लोक १८०-१८२) में कहा गया है कि राजा सिहेन्दु की रानी ने प्रतिमायोग मे स्थित 'मय' नामक मुनि के चरणो का स्पर्श किया। 'सिरिवालचरिउ' में भी मैनासुन्दरी मुनि के चरण छूती है। यह 'मूलाचार' के उपर्युक्त विधान के विरूद्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि 'वन्दे' (नमोऽस्तु) शब्द के द्वारा केवल मुनि के प्रति विनय प्रकट की जानी चाहिए और आर्यिकादि के प्रति 'इच्छामि' शब्द के द्वारा (सूत्रप्राभृत, गाथा १३)। किन्तु भट्टारक इन्द्रनन्दी (११वीं शती ई) 'नीतिसार' (श्लोक ५१) मे कहते है कि मुनि के लिए 'नमोऽस्तु' आर्यिका के लिए 'वन्दामि' तथा एलक-क्षुल्लक के लिए 'इच्छामि' का प्रयोग करना चाहिए। कुन्दकुन्द ने यह भी कहा है कि जो नग्नमुद्रा धारण करते हुए भी असयमी है, वह वन्दनीय नहीं है (दर्शनप्राभृत, २६) किन्तु उपासकाध्ययन और सागारधर्मामृत (२/६४) मे कहा गया है कि संयम पर ध्यान न देकर मात्र नग्नमुद्रा के कारण साधु की वन्दना करनी चाहिए (देखिए-वनवासी और चैत्यवासी, प नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ४८६)। ये दोनो बाते भी आर्षविरूद्ध है।

इसी प्रकार मूलाचार (गाथा २७८), हरिवशपुराण (१२/५२) आदि मे बतलाया गया है कि आर्यिकाएँ ग्यारह अगों का अध्ययन कर सकती है, जिनमे आचाराग प्रथम है। इसके विपरीत इन्द्रनन्दी ने
'नीतिसार' मे लिखा है कि आर्यिकाओ, गृहस्थो और मन्दबुद्धि शिष्यो के आगे सिद्धान्त और आचारग्रन्थो की वाचना नहीं करनी चाहिए -

आर्यिकाणां गृहस्थानां शिष्याणामल्पमेधसाम्।
न वाचनीयं पुरत: सिद्धान्ताचारपुस्तकम्॥(३२)

यह भी आगमवचन के प्रतिकूल है। इसके अतिरिक्त पुराणो मे बहुत सी बाते जैनेतर सम्प्रदायो से प्रभावित होकर ग्रहण कर ली गयी है, जो जैनधर्म के प्राणभूत सम्यग्दर्शन, अहिसा और कर्मसिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। (देखिए, उपासकाध्ययन, प्रस्तावना, प कैलाशचन्द्र जी पृष्ठ ५५-५७)। अत पुराणादि मे जो क्रियाएँ 'मूलाचार' आदि प्राचीन आर्षग्रन्थों के विरूद्ध है तथा जो जैनेतर सम्प्रदायो से ग्रहण की गयी है, उनका अनुसरण न करने से जिनाज्ञा का उल्लघन नहीं होता। इसी कारण बहुत सी आर्यिका-श्राविकाएँ मुनियो के चरणस्पर्श नहीं करतीं, दूर से ही वन्दना करती है। मुनिवेशधारी सयमभ्रष्ट मायाचारियो की वन्दना से भी बहुसख्यक श्रावक परहेज करते है। आर्यिका माताएँ भी इन्द्रनन्दी के अध्ययन-सम्बन्धी कथन का अनुसरण नहीं करतीं। वे न केवल 'मूलाचार' 'षट्खण्डागम' आदि का अध्ययन-अध्यापन करती है, अपितु उन पर उन्होने विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ भी लिखी है। तथा अधिकाश जैनो ने हरिवशपुराण , पद्मपुराण आदि मे लिखित होने पर भी पचामृत-अभिषेक, सचित्तपूजा, पक्वान्नपूजा और अभिषेक मे दिक्पालादि के आह्वान की प्रथाओ का

अनुसरण छोड़ दिया है, क्योकि ये जैनेतर सम्प्रदायो से अनुकृत की गई है और जिनाज्ञा के अनुकूल नहीं हैं। शासनदेवता आदि मे स्वतत्ररूप से (जीवो के तदनुकूल कर्मोदय के बिना) विघ्नविनाशक और इष्टार्थसम्पादक शक्ति मानना भी जैनेतर सम्प्रदायो मे ईश्वरवाद का अनुकरण है, जो जिनाज्ञा के प्रतिकूल है। अत पचकल्याण आदि मे दिक्पाल, शासनदेवता आदि को विघ्ननिवारण के उद्देश्य से आमन्त्रित करने की जो प्रथा है, उसके परित्याग से भी जिनाज्ञा का उल्लघन नहीं होता। इसलिए शासनदेवतादि को विघ्ननिवारण के उद्देश्य आमन्त्रित न कर धर्म मे सहभागी बनने के उद्देश्य से आमन्त्रित किया जाना चाहिए और 'जयजिनेन्द्र' बोलकर तथा अर्घसमर्पण कर उनका सम्मान करना चाहिए। इस उद्देश्य से हम मानव-साधर्मियो को आमत्रित और सम्मानित करते ही है।

किन्तु इस तरह भी देवताओ के आमत्रण और सत्कार की कोई उपयोगिता दिखाई नहीं देती, केवल पूर्वरचित प्रतिष्ठाविधानो की परम्परा का ही परिवर्तित रूप मे निर्वाह हो सकता है।

यक्ष-यक्षी मूर्तियाँ अभिवादन-अर्घार्पणयोग्य नहीं

प्रतिष्ठादि अनुष्ठानो के अतिरिक्त अन्यत्र शासनदेवतादि के आह्वान और सम्मान का अवसर ही नहीं है। और चूँकि वे वीतराग नहीं है, इसलिए उनकी मूर्ति स्थापित कर दर्शन-पूजन करने से न तो चित्त पवित्र होता है, जिससे कर्मो की निर्जरा हो, न ही विघ्नविनाशक और इष्टार्थसम्पादक शुभकर्मो का बन्ध होता है। मूर्ति पूजा के उद्देश्य यही है। ये कार्य जिनेन्द्रदेव की मूर्ति के दर्शन-पूजन से सिद्ध होते हैं। इसलिए श्रावक के दैनिक षडावश्यको मे केवल जिनेन्द्रप्रतिमा की ही पूजा आवश्यक बतलाई गई है। अत शासनदेवदेवियो की मूर्तिपूजा भी जिनागमसम्मत नहीं है। वैसे भी वे हमारे साधर्मी बन्धु है। जैसे श्रावक परस्पर मिलने पर तो एक-दूसरे का अभिवादन, उपहार भेट आदि करते है, किन्तु एक-दूसरे की मूर्ति स्थापित कर ऐसा नहीं करते, वैसे ही साधर्मी देव-देवियो के साक्षात् मिलने पर तो अभिवादन आदि किया जा सकता है, किन्तु उनकी मूर्ति स्थापित कर ऐसा करना औचित्यपूर्ण नहीं है। तीर्थंकर प्रतिमाओं के पार्श्व मे यक्ष-यक्षी की मूर्तियाँ होती है, किन्तु उनके वहाँ होने मात्र से वे वे पूजनीय नहीं है। तीर्थंकर प्रतिमाओ मे तो वृषभ, अश्व, सिहादि भी चिन्हरूप मे उत्कीर्ण होते है, किन्तु वे पूजनीय नहीं होते।

अव्रतीदेव देशव्रती श्रावकों के उपास्य नहीं

वस्तुत अव्रती होने से व्यन्तरादि देव जैसे महाव्रती मुनियो के आशीर्वाद के पात्र है (मूलाचार गाथा १३४, विशेषार्थ सार २/६६, गणिनी ज्ञानमती जी), वैसे ही देशव्रती श्रावको के भी आशीर्वाद के ही योग्य है। पुराणो मे ऐसे उदाहरण है, जहाँ शीलादि गुणों मे अग्रणी स्त्री-पुरूषो की देव-देवियो ने पूजा की है (पुण्यास्त्रव कथाकोश, प्रभावती-नीली-शीलफलकथाएँ)। इसलिए अव्रती देव-देवियाँ देशव्रती श्रावको के उपास्य तो कदापि नहीं हो सकते।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि शासनदेवता पचकल्याणकादि प्रतिष्ठाविधानो के अवसर पर आमत्रण और सम्मान के योग्य है, और

निन्दा-अपमान के योग्य तो कभी भी नहीं है, किन्तु उपासना के पात्र भी कदापि नहीं है उपास्य तो केवल पंचपरमेष्ठी है।

हमे जिनतीर्थ में जिनाज्ञा के विरूद्ध बढती हुई कुप्रवृत्तियो की उपेक्ष नहीं करनी चाहि , उनके निरोध के लिए अत्यधिक जागरूक रहने की आवश्यकता है। लोहे मे जग लगती है तो लोहे को नष्ट कर देती है। शरीर को रोग घेरते है, तो अकालमृत्यु की नौबत आ जाती है जिनतीर्थ में बढती हुई विकृतियाँ उसे सड़ा-गला न दें, उसका चेहरा विकृत न कर दें, इसवे लिए सतत् प्रयत्नशील रहना होगा। यह प्रभावना अग के अन्तर्गत है। किन्तु यह ध्यान रख की आवश्यकता है कि यह कार्य प्रबोधन के द्वारा ही सभव है, प्रताड़न के द्वारा नहीं।

॥ इति उत्तरार्द्धः ॥

मुष्णाति दुरितं दूरात्परं पुष्णाति योग्यताम्।
भूयः श्रेयोऽनुबध्नाति प्रायः साधुसमागमः ॥

साधुओं का समागम पाप को दूर से ही नष्ट कर देता है, योग्यता को पुष्ट करता है और हित का सवर्धन करता है।

आदिपुराण ९/१६१

स्वदुःखे निर्घृणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः।
निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्ष्या मुमुक्षवः ॥

मोक्ष के अभिलाषी साधुजन अपने दु ख को दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते, किन्तु दूसरों का दु ख दूर करने के लिए सदा तत्पर रहते है और दूसरो का कार्य सिद्ध करने के लिए नि·स्वार्थभाव से कटिबद्ध रहते है।

आदिपुराण ९/१६४